हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

जनवरी, १९३६

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी, जनवरी १९३६

सपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

वार्षिक मूल्य पाँच रुपए, एक अंक का १।); डाक-व्यय अलग

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ६ } जनवरी, १९३६ { अंक १

भू-मंडल

[लेखक—डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फिल् (आक्सन)]

एक समय था जब मनुष्य के विचार में आकाश एक अनंत पिंड था, जो एक अक्षय शक्ति का केंद्र था, और जहाँ एक आदिज्योति प्रकाशमान थी। यहाँ विश्वात्मा का आधिपत्य था, प्रेम और आनंद का साम्राज्य था। यह वह आकाश था जो इस जगत के नव आकाशों को घेरे हुए था, और इन सब से ऊपर तथा अलग था। यह चिर शांति का स्थान था, और परिवर्तन तथा गति से परे था। हमारा परिवर्तनशील विश्व नव पिंडो का समूह था, जिन मे पृथ्वी बिल्कुल बीच मे स्थित थी, और उस के आकाश मे चद्रमा का राज्य था। इस के चारो ओर बुध, शुक्र, सूर्य, मगल, बृहस्पति, शनि, यह छ ग्रह अपने-अपने चमकते हुए आकाशो के साथ परिक्रमा करते थे। इन के ऊपर नक्षत्रो से भरा हुआ नीलाकाश था, जो एक व्योमाकाश से परिवेष्टित था। विश्व पाँच तत्वो अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, और आकाश से निर्मित था। यही मनुष्य का सर्वस्व था, और मनुष्य स्वय इस विश्व के दस मडलों का एक सूक्ष्म रूप था।

समय पलटा और विज्ञान तथा दर्शन की उन्नति ने इस सुखद कल्पना को निस्सार सिद्ध कर दिया। आकाश-विद्या के नए दृष्टिकोणो के अनुसार सात ग्रहो, नव आकाशो और पृथ्वी की केंद्रीभूत स्थिति की कल्पना ही केवल तर्क की कसौटी पर खोटी न उतरी

वरन् एक सीमित विश्व का विचार ही संपूर्णतः अविश्वसनीय सिद्ध हुआ। गणित के विशेषज्ञों ने सापेक्षवाद के आधार पर विश्व को वृद्धिशील निश्चित किया और सौर-मंडल को नक्षत्रों में, एक छोटा और तुच्छ, ग्रहों का समुदाय बताया। इस लेख का उद्देश्य यह है कि इस वैज्ञानिक प्रश्न पर कि सौर-मंडल और पृथ्वी की उत्पत्ति कब और क्यों कर हुई विचार किया जाय।

सौर-मंडल आकाश के नक्षत्रों के उस क्रम का नाम है जिस में सूर्य का आसन सब से ऊँचा और सब से महान है। वह न केवल इन नक्षत्रों की परिक्रमा का केंद्र ही है वरन् इन सब का वास्तविक उद्गम भी है। इसी के शरीर से इन सब की उत्पत्ति हुई और इसी के ताप और प्रकाश से उन में ताप और प्रकाश है। सौर-मंडल में सूर्य ही एक नक्षत्र है और शेष अंग ग्रह हैं या ग्रहों के उपग्रह हैं, जैसे चंद्रमा। इस का अर्थ यह है कि अपने ग्रहों को देखते हुए सूर्य अचल है, और ग्रह उस के चारों ओर घूमते हैं, परन्तु अन्य नक्षत्रों के संबंध में सूर्य भी गतिवान् है और आकाश-पथ में परिक्रमा कर रहा है। प्रश्न यह है कि ग्रहों और उपग्रहों की व्युत्पत्ति कब और कैसे हुई ?

इस प्रश्न के उत्तर में तीन सिद्धांत प्रस्तुत किए जाते हैं। पहला सिद्धांत ला प्लास का है। ला प्लास एक फ़ांसीसी गणितज्ञ था जिस का जीवन-काल १७४९ से १८२७ ई० है। इस ने १७९६ में अपनी पुस्तक 'विश्व-क्रम' ('सिस्टम डि माउ') समाप्त की। १८०५ में इस ने इस पुस्तक को अधिक विस्तार के साथ लिख कर अपने विचारों को स्पष्ट किया, और इस की पाडुलिपि नैपोलियन के सामने प्रस्तुत की। इस के संबंध में जनश्रुति यह है कि नैपोलियन ने प्रश्न किया कि—"क्या कारण है कि तुमने विश्व-क्रम पर पुस्तक लिखी परन्तु उस में ईश्वर की चर्चा तक नहीं की ?" ला प्लास ने उत्तर दिया—"मुझे इस प्रकार की कल्पना की कोई आवश्यकता ही न प्रतीत हुई।"

ला प्लास ने सौर-मंडल की गतियों के संबंध में कुछ विशेषताएँ खोज निकालीं। जो नीचे अंकित है—

ला प्लास का सिद्धांत

(१) समस्त ग्रहों की गति की दिशा एक ही है, अर्थात् पश्चिम से पूर्व की ओर।

(२) उपग्रहों की गति में तथा ग्रहों की गति में एक समानता है।

३) यह सब अपने धुरो के चारो ओर एक दिशा मे घूमते हैं

(४) सब ग्रहों की परिक्रमा से जो आकार उत्पन्न होता है वह अंडाकार है और उस मे दोनों अक्षरेखाओ के वैषम्य (एक्सेंट्रिसिटी) का परिमाण इकाई से कम है।

(५) दुमदार नक्षत्रो की गति इस से भिन्न है अर्थात् इन के वैषम्य का परिमाण इकाई से बहुत कम है।

इन बातो से उस ने यह परिणाम निकाला कि किसी एक विशिष्ट कारण ने इन गतियो को उत्पन्न किया होगा। उस के विचार के अनुसार किसी समय सूर्य अकेला नक्षत्र था, जिस का ताप अत्यधिक था। इस के कारण सूर्य के चारो ओर एक वाष्पमय वातावरण था जिस का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। अर्थात् दूर से दूर ग्रह की सीमा से आगे तक फैला हुआ था। इस वाष्पमय वातावरण का केंद्र सूर्य था और यह वातावरण अपने केंद्र के चारो तरफ घूमता था। धीरे-धीरे यह ठंडा पडने लगा और केंद्र की ओर संकुचित होने लगा। ज्यो-ज्यो इस का आकार छोटा हुआ, इस की गति अधिक तेज होने लगी। परिणाम यह हुआ कि केंद्रीय भाग की आकर्षण शक्ति और परिधि की विकर्षण शक्ति के तारतम्य मे अंतर उत्पन्न हुआ और वाष्पमय वातावरण के भाग जो परिधि पर, केंद्र से लाखो मील दूर तक फैले हुए थे, वह पृथक् होने लगे। जो भाग इस प्रकार पृथक् हो गए उन का प्रारंभिक आकार छल्ले-जैसा था यह छल्ले सूर्य के केंद्र के चारो ओर घूमते थे। प्रारंभ मे इन की दशा वाष्पमय थी। जब यह ठंडे पडे तब इन मे तरलता आई और बाद मे ठोस हो गए। ठंडे होने के कारण छल्लो का रूप बदल कर गोलाकार ग्रहो के रूप मे हो गया। इन ग्रहो की गति की समानता का यही कारण था कि वह सब एक ही प्रकार से सूर्य के शरीर से पृथक् हो कर बने थे।

ला प्लास के सिद्धांत को सौ वर्ष से अधिक हो गए लेकिन किसी आकाश-विद् को इस बात का साहस न हुआ कि उस से मतभेद प्रकट करता, परंतु बीसवी सदी के आरंभ में भौतिक विज्ञान की उन्नति ने ज्ञान की कायापलट कर दी। अमरीका की शिकागो यूनिवर्सिटी के दो अध्यापको अर्थात् चैंबरलेन और मोल्टन ने एक नए सिद्धांत की नींव डाली। इस सिद्धांत को उपग्रह-सिद्धांत ('प्लैनेटेसिमल हाइपॉथिसिस') कहते है।

चैंबरलेन और मोल्टन का सिद्धांत

इस सिद्धान्त के अनुसार सौर मंडल की उत्पत्ति इस प्रकार हुई कि सूर्य के निकट हो कर कोई नक्षत्र पथगामी हुआ, जिस का यह परिणाम हुआ कि सूर्य का वाष्पमय आवरण नक्षत्र के आकर्षण के कारण खिंचा और फट गया। अतएव वाष्प के बूंद सूर्य से पृथक् हो गए। पृथक् होने पर यह फैल गए और फैलने के कारण ठंडे पड़ गए। उन का ताप सहसा कम हुआ इस लिए इन के जमे हुए कणों के ठंडे बादल बन गए, जिन से उपग्रह उत्पन्न हुए। सूर्य के चारों ओर छोटे-छोटे पिंडों का बड़ा समूह एकत्र हो गया। उपग्रह इन बादलों के निकट हो कर सूर्य की परिक्रमा करने लगे। उपग्रहों ने धीरे-धीरे कणों के बादलों को समेट लिया और ग्रह बन गए। इस क्रिया का एक और परिणाम यह हुआ कि ग्रहों की गति अंडाकार होने के स्थान पर लगभग गोल हो गई।

यह सिद्धांत ला प्लास के सिद्धांत की अपेक्षा वास्तविकता के अधिक निकट है, परन्तु इस मे भी त्रुटियाँ पाई गईं।

जीन और जैफरी का सिद्धांत

उदाहरणार्थ इस सिद्धान्त के अनुसार ग्रह आरंभ मे छोटे शरीर के और ठंडे थे, बाद मे बढ़े और गर्म हुए। यह घटनाओं के प्रतिकूल प्रतीत हुआ। अतएव जीन और जैफरी ने एक तीसरा सिद्धांत प्रस्तुत किया जिसे 'ज्वार-भाटे का सिद्धांत' कहना चाहिए। संक्षेप मे इस सिद्धान्त का तर्क यह है कि चिरकाल पर्यंत बहुत से नक्षत्रों की भाँति सूर्य भी अकेला नक्षत्र था जो विश्व मे परिक्रमा करने मे लगा हुआ था। संयोगवश यह एक ऐसे नक्षत्र के निकट से हो कर निकला जो आकार मे इस से कहीं अधिक बड़ा था। प्रकृति का नियम है कि जब दो शरीर निकट आते है तब एक दूसरे को आकर्षित करते है। इसी को आकर्षण शक्ति कहते है। इस का परिणाम यह होता है कि इन पिंडों के भाग एक-दूसरे की ओर खिचने लगते है और इन के शरीर आकर्षण के कारण लमछुए आकार के बन जाते है। इस क्रिया का उदाहरण चंद्रमा और पृथ्वी के संबंध मे मिलता है। चंद्रमा की आकर्षण शक्ति से पृथ्वी का पानी खिचता है और उसी खिंचाव के कारण समुद्र मे ज्वारभाटा आता है। जब सूर्य उस बड़े नक्षत्र के निकट आया तो उस मे भी ज्वारभाटा उत्पन्न हुआ। कारण यह हुआ कि सूर्य एक तपता हुआ ज्वलंत पिंड है जिस की सतह या तल भाप की दशा मे है। नक्षत्र की आकर्षण शक्ति ने जब भाप को अपनी ओर खींचा तो सूर्य के दोनों

और भाप की दो ज्वाले लपट निकल आई फिर यह बढती गई और आकर्षण के कारण एक ओर मुड गई। अनत: एक ही ओर से सूर्य के चारो तरफ घूमने लगी। बडा नक्षत्र तो अपनी राह लगा। लेकिन ज्वालो के केंद्र से दूर होने के कारण इन के ताप में कमी हो गई। और उन मे तरलता उत्पन्न हो गई। अब यह तरल पिड सूर्य से पृथक् हो गए और इस प्रकार ग्रहो की व्युत्पत्ति हुई।

इसी काल मे, जब कि ग्रहो का निर्माण हो रहा था, सूर्य की निकटता ने ग्रहो मे ज्वारभाटे की दशा उत्पन्न की ओर ग्रहो के ग्रह अर्थात् उपग्रह उत्पन्न हुए। इस प्रकार सौर-जगत का निर्माण हुआ। सूर्य की भाप से इधर तो ग्रह और उपग्रह उत्पन्न हुए, उधर कुछ भाप सूर्य के चारो ओर वातावरण मे रह गई, जिस ने ग्रहो की गति मे रुकावट पैदा की और इस प्रकार इन की गति का मार्ग अडाकार होने के स्थान पर लगभग गोल चक्राकार हो गया। अंत मे शेष भाप या तो सूर्य मे समा गई या कुछ वातावरण मे रम गई।

इस प्रकार तेरह हजार से अस्सी हजार पद्म वर्ष का समय हुआ कि हमारा सूर्य जो किसी अज्ञात काल से एकाकी आकाश की यात्रा मे सत्रद्ध था अंतत. आकाशपिडो के परिवार का पूर्वज बना। इस परिवार की पूर्ति में लगभग सात अरब वर्ष का समय लगा। आरभ मे इस का प्रत्येक सदस्य सूर्य की भाँति वाष्पमय था परन्तु धीरे-धीरे इन की दशा में परिवर्तन हुआ।

सौर-मडल मे केवल पृथ्वी को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि वह मनुष्य का निवास-स्थान बने। परन्तु, इस पिड की प्रारभिक दशा ऐसी नही थी कि मनुष्य इस पर जीवन निर्वाह कर सके। हजारों वरन् लाखो वर्ष के परिवर्तनो के अनतर यह स्थिति उत्पन्न हुई। इन परिवर्तनो का इतिहास मनोरजन से शून्य नही है।

इस इतिहास का पहला क्रम अपेक्षत कम समय मे समाप्त हो गया। पहले पाच हजार वर्ष मे भाप का पिड तरल स्थिति को प्राप्त हुआ और उस के दस हजार वर्ष

पृथ्वी का ठोस होना

के अनतर ठोस होने लगा। इस क्रिया का मुख्य-कारण यह था कि पृथ्वीतल से ताप घटता गया। भौतिक विज्ञान का यह एक सर्वमान्य सिद्धात है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। यदि वस्तुओ का भौतिक विश्लेषण किया जाए तो यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक वस्तु का वास्तविक सार गतिशील द्रव्य (मैटर) है। द्रव्य वह वस्तु है जिस मे गति का प्राकृतिक ससर्ग

है और गति वह है जो द्रव्य को विभिन्न रूप प्रदान करती है। ताप, स्वर, प्रकाश, विद्युत्, चुम्बक इत्यादि शक्तियाँ इसी गति के भिन्न-भिन्न रूप हैं जो सवर्ण होने के कारण एक रूप से दूसरे रूप में बदल जाते हैं। द्रव्य गति का वाहन मात्र है और गति द्वारा प्रबंध का अनैक्य प्रदर्शित होता है। वरन् कहना यह चाहिए कि वास्तव में द्रव्य और गति अभिन्न हैं जिन्हें समझने की सुगमता की दृष्टि से दो नाम प्रदान कर दिए गए हैं। और इस कारण कि गति से तात्पर्य होता है स्थान अथवा स्थिति में परिवर्तन का, संसार की प्रत्येक वस्तु का सार गतिशील द्रव्य है। स्वभावतः जगत का परिवर्तनशील होना अनिवार्य है। यह परिवर्तन भाँति-भाँति के रूप ग्रहण करता है। यही कारण है कि प्रत्येक भौतिक वस्तु की गति और शक्ति बदलती रहती है। गर्म वस्तु से ताप निकलता है। ठंडी वस्तुएं इस ताप का शोषण कर लेती हैं। हमारे ब्रह्मांड का आकाश ताप का सब से प्रबल शोषक है। और इस की गोद में चंचल गति के उन्माद उस समय तक स्वप्न-लिप्त रहते हैं जब तक कि प्रलय का गर्जन उसे पुनः न जागृत कर दे।

इन व्यापक सिद्धांतों के अनुसार भूमंडल अपनी प्रारंभिक दशा को बदलता है। सूर्य से पृथक् होते समय इस का ताप १२०० से १६०० दर्जे का था। ताप के निकलने के कारण तरल अवस्था उत्पन्न हुई और फिर वह ठोस होना आरम्भ हुआ। जमा हुआ पदार्थ जिस का घनत्व तरल पदार्थ की अपेक्षा अधिक होता है, सतह या तल पर जमने लगा। लेकिन इस स्थिति में स्थिरता असंभव है। इस लिए सतह का ठोस पदार्थ टूट कर अंदर की तरफ गिरता है और तरल पदार्थ में डूब जाता है। यह क्रिया बहुत काल तक चलती रहती है, यहाँ तक कि तरल पदार्थ का ताप ठोस पदार्थ को द्रवित करने में व्यय हो जाता है और उस में पिघलाने की शक्ति शेष नहीं रहती। परिणाम यह होता है कि केंद्र पर ठोस पदार्थ का एकत्रीकरण हो कर छत्ते के रूप का गोला बन जाता है।

अब एक दूसरी क्रिया आरंभ होती है। ज्यों-ज्यों जमा हुआ पदार्थ भीतर की ओर एकत्र होता है उस पर दबाव बढ़ता है और उस के ताप में वृद्धि होती है। ताप बढ़ते-बढ़ते इस दर्जे तक पहुँच जाता है कि उस गोले का जमाव जाता रहता है। अब न वह तरल ही कहा जा सकता है न जमा हुआ ही वरन् उस में दोनों की विशेषताएं आ जाती हैं। भू-मंडल के इस केंद्रीय गोले के निर्माण के संबंध में विद्वानों का मत यह है कि वह अधिकांश लोहे का बना हुआ है।

आवरण का बनना

इस गोले की मोटाई ३५०० किलोमीटर और घनत्व पानी से ११ या १२ गुणा है।

लोहे के अर्धतरल गोले के चारों तरफ़ पथरीली चट्टानों का बड़ा मोटा आवरण है। यह आवरण २९०० किलोमीटर मोटा है और उस का घनत्व कम से कम ३५२ और अधिक से अधिक ५५५ है। आवरण की चट्टानो की रासायनिक बनावट खार की भाँति अर्थात् अम्ल-रहित है। भीतरी गोला और उस के आवरण का ताप उपर्युक्त कारणो से उतना ही है जितना कि भू-मडल का ताप उस के आरभ मे था। अर्थात् १२०० दर्जे से १४०० दर्जे तक। इस आवरण पर भी एक गिलाफ है जिस की मोटाई कम से कम दस मील और अधिक से अधिक सौ मील है। इस गिलाफ की तह पर पिघली हुई पावक चट्टाने है और उन के ऊपर दबाव से बनी हुई परतीली चट्टानो के पर्त है। इन चट्टानो का घनत्व २ से ३ तक है और इन की रासायनिक बनावट तेजाबी है।

धरती का ग़िलाफ़

ऊपर के गिलाफ के निर्माण का काल लगभग एक अरब तीस करोड़ साल का है। आरभ मे पृथ्वी का आकार बडा था, ताप की अधिकता थी और इस लिए कि चद्रमा अभी पृथ्वी से पृथक् नही हुआ था, पृथ्वी में भार भी अधिक था। पृथ्वी अपने धुरे के गिर्द चार घटे मे चक्कर करती थी। सूर्य की आकर्षण शक्ति के कारण वाष्पमय धरती पर प्रबल ज्वार-भाटे उत्पन्न हुए, जिन का परिणाम अत मे यह हुआ कि पृथ्वी का एक भाग पृथक् हो कर चद्रमा बन गया। इस के बाद वह स्थितियाँ उत्पन्न हुई जिन का वर्णन ऊपर हो चुका है। ऊपर का गिलाफ़ बनने के बाद पृथ्वी की परिक्रमा की गति पहले की अपेक्षा धीमी पड गई, वह बीस घटे मे धुरे का घेरा समाप्त करने लगी। जब उस का शरीर और ठडा हुआ और उस का घनत्व बढा, तो उस काम मे चौबीस घटे लगने लगे। अतएव आजकल एक दिन और रात चौबीस घटे के समय का नाम है। पृथ्वी के ठडे होने का दूसरा परिणाम यह हुआ कि ऊपर के आवरण और गिलाफ के ताप में बहुत अतर उत्पन्न हो गया। गिलाफ से जो ताप निकलता था, वह परिमाण में सूर्य के उस ताप से कही अधिक था जिसे पृथ्वी शोषण करती थी। धीरे-धीरे गिलाफ का अपना ताप बिल्कुल समाप्त हो गया और शून्य दर्जे पर पहुँच गया, परंतु अब सूर्य के ताप के कारण उस का परिमाण ७ दर्जे है। परतु

गिलाफ के नीचे केवल २०० मील की दूरी पर ताप १ ०० दर्जे है और चार सौ मील पर १२०० से १४०० दर्जे।

गिलाफ के ताप में कमी होने के कारण उस के आकार में भी कमी हुई। और जिस प्रकार तपा हुआ शीशा एकाएक ठंडा होने पर जोर से चिटखता है उसी तरह यह गिलाफ भी चिटखने लगा। चिटखने का परिणाम यह हुआ कि सतह में बड़े-बड़े गड्ढे उत्पन्न हो गए। कहीं-कहीं सतह ऊँची उठ गई, कहीं-कहीं नीचे बैठ गई। बीच में दरारें हो गईं और इन दरारों में से भीतर का तरल पदार्थ ऊपर आ गया। यह क्रिया भी बहुत काल तक चलती रही, यहाँ तक कि गिलाफ में बिल्कुल ठंडा हो जाने के बाद सिकुड़ने की गुंजाइश नहीं रही।

जल-थल का निर्माण

गिलाफ की टूट-फूट का परिणाम यह हुआ कि महाद्वीपों के मैदान और पहाड़ और समुद्र की गहराइयाँ पृथ्वी की सतह पर तैयार हो गईं। महाद्वीपों के प्रारंभ के विषय में विद्वानों की अब तक यह राय थी कि जिस समय में पृथ्वी का गिलाफ ठोस हुआ भीतरी गोले और आवरण का आकार छोटा हुआ और बाहरी गिलाफ तथा भीतरी मंडल में खाली जगह होने के कारण गिलाफ चिटखा तो उस के रूप में परिवर्तन हो गया। अभी तक तो गिलाफ गोल था लेकिन अब चिटखने के बाद चौकोना हो गया और उस की चारों सतहों पर चार महाद्वीप बन गए जो एक-दूसरे से बराबर दूरी पर स्थित थे। परंतु इस विचार में त्रुटियाँ जान पड़ीं और अब यह छोड़ दिया गया है।

अब यह विचार है कि जिस समय पृथ्वी के गिलाफ के ऊपर की तहें ठंडी पड़ीं तो उन में बड़ा तनाव उत्पन्न हुआ। यहाँ तक कि उन में फट कर दरारें बन गईं। फटी हुई सतह का रूप ऐसा था जैसा कि गर्मियों में नदी के किनारे फटी हुई जमीन का होता है। एक-एक भाग कई प्रांतों में विभक्त हो गया और दूसरे भागों के बीच गार उत्पन्न हो गए। इन हिस्सों की सतह भीतरी पदार्थ के सिमटने के कारण कमान के रूप की हो गई अर्थात् बीच में से ऊँची और किनारों पर नीची। बीच के हिस्सों के उठने का परि-णाम यह हुआ कि भीतरी अर्द्धतरल पदार्थ यहाँ एकत्र हो गया। इस प्रकार पृथ्वी का गिलाफ जो आरंभ में सम था अब सिलवटदार बन गया और सिलवटों के कारण पृथ्वी पर पहाड़ और गड्ढे उत्पन्न हो गए।

यहा से पृथ्वी के इतिहास का तीसरा क्रम आरम होता है। आजकल भू-मडल तीन मडलो से निर्मित है। (१) थल-मडल, जिस की सृष्टि और आरंभ का वर्णन ऊपर हो चुका है, बीच मे स्थित है। यह मडल तरल धातुओ के तप्त गोले, चट्टानो के आवरण और ठडे गिलाफ़ का बना हुआ है। (२) इस के चारो तरफ़ जल-मडल है अर्थात् पृथ्वीतल का बहुत बडा भाग समुद्रो से घिरा हुआ है। (३) समुद्र और थल के ऊपर वायु-मडल है जो मीलो तक पृथ्वी के चारो तरफ फैला हुआ है। प्रश्न यह है कि जल और वायु-मडल का आरभ कब और किस प्रकार हुआ?

जल-मंडल

समुद्रो का जल अथाह और अछोर जान पडता है और दिन पर दिन बढता ही जाता है। यह समस्त जल कहाँ से आया? ठीक और निश्चय उत्तर तो वर्तमान स्थिति मे सभव नही परतु सभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वी के तरल अंश मे आरभ से ही पानी उपस्थित था और स्पष्ट है कि वह वाष्प के रूप मे था। जब पिघली हुई चट्टाने गिलाफ के फटने के कारण ऊपर आई तो उन के साथ पानी की भाप निकली और सतह जमीन पर पहुँच कर ताप की कमी से तरल हो गई। अब भी ज्वालामुखी पर्वतो से राख और पिघली हुई चट्टानो के साथ भाप के फौवारे निकलते हुए दिखाई देते है जिस से हम तर्क कर सकते है कि किसी भूत काल मे ऐसी ही क्रिया ने पृथ्वी-तल के गड्ढो को पानी से भर दिया। ज्यो-ज्यो समय व्यतीत होता गया सतह के पानी के परिमाण मे वृद्धि होती गई। गणितज्ञो का अनुमान है कि पहले समुद्र को प्रकट हुए लगभग एक अरब वर्ष हुए।

जल और थल के चारो ओर वायु का एक घेरा है। इस वायु की रचना इस प्रकार है कि इस मे २१ प्रतिशत आक्सीजन और लगभग ७९ प्रतिशत नाइट्रोजन है। इन के अतिरिक्त बहुत स्वल्प परिमाण मे और गैसे है, जैसे आरगन, हिलियम, नीयन आदि। वायु में कार्बन डाइ आक्साइड और जल के वाष्प भी मिले हुए है। आरभिक वायुमडल मे आक्सीजन कम थी और कार्बन डाइ आक्साइड अधिक। जिस समय समुद्र की रचना हुई उसी समय वनस्पति की उत्पत्ति भी हुई और संभवत: उसी काल मे जतु भी उत्पन्न हुए। यह इस प्रकार के थे कि बिना आक्सीजन के जीवित रह सकते थे। वनस्पतियो ने वायुमडल की कार्बन डाइ आक्साइड का शोषण आरंभ किया और आक्सीजन को मुक्त किया और धीरे-धीरे वायु की आधुनिक रचना स्थिर हुई।

वायु-मंडल

जल और वायुमडल के आरंभिक काल में पृथ्वी का भौगोलिक रूप उस के वर्तमान रूप से बहुत भिन्न था। इस काल में पृथ्वी का आकार एक गोल पिड की भांति है जो दो सिरो पर चिपटा हुआ हो। यदि पृथ्वी के केंद्र से ध्रुव तक एक अर्द्धव्यास खींचे और दूसरा भूमध्यरेखा तक तो पहले की लंबाई दूसरे से तेरह मील कम होती है। इस का कारण यह है कि पृथ्वी की अपने धुरे के चारो ओर गति के कारण ध्रुवो पर पृथ्वी दब गई है, और भूमध्यरेखा के निकट उभर आई है।

पृथ्वीतल का रूप

पृथ्वीतल के निरीक्षण से कुछ विशेषताएं दिखाई देती है। एक तो यह कि पृथ्वी का २९ प्रतिशत भाग सूखा है। और इस की औसत ऊँचाई समुद्र के तल से २३१० फीट है। सूखा भाग महाद्वीपों के मैदानों से बना हुआ है, जिस पर पहाड स्थित है। पहाडो की श्रेणियाँ कई प्रकार के चट्टानो से बनी है। इन के नीचे तो ज्वालामुखी चट्टानें है जो गिलाफ के फटते समय तरल पदार्थ के प्रवेश पाने के कारण बनी है। उन के ऊपर परतदार चट्टानो की तहें है। पहाडी भागो की स्थिति महाद्वीपो के मैदानो पर है। महाद्वीपों की नीव जिस पृथ्वी पर है उसे ढाल कहते है और पहाडी भू-भागो से इस मे यह अतर है कि उस मे परते नही है। इन नीव के ढालो को गिलाफ के वास्तविक भाग समझना चाहिए जो अत्यत दृढ और कठोर है लेकिन जिन की ऊँचाई अधिक नही है। यहाँ तक कि कही-कही पर वह उथले समुद्रो से ढँके हुए है।

महाद्वीपो से लगे हुए वह भाग है जो ६००० फ़ीट की गहराई तक समुद्रो के किनारे-किनारे चले गए है। यह भाग कभी पानी के नीचे हो जाते है कभी पानी के ऊपर। इस भाग को महाद्वीपीय अंचल कहना अनुचित न होगा। महाद्वीपीय अचल पर कीचड, रेत, बजडी, घोंघे और मूँगे जमा हो गए है।

समुद्र की तलहटी की औसत गहराई १२५०० फ़ीट है जिस का अर्थ यह है कि साधारण रीति से समुद्र की गहराई महाद्वीपो की ऊँचाई से छ गुनी है। कुछ स्थलो पर समुद्र ३०००० फीट से भी अधिक गहरा चला गया है। तलहटी पर मुलायम दलदल है, जो वानस्पतिक तथा जतु पदार्थो से निर्मित है। दलदल के नीचे क्या है इस का अभी तक पता नही लग सका। सभवत. ज्वालामुखी चट्टानें है जिन की रचना समुद्री टापुओ

से मिलती-जुलती है समुद्र की तलहटी महाद्वीपीय तल से कही अधिक ठंडी है और इस के ताप मे कमी-बेशी नही होती है। तलहटी की चट्टाने खार जैसे पदार्थ से निर्मित है। यह महाद्वीपीय चट्टानों से अधिक घनी और दृढ़ है।

पृथ्वी के वर्तमान रूप से हम इतने परिचित हो गए है कि इस की विशेषताएँ हमें आश्चर्य मे नही डालती। परन्तु यथार्थ बात तो यह है कि पृथ्वीतल का वर्तमान विभाग आश्चर्यजनक है। इस पर पाँच महाद्वीप है अर्थात् यूरेशिया, अफ़्रीका, उत्तरी अमरीका, दक्षिणी अमरीका और दक्षिणी ध्रुव। और पाँच ही समुद्री विभाग है अर्थात् प्रशात महासागर, उत्तरी समुद्र, दक्षिणी समुद्र, हिंद महासागर, मेडिटेरेनियन सागर और उत्तरी ध्रुव सागर। महाद्वीपो में से तीन तिकोने आकार के है अर्थात् उत्तरी और दक्षिणी अमरीका तथा अफ़्रीका। तीनों त्रिकोणों की आधाररेखा उत्तर मे है और नोके दक्षिण मे। यूरेशिया भी प्राय तिकोने आकार का है। इस की उत्तरी सीमा सत्रहवे अक्षांश के बराबर चली गई है। दूसरी अर्थात् पश्चिमी सीमा अरब, हिंदुस्तान और मलाया प्रायद्वीप मे से होती हुई जाती है और तीसरी या पूर्वीय प्रशान्त महासागर के पश्चिमी तट से बनी है। इस से यह परिणाम निकलता है कि महाद्वीपों की उत्तरी सीमाएँ पूर्व से पश्चिम को स्थिर हुई है। और दूसरी सीमाएँ भूमध्यरेखा या उस के बराबर की रेखाओ मे से टेढी हो कर निकली है। महाद्वीपो मे ही यह विशेषता नही है; वरन् देशो की भूमि का आकार भी तिकोना दिखाई देता है। उदाहरण के लिए हिंदुस्तान और ग्रीनलैंड है, यद्यपि आस्ट्रेलिया और दक्षिणी ध्रुव के भूभाग का आकार विभिन्न है।

भूभागो की वर्तमान रूप-रेखा से यह अनुमान स्वाभाविक है कि भूभागो और समुद्रो का विभाग आकस्मिक नही है, वरन् किसी नियम के अनुसार घटित हुआ है। यदि किसी महान शक्ति की क्रिया न होती तो क्या कारण था कि पृथ्वी जल और थल मे विभक्त होती और समुद्र समस्त पृथ्वी के आवरण को न ढक लेता। समुद्रो की गहराई मे समानता का न होना और पाँचो महाद्वीपो का अलग-अलग होना भी कम आश्चर्य की बात नहीं है।

महाद्वीप मिल कर क्यो एक भूभाग नही बन गए, जिस के चारों ओर पानी होता, क्यो ऊँचाई और गहराई के विभाग मे समता और बराबरी है, और क्यो एक ओर अर्थात् दक्षिणी गोलार्द्ध पर पानी का अधिकार है और क्यो उत्तरी गोलार्द्ध पर थल का? यह

सब प्रश्न एक ही उत्तर की ओर संकेत करते है परंतु ठीक ठीक उत्तर देने में अभी विज्ञान असमर्थ है। फिर भी जो सिद्धांत इन गुत्थियो को सुलझाने के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं, मनोरंजन से शून्य नही हैं, और वह यहाँ दिए जाते है।

जल-थल का वर्तमान विभाग

आजकल भूगर्भ-विद्या जाननेवाले बहुधा इस बात पर सहमत है कि जल-थल का वर्तमान विभाग स्थायी नही है। इस मे समय-समय पर परिवर्तन होते रहे है। एक समय मे जो थल के बडे-बडे भाग थे आज उन पर सागर लहरे मार रहा है लेकिन इस का कोई प्रमाण नही मिला है कि समुद्र की तलहटी के कोई भाग महाद्वीप बन गए हो। यह जान पडता है कि समुद्र की गहराइयाँ आरभ से स्थिर है और परिवर्तनशील नही है। इस की पुष्टि मे कई बाते बताई जा सकती हैं। उदाहरण के लिए यह मालूम है कि समुद्र की तलहटी के दलदल की रचना किस प्रकार की है। पृथ्वी के तल पर अभी तक कोई ऐसी चट्टान का पता नही चला है कि जिस की उत्पत्ति इस दलदल से हुई हो। इस से परिणाम यही निकलता है कि जो धरती गहरे समुद्र के नीचे थी वह कभी उभर कर पानी के ऊपर नही आई।

पृथ्वी-तल के विभाजन मे परिवर्तन का कारण थल के परिवर्तनो का [illegible] है। इस लिए इस बात के जानने की आवश्यकता है कि महाद्वीपो का आरभ और प्रादुर्भाव कैसे हुआ। इस के संबध मे जो मंतव्य पिछले दस-बीस वर्षो मे वैज्ञानिको ने स्थिर किया है वह अत्यंत आश्चर्यजनक है। इस मंतव्य के अनुसार महाद्वीप की भूमि क्षितिज की दिशा मे अस्थायी है। चूँकि महाद्वीप पृथ्वी के गिलाफ का भाग है, और गिलाफ आवरण के अर्द्धतरल पदार्थ पर तैरता है इस लिए महाद्वीप इधर-उधर डोलते रहते हैं। आरभ मे धरती का समस्त भाग एक मे मिला हुआ था। परंतु जब पृथ्वी का गिलाफ फटा तो फटे हुए टुकडे एक दूसरे से पृथक् हो गए। अतएव यूरोप और अफ्रीका का पश्चिमी किनारा अमरीका के पूर्वीय किनारे से ऐसा मिलता है कि यदि दोनो महाद्वीपो को एकत्र किया जाय तो दोनो एक दूसरे मे बैठ जायँ। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया हिंदसागर मे खप जाता है और अन्य महाद्वीपो की भी यही कथा जान पडती है।

महाद्वीपो की गति के संबंध मे जो बाते निश्चय के निकट पहुँच गई है वह निम्न लिखित हैं।

यह प्रदेश पृथ्वी के वे भाग हैं जहाँ गिलाफ कमजोर और अस्थायी है इन भागो मे ज्वालामुखी पहाड स्थित है और यहाँ भूकपो का प्रकोप रहता है। ज्वालामुखी पर्वत वास्तव मे भीतरी तप्त और तरल पदार्थ को बाहर निकालने के मुँह है। यह मुख उन स्थानो पर स्थित है जहाँ पृथ्वी का गिलाफ कमजोर है और चिटख रहा है। जब इस मे दरार उत्पन्न होती है तो नीचे का तरल पदार्थ वेग से ऊपर आता है और इस के साथ राख और भाप बाहर निकलती है। इसी प्रकार इस प्रदेश मे भूकप भी उत्पन्न होते रहते है। क्योकि चट्टानो के चिटखने से उथल-पुथल उत्पन्न हो जाती है। और गति की लहरे जिन्हे भूकप कहते है चारो ओर फैलती है। यह प्रदेश जल और थल के किनारो पर स्थित है। उदाहरण के लिए प्रशात महासागर के तट पर एक अस्थिर प्रदेश है और दूसरा मेडिटेरेनियन सागर और आल्प्स और हिमालय पहाडो से हो कर निकला है। समुद्री टापू जैसे हवाई, आइसलैड, और दक्षिणी ध्रुव के आस-पास भी ऐसे प्रदेश स्थित है।

(१) पृथ्वीतल के अस्थिर प्रदेश

यह अस्थिर प्रदेश जो पृथ्वी की क्षितिजवर्त्ती गति के प्रदर्शन है, पृथ्वी के भीतरी ताप की क्रमागत कमी के कारण उत्पन्न हुए है। परतु इस का वर्णन ऊपर हो चुका है इस लिए उस को दुहराने की आवश्यकता नही।

पृथ्वीतल की ऊँचाई और नीचाई मे सामजस्य है। यद्यपि पहाडो मे पदार्थ का परिमाण अधिक मालूम पड़ता है, लेकिन वास्तव में समुद्र की तलहटी का पदार्थ अधिक घन है। निरीक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पृथ्वी के गिलाफ की चट्टानो का कठोरपन सतह पर कम है और ज्यो-ज्यो भीतर जाते जाये बढता जाता है और सभवत १०० किलोमीटर की गहराई पर पहुँच कर कठोरपन फिर घटने लगता है, यहाँ तक कि २०० किलोमीटर की गहराई पर यह बहुत कम हो जाता है और ४०० किलोमीटर पर बिलकुल लोप हो जाता है। इन घटनाओ से सामजस्य के कारणो पर प्रकाश पडता है और यह भेद खुल जाता है कि क्यो पृथ्वी के गिलाफ की ऊँचाई या गहराई का प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता। उदाहरण के लिए समुद्र, मैदान, घाटी और पहाड कही भी चले जाइए आकर्षण मे समता मिलेगी और पदार्थ के घनत्व की अधिकता अथवा न्यूनता गति और चचलता नही उत्पन्न करती। पृथ्वीतल की सापेक्ष शाति का कारण यह मुआविजे का

(२) मुआविजे के सिद्धांत

सिद्धात या सामजस्य का सिद्धात है जिस के अनुसार ऊँचाई और नीचाई मे परस्पर सामजस्य स्थापित है।

जाँच करने से पता चला है कि पृथ्वी पर पानी का परिमाण बढ़ता जाता है। यह पानी तरल चट्टानो मे से निकलता है और ज्वालामुखी पर्वतो द्वारा तल पर आता है। यदि समस्त जल पृथ्वी पर फैला दिया जावे तो उस की औसत गहराई दो मील से अधिक न होगी। यह स्पष्ट है कि जिस मडल का धुरा आठ हजार मील हो उस पर दो मील पानी एक पतली झिल्ली से अधिक नही कहा जा सकता।

(३) समुद्र की गहराई और परिमाण का परिवर्तन

परन्तु यह जल पृथ्वी पर समान रूप से फैला हुआ नही है, बरन वह बहुत बड़ी बड़ी गहराइयो मे, जिन्हे हम समुद्र कहते है, एकत्र है। इन समुद्रो की गहराई पृथ्वी की गति के साथ-साथ घटती-बढती रहती है। आरभ मे तो गहराइया गिलाफ की टूट-फूट से उत्पन्न हुई परतु पृथ्वी एक मडल है जो अपनी धुरी के चारो ओर घूमती है इस लिए इस गति का उस के आकार पर प्रभाव पडता है। आरभ मे गति की मात्रा अधिक थी, इस लिए भूमध्यरेखा पर पृथ्वी उभरी हुई थी। ज्यो-ज्यो गति धीमी होती गई उभार कम होता गया जिस का परिणाम यह हुआ कि पानी भूमध्य भागो से बह कर ध्रुव-प्रदेशो मे चला गया और समुद्र की गहराई और पानी के परिमाण मे अतर उत्पन्न हो गया।

यहाँ तक पृथ्वी के इतिहास के दो अध्याय वर्णित हुए। पहला अध्याय पृथ्वी के सूर्य से पृथक् होने से आरंभ होता है। दूसरा वायु और जलमडल के निर्माण पर समाप्त होता है। यहाँ से तीसरा अध्याय चलता है। जल और वायु पृथ्वी के तल पर नए प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न करते है जो पृथ्वी को मनुष्यो के रहने योग्य बनाते है।

हवा और जल का पृथ्वी पर प्रभाव

पृथ्वीमडल जो प्रत्येक द्रव्य की भाँति परिवर्तन-शील है तीन प्रबल शक्तियो के प्रभाव से बदलता रहता है। प्रथम ताप का क्रमागत ह्रास है जो पृथ्वीमडल के आकार को कम करता है और सतह के गिलाफ मे ऊर्ध्व गति उत्पन्न करता है जिस का परिणाम पहाडो और समुद्रो की ऊँचाई और गहराई मे परिवर्तन होना है। दूसरे ज्वालामुखी क्रिया है जिस का गहरा सबध पहली शक्ति से है और जिस के कारण भूकप आते है। भीतरी तरल पदार्थ भाप को ऊपर लाता है और पृथ्वीतल को वायु और जल की चादरो मे ढाँक देता है। तीसरी क्रिया जल और वायु की गति से संबध रखती है।

पृथ्वी क इतिहास का तीसरा अध्याय इ है। दो कायकर्ताओ की   तथा विध्वसा त्मक क्रातयो का वणन ह

यद्यपि वायु और जलमडल की हैसियत एक झिल्ली से अधिक नही है परन्तु मनुष्य के दृष्टिकोण से इस का महत्व अधिक है। कारण यह है कि पृथ्वी का गिलाफ जो ज्वालामुखी चट्टानो से बना हुआ है उन्ही मडलो के प्रभाव से इस योग्य होता है कि जीवन के प्रभावशाली नाटक का मच बने। कठोर और दृढ ज्वालामुखी चट्टाने जल और वायु के मृदु और कोमल प्रभाव से सुगठित होती है और पृथ्वी का गिलाफ़ नरम और रोचक पदार्थ से ढक जाता है। समय की गति से यह पदार्थ परतदार चट्टानो मे परिवर्तित हो जाता है। ऊपर की परतो का दबाव, भीतरी ताप, पृथ्वी के आकार मे परिवर्तन, उस की अपनी धुरी पर गति, सूर्य की गर्मी इत्यादि ऐसे कारण है जो परतदार चट्टानो को उथल-पुथल कर के, जल और थल मे नित नए आश्चर्य उत्पन्न करते है।

वायु और जल की गति का आधार सूर्य का ताप है। ज्वालामुखी चट्टानो का गिलाफ़ हवा और पानी की गति से रगड खा कर घिसता है। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति घिसे हुए कणो को ऊँचे स्थलो से नीचे स्थलो मे ले जाती है। इस प्रकार ऊँची सतहे सम होने और गहराइयाँ भरने लगती है। पृथ्वी के गिलाफ की विषमताएँ समता की ओर प्रवृत्त होती है। इस क्रिया के कई रूप है। एक तो भौतिक क्रिया है। चट्टान सूर्य के ताप से गर्म होती है, पानी उसे ठडा करता है, और गर्मी सर्दी के प्रभाव से चट्टान चिटख जाती है। चिटखी हुई चट्टान की दरारो में पानी बैठ जाता है और सर्दी से जम कर दरारो को बढ़ा देता है। इस प्रकार चट्टानो की चोटियो और ढलवानो पर कंकरियाँ इकट्ठा हो जाती है। भौतिक क्रिया के साथ-साथ रासायनिक क्रिया भी होती रहती है। आक्सीजन, पानी और कार्बन डि आक्साइड जो वायु मे सदा उपस्थित है चट्टानो के खनिज अशों मे मिल कर उस की बनावट को बदलते रहते है। परिणाम यह होता है कि चट्टान का मिश्रित शरीर चूरा-चूरा होने लगता है और एक ठोस शरीर के स्थान पर कणो के ढेर बन जाते है। बाद मे जब पृथ्वी पर प्राणी उत्पन्न हो जाते है तो वह भी प्राकृतिक तथा रासायनिक क्रियाओ के साथ अपनी क्रिया आरभ कर देते है और चट्टानो की तोड-फोड़ मे भाग लेते है।

वायु चट्टान की रेत और गर्द को उडाती है। यह गर्द और रेत गड्ढो को भरती है और टीलों को बनाती है। थल पर गिरती है तो घाटियो की नरम ज़मीन बनाती है, समुद्र

पर गिरती है तो एक चिरकाल तक महाद्वीपीय पदार्थ की न्यूनता का कारण रहती है पानी वर्षा और बर्फ के रूप में धरती पर गिरता है और नदी, कुँओ और बर्फीली नदियों के रूप मे पृथ्वी पर इस की क्रिया होती है। चट्टानो की चोटियों और ढलवानो पर जो पदार्थ एकत्र होता है उसे बहाता है और समुद्र की ओर ले जाता है। उस की क्रिया और सलग्नता का अनुमान केवल एक उदाहरण से हो सकता है। उत्तरी अमरीका की एक मिसीसिपी नदी चौबीस घटो मे दस लाख टन कीचड और तलछट मेक्सिको की खाडी मे पहुँचा देती है। और हिसाब लगाया गया है कि प्रत्येक ९००० वर्ष के समय मे उत्तरी अमरीका की एक फुट जमीन नदियो द्वारा समुद्र की भेट हो जाती है। जो जल सतह पर बहने के स्थान पर धरती मे प्रवेश कर जाता है वह भीतरी चट्टानो को खोखला कर देता है। पत्थरो को छिद्रपूर्ण बना देता है और धातु पदार्थ को घुलाता है। यही पानी कुँओ द्वारा बाहर आता है और सतह के पानी के भाग्य का भागी होता है। बर्फानी नदी के रूप मे पानी पहाडो की आकृति बदलने का काम करता है और उन्हे काट और छील कर सम करने के प्रयत्न मे बराबर लगा रहता है।

साराश यह कि हवा और पानी की ध्वसकर क्रिया ही पृथ्वी की काट-छाट का एक प्रबल कारण है जिस के द्वारा तलछटी चट्टाने प्रकट होती है। लाखो वर्षों की क्रिया से ज्वालामुखी चट्टानो का गिलाफ उन तलछटी चट्टानो की बहुत मोटी मोटी तहो से ढक गया। उन्ही की जॉच से भूतत्वशास्त्र की नीव पड़ी और विकास का व्यापक सिद्धात प्रमाण के दर्जे तक पहुँचा। इन्ही चट्टानो मे पृथ्वी के इतिहास का सारा दफ्तर है। इन्ही मे पृथ्वी के विकास का हाल छुपा है और इन्ही मे जीवों के विकास और उन्नति के दृढ और अकाट्य प्रमाण मिलते है।

बहुत जांच और खोज के बाद अब यह मालूम हुआ है कि चट्टानो के पांच स्तर है जो पृथ्वी के इतिहास को पाँच कालो मे विभक्त करते है। पहले स्तर को आदिम स्तर और काल को आदिम काल कहना चाहिए। इस का आरम्भ आठ करोड से आठ अरब वर्ष पहले हुआ और इस का समय दो करोड़ वर्ष से दो अरब वर्ष पर्यंत माना जाता है। इस काल की चट्टानो में जीवो के चिह्न कम है। शिलाभव (फ़ासिल) पशु और वनस्पतिया नही है। इस के बाद दूसरा स्तर मिलता है। इसे प्रथम या प्रारंभिक स्तर कहते है। उस

तलछटी चट्टानों के स्तर और काल

के निर्माण का काल प्रारंभिक या प्रथम युग कहलाता है इस स्तर में शिलाभव अवशेष मिलते है परंतु बहुत ही कम। संभवत- इस युग मे बिना हड्डी के जीव पाए जाते थे जैसे द्रव-शरीर की मछलियाँ, हरी काई इत्यादि। इस का समय छ करोड़ से छ अरब वर्ष पूर्व है और यह युग डेढ करोड से डेढ अरब पर्यंत माना जाता है। इस के बाद द्वितीय स्तर आता है जो कि द्वितीय युग मे तैयार हुआ। इस स्तर मे सात परते मिलती है। प्रत्येक परत मे विशेष प्रकार की शिलाभव वनस्पतियाँ और पशु पाए जाते हैं। सब से पुराने परत में समुद्री जीवो के चिह्न है लेकिन रीढवाले पशु बहुत कम है। सब से नए परत मे बडी रीढ वाले पशु पत्थर हुए रूप मे मिलते है। इस का समय साढे तीन करोड से साढे तीन अरब वर्ष पहले आरंभ होता है और डेढ करोड से डेढ अरब वर्ष पर समाप्त होता है। यहाँ से तीसरे स्तर की परते आरंभ होती है जो तीसरे युग मे तैयार हुई। इस स्तर मे चार परते है। सब से नीची परत मे दूध पिलाने वाले पशुओ की हड्डियाँ हैं। उस से ऊपर की परत मे पक्षियो और ऊपर की परतो मे रेंगने वाले पशुओ की। इस के काल की सीमाएं है डेढ करोड से डेढ़ अरब वर्ष और ४० लाख से ४ करोड़ वर्ष। इस के बाद चौथा स्तर आता है, जो सब के निकट के समय मे अर्थात् चौथे युग में तैयार हुआ। इस का आरंभ ४० लाख से चार करोड वर्ष पहले हुआ और इस समय पृथ्वी इसी युग में चल रही है। इस स्तर मे ७ परते पाई जाती है। नीचे की तीन परतों मे वर्तमान पशुओं की सभी जातियाँ मिलती है। तीसरी या चौथी परत मे मनुष्य के आकार के पशुओ का वंश पाया जाता है। चौथी परत में, जिसे बने हुए लगभग छ लाख वर्ष हुए मनुष्य की सब से प्रथम खोपडी मिली है जिसे जावा के टापू मे ट्रिनिल स्थान पर डाक्टर दोबवा ने प्राप्त किया है। पाँच लाख वर्ष हुए कि पृथ्वी के चौथे युग मे वर्फीले युगो का आरंभ होता है जिस की आज से पैंतीस हजार वर्ष पहले समाप्ति हुई। वर्फीले युगो के अनंतर मनुष्य ने वातावरण को इस योग्य पाया कि सभ्यता की पहली सीढ़ी पर पग रक्खा।

जल-थल का वर्तमान विभाग, देशो और समुद्रो की वर्तमान स्थिति उन परिवर्तनो का परिणाम है जो इन पाँच युगो मे घटित हुए। इस लिए कि मनुष्य का संबंध अंतिम युग से है यहाँ उन परिवर्तनो की चर्चा अनुपयुक्त न होगी, जिन के द्वारा पृथ्वी का वर्तमान मानचित्र व रूप-रेखा तैयार हुई।

पाँच युगों में जल-थल विभाग

पहले युग का अंत पृथ्वी के बड़े महत्त्वशाली कालों में से है। उस समय उस का थल भाग दो बड़े टुकड़ों में विभक्त था। उन के चारों ओर समुद्र थे और बीच में कहीं-कहीं बड़े टापू थे। उत्तरी थल भाग उत्तरी अमरीका, और ग्रीनलैंड और ब्रिटेन से मिल कर बनता था। दक्षिणी भाग दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका, हिंदुस्तान और आस्ट्रेलिया से। स्कैन्डिनेविया एक बड़ा टापू था। उन दोनों भागों के बीच समुद्र लहराता था, जिसे टेथिस का नाम दिया गया है। दूसरे युग में इन प्रदेशों में परिवर्तन उपस्थित हुए। समुद्र ने दक्षिणी भाग के टुकड़े कर डाले। चीन, बर्मा, मलाका, पूर्वीय द्वीप-समूह और आस्ट्रेलिया एक हिस्से में हो गए जिसे अगारा प्रदेश कहते हैं। हिंदुस्तान, मैडागास्कर, दक्षिणी अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका दूसरे में। इस का नाम गोंडवाना प्रदेश है। मध्य-एशिया का टुकड़ा पृथक् हो गया। तीसरे युग के आरंभ तक टेथिस नष्ट हो चुका था और उस के स्थान पर मेडिटेरेनियन, कास्पियन और कैबियन सागर हो गए थे। गोंडवाना प्रदेश में खाड़ियों द्वारा विनाश के चिह्न प्रकट हो गए थे। अतएव आगे चलकर इन खाड़ियों ने एक ओर दक्षिणी समुद्र और हिंद महासागर का रूप ग्रहण किया दूसरी ओर ब्राजिल और मेक्सिको के बीच समुद्र स्थापित कर दिया। तीसरे युग के समाप्त होते-होते स्थिति और भी बदल गई। उत्तरी अमरीका, ग्रीनलैंड और ब्रिटेन अभी तक एक ही महाद्वीप के भाग थे। दक्षिणी अमरीका अफ्रीका से मिला हुआ था, लेकिन अफ्रीका के पूर्वीय किनारे लैमूरिया टापू से पृथक् हो गए थे। लैमूरिया में हिंदुस्तान और मैडगास्कर सम्मिलित थे। अगारा प्रदेश बढ़ कर न केवल संपूर्ण एशिया पर अधिकारी हो गया वरन् स्कैंडिनेविया से भी मिल गया। लेकिन लैमूरिया और अगारा के बीच जहाँ आज हिमालय की ऊँची चोटियाँ आकाश से बातें करती हैं समुद्र लहराता था। बर्मा, मलाका और द्वीप-समूह एक थल भाग में मिले थे और आस्ट्रेलिया और उस के टापू दूसरे में। यूरोप का अधिकांश जल में डूबा हुआ था। चौथे युग के आरंभ में अमरीका और अफ्रीका एक तरफ, मैडागास्कर और हिंदुस्तान दूसरी तरफ पृथक् हुए और यूरेशिया के दो भाग हो गए। रूस और साइबेरिया के बीच खाड़ी बनी। इटली, बाल्कन और ग्रीस अभी पानी से बाहर न निकले थे। बर्फीले युग का प्रादुर्भाव होते-होते, महाद्वीपों की वर्तमान रूप-रेखा अर्थात् पृथ्वी की ऊँचाइयाँ तथा गहराइयाँ और जल-थल भाग जिन से हम परिचित हैं स्थापित हो चुके थे। यह काल लगभग पाँच लाख वर्ष बना रहा और इस के परिवर्तनों ने मानचित्र पर

प्रभाव डाला परंतु बर्फीले युग के परिवर्तन उस परिमाण के न थे जो पहले पांच युगों मे प्रकट हुए। बर्फीले युग की समाप्ति मे पृथ्वी के इतिहास का तीसरा अध्याय समाप्त हो जाता है, क्योंकि इस समय से एक नई शक्ति प्रकट होती है जो प्राकृतिक शक्तियो के साथ-साथ पृथ्वी पर नए परिवर्तन उपस्थित करती है, यह शक्ति है मनुष्य की बुद्धि।

भारतीय नृत्य की कुछ विशेष बातें

[लेखक—श्रीयुत गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

नृत्य का इतिहास कदाचित् उतना ही प्राचीन है जितना मनुष्य जाति का। इस में कोई सदेह नही कि नृत्य मानव-जीवन का एक अगविशेष है। आदिम मनुष्य से ले कर आज तक प्रत्येक जाति तथा प्रत्येक देश के मनुष्य के जीवन के साथ किसी न किसी रूप मे नृत्य मिला हुआ है। अफ्रीका आदि देशो की वर्बरतम जातियो के लोगो में तथा पक्षियो और पशुओ मे भी, भिन्न-भिन्न रूपो मे नृत्य का होना यह सिद्ध करता है कि यह कला नही प्रत्युत जीवन ही है। जहाँ जीवन की उमग है, वही नृत्य है। कला के रूप मे इस का सुसस्कार सभ्य मनुष्य ने किया है। कोल, भील आदि जगली जातियों तथा मयूर आदि पक्षियो को नाचना किस ने सिखलाया था? कौन कह सकता है कि इन के नृत्य मे जीवन का सारा आकर्षण नही है? प्राणियो के अतिरिक्त जड़ प्रकृति के जीवन में भी नृत्य की कमी नही है। पहाडी झरनो और नदियो का द्रुत नृत्य, मैदानो की बडी नदियो की सौम्य गति मे नृत्य का मादक प्रवाह कोई भी रसज्ञ अनुभव किए बिना नही रह सकता।

कला के रूप मे नृत्य का विकास मानव-समाज में सभ्यता के उदय के साथ आरभ होता है। सब से पहले किस देश के निवासी सभ्य हुए, इस प्रश्न पर विचार करने का अवसर यह नही है। यहाँ पर हम केवल इतना ही कहेंगे कि भारत की सभ्यता यदि सब से पुरानी न भी हो, तो भी बहुत पुरानी अवश्य है। ऋग्वेद के रचना-काल के कुछ पहले से ही भारतीय सभ्यता का उदय मानना पडेगा। ऋग्वेद का रचना-काल सभी विद्वानो द्वारा १५०० ई० पू० से पहले का ही माना जाता है। अस्तु, वेदो मे भी नृत्य और नृत्य के साथ बजने वाले मृदग, वीणा तथा वंशी आदि वाद्ययत्रो के उल्लेख मिलते है। जैसे, 'नृत्यमानो अमृत' (ऋक्, ५-३३-६)। यहा 'नृत्यमानो' का अर्थ भाष्यकार सायण ने

भारतीय नृत्य की प्राचीनता

नृत्यन्' किया है अर्थात् 'नृत्य करते हुए देवता'। फिर एक स्थान पर 'जगाम नृत्यय' वाक्य मिलता है (ऋक्, १०-१८-३)। यहाँ पर सायण ने 'नृत्यये' का भाष्य 'नर्तनाय कर्मणि गात्रविक्षेपाय' किया है, जिस का अर्थ होता है 'नृत्यकर्म के लिए अंगविक्षेप'। इसी प्रकार एक स्थान पर 'नृतव' (ऋक्, ८-२०-२२) शब्द आया है, जिस का पर्याय सायण ने 'नृत्यन्त' (नाचते हुए) किया है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि बर्बर जातियों अथवा पशु-पक्षियों के जीवन में उल्लासमूलक अंगविक्षेप से भिन्न कला के रूप में 'नृत्य' नाम की एक क्रिया-विशेष से ईसा से २००० वर्ष पहले के आर्यगण परिचित थे।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि कलाओं का विकास धर्म के साथ-साथ हुआ। आदिम निवासी मनुष्य ने प्रकृति के नाना रूपों से डर कर उन्हें रिझाने के कुछ उपाय

नृत्यकला की उत्पत्ति और धर्म

सोचे। भूकंप, ज्वालामुखी पर्वत, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मेघ, अग्नि, गर्मी, सर्दी, पाला, ओले तथा तूफान आदि को उस ने अदृश्य असुरों का उत्पीडन समझा। अब इन को प्रसन्न करने का उपाय करना आवश्यक था। फलतः मंत्र-तंत्र तथा विविध भावभंगी और हस्तपादादिक की अनेक मुद्राओं के साथ उन के उच्चारण करने वाले हुए। इन का विश्वास था कि इन क्रियाओं से उक्त असुर गण प्रसन्न होंगे और जीवों को कष्ट न देंगे। आदि काल में इन्द्र, वरुण, मरुत आदि प्रकृति के विविध स्वरूपों की ही उपासना देवताओं के रूप में आरंभ हुई। वेदों में अधिकतर इन्हीं की उपासना वर्णित है। धर्म का प्रारंभिक रूप यही था। यह स्पष्ट है कि संगीत का विकास धर्म के विकास के साथ कुछ ऐसा घुला-मिला है कि दोनों की उत्पत्ति साथ ही माननी पड़ेगी। प्रारंभिक धर्म के मूल में 'भय' था। इस भय के निवारण के लिए नाना प्रकार की मुद्राओं और गात्रविक्षेप के साथ कुछ विचित्र और दुरूह शब्दों या अक्षरों के उच्चारण की प्रथा चली। इसी प्रथा में हम गायन और नृत्य का प्रारंभिक रूप देखते हैं। फिर क्रमशः मनुष्य के धार्मिक विचारों के विकास के साथ-साथ इन कलाओं का विकास भी हुआ। तंत्र का विकास इतना अधिक हुआ कि

'मुद्रा' की उत्पत्ति

उन के अलग शास्त्र रचे गए। उन के उच्चारण जिन मुद्राओं के साथ होते थे उन का भी वर्गीकरण किया गया। 'मुद्रा' शब्द फ़ारसी से आया हुआ कहा जाता है जिस का अर्थ होता है 'मुहर'। संस्कृत

म मुद्रा' के कई अर्थ होते हैं जिन में 'मुहर' भी एक है प्रत्येक मत्र का या गान एक विशेष मुद्रा के साथ होता है, और 'मुहर' वाला भाव भी यों चरितार्थ किया जा सकता है कि मुद्राएँ मानो अपने मत्रो पर मुहर या छाप लगा देती हैं। तत्रशास्त्र मे 'मुद्रा' शब्द की व्युत्पत्ति 'मुद्' धातु से की गई है, जिस का अर्थ होता है 'प्रसन्न होना' या 'आनदित होना'। 'आमोद', 'प्रमोद' आदि शब्द इसी धातु से बने हैं। इसी के अनुसार 'तत्रसार' मे मुद्रा की परिभाषा मे कहा गया है कि 'मुद्रा' वह भगी विशेष है जिस से देवताओं को आनद मिलता है, तथा जिस से उपासक पापो और काम, क्रोधादिक शत्रुओ से मुक्त हो जाता है।

अब वेदो तथा तत्रो के युग के बाद जब त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की साकार उपासना का युग आया, तथा धर्म के मूल मे 'भय' के स्थान पर 'प्रेम', 'आनद' तथा 'मोक्ष' आदि की स्थापना हुई तब गायन और नृत्य मे भी अनेक परिवर्तन हुए। और आगे चल कर 'शक्ति' तथा 'कृष्ण' आदि देवताओं की साकार उपासना-युग के आगमन काल तक संगीतकला भी उन्नति के शिखर पर पहुँच रही थी। इस समय तक सगीत तथा नृत्य आदि के अनेक ग्रथ बन चुके थे। इस सबध मे भरत का 'नाट्यशास्त्र' सब मे महत्वपूर्ण ग्रथ है। 'अभिनयदर्पण' दूसरा प्रसिद्ध ग्रथ है। भरत का काल अभी तक बहुत संदिग्ध है। अधिकतर लोग भरत को बुद्ध के समय के कुछ पहले का मानते है, क्योकि बौद्ध ग्रथो मे भरत तथा उन के शास्त्र की चर्चा पाई गई है। आगे चल कर ग्यारहवी शताब्दी के लगभग धनजय का 'दशरूपक' बहुत प्रसिद्ध हुआ। 'दशरूपक' और 'नाट्यशास्त्र' दोनो ही में नाटक तथा रस के विश्लेषण के साथ ही नृत्य की चर्चा हुई है, क्योकि हिंदू नाटक पग-पग पर नृत्य की अपेक्षा करता है। नृत्य का विस्तृत विवरण 'नाट्यशास्त्र' में है और 'दशरूपक' मे नाटक का।

नृत्यकला का उत्कर्ष

अब यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि हिंदू आचार्यों ने नृत्य के तीन विभाग किए हैं—नाट्य, नृत्त और नृत्य। तीनो ही नाट्य के अतर्गत माने गए हैं। किसी अवस्था विशेष के अनुकरण को नाट्य कहते है।[1] एक निर्दिष्ट समय तक अपनी वास्तविक सत्ता को सर्वथा भूल कर

नाट्य, नृत्य और नृत्त

---

[1] अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपाद दशधैव रसाश्रयम् ॥
दशरूपक, १-७

अपने आप को अनुकार्य की सत्ता में लीन कर देना ही नाट्य है। यह अवस्थानुकृति चार प्रकार के साधनों से कही गई है—

(१) आंगिक—हस्तपादादि इंद्रियों के संचालन द्वारा। इसी के अंतर्गत मुद्राएँ आती हैं।

(२) वाचिक—स्वर, वाणी तथा भाषा का अनुकरण।

(३) आहार्य—वेश-भूषा तथा स्वरूप का अनुकरण। यही आधुनिक 'मेकअप' है।

(४) सात्विक—स्तंभ, रोमांच आदि अनुकार्य के सात्विक भावों का अनुकरण। ये सात्विक भाव और कुछ नहीं केवल अनुकार्य द्वारा अनुभूत सुख-दुख का अनुकरण करना है। ये आठ माने गए हैं[1]—(१) स्तंभ (अंग संचालन की शक्ति का लोप होना), (२) प्रलय (संज्ञा का लोप होना), (३) रोमांच (रोएं खड़े होना), (४) स्वेद (पसीना); (५) वैवर्ण्य (रंग बदलना, जैसे अनुराग, क्रोध या भय आदि के कारण चेहरे का सुर्ख, सफेद या पीला पड़ जाना), (६) वेपथु (कंप या कँपकँपी पैदा होना), (७) अश्रु (रोना), (८) वैस्वर्य (कंठ स्वर में विकार या परिवर्तन हो जाना)।

सात्विक भावों के अतिरिक्त अभिनेता या अभिनेत्री को रस, भाव, विभाव, तथा अनुभावों तथा मुख्य चार प्रकार के नायक और बारह प्रकार की नायिकाओं तथा उन के समस्त शारीरिक, अयत्नज, और स्वभावज अलंकारों की अनुकरण-क्रिया पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक होता था।

यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन हिंदू नृत्य पौराणिक कथाओं के नाट्य के साथ ही मिला हुआ था। आज कल 'नाच' से जो हम समझते हैं, वैसा उस समय कुछ नहीं था। देवताओं की उपासना के रूप में उन के संबंध की प्रसिद्ध तथा लोकामयहारी कथाओं का नाट्य द्वारा सर्वांगीण प्रयोग रसिकों के सम्मुख होता था। जहाँ पर यह प्रयोग होता था, उसे

नृत्य का विषय

---

[1] सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ।
स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू ॥
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता ।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वं शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥
दशरूपक, ४-५, ६

संगीतशाला कहते थे। इस नाम से भी यह स्पष्ट है कि हिंदू नाटक में आधुनिक यथार्थवाद के ढंग की किसी वस्तु की आशा ही न करनी चाहिए क्योंकि इस ओर उन का लक्ष्य ही न था। उन का केवल मात्र उद्देश्य भावुक रसिकों के हृदय में रसोद्रेक द्वारा लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति कराना था। उस के सिवा दूसरा उद्देश्य था चारों फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति। परन्तु यह तो एक ऐसा उद्देश्य या आदर्श है जो सदा हिंदू के प्रत्येक कार्य के आरंभ में सामने रक्खा जाता था।

उद्देश्य

इन्हीं पौराणिक कथाओं के नाट्यप्रयोगों के साथ ही मिले हुए, प्राचीन हिंदू 'नृत्य' और 'नृत्त' दोनों थे। इन दोनों का भेद शास्त्रों में यों दिया गया है।[1] जो लय और ताल-मूलक अवस्थानुकृति है वह 'नृत्त' और जो भाव-मूलक अवस्थानुकृति है वह 'नृत्य' है। इसी प्रकार रसमूलक अवस्थानुकृति 'नाट्य' है। स्मरण रहे कि 'अवस्थानुकृति' तीनों में साधारण है और तीनों के परस्पर पूर्ण सहयोग से ही 'नाटक' या 'रूपक' का प्रयोग संभव होता था। 'नाट्य' वास्तव में देखने की वस्तु है इसी लिए उसे 'रूप' कहा गया है।[2] और नाट्य का समारोप या प्रयोग नाटकों में होता है इस लिए नाटक का दूसरा नाम रूपक[3] है। ऊपर जो आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक, ये चार क्रियाएँ कही गई हैं इन में से 'नृत्य' और 'नृत्त' में 'वाचिक' नहीं होता, अर्थात् प्रयोजक 'नृत्य' और 'नृत्त' क्रिया के समय बोलता नहीं। 'नृत्य' द्वारा वह भाव-प्रदर्शन करता है और 'नृत्त' द्वारा लय, ताल का प्रदर्शन होता है।

हिंदू नृत्य और नाटक का संबंध

यह स्पष्ट है कि एक ही कार्य-कलाप में नाट्य, नृत्य और नृत्त तीनों के मधुर सामंजस्य द्वारा ही अभिनेता अपना उद्देश्य—रसिकों के हृदय में लोकोत्तर आनंद की सृष्टि द्वारा रस का उद्रेक—पूरा करता था। अब हम आगे 'नृत्य' और 'नृत्त' पर केवल पारिभाषिक दृष्टि-कोण से ही विचार करेंगे।

नृत्य

[1] अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम्।
दशरूपक, १-९

[2] रूपं दृश्यतयोच्यते।
दशरूपक, १-७

[3] रूपकं तत्समारोपात्।
दशरूपक, १-७

भाव-सृष्टि ही नृत्य है, परतु भाव क्या है? आजकल के प्रचलित कथक या बाई जी के नाच मे जो 'भाव का काम' प्राय. जलसों में देखने में आ जाता है वह नाट्य-शास्त्र के भावों की निकृष्टतम छायामात्र है। 'नृत्य' के दो भेद शास्त्रकारों ने माने हैं---(१) मधुर अथवा 'लास्य' (२) उद्धत अथवा 'ताडव'।[1] जिस नृत्य में मधुर और सुकुमार भावों का व्यजन होता है उसे 'लास्य' तथा जिस में उद्धत या उग्र भावों का प्रदर्शन होता है उन्हें 'ताडव' कहते हैं। हिंदू शास्त्रों में भाव रसों के आधीन माने गए हैं। मानवचित्त की अवस्था के आठ मुख्य भेद कहे गए हैं[2]---शृगार, हास्य, करुण, रुद्र, वीर, भयानक,

रस और भाव

बीभत्स तथा अद्भुत। इन में प्रत्येक के एक-एक स्थायी भाव क्रम से ये हैं---रति (प्रेम या अनुराग), हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा तथा आश्चर्य। एक नवाँ रस 'शांत' माना गया है, जिस का स्थायी भाव 'शाति' है, परतु नाट्य मे शाति भाव की आवश्यकता नगण्य मानी गई है।[3] इन

स्थायी

आठो भावो को 'स्थायी' इस लिए कहा गया है कि मन पर इन का पूर्ण साम्राज्य होता है, अर्थात् जिस समय इन में से कोई एक जो मानसपटल पर अधिकार कर लेता है, वह अन्य विरोधी या अविरोधी भावो द्वारा उखड़ता नही, बल्कि उन को भी अपने ही रंग में रंग लेता है।[4] अब जैसे अनुकार्य राम हैं, अभिनेता को राम की सीता-विषयिणी रति या रावण-विषयक उत्साह या क्रोध की अवस्था का अनुकरण करना है। वह आंगिक आदि क्रियाओं द्वारा अपनी मानसिक

---

[1] मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥
दशरूपक, १-१०

[2] शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥
दशरूपक, ४-४४

[3] रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः ।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥
दशरूपक, ४-३५

[4] विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान्स स्थायी लवणाकरः ॥
दशरूपक, ४-३४

और शारीरिक सत्ता को रूप से राम की सत्ता में लीन कर देगा वह रति-भाव को अक्षुण्ण रक्खेगा। उत्साह या हास्य आदि रति के अनुकूल, या क्रोध और घृणा आदि जो प्रतिकूल भाव कथानक के अनुसार विशेष रूप मे आवेगे वह इस रति-भाव के सहायक या परिपोषक रूप में ही आवेगे। वास्तविक जीवन में यही होता है। जैसे कि जब कोई आदमी क्रोध के वशीभूत हो जाता है तब अन्य जो कोई भी परिस्थिति सामने आती है, वह क्रोध को बढ़ाती ही है। यही बात अन्य सभी भावों के संबंध में भी होती है। अभिनय में नृत्य द्वारा इसी प्रकार की भाव-व्यंजना अभिनेता को करनी पड़ती थी। इस समय नृत्य की यह विद्या देश से लुप्त-प्राय हो गई है। मलाबार के कथकलि नर्तको में यह बात न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान है। इन की चर्चा हम आगे करेंगे।

स्थायी के कुछ संचारी या व्यभिचारी[1] भाव होते हैं जो स्थायी भाव के निकटतम संबंधी होते हैं और बीच-बीच में प्रगट हो कर अपनी छटा दिखाते रहते हैं। इन का मुख्य कार्य होता है स्थायी भाव को पुष्ट करना। शास्त्र में ये तैंतीस[2] प्रकार के कहे गए हैं—ये भाव अपने संचरणशील या परिवर्तनशील स्वभाव के कारण संचारी कहे जाते हैं। स्थायी की भाँति ये सदा अविचलित रूप से हृदय और मन पर अधिकार नहीं जमा सकते। स्थायी भाव यदि एक समुद्र है तो ये संचारी भाव इस में उठने और विलीन हो जाने वाली असंख्य कल्लोलें या बुलबुले हैं, जो उसी समुद्र की लहरों में ही उत्पन्न होते हैं और उन्हीं में विलीन हो जाते हैं। इन के नाम यों हैं—निर्वेद (अपने मे घृणा होना), ग्लानि (क्लांति आदि जनित निर्जीवता), शंका, श्रम, धृति (संतोष), जड़ता (प्रिय के अनिष्ट-श्रवण-जनित निष्प्राणता); हर्ष, दैन्य, औग्र्य, चिंता; त्रास, असूया या ईर्ष्या (दूसरे की उन्नति

संचारी

[1] विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥
दशरूपक, ४-७

[2] निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजड़ताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः ।
व्रीड़ापस्मारमोहाः समतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥
दशरूपक, ४-८

दर्शन में [illegible] आमर्ष (आपे से बाहर हो जाना), गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त (शयन के समय की एक अवस्था विशेष), निद्रा (मन की वृत्तियों का सम्मीलन), विबोध (जागना या जगाया जाना), व्रीड़ा (लज्जा), अपस्मार (पागलपन या रोग), मोह, मति (वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान की शक्ति), आलस्य, आवेग, तर्क, अवहित्थ (झेंप), व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य, चापल्य (चंचलता)। इन के अति-रिक्त और भी साधारण मानसिक दशाएँ हो सकती है, पर मुख्य जितनी हो सकती थीं, उन्हे शास्त्रकारों ने गिना दिया है।

यह स्पष्ट है कि प्राचीन हिंदू नृत्य करने वाले के लिए इन सब भावों को आंगिक क्रियाओं द्वारा व्यक्त कर सकने का अभ्यास अनिवार्य था। यह बात शास्त्र में दिए हुए 'अनुभावों' से प्रमाणित हो जाती है। किसी विशेष स्थायी या सचारी भाव की सूचना मन में होने पर जो बाह्य विकार शरीर के अंग-प्रत्यंगों पर प्रगट हो जाते है, उन्हे अनुभाव कहते है।[1] नाट्य और नृत्य में अनुभावों और मुद्राओं की सहायता से भावों की पहचान होती थी। दूसरे शब्दों में अनुभावों और मुद्राओं को हम मूक नृत्य की भाषा कह सकते है। शास्त्र में प्रत्येक भाव की परिभाषा और उन के व्यक्त करने वाले अनुभाव दिए गए है। सब भावों की परिभाषा और उन के अनुभाव तथा मुद्राएँ लिखने से यह लेख बहुत बढ़ जायगा। उदाहरण के लिए दो-तीन भावों की परिभाषा आदि नीचे दी जाती है—

अनुभाव

निर्वेद— तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादि निर्वेदः स्वावमाननम् ।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वास वैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ॥

दशरूपक, ४, ९

तत्व-ज्ञान, विपत्ति तथा ईर्ष्या आदि कारणों से अपना ही अपमान करना या अपनी ही निगाहों में अपने को गिरा हुआ देखना 'निर्वेद' है। यह इन लक्षणों से प्रगट होता है—चिंता की मुद्रा, अश्रुमोचन, ठंडी साँसे, विवर्णता (चेहरे का रंग उड़ जाना) उच्छ्वास, दैन्य, या असहायता की मुद्रा। इन मुद्राओं की सूची आगे दी गई है।

---

[1] अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।
दशरूपक, ४-३

शंका अन

कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥

दशरूपक, ४, ११

अपने द्वारा की हुई अनीति या दूसरे द्वारा की हुई क्रूरता से किसी अज्ञात भय की जो भावना मन पर आतंक जमा लेती है, उसे 'शंका' भाव कहते हैं। शरीर पर निम्न-लिखित बाह्य विकार (अनुभाव) प्रगट होने से यह भाव पहचाना जाता है—। (शरीर में कँपकँपी): शोष (मुँह सूख जाना), नेत्रों में चिन्ता तथा इधर से आ[illegible] की मुद्राएँ तथा चेहरे का रंग और कंठ स्वर का बदल जाना।

जड़ता— अप्रतिपत्तिर्जड़ता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभि ।

अनिमिषनयननिरीक्षण तूष्णी भावादयस्तत्र ॥

दशरूपक, ४, १३

अपने किसी प्रिय के इष्ट अथवा अनिष्ट, दर्शन अथवा श्रवण से मन में जो [illegible] प्रकार की अप्रतिपत्ति (बेचैनी) हो जाती है और धैर्य लोप हो जाता है उसे 'जड़ता' भाव कहते हैं। इस भाव को व्यक्त करने के लिए अभिनेता को ये अनुभाव प्रगट करने पड़ते हैं—निर्निमेष नेत्रों की मुद्रा, चुपचाप बैठे रहना आदि।

ऊपर के तीन भावों के वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा कि एक सफल अभिनेता और नर्तक के लिए वास्तव में कितनी प्रतिभा, शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता हो सकती है। पाश्चात्य देशों की अभिनय-कला अपने उच्चतम शिखर पर पहुँची हुई कही जाती है, पर उन में से कितने ऐसे हैं, जो इन अनुभावों को इच्छानुसार प्रदर्शित कर सकते हों? चेहरे का रंग (भाव के अनुसार सफेद, सुर्ख, पीला या काला पड़ जाना), नेत्र का स्वाभाविक रंग बदल देना, पसीना और आँसू आदि उत्पन्न करना, बेहोश हो जाना, विविध अंगों में (नेत्र, पलक, ओंठ, हस्त, पाद आदि में) कंप, फैलाव आदि प्रकट करना, शृंगार, हास, करुण, रौद्र आदि स्थायी भावों की मुद्राएँ स्पष्ट करना, आज कल बहुत लोग असंभव ही समझेंगे। पाश्चात्य श्रेष्ठ अभिनेता या नर्तक में आप आधुनिक यथार्थ-वाद की पराकाष्ठा तो देख सकेंगे पर यह बातें नहीं मिलेंगी।

अस्तु, जैसा कि पहले कहा गया है नृत्य के स्थूल दो विभाग ०   और ताण्डव। आम तौर से स्त्री पात्रों को लास्य और पुरुष पात्रों को ताण्डव का अभ्यास करना पड़ता था। कुछ भाव स्त्री पात्रों को ही शोभा देते हैं या यों कहिए कि वे स्त्रियों के लिए ही बने हैं, और कुछ पुरुषों के लिए। कुछ भाव ऐसे हैं जिन को दोनों ही समय समय पर अनुभव किया करते हैं। इन को अलग कर के बतलाना व्यर्थ होगा, क्योंकि विवेचन से पाठक स्वयं ही उन्हें समझ सकते हैं।

कुछ भाव ऐसे होते हैं जिन की आवश्यकता केवल लास्य में होती है और वे केवल स्त्रियों को ही शोभा दे सकते हैं। शास्त्रकारों ने इन को तीन वर्गों में बाटा है—

स्त्रियों के भाव

(१) शरीरज, (२) अयत्नज, (३) स्वभावज। इन में तीन भाव जो केवल शरीर से संबंध रखते हैं शरीरज कहे गए हैं, और सात भाव अयत्न से ही, स्वतः उत्पन्न होने वाले और दस स्वभाव से पैदा होते हैं। कुल मिला कर बीस होते हैं। इन की नामावली और संक्षिप्त परिचय क्रम से नीचे दिया जा रहा है—

शरीरज

भाव[1]—रजोगुण और तमोगुण के विकारों से रहित मन में प्रेमावस्था के प्रथम उदय होने को 'भाव' कहते हैं। इस में किसी प्रकार का बाह्य विकार नहीं देख पड़ता। परिवर्तन केवल मन में होता है।

हाव[2]—इसी पूर्व-कथित 'भाव' के मन में अधिक सजग होने के कारण जब आंख और भौं आदि अंगों में कुछ विकार प्रगट हो जाते हैं, तो उसे 'हाव' कहते हैं।

हेला[3]—हाव के साथ-साथ जब शृंगार-चेष्टा नितांत स्पष्ट हो जाती है, तो उसे 'हेला' कहते हैं।

('हाव', 'भाव', 'कटाक्ष' आदि शब्दों से 'नाच' देखने वाले सभी रसिक परिचित होंगे, पर यह 'हाव', 'भाव' ऊपर के शास्त्रोक्त 'हाव', 'भाव' से कितने पतित हो गए हैं यह ध्यान देने की बात है।)

---

[1] निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया।

[2] हेवाकसस्तु शृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत्।

[3] स एव हेला सुव्यक्त शृङ्गाररससूचिका॥

शोभा[1]—सौंदर्य वासना तारुण्य तथा प्रिय मिलन की आकांक्षा के कारण अंग-प्रत्यंग में जो स्वतः एक विचित्र प्रकार की कमनीयता आ जाती है, उसे 'शोभा' कहते हैं।

अयत्नज भाव

कांति[2]—यही 'शोभा' का भाव जब काम-विकार से छा जाता है, तो उसे 'कांति' कहते हैं।

माधुर्य[3]—भावों में अधिक प्राबल्य न आने देना माधुर्य है।

दीप्ति[4]—'कांति' भाव के विस्तार को 'दीप्ति' कहते हैं।

प्रागल्भ्य[5]—घबराहट न दिखलाई पड़ना।

औदार्य[6]—प्रत्येक अवस्था में सौजन्य और प्रश्रय को सुरक्षित रखना औदार्य है।

धैर्य[7]—किसी क्रिया से अव्यवस्थितता या चंचलता का भाव न आने देना।

लीला[8]—अपनी वाणी (कंठ-स्वर) तथा शारीरिक चेष्टाओं द्वारा अपने प्रेमिक का अनुकरण करना।

स्वाभाविक भाव

['लीला' का प्रसिद्ध उदाहरण 'रासलीला' अब भी प्रचलित है। इस नृत्य में राधा प्रेमावेश में आ कर कृष्ण की भूमिका धारण करती हैं, और उन की बाँसुरी ले कर उन्हीं की लोक-प्रसिद्ध मुद्रा में नृत्य करती हैं।]

विलास[9]—प्रिय के अचानक आ मिलने पर सारे शरीर में, बोली में तथा इसी प्रकार सारी चेष्टाओं में जो एक प्रकार का तात्कालिक, सुंदर और सरस परिवर्तन हो जाता है उसे 'विलास' कहते हैं।

---

[1] रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङगानां विभूषणम्।
[2] मन्मथाप्यायितच्छाया सैव कान्तिरितिस्मृता।
[3] अनुल्बणत्वं माधुर्य।
[4] दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः।
[5] निस्साध्वसत्वं प्रागल्भ्यं।
[6] औदार्यं प्रश्रयः सदा।
[7] चापलाविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना।
[8] प्रियानुकरणं लीला मधुराङगविचेष्टितैः।
दशरूपक, २-३४, ३५, ३६, ३७
[9] तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङगक्रियादिषु।
दशरूपक, २-३८

विच्छित्ति[१]—वेशविन्यास का कोई बहुत साधारण पर वस्त्र प्रभावशाली परिवर्तन जो कांति को प्रदीप्त करे उसे 'विच्छित्ति' कहते हैं।

विभ्रम[२]—जल्दी में कहीं का आभूषण कहीं पहन लेने को 'विभ्रम' कहते हैं।

किलकिंचित[३]—क्रोध, आंसू, हर्ष तथा भय आदि को एक साथ ही प्रगट करना 'किलकिंचित' है।

मोट्टायित[४]—प्रिय के नाम या उस से सबध रखने वाली वस्तु के उल्लेख मात्र से उसी के भाव में लीन हो जाना 'मोट्टायित' है।

कुट्टमित[५]—प्रिय के अधिक अग्रसर होने पर बनावटी क्रोध प्रगट करना 'कुट्टमित' है।

बिब्बोक[६]—अभिमान के अभाव में भी प्रिय का अनादर करना 'बिब्बोक' है।

ललित[७]—अंगों को कोमलता के साथ सजाना 'ललित' भाव है।

विहृत[८]—मिलन समय आने पर भी लाजवश चुप रह जाने का भाव 'विहृत' है।

इन भावों के अनुभावों के उदाहरण अलग दिए गए हैं, जिन का उल्लेख यहां विस्तार-भय से असंभव है। यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि नाट्य और नृत्य से वर्तमान काल में लोग इतना विमुख हो गए हैं कि इन रसों, भावों और अनुभावों की चर्चा केवल काव्य-साहित्य तक ही परिमित रह गई है। नृत्य और नाट्य से भी इन का कोई सबध है कि नहीं इस प्रश्न की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। वास्तव में साहित्य में तो इन का (रस, भाव आदि का) वर्णन मात्र होता है, जो कि नृत्य में व्यक्त किए हुए भावों

---

[१] आकल्परचनाल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत्।
[२] विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः।
[३] क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः संकरः किलकिञ्चितम्।
[४] मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु।
[५] सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत्केशाधरग्रहे।
[६] गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोकोऽनादरक्रिया।
[७] सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत्।
[८] प्राप्तकालं न यद्ब्रूयाद्व्रीड़या विहृतं हि तत्।
दशरूपक, २-३८-४२

की तुलना मे निर्जीव ही कहा जायगा। कदाचित् लोगो को ज्ञात हो कि बगाल के प्रसिद्ध नर्तक उदयशकर ने पहले चित्रकार के रूप से जीवन आरभ किया था। वे अजता,

उदयशंकर और हिंदू नृत्य का पुनरुत्थान

एलोरा आदि के गुफाचित्रो से बहुत प्रभावित हुए। उन चित्रो को देख कर उन्हे प्रतीत हुआ कि शिल्पी ने वास्तव मे नृत्य की किसी विशेष मुद्रा या गत को कल्पना-क्षेत्र मे रख कर ही उन्हे गढा है। इस से उन्हे विश्वास हो गया कि ये सभी चित्र नाट्य या नृत्य के किसी भाव या अनुभाव के आधार पर बने है। नटराज की प्रसिद्ध मूर्ति जिस मे ताडव नृत्य की पहली मुद्रा और गत का अनुकरण किया गया है, इस का लोक-विदित उदाहरण है। इसी प्रकार सरस्वती, कृष्ण, काली आदि सभी प्रसिद्ध देवी-देवताओ की प्राचीन मूर्तियां, नृत्य की किसी न किसी गत के आधार पर ही बनी है। उदयशकर ने इन मूर्तियो का विशेष अध्ययन किया और फिर नृत्य रूप से इन की गतो को सजीव कर के जनता के सम्मुख रखने का निश्चय किया। उन्हो ने अपने इस सकल्प को अपने ही ढग से कार्यरूप मे परिणत भी किया, पर बाद मे कलाप्रदर्शन का भाव प्रधान हो जाने के कारण इन के नृत्य मे पाश्चात्य और पूर्व दोनों ही की कुछ वास्तविक और कुछ मनगढ़त बातो के बेजोड मेल से कुछ बेतुकापन आ गया और फल यह हुआ कि एक भी ठीक न हो सका। ये जल्दी कर गए। भरत के 'नाट्यशास्त्र' तथा 'अभिनयदर्पण' और 'दशरूपक' आदि का अध्ययन भी ये कदाचित् नही कर सके है। पर इन के सारे देश मे भ्रमण और अपनी नृत्यकला के प्रदर्शन द्वारा भारतीय कलाप्रेमियो का ध्यान बड़े वेग से प्राचीन हिंदू नृत्य की ओर गया और लोगो मे अपनी भूली हुई परपरा फिर से दोहरा डालने की प्रबल प्रेरणा अवश्य हो गई। यूरोप तथा अमेरिका आदि देशो में तो उदयशकर के नृत्यों ने अच्छी उथल-पुथल मचा दी। वहां के लोग अपने जातीय नृत्यो से बहुत ऊब गए है। नैतिक उत्थान की आशा भी उन्हे अपने नृत्यों से नही है। ऐसी स्थिति मे हिंदुओ के प्राचीन धर्ममूलक नृत्यो का स्वागत इन देशों मे आकाश-कुसुम सा ही हुआ। इस का फल यह हुआ कि अवसर से लाभ उठाना जानने वाले कुछ चतुर व्यक्तियो ने पश्चिम में हिंदू नृत्य का अच्छा 'मार्केट' देखा। वास्तविक हिंदू नृत्य सीखने का समय कहाँ था? और न धैर्य ही था। फल यह हुआ कि हिंदू नृत्य और संगीत के विशेषज्ञ होने का दावा करने वाली कई टोलियाँ एक के बाद एक विलायत और अमरीका पहुँची। पर अधिक दिन तक पाश्चात्य

और समालोचको को कोई भी धोके मे नही रख सकता इन मे से कुछ भारत मे आए। उन्हे केरल के कथकलि नर्तको का नृत्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अब इन्हे मालूम हो गया कि वास्तविक 'भारतीय' नृत्य और कुछ हिंदू नृत्य का 'व्यवसाय' करने वालो के नृत्य मे कितना अतर है।

अब यहाँ पर 'कथकलि' का कुछ परिचय देना उपयुक्त होगा। लगभग सात वर्ष हुए केरल के अंतर्गत त्रिवाद्रम् मे 'केरल-कला-मडलम्' या केरल एकेडेमी आव् आर्ट्स नाम की सस्था स्थापित हुई। इस के सयोजक प्रसिद्ध केरल कवि वल्लथोल नारायण मेनन है। आप ही इस सस्था के सर्वस्व है। इस देश की मरणोन्मुख कला का पुनरुद्धार तथा प्रचार ही इस सस्था का उद्देश्य है। 'कथकलि' कर्नाटक मे नृत्य, सगीत, कथा तथा अभिनय की सयुक्त कला को कहते है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' आदि का आधार कहा तक इस कला मे अक्षुण्ण रक्खा जाता है यह इस के सक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट हो जायगा। कर्नाटक और मालाबार प्रात मे यह कला पुराकाल मे उन्नति की चरमसीमा को पहुँच चुकी थी। वल्लथोल महाशय का विश्वास है कि कम से कम अब से १००० वर्ष पहले तक इस कला के न्यूनाधिक उन्नत अवस्था मे विद्यमान रहने के प्रमाण मिलते है।[1]

कथकलि

कथकलि क्या है इस का उचित ज्ञान तो उन्ही को हो सकता है जिन्हो ने इस का प्रदर्शन देखा है पर तो भी कुछ विशेष बातो का वर्णन यहा पर करना उचित है।

एक साधारण कथकलि मडली मे लगभग ३० व्यक्ति होते है जिन मे कुछ अभिनेता, कुछ सगीतज्ञ और कुछ सजाने वाले रहते है। ये सजाने और वेशविन्यास आदि करने वाले अपनी कला के बड़े विशेषज्ञ होते है। सगीतज्ञो मे कुछ गायक और वादक होते है। कोई प्रसिद्ध पौराणिक कथा पद्य मे पहले से तैयार रहती है। गायक लोग उन्हे पर्दे के पीछे से गाया करते है। जिस पात्र का सवाद होता है वह रगमच पर प्रगट होता है, जहाँ वादक लोग पहले से उपस्थित रहते है। वाद्य-यत्रो मे प्रधान 'मर्दल' (कर्नाटकी मृदंग) होता है। लय और ताल नृत्य का व्याकरण या 'आधार' है (नृत्त ताललयाश्रयम्)

---

[1] फ़ोर आर्ट्स एनुअल, 'कथकलि', लेखक वल्लथोल नारायण मेनन, पृ० १०४

और लय की सूचना इसी बाज से मिलती है इस के सिवा रुद्रवीणा और वंशी स्वर के लिए होते हैं। कथाएँ मुख्यत रामायण या महाभारत के कुछ प्रसिद्ध उपाख्यान होते है। अभिनेता स्वय कुछ नही बोलता। उस का काम है केवल कथा के भाव को सजीव रूप मे व्यक्त या दृष्टिगोचर करना। कथा के पद्यो मे, जिन्हे गायक गाता रहता है, जिस किसी भी रस, भाव, अनुभाव, हाव-भाव तथा सात्विक आदि भावो का वर्णन होता है उन को पात्रगण रगमच पर ज्यो का त्यो अभिनय कर के दिखाते है।

हमे एक प्रसिद्ध कथकलि के अभिनय देखने का अवसर प्राप्त हो चुका है। इन्हे हम ने शिव, कृष्ण, तथा रावण की भूमिका मे देखा है। सब मे पहले नृत्य का आधार नृत्त तो है ही, अर्थात् लय-ताल की जमीन पर ही नृत्य और नाट्य की सारी इमारत खड़ी करनी होती है। इस लिए कथा के छद विविध तालो में पहले से बँधे रहते है, और उसी ताल की मात्राओं के अनुसार मर्दल पहले से बजता रहता है। अभिनेता पैरो मे घुँघरू बाँधे हुए उसी ताल से थिरकता हुआ रगमच पर पहुँचता है। अब जैसे उसे कृष्ण का अभिनय करना है, तो उस की सारी गतियो मे शृगार रस के स्थायी भाव, रति की मुद्रा प्रधान रहेगी। और यदि रावण का अभिनय करना है तो रौद्र या भयानक की मुद्रा होगी, फिर कथा-प्रसग के अनुसार रस, भाव, विभाव, अनुभाव आदि बराबर बदलते रहेगे, पर स्थायी भाव स्थिर रहेगा और जो कोई भी सचारी भाव तथा अनुकूल या प्रतिकूल जो कोई भी स्थायी भाव कथा-प्रसग के अनुसार आते रहेगे उन का प्रदर्शन अभिनेता करावेगा। पर इस पटुता के साथ जिस से कि मौलिक स्थायी भाव के आस्वादन मे रस-भग न हो कर वह और भी परिपुष्ट रूप मे दिखाई पड़े। सारी बाते नाटक के अभिनय के रूप में होती है, अतर यही है कि अभिनेता बोलता कुछ नही, वह केवल नाट्य, नृत्य और नृत्त द्वारा भावो की साकार आत्मा का रूप धारण कर के दर्शको के सम्मुख उपस्थित होता है और कथा मे वर्णित सारे भावो को बता कर अतर्धान हो जाता है। स्त्री-पात्रो का अभिनय भी अधिकतर पुरुष ही करते है। कथा से सबध रखने वाले जिन पद्यो को गायकगण गाते है उन की रचना विशेष कर कथकलि अभिनय के अनुरूप ही की जाती है। इन मे और साधारण नाटक या कथा मे कुछ उसी प्रकार का अतर होता है जैसा कि आधुनिक साधारण नाटक और सिनेमा के चित्रनाट्य या 'सिनेरिओ' मे। ये पद्य विशेष

कर प्रदर्शन को लक्ष्य कर ही रचे जाते हैं और संगीत तथा भाव प्रधान होते हैं। कथकलि अभिनेताओं का वेशविन्यास बड़ा अपूर्व और बहुत विस्तृत होता है। शरीर में एक चुस्त जाकेट तथा नीचे ढीले घाँघरे के ढंग का रंगबिरंगा वस्त्र होता है। शिरस्त्राण प्रायः बहुत बड़ा और कामदार होता है। सभी बातें ऐसी होती हैं, जिन में नाच की गतिगति और तेज चक्करों में कोई अड़चन न पड़े। मुख पर कोई चेहरा या नकाब आदि नहीं होता है। पात्र की कल्पना के अनुसार मुख रंगा जाता है। अधिकतर चावल के महीन आटे का लेप काम में लाया जाता है। कृष्ण, राम, रावण, हनुमान, दुष्यंत, आदि जैसी भूमिका होती है उसी के अनुसार उस का विन्यास होता है।

अब यहाँ पर कथकलियों की शिक्षा के बारे में कुछ कहना है। केरल-कला-मण्डलम् के छात्रों के दिन भर के अभ्यास का एक नियम बना हुआ है जिस के अनुसार प्रातःकाल

कथकलि शिक्षा-प्रणाली

पाँच बजे से ले कर इन्हें एक घंटे तक केवल आँख, पलक, भौं और तारों का व्यायाम करना पड़ता है। इस से आँखों में सब प्रकार की गति, हरकतें और भाव प्रगट करने की शक्ति आती है। शरीर में हल्कापन, लोच और अंग-प्रत्यंगों की पेशियों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए उन की एक विशेष व्यायाम पद्धति है जो कि यौगिक व्यायामों की ही एक शाखा मात्र है। मन पर अधिकार प्राप्त करने के लिए प्राणायाम तथा योगासनों का एक कोर्स अलग है। इन सभों के दीर्घ अभ्यास के फल से ये सब प्रकार के रस और भाव व्यक्त करने में सफल होते हैं। विशेषज्ञों के निरीक्षण में दीर्घ अभ्यास के फल से ये स्वेद, अश्रु, शरीर, मुख तथा नेत्र के स्वाभाविक रंग में इच्छानुसार परिवर्तन, अंग-प्रत्यंग में कंपन आदि किसी भी अवसर पर करने में समर्थ होते हैं। इन का भोजन और पान तथा रहन-सहन सभी विशेष रूप से नियमित रहता है।

एक प्रमुख कथकलि श्री गोपीनाथ से परिचित होने का अवसर हमें मिला था। अपने जलसे से अलग उस ने एक बार हम लोगों के अनुरोध से शृंगार आदि नौ रसों का विशेष प्रदर्शन कराया था। प्रत्येक रस के भाव, अनुभाव, तथा कुछ सञ्चारी भावों का इतना सच्चा प्रदर्शन सचमुच आश्चर्यजनक था। हाव, भाव, हेला आदि स्त्रियों के विशेष भावों का प्रदर्शन भी उस ने कराया। इच्छानुसार स्वेद, अश्रु, रोमाञ्च, वर्ण तथा स्वर-विपर्यय आदि पर भी उसे अधिकार था।



पताका



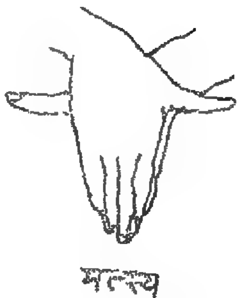
शिखर



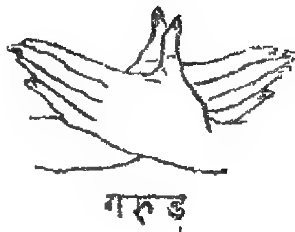
पद्मकोश



शंख



मत्स्य



गरुड़

इन बातों के अतिरिक्त सब से अधिक ध्यान देने योग्य इन की मुद्राएँ होती हैं यह स्पष्ट है कि जिह्वा के बाद मनोभाव व्यक्त करने का सबसे प्रधान साधन हाथों के इंगित या इशारे हैं। इन्ही को 'मुद्रा' या नाट्य की परिभाषा में 'हस्त' कहते हैं। भरत के शास्त्र में ये चौसठ गिनाए गए हैं। इन में चौबीस मुद्राएं एक हाथ से, तेरह दोनों हाथों को जोड़ कर, और सत्ताईस नृत्त की मुद्राएँ हैं।

मुद्रा

एक हाथ से बनने वाली मुद्राओं को 'असंयुत' कहते हैं। इन के नाम यों हैं—पताका, त्रिपताका, कर्त्तरीमुख, अर्धचंद्र, अराल, शुकतुंड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटक-मुख, मृगशीर्ष, सर्पशीर्ष, सूचीमुख, पद्मकोष, लांगूल, स्थल-पद्म, चतुर, भ्रमर, हंसवक्त्र, हंसपक्ष, संदंश, मुकुल, उर्णनाभ तथा ताम्रचूड।

असंयुत मुद्राएँ

दोनों हाथों को जोड़ कर जो मुद्राएँ बनती हैं उन्हे 'संयुत' कहते हैं और उन के नाम ये हैं—

अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिका, कटकवर्धन, उत्संग, निषेध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदंत, अवहित्थ और वर्धमान।

संयुत मुद्राएँ

नृत्तमुद्राओं के नाम ये हैं—चतुर, उद्वृत्त, तालमुख, स्वस्तिक, विप्रकीर्ण, अरालकटकमुख, अविधावक्र, सूची, रेचित, अर्धरेचित, उत्तानवंचित, पल्लव, नितंब, केशबंध, कटिहस्त, लता, पक्षवंचित, पक्षप्रद्योत, गरुड़पक्ष, हंसपक्ष, अर्धमंडली, पार्श्वमंडली, उरुमंडली, नलिनी, पद्म-कोश, अल्पपद्म तथा बाण।

नृत्त मुद्राएँ

इन के सिवा प्रत्येक देवी-देवता, प्रसिद्ध नदी, समुद्र, पर्वत, प्रसिद्ध महापुरुष, ऋषि-मुनि, तथा महर्षिगण तथा प्राय. सभी जीव-जंतुओं तथा इतर पदार्थों की मुद्राएँ या चिह्न अलग हैं।

स्थानाभाव से सब के नाम या शास्त्र से मौलिक उद्धरण देना यहाँ असंभव है। प्रत्येक मुद्रा की पूरी परिभाषा और उन के प्रयोग के अवसर दिए हुए हैं। इन का उल्लेख एक साधारण लेख में असंभव है। उदाहरण के लिए कुछ मुद्राओं के चित्र यहाँ दिए जाते हैं।

किस भाव के प्रकाशन में किस देवता, पुरुष, स्त्री या अन्य प्राणी, तथा किस वस्तु को व्यक्त करने के लिए कौन-सी मुद्रा बनानी चाहिए, इस का विस्तृत विवरण भरत के 'नाट्यशास्त्र' तथा 'अभिनयदर्पण' में मिलता है। केरल-कला-मंडलम् के कथकलि कलावतों को इन सब मुद्राओं पर अधिकार रहता है। अभी गत वर्ष अखिल भारतीय संगीत-सम्मेलन के छठें अधिवेशन में, जो काशी में हुआ था, बाला सरस्वती नाम की नृत्यकला में निपुण एक मदरासी महिला ने प्रदर्शन में भाग लिया था। इन्हों ने भरत के शास्त्र के अनुसार नृत्य, नाट्य और नृत्त के प्राय सब अंगों का अभ्यास कर लिया है और सम्मेलन में उन्हों ने बहुत-सी मुद्राओं और गतियों का सफल अभिनय भी दिखाया था। इस से कुछ लोगों की आँखें खुलीं। हम लोगों के प्राचीन शास्त्रों में कला की अमूल्य निधि रक्खी हुई है, इसे हम लोग भूले हुए हैं, और पाश्चात्य कला के अनुकरण में पागल-से हो रहे हैं। यह स्मरण रहे कि प्रत्येक जाति की कला के उत्थान का अविच्छिन्न संबंध उस देश तथा जाति की संस्कृति से होता है। अपनी परंपरा और संस्कृति से अलग हो कर कोई भी जाति अपनी कला की उन्नति नहीं कर सकती। चित्र और स्थापत्य-कला के विकास का उदाहरण हमारे सामने है। इस से हम को शिक्षा लेनी चाहिए। अवनीद्रनाथ ठाकुर ही पहले भारतीय संस्कृति के आधार पर चित्रकला के उत्थान की ओर अग्रसर हुए। लोग हँसे। कुछ लोगों की धारणा है भारत के इतिहास भर में कला का सुसंस्कृत माध्यम कभी था ही नहीं और पाश्चात्य, विशेष कर यूनान और रोम की कला के अनुकरण पर ही, भारतीय चित्रकला की नींव पड़ी। इस धारणा के विरोध में अवनीद्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में जब एक आंदोलन प्रारंभ हुआ तब बहुत से भारतीय विद्वानों ने ही इस की हँसी उड़ाई। पर इसी बीच अजंता और एलोरा आदि की खोजों ने लोगों की आँखें खोल दीं। कला के क्षेत्र में अब सभी इस बात को मान गए हैं, कि भारत का एक अपना आत्म-प्रकाशन का आदर्श था और आधुनिक युग में कला का नए सिरे से उत्थान करते समय, उस आदर्श को भूल जाना और अन्य देशों की कला के आदर्श की चकाचौंध में पड़ कर उसी को आधार या सर्वस्व मानना अपनी संस्कृति का गला घोंटना होगा।

बाला सरस्वती

जो बात चित्रकला के क्षेत्र में हुई, वही नाट्य और नृत्य के संबंध में भी हो कर

रहेगी यह स्पष्ट है कि चित्र या सजीव नाट्य और नृत्यकला को ही आधार बना कर चलती है। हम पहले जो कह आए है, उस मे यह स्पष्ट है। सभी

चित्र और नृत्यकला

कलाओ के मूल मे आत्मनिवेदन है। प्रत्येक जाति का आत्म-प्रकाशन अपनी संस्कृति आदि के अनुसार ही होता है।

इस समय जो नृत्य उत्तर भारत मे प्राय: जल्सो मे देखने में आते है वह भारतीय सभ्यता और संस्कृति को स्मरण कर लज्जास्पद ही कहे जा सकते है। विशेष कारणों से

आधुनिक नृत्य

इस समय भारतीय नृत्य-कला हिंदू-जीवन का दैनिक अग नही रह सकी है। वह केवल दरबारो और महफिलो की चीज रह गई है। दूसरे शब्दो मे यह कला हिंदू जीवन का प्रधान अग न रह कर केवल पेशावरो की जीविका का साधन मात्र रह गई। वारांगनाओं तथा उन के उस्ताद कथको ने इसे अपने ही ढग से अपने आश्रयदाताओ की रुचि के अनुसार इच्छानुसार बनाया-बिगाडा। फारसी संस्कृति का सपर्क भी इस के साथ हुआ। पर पाश्चात्य शासन के बाद से इस कला के जीवन मे भी अनेक परिवर्तन हुए। अत में लखनऊ दरबार मे यह मिश्रित 'नृत्त' कला अपनी चरम सीमा को पहुँची। इस को हम 'नृत्त' ही कह सकते है, क्योकि इस मे नाट्य, नृत्य तथा मुद्रा आदि नही के बराबर है। इस मे ताल ही सब कुछ है। लखनऊ के कालका और बिंदा इस कला के अंतिम प्रतिनिधि थे।

सौभाग्य से दक्षिण की भारतीय संस्कृति मे राजनीतिक उलटफेर के कारण उतना परिवर्तन न हो पाया। वहाँ का नृत्य और सगीत बहुत कुछ प्राचीन पद्धति के अनुसार सुरक्षित है जैसा कि ऊपर के कथन से स्पष्ट हो गया होगा। कर्नाटक और केरल में इस प्राचीन नृत्य-कला के जीर्णोद्धार के लिए एक प्रबल आदोलन चल रहा है। केरल-कला-मडलम् के कार्य की भूरि-भूरि प्रशसा देश मे हो रही है। विशेष कर बगाल ने इन के कार्य के महत्त्व को भली भाँति पहचाना है। उदयशंकर स्वयं अब कथकलि कलावतो से शिक्षा ग्रहण कर रहे है। पर दुर्भाग्य से उत्तर भारत अभी तक पिछड़ा हुआ है।

लोगो को यह जान कर आश्चर्य होगा कि भरत के 'नाट्यशास्त्र' का अभी तक

अंग्रेज़ी में भी अनुवाद नहीं है देश-भाषाओं में कौन कहे कोई सुव्यवस्थित संस्करण भी इस ग्रंथ का अभी तक नहीं प्राप्य है। गायकवाड़ की संस्कृत सीरीज़ में यह ग्रंथ मुद्राओं के चित्र सहित छप रहा है। प्राय आधा छप गया है। काशी के सरस्वती-भवन से भी एक संस्करण निकला है जो कि अपेक्षाकृत शुद्ध और सुव्यवस्थित है। इस के एक सुसंपादित हिंदी अनुवाद की कितनी आवश्यकता है और प्रकाशित होने पर यह अनुवाद कितना महत्त्वपूर्ण होगा यह अब बताने की आवश्यकता नहीं है। इस में वर्णित भावों और मुद्राओं को किसी चतुर कथकलि कलावन की सहायता से सचित्र भी किया जा सकता है जिस से इस की उपयोगिता बहुत बढ़ जायगी। पर इस का अनुवाद वही कर सकता है जो संस्कृत, हिंदी और संगीत तथा नाट्यशास्त्र तीनों ही पर समान रूप से अधिकार रखता हो। इतना हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति और कला पर नया प्रकाश डालने और जाति को अपनी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, कला तथा परंपरा से परिचित कराने के लिए इस से अधिक मूल्यवान् प्रकाशन की कल्पना करना कठिन है।

नाट्यशास्त्र का अनुवाद

उदासी संत रैदास जी

[लिखक—श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

(१)

संत रविदास अथवा रैदास जी कबीर साहब के समकालीन समझे जाते है और कहा जाता है कि इन दोनो महात्माओ का जन्म काशीपुरी मे हुआ था तथा, स्वामी रामानंद से उपदेश ग्रहण करने के कारण, ये दोनो आपस मे गुरुभाई भी होते थे। परंतु इन वा अन्य ऐसी बातो के सबंध मे कोई पुष्ट प्रमाण नही मिलने जिन के आधार पर इन्हे निर्विवादरूप मे सर्वसम्मत मान लिया जाय। अतएव बहुत से लोगों की यह भी धारणा जान पड़ती है कि रैदास जी, वास्तव में, महाराष्ट्र अथवा राजपूताने के रहने वाले थे। जो हो, इन के प्राप्त पदो की भाषा मे भिन्नता होने एव इन के अनुयायियों के अनेक प्रदेशो में पाए जाने के कारण, यह अनुमान करना अनुचित नही जान पडता कि, जहाँ कहीं भी इन का जन्म हुआ हो, इन्हो ने भिन्न भिन्न स्थानों में पर्यटन अवश्य किया था।

रैदास जी की उपलब्ध रचनाओं मे से सिक्खो के प्रसिद्ध 'आदिग्रथ'[१] मे संगृहीत—

हरि के नाम कबीर उजागर।
जनम जनम के काटे कागर॥
निमत नामदेउ दूधु पीआइआ।
तउ जग जनम संकट नहीं आइआ॥

---

१ 'श्री गुरुग्रंथ साहिबजी' (भाई गुरदिआल सिंघ ऐंड सन्, अमृतसर), क्रमशः पृष्ठ ४८७, ११०४ व १२९२

तथा नामदेव कबीर तिलोचनु सधना सैनु नर।
कहि रविदास सुनहु रे संतहु हरिजीउ ते सभै सरै॥

और, जाकै ईदि बकरीदि कुलगऊ रे बधु करहि
मानी अहि सेख सहीद पीरा।
जाकै बाप वैसी करी पूत ऐसी सरी
तिहू रे लोक परसिध कबीरा॥

एवं, एक दूसरे संग्रह, 'रैदास जी की बानी', में आए हुए[1]—

नामदेव कहिए जाति कै ओछ।
जाको जस गावै लोक॥
भगति हेत भगता के चले।
अंकमाल ले बीठल मिले॥
. . . .
निरगुन का गुन देखो आई।
देही सहित कबीर सिधाई॥

पद, ६७

के देखने से प्रकट होता है कि इस महात्मा ने जिस समय इन पदों को बनाया था उस समय तक नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सदना और सेना नामक प्रसिद्ध संतों का देहावसान हो चुका था और वे, कम से कम कुछ पहले से ही, अपनी साधनाओं के फलस्वरूप पूर्ण ख्याति भी प्राप्त कर चुके थे। अतएव, यदि इन पंक्तियों के आधार पर निर्णय किया जावे तो, रैदास जी को हम अधिक से अधिक कबीर साहब का एक अल्पकालिक समकालीन मात्र मान सकते हैं और यदि कबीर साहब का निधनकाल संवत् १५०५ अथवा सन् १४४८ ई० निश्चित हो तो, उक्त दशा में, हम रैदास जी के प्रारंभिक जीवनकाल को ईस्वी सन् की पंद्रहवीं शताब्दी के प्रथम वा द्वितीय चतुर्थांश में रख सकते हैं।

रैदास जी के विषय में आज तक ऐतिहासिक चर्चा करने का कष्ट कदाचित् किसी ने नहीं उठाया, अतएव जो कुछ अभी तक ज्ञात है वह अधिकतर ऐसा है जिस में

---

[1] 'रैदास जी की बानी' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ३३

सदेह एव विवाद का स्थान पद पद पर हो सकता है। जनश्रुति के अनुसार ये स्वामी रामानद के प्रसिद्ध १२ शिष्यों मे गिने जाते है और यह परंपरा कम से कम ईस्वी सन् की १६वी शताब्दी अथवा नाभादास, अनतदास तथा बाजीदास के समय से प्रचलित है। रामानंद स्वामी का समय आजकल १२९९ से १३५४ तक अथवा १२९९ से १४१० तक बतलाया जाता है और इस मत के अनुसार इन का जीवनकाल १४वी शताब्दी मे ही रखना अथवा अधिक से अधिक उसे १५वी के प्रथम वा द्वितीय चरण तक बढ़ा ले जाना युक्तिसगत होगा। सभवत इसी कारण नागरी-प्रचारिणी सभा काशी के 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का विवरण' प्रथम भाग मे रैदास जी को स० १००५ (सन् १४४८) के लगभग वर्तमान माना है और सन् १९०९-११ की रिपोर्ट मे उन का काल सन् १४५० बतला कर जन्म का होना सन् १३९९ मे स्थिर किया है। परन्तु इस मत की पुष्टि किसी अन्य प्रमाण से भी सिद्ध होती हुई नही दीखती।

रैदास जी का नाम मीराँबाई के कुछ पदों मे आता है और, कदाचित् उस के भी पहले, धन्ना जाट ने अपने एक पद मे इन की चर्चा नामदेव, कबीर और सैन की ही भाँति की है। इन के विषय मे धन्ना ने कहा है कि—

रविदास ढुवंता ढोरनी तितिनि तिआगी माइआ।
परगटु होआ साध संगि हरिदरसनु पाइआ ॥[1]

अर्थात् नित्यप्रति ढोरो को ढो कर उन का व्यवसाय करने वाले रैदास ने भी अपनी माया त्याग दी और साधुओ के साथ रह कर भगवान् का दर्शन पाया। इस से प्रकट है कि धन्ना द्वारा इस पद की रचना के समय तक रैदास जी अपने धंधे से विमुख हो कर संतो मे मिल चुके थे अथवा, यदि इस के पहले के दो चरण और बाद के एक चरण मे आए हुए क्रमश. नामदेव, कबीर और सैन के वर्णन पर विचार किया जाय तो, सभवत मर भी चुके थे। स्वय रैदास जी ने अपने एक पद मे, इसी प्रकार, नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सदना और सैन 'तर चुके हुए' बतलाया है जिस से उन के उस रचना के निर्माण-समय तक कबीर का मर चुकना विदित हुआ है। रैदास जी इन दोनो प्रमाणों के आधार पर कबीर के अनंतर

---

[1] 'आदि ग्रंथ श्री गुरुग्रंथ साहिबजी' (भाई गुरदिआल सिंघ ऐंड सन्, अमृतसर), पृ० ४८७

और धन्ना के प्रथम जीवित रहने वाले कहे जा सकते है, अथवा यह भी हो सकता है कि वे अधिक से अधिक कबीर से छोटे व धन्ना से बडे समसामयिक रहे हो। इन मे से धन्ना का समय विदित नहीं और कबीर का निधन-काल कम से कम स० १५०५ अथवा सन् १४४८ बतलाया जाता है, अतएव रैदास जी का समय पद्रहवी शताब्दी के द्वितीय या तृतीय चरण मे मानना अनुचित नही जान पड़ता।

इस के सिवाय यह प्रसिद्ध है कि मिर्जापुर आदि कई जिलो मे पाया जाने वाला 'माधों' का सप्रदाय रैदास जी की ही परपरा मे चला था और इस की स्थापना पहले-पहल किसी वीरभान नामक व्यक्ति ने सन् १५४३ ई० में की थी।[1] वीरभान उदयदास के शिष्य थे और उदयदास की गणना रैदास जी के शिष्यों मे की जाती है। यह प्रसिद्धि यदि प्रामाणिक आधारो पर चलाई गई है और वीरभान यदि वास्तव मे, रैदास जी को अपना दादागुरु समझते रहे हो तो 'रैदास जी' के समय का इस दृष्टि से भी पद्रहवी शताब्दी के तृतीय चरण अथवा अधिक मे अधिक चतुर्थ चरण तक चला जाना असंभव नही कहा जा सकता। इस से अधिक विचार करने के लिए सामग्री का अभाव है।

'रैदास की बानी' मे सगृहीत[2]—

रैदास तू काँवच कली, तुझे न छीपै कोइ।

दोहा, ५

करम कठिन मोरि जाति कुजाती।

पद, २२

जाति भी ओछी जनम भी ओछा,
ओछा करम हमारा।

पद, ३८ व ८७

हम अपराधी नीच घर जनमे, कुटुँब लोक करै हाँसी रे।

पद, ६२

---

[1] के, 'कबीर ऐंड हिज़ फ़ालोअर्स' (रेलिजस लाइफ़ अव् इंडिया सीरीज़), पृ० १६४

[2] 'रैदास जी की बानी' (बे० प्रेस), क्रमशः पृ० १, ११, २० व ४३, ३० तथा ३३

मोर कुचिल जाति कुचिल में बास ।

पद, ६७

तथा 'आदिग्रंथ' में मिलने वाली[1]—

मेरी जाति कमीनी पाँति कमीनी,

ओछा जनमु हमारा ।

पद, ६

पंक्तियों से यह भी विदित होता है कि वे किसी निम्न श्रेणी की अस्पृश्य जाति में जन्मे थे जिस का काम-धंधा बहुत निंद्य था और, इसी कारण बहुधा लोग उन की हँसी तक उड़ाया करते थे, और साथ ही 'रैदास की बानी' में प्राप्त[2]—

कह रैदास खलास चमारा ।

पद, ३१

ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारं ।

पद, ४२

नालीदोज हनोज बेबखत कमिं खिजमतगार तुम्हारा ।

पद, ६०

चरन सरन रैदास चमइया ।

पद, ८१

एवं, 'आदिग्रंथ' के[3]—

प्रेमभगति कै कारनै कहु रविदास चमार ।।

पद, १

से यहाँ तक स्पष्ट है कि वे अछूत ही नहीं बल्कि चमार नामक अछूत जाति के वंशज थे और, इस बात को ध्यान में रखते हुए, अपने को वे सदा नीच तथा अधिकारहीन तक समझते थे। इसी प्रकार 'आदिग्रंथ' के ही दो स्थल[4], अर्थात्—

---

[1] 'श्री गुरुग्रंथ साहिबजी' (भाई गुरदिआल सिंघ ऐंड सन्, अमृतसर), पृ० ६५८

[2] 'रैदासजी की बानी' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), क्रमशः पृ० १७, २१, २९ तथा ४०

[3] 'श्री गुरुग्रंथ साहिबजी' (भाई गुरदिआल सिंघ ऐंड सन्, अमृतसर), पृ० ३४६

[4] वही, पृ० १२९२

मेरी जाति कुटवाँ ढलाढोर ढोवंता,
नितहि बनारसी आसपासा ।
पद, १

तथा, जाके कुटंब ढेढ सभ ढोर ढोवत
फिरहि अजहू बंनारसी आसपासा ।
आचार सहित विप्र करहि डंडउति
तिन तनै रविदास दासानदासा ।
पद, २

से यह भी पता चल जाता है कि उन की जाति वाले ढेढ लोग मृतक पशुओं को ढो ढो कर ले जाते थे और उन का व्यवसाय काशीपुरी के आसपास किया करते थे। परन्तु स्वयं रैदास जी, कदाचित्, यह कार्य नहीं करते थे। इन का ध्यान विशेषरूप से भगवान् की ओर आकृष्ट था और ये एक पहुँचे हुए महात्मा समझे जाने लगे थे, जिस कारण, सदाचारी ब्राह्मण तक इन्हें प्रणाम करने में संकोच नहीं करते थे।

ज्ञात पड़ता है रैदास जी अपने जीवन निर्वाह के लिए पहले जूता सीने आदि का स्ववंश-क्रमागत कार्य करते रहे क्योंकि इस विषय की दो चार कथाएँ भी लोकप्रसिद्ध है, परंतु अपने जीवन के अंतिम भाग में अपना पूर्वोक्त व्यवसाय छोड़ कर निरंतर भगवद्-भजन में ही लीन रहने लगे और उस श्रेणी तक पहुँचने पर जनसाधारण की दृष्टि में भी वे श्रद्धा से देखे जाने लगे। इन के सच्चे ईश्वरानुराग, वैराग्य, दैन्य, संतोष एवं निस्पृहता के संबंध में अनेक कथाएँ प्रचलित है। उदाहरणत, कहा जाता है कि, एक बार इन्हें किसी साधु ने पारस पत्थर ला कर दिया और, इन के औजार में छुला कर उसे सोना बना कर, उक्त पत्थर का उपयोग भी इन्हें बतला दिया, किंतु रैदास जी ने उस बहुमूल्य वस्तु को लेने से इन्कार कर दिया और साधु के बहुत आग्रह करने पर उसे अपने छप्पर में कहीं खोंस देने के लिए कह दिया। तब से तेरह महीने के उपरांत जब साधु फिर लौट कर आया और पत्थर का हाल पूछा तो इन्हों ने कहा, "देख लीजिए, जहाँ रक्खा था वहीं पड़ा होगा"।

इन की कुल रचनाएँ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। पता नहीं इन्हों ने किसी स्वतंत्र ग्रंथ की रचना की थी या नहीं, क्योंकि अभी तक इन के जो जो पद्य मिल सके हैं वे कई संग्रहों में केवल एकत्रित कर लिए गए जान पड़ते हैं। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की

खोज-संबंधी रिपोर्ट मे 'रैदास की बानी', 'रैदास के पद' एव 'रैदास जी की साखी तथा पद' का उल्लेख[१] है जो भिन्न भिन्न रचनाओ के सग्रह मात्र ही जान पड़ते हे और वही दशा बेल्वेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'रैदास जी की बानी' तथा सिक्खो के 'आदि श्री गुरुग्रथ साहिबजी' में भिन्न भिन्न सोलह स्थानों पर पाए जाने वाले पदो की भी है। अभी हाल मे प्रकाशित, शातिनिकेतन के विद्वान श्री क्षितिमोहन सेन की बँगला पुस्तक 'दादू' मे सतो के वचनो के दो वृहत् सग्रहो का उल्लेख किया गया है। दोनों मे रैदास के पदो के सग्रह मिलते है। इन मे से एक सग्रह अजमेर के श्रीयुत चद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी के पास तथा दूसरा जैपूर मे श्री शकरदास के पास बताया जाता है। सुनने मे आता है कि हाल मे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के प्रयत्न से इन की रचनाओ का एक ओर अच्छा सग्रह हस्तलिखित रूप मे प्राप्त हुआ है। परतु अभी तक इसे देखने का मुझे सौभाग्य नही हुआ। मेरे पास इस समय केवल दो ही ऐसे सग्रह वर्तमान हैं जिन मे से 'रैदास जी की बानी' में कुल मिला कर ६ साखियाँ और ८७ पद है और 'आदि श्री गुरुग्रथ साहिबजी' मे केवल ४० पद ही पद दिए गए हैं। इन दोनो सग्रहों के पद भिन्न भिन्न रागो के अंतर्गत रक्खे गए है। परतु 'आदिग्रथ' के सभी ४० पद उक्त 'बानी' वाले सग्रह मे नही पाए जाते। केवल २२ पदो मे ही न्यूनाधिक समानता है। पाठभेद बहुत कुछ पाए जाते है।

(२)

रैदास जी के पदो में उन के दृढ वैराग्य एव ईश्वरानुराग की भावनाएँ प्राय सब कहीं लक्षित होती है और इन दोनो की मूल भित्ति उन के आत्मनिरीक्षण तथा सासारिक विडबनाओ के कटु अनुभव पर खड़ी की गई जान पड़ती है। आडंबर और स्वाभिमान अथवा झूठी बडाई से उन्हे बडी चिढ है और अपनी दीनता एवं भगवान् के प्रति आत्मीयता के भाव प्रकट करने में वे कभी नहीं चूकते। वे कहते हे कि बडाई अथवा झूठे अभिमान का रोग ससार में इस प्रकार सक्रामक सा हो गया हे कि सद्गुण और सद्भाव वाले व्यक्तियो पर भी अपना प्रभुत्व जमाए बिना नही छोडता। यहाँ तक कि—

---

[१] 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (का० ना० प्र० सभा), पहला भाग, पृ० १४८

भगत हुआ तो चढ़े बड़ाई जोग करू जग मान
गुन हूआ तो गुनी जग कह, गुनी आपको आनें ॥[1]

पद, ४

अर्थात् भक्तिमार्ग पर अग्रसर होने पर भी अपनी बड़ाई का लोभ नही जाता और न योग-साधना मे लगे होने पर ही ससार मे, अपनी योगसिद्धियो की स्वीकृति बिना कराए काम चलता है। गुणो की प्राप्ति होते ही इस बात की भूख सताने लगती है कि लोग हमें गुणी माने और सदा अपने को गुणीवत् समझने का स्वभाव सा हो जाता है। इसी प्रकार सच्ची भक्ति का मूल आधार, वास्तव मे, प्रेम है किंतु ससार मे उल्टा ही देखने को मिल रहा है—

हम जानौ प्रेम प्रेमरस जाने, नौ विधि भगति कराई।
स्वाँग देखि सब ही जन लटक्यो, फिर यों आन बँधाई ॥[2]

पद, ५

अर्थात् मेरे विचार मे प्रेम ही सब कुछ है और प्रेमरस का अनुभव होने पर ही नवधा भक्ति की जा सकती है, किंतु लोग स्वाँग को ही मुख्य वस्तु समझ कर उस के पीछे पड़े हुए है और उसी मे सदा फँसे रहा करते है। वास्तव मे, इस स्वाँगरचना अथवा दिखाऊपन के अतिरिक्त, एक और भी बात है जो सदा खटका करती है और, जिस के कारण, उन का मन सदा बेचैन सा रहा करता है। वे कहते है—

भगति चितऊँ तो मोह दुख व्यापही,
मोह चितऊँ तो मेरी भगति जाई।
उभय संदेह मोहि रैन दिन व्यापही,
दीनदाता करूँ कवन उपाई ॥[3]

पद, ७५

अर्थात् भक्ति की प्राप्ति के लिए जब प्रयत्न करने लगता हूँ तो बाधास्वरूप सासारिक

[1] 'रैदास जी की बानी' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ४
[2] वही, पृ० ४
[3] वही, पृ० ३७

मोह प्रबल हो उठता है, और यदि मोह में रहने की ओर ध्यान जाता है तो भक्ति की साधना से ही हाथ धोना पड़ता है। दोनों के बीच एक प्रकार का संदेह जागृत होते रहने से दिन रात बेचैनी सताती है, और किंकर्तव्यविमूढ़ की दशा में, सिवाय परमेश्वर की शरण जाने के, और कोई भी उपाय नहीं सूझता।

इसी लिए, अनेक प्रकार के संदेह एवं भ्रम के चक्करों में सदा पड़े रहने के ही कारण, रैदास जी अपने को बहुत दुखी समझा करते हैं, और एक हतोत्साह मनुष्य की भाँति अपने को बार बार उदास रहने वाला अथवा उदासी भी कहा करते हैं। अपने लिए 'उदास' अथवा 'उदासी' शब्द का व्यवहार उन्हों ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर किया है, जैसे—

अनिक जतन निग्रह कीए,
टारी न टरै भ्रमफांस।
प्रेम भगति नहीं ऊपजै,
ताते रविदास उदास ॥[1]

तथा, कह रैदास उदास भयो मन,
भाजि कहाँ अब जैये।
इत उत तुम गोविंद गोसाईं,
तुमही माँहि समैये ॥[2]

और, छूटै तबहिं जब मिलै एक ही, भन रैदास उदासी ॥[3]

पद, ११

अर्थात् अनेक प्रयत्न करने पर भी जब भ्रम का बंधन नहीं टूटता और न प्रेमभक्ति उत्पन्न हो पाती है तो हताश हो कर उदास होना ही पड़ता है और पता नहीं चलता कि कहाँ भाग निकलें। फिर चारों ओर उस एकमात्र सर्वव्यापक परमेश्वर को ही पा कर जी में आता है कि किसी प्रकार उसी के भीतर प्रवेश कर जाएँ, क्योंकि यह दृढ़ निश्चय है कि यह दुःख, बिना उस के साथ एकीकरण किए, किसी प्रकार छूट नहीं सकता। यहाँ पर

[1] 'श्री गुरुग्रंथ साहिबजी' (भाई गुरदियाल सिंघ ऐंड सन्, अमृतसर), पृ० ३४६
[2] 'रैदास जी की बानी' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ३७
[3] वही, पृ० ७

उपरोक्त विचारो का चिंतन करते समय रैदास जी सदा उदास ही दीख पड़ते है और अपना निश्चयात्मक उद्गार भी वे उदासी बन कर ही प्रकट करते है।

रैदास जी के ईश्वर-प्रेम एव विनय-संबंधी अनेक पद बहुत ही सुंदर और उत्कृष्ट हैं। वे भगवान् के साथ अपनी आत्मीयता दर्शाते समय अपने भावो के सौदर्य एव कथन-शैली के अनोखेपन—इन दोनो मे—अद्वितीय से दीख पडते है। उदाहरण के लिए एक पद मे वे इस प्रकार कहते है—

जउ हम बाँधे मोहफास हम प्रेमबंधनि तुम बांधे।
अपने छूटन को जतनु करहु हम छूटे तुम आराधे ॥
माधवे जानत हहु जैसी तैसी, अब कहा करहुगे ऐसी ॥
मीनु पकरि फॉकिउ अरु काटिउ रांधि कीउ बहुबानी।
खड खड करि भोजनु कीनो तऊ न बिसरउ पानी ॥[१]

अर्थात् हे भगवन् यद्यपि मैं मोह-बधन द्वारा जकडा गया हूँ, तो भी मैं ने तुम्हे भी अपने प्रेमबधन मे बाँध रक्खा है। मैं तो तुम से विनय-प्रार्थनादि कर के छूट भी जा सकता हूँ, किंतु तुम्हारे लिए मेरे पाश से मुक्त होना महा कठिन है। तुम्हें इस बात का सब रहस्य ज्ञात है इस लिए तुम्हारी विवशता को भी मैं भली भाँति पहचानता हूँ। तुम जानते हो कि जल मे सदा रहने वाली एव जल को ही अपना सब कुछ समझने वाली मछली को पकड कर यदि कोई बाहर लावे और उसे चीर-काट कर अनेक प्रकार के भोजन बनावे तथा उन टुकडो को उदरस्थ भी कर ले तो भी वास्तव मे मीन जल का ही मीन ठहरा। उस के लिए अपने जीवनाधार जल का भूल जाना नितात असभव है। और ठीक यही दशा मेरे और तुम्हारे सबध मे भी है।

इसी प्रकार एक दूसरा पद[२] भी देखिए—

जउ तुम गिरिवर तउ हम मोरा।
जउ तुम चंद तउ हम भये है चकोरा ॥

---

[१] 'श्री गुरुग्रंथ साहिबजी' (भाई गुरदिआल सिंघ ऐंड सन्, अमृतसर), पृ० ६५७
[२] वही, पृ० ६५७-८

माधवे तुम न तोरहु तउ हम नहिं तोरहि।
तुम सिउ तोरि कवन सिउ जोरहि॥
जउ तुम दीवरा तउ हम बाती।
जउ तुम तीरथ तउ हम जाती॥
साची प्रीति हम तुम सिउ जोरी।
तुम सिउ जोरि अवर सँगि तोरी॥
जह जह जाउ तहाँ तोरी सेवा।
तुम सो ठाकुरु अउरु न देवा॥[1]

अर्थात् तुम्हारा और अपना संबंध मैं इस प्रकार भी व्यक्त कर सकता हूँ जैसे, यदि तुम एक बड़े ऊँचे पहाड़ हो तो मैं उस पर विचरने वाला मोर हूँ और यदि तुम आकाश में चमकने वाले चंद्रमा हो तो मैं पृथ्वी पर से ही एकटक निहारने वाला चकोर हूँ। हे माधव, तुम यदि अपना संबंध तोड़ भी लो तो मैं उसे कदापि नहीं तोड़ सकता, क्योंकि तुम्हें छोड़ मेरे लिए और कोई भी नहीं जिस से लगन लगा सकूँ। यदि तुम दीपक हो तो उसी के आधार पर एवं स्नेह द्वारा जीवित रह कर प्रकाश करने वाली मैं बत्ती हूँ और यदि तुम पावन तीर्थ हो तो मैं उसी के उद्देश्य से पर्यटन करने वाला यात्री हूँ। मैं ने तुम्हारे साथ सच्चे प्रेम का संबंध जोड़ रक्खा है और तुम्हारे साथ नाता लगा कर औरों से पृथक् हो गया हूँ। इस लिए जहाँ कहीं भी जाऊँ मैं तुम्हारी ही सेवा में विरत रहता हूँ, क्योंकि तुम्हें छोड़ मेरे लिए न तो दूसरा कोई मालिक है और न देवता है। तुम्हीं मेरे प्राणधन और सर्वस्व हो और तुम्हारे सिवाय मैं किसी और को नहीं जानता।

इसी कारण ऐसे महत्वपूर्ण एवं अनुपम आत्मीय के सत्कारार्थ किसी प्रकार की उचित सामग्री जुटाते समय भी रैदास जी को महान् संकोच होता है। उन की दृष्टि में, भगवान् की सेवा के समय काम देने योग्य, संसार की उत्तम से उत्तम वस्तु भी नहीं जँचती और वे अंत में इस प्रकार कल्पना करते हैं—

दूधु त बछरै थनहु बिटारिउ।
फूलु भवरि जलु मीनि बिगारिउ॥

[1] 'श्री गुरुग्रंथ साहिबजी' (भाई गुरदिआल सिंघ एँड सन्, अमृतसर), पृ० ६५७-८



माई गोविंद पूजा कहा लै चरावउ ।
अवरु न फूलु अनूपु न पावउ ।
मैलागर बेर्हे है भुइअंगा ।
बिखु अमृतु बसहि इक संगा ।
धूपदीप नईबेदहि बासा ।
कैसे पूज करहि तेरी दासा ।।
तनु मनु अरपउ पूज चरावउ ।
गुर परसादि निरंजनु पावउ ।।
पूजा अरचा आहि न तोरी ।
कहि रविदास कवन गति मोरी ।।[१]

अर्थात् दूध को तो बछड़े ने गाय के थन में ही गंदा कर दिया और फूल एवं जल को क्रमशः भ्रमर तथा मीन ने बिगाड़ दिया, अब किस वस्तु को ले कर गोविंद की अर्चना-पूजा करने बैठूँ । मलयागिरि के चंदन वाले वृक्षों में सदा सर्प ही लिपटे रहते हैं, विष और अमृत का निवास एक ही स्थल पर है और धूप, दीप, नैवेद्य, आदि की भी दशा प्रायः इसी प्रकार की है, अतएव तुम्हारा सेवक समझ नहीं पाता कि पूजा किस प्रकार की जाय । पूजा का सब से उत्तम ढंग यही जान पड़ता है कि अर्चना करते समय अपने तन, मन आदि को भगवान् के चरणों में अर्पित कर दे और सद्गुरु की कृपा से उस परमात्मा को प्राप्त कर ले । रविदास का कहना है कि वास्तविक पूजा एवं अर्चना का ढंग दूसरा किसी प्रकार से विदित नहीं होता और यह समझना कठिन है कि फिर सद्गति किस प्रकार सरलता-पूर्वक हो सकेगी ।

(३)

रैदास जी अपने उपास्यदेव की पूजा करते समय उसे स्वर्ग के किसी देवता का स्वरूप देते हुए नहीं जान पड़ते । वे स्पष्ट कहते हैं कि—

[१] 'श्री गुरुग्रंथ साहिबजी' (भाई गुरदिआल सिंघ ऐंड सन्, अमृतसर), पृ० ५२५

कह रैदास मैं ताहि को पूजूँ, जाके ठाँव नाँव नहि होई ॥[1]

पद, ४

तथा, अलखनाम जाको ठौर न कतहूँ, क्यो न कहो समुझाई ॥[2]

पद, ९

अर्थात् वे ऐसे देव की पूजा करते है जिस का नाम-ग्राम कुछ भी नही। कारण यह कि वह सदा निर्गुण और निराकार है। जैसे—

अखिल खिलै नहिं का कहि पंडित, कोइ न कहै समुझाई ।
अबरन बरन रूप नहि जाके, कहँ लौ लाइ समाई ॥
चंद सूर नहिं रात दिवस नहि, धरनि अकास न भाई ।
करम अकरम नहिं सुभ असुभ नहिं, का कहि देहुं बड़ाई ॥[3]

पद, ११

अर्थात् वह अखिल वास्तव मे, खिलता अथवा विकसित तक नही होता वरन् सदा एक-भाव बना रहता है। वह बिना किसी रग का है जिस मे रग वा रूप बिल्कुल पाए ही नही जाते। वह चद्रमा, सूर्य, रात, दिन, आकाश, पृथ्वी, कर्म, अकर्म, शुभ अथवा अशुभ इन किसी मे से भी नही है। उसे एक प्रकार से

निरजन, निराकार, निरलेपी, निरबीकार, निसासी ।[3]

पद, ११

कह सकते है। और, यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो, उस के विषय मे

गुन निर्गुन कहियत नहिं जाके[3],

पद, ११

तक कहना अनुचित न होगा। परतु फिर भी वह—

आदि मध्य औसान एक रस, तार बन्यो हो भाई ।
थावर जंगम कीट पतंगा, पूरि रह्यो हरिराई ॥

---

[1] 'रैदास जी की बानी' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ४
[2] वही, पृ० ६
[3] वही, पृ० ७

सर्वेश्वर सर्बंगी सब गति करता हरता सोई ।[1] इत्यादि ।

पद, २५

अर्थात् आदि, मध्य एव अत इन तीनो मे एक ही प्रकार निर्विकार रहता हुआ सब को स्थिर रखने वाले तार अथवा सब मे एक ही साथ पिरोए गए सूत्र की भाँति[2] बना रहता है तथा चर अचर, कीट, पतंग सब कही और सब मे एक ही प्रकार व्याप्त है। वह सब का मालिक, सब को अपने मे निहित रखने वाला, सब कही आने जाने वाला तथा सब का रचने एव सहार करने वाला है। वे यह भी कहते हैं कि

अवरन वरन कहै जनि कोई, घट घट व्यापि रह्यो हरि सोई ।।[3]

पद, ३७

अर्थात् मेरे उपास्यदेव हरि को अवरन वरन भी कहने की आवश्यकता नहीं। वह तो घट घट मे व्याप रहा है। उस विराट् रूप का--

चरन पताल सीस असमाना ।[4]

पद, ५७

है, और,

नख प्रसाद जाके सुरसरि धारा ।
रोमावली अठारह भारा ।।
चारो वेद जाके सुमिरत साँसा ।[4]

पद, ५७

भी, यदि कहना चाहे तो उस 'निरजनराया' के विषय मे कह सकते है।

उक्त सर्वात्मवाद के साथ ही रैदासजी की रचनाओ मे हमे शाकर अद्वैतवाद की भी झलक, अनेक स्थलों पर, मिलती है। जैसे---

जब हम होते तब तू नाही, अब तूही मैं नाही ।
अनल अगम जैसे लहरि मइ उदधि जल केवल जल माहीं ।।

---

[1] 'रैदास जी की बानी' (बे० प्रे० प्रयाग), पृ० १३

[2] देखिए 'श्रीमद्भगवद्गीता'--"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव", श्लोक ७, अध्याय ७

[3] 'रैदास जी की बानी' (बे० प्रे० प्रयाग), पृ० १९

[4] वही, पृ० २७

माधवे किआ कहीए भ्रमु ऐसा,
जैसा मानीऐ होइ न तैसा ॥
नरपति ऐकु सिंघासनि सोइया,
सपने भैया भिखारी ।
अछत राज बिछुरत दुखु पाइया,
सो गति भई हमारी ॥
राज भुइअंग प्रसंग जैसे हहि,
अब कछु मरमु जनाइआ ।
अनिक कटक जैसे भूलि परे अब,
कहते कहनु न आइआ ॥[1] इत्यादि ।

अर्थात् जब तक 'मैं' का भाव है तब तक, द्वैत की गंध रहने के कारण, 'तू' अर्थात् तुम्हारा वास्तविक रूप मैं जान ही नही सकता और जब आत्मज्ञान हो जाता है तो फिर, 'मैं' का अलग अस्तित्व दूर हो कर सर्वत्र तू ही तू रह जाता है। जैसे सर्वथा जलमय समुद्र में उठने वाली प्रचड वडवानल की ऊँची ऊँची लहरे तक, अत में, जल से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नही है। अलग से देखने पर भिन्नता का भ्रम हो जाता है और वास्तविकता का ज्ञान नही हो पाता। इसी प्रकार जैसे कोई राजा अपने सिहासन पर ही सो जाय और स्वप्न देखने लगे कि मैं नितात धनहीन हो गया और, वास्तव मे, सारा राज्य रहते हुए भी स्वप्न के कारण, उसे भ्रमवश दु खी होना पडे उसी प्रकार मेरी भी दुर्दशा हो गई है। अब रहस्य ऐसा जान पडता है कि मैं रज्जु और सर्प तथा भिन्न भिन्न सोने के गहने और सोने की भिन्नता के भ्रम मे पडने के समान भ्रांतिवश हो गया था। सब कुछ कहना चाहने पर भी कहते नही बनता।

इसी प्रकार,

माधो भरम कैसेहु न बिलाई, ताते द्वैत दरसे आई ॥
कनक कुंडल सूत पट जुदा, रजु भुअंग भ्रम जैसा ।
जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यो, ब्रह्म जीव द्रुति ऐसा ॥

---

[1] 'श्री गुरुग्रंथ साहिबजी' (भा० गु० दि० सि० ऐंड सन्, अमृतसर), पृ० ६५६-७

विमल एक रस उपजै न बिनसै, उदय अस्त दोउ नाहीं ।
बिगताबिगत घटै नहिं कबहूँ, बसत बसै सब माहीं ।।
निश्चल निराकार अज अनुपम, निरभयगति गोबिंदा ।
अगम अगोचर अच्छर अतरक, निरगुन अंत अनंदा ।।
सदा अतीत ज्ञानघट बर्जित, निरबिकार अबिनासी ।।[१] इत्यादि ।
पद, ५३

अर्थात् ब्रह्म और जीव दोनो, वास्तव मे, एक ही है, किंतु भ्रमवश दोनो के नीचे हमे द्वैत का बोध होने लगता है । यह भ्रम उसी प्रकार का है जैसे, सोना और उस मे बने हुए कुंडल नामक गहने, सूत और उस से बुने गए वस्त्र, रस्सी और उसे धोखे मे मान लिए गए हुए साँप, पानी और उस पर उठने वाली लहर तथा पत्थर और उस से बनी हुई मूर्ति को एक न मानने मे हुआ करता है । परमात्मा सदा मलरहित, एक सा रहने वाला, अजन्मा, अविनाशी और अनन्त है । वह कभी भी घटता बढता नही तौ भी सब मे व्याप्त रहा करता है । वह निरंतर एक स्थान पर स्थिर रहने वाला, रूपरहित, बेजोड और अबाधित गति वाला है । उस के यहाँ तक किसी की पहुँच नही, न वह इंद्रियो द्वारा अनुभव मे आ सकता है । वह कल्पना के भी परे है और आनदमय एव किसी भी प्रकार के विकार से रहित है । वही एक सत्य है, दूसरा कुछ भी नही । दूसरी सभी वस्तुएँ नितांत मिथ्या है ।

इसी लिए अपने अतिम सिद्धात की भाँति एक स्थल पर वे कहते है कि—

गाइ गाइ अब का कहि गाऊँ ।
गावनहार को निकट बताऊँ ।।
जब लग है या तन की आसा, तब लग करै पुकारा ।
जब मन मिल्यौ आस नहिं तन की, तब को गावनहारा ।।
जब लग नदी न समुद समावै, तब लग बढ़ै हंकारा ।
जब मन मिल्यौ रामसागर सों, तब यह मिटी पुकारा ।।
जब लग भगत मुकति की आसा, परम तत्त्व सुनि गावै ।
जहँ जहँ आस धरत है यह मन, तहँ तहँ कछू न पावै ।।

---

[१] 'रैदास जी की बानी' (बेल० प्रे०, प्रयाग), पृ० २५

छाडै आस निरास परम पद, तब सुख सति कर होई ।
कह रैदास जासों और करत है, परम तत्त्व अब सोई ।।[१]
पद, ३

अर्थात् अब मुझे गाने बजाने की कोई आवश्यकता नही, क्योंकि जब तक इस मानवजीवन मे विश्वास है तभी तक इन बातो की ओर ध्यान भी जाता है, जब चारो ओर का लगाव छोड कर आत्मसमर्पण कर दिया और दो का एक हो गया तो फिर गाने वाले का अस्तित्व ही कहाँ रह जाता है। उदाहरण के लिए, जब तक नदी समुद्र मे मिल नही जाती तब तक हुँकार करती हुई आगे बढ़ती जाती है, किंतु समुद्र मे भेट होते ही निस्तब्ध हो कर हिलमिल जाती है इसी प्रकार जब तक मनुष्य को भक्ति अथवा मुक्ति की आशा बँधी रहती है तब तक वह परम तत्त्वादि की चर्चा किया करता है और अनेक ओर से आशान्वित होते रहने पर भी उसे कुछ भी प्राप्त नही होता, परन्तु ज्यो ही उस के बाहरी बंधन टूटे कि वह परम-तत्त्व के सुख का अनुभव करने लगता है और स्वयं परमानंद-स्वरूप बन जाता है।

अतएव,

बिनु देखे उपजै नहि आसा । जो दीसै सो होइ बिनासा ।।

. . . .

परचै रामु रवै जउ कोई । पारसु परसै दुबिधा न होई ।।

. . . .

फल कारन फूली बनराइ । फलु लागा तब फूलु बिलाइ ।।
गिआनै कारन करम अभिआसु । गिआनु भइआ तह करमह नासु ।।
घृत कारन दधि मथै सइआन । जीवत मुकत सदा निरवान ।।
कहि रविदास परम बैराग । रिदै रामु कीन जपिसि अभाग ।।[२]

अर्थात् बिना प्रत्यक्ष किए विश्वास नही जमता और सदा दृष्टि में आने वाली वस्तुएँ नाशमान सिद्ध हो जाती हैं। परंतु ज्यों ही परमतत्त्व का परिचय हो गया कि, पारस के

---

[१] 'रैदास जी की बानी' (बेल० प्रे० प्रयाग), पृ० ३
[२] 'श्री गुरुग्रंथ साहिबजी' (भाई गुरदिआल सिंघ ऐंड सन्, अमृतसर), पृ० ११६८

संसर्ग से खरे सोने के आविर्भाव के समान, द्वैत बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है। उद्देश्य की सिद्धि प्राप्त होते ही समझ में आ जाता है कि जिस प्रकार वन के पुष्पित होने का वास्तविक रहस्य उस में फल आने की कामना में ही अन्तर्हित रहता है और फलों के लगते ही फूलों का आप से आप नाश हो जाता है उसी प्रकार कर्मों का अभ्यास केवल ज्ञानप्राप्ति की ही दृष्टि से किया जाता है अतएव आत्मज्ञान के होते ही कर्मों का स्वयं नष्ट हो जाना स्वाभाविक है। घी निकालने के ही उद्देश्य से दधि को बार बार बिलोना पड़ता है और तत्त्वज्ञान होते ही सब कर्म गौण हो जाते हैं। इस कारण, जीवन्मुक्त सदा अनासक्त रह कर ही कार्य किया करते हैं और यही रैदास जी के 'परम वैराग' का सिद्धांत है जिस के अनुसार वे, अपने हृदय में ही निवास करने वाले राम का जप करने के विषय में, उपदेश देते हैं।

नवरी १९३६
अं० १

ऋग्वेदसंहिता में 'दास' और 'दस्यु'

[लेखक—श्रीयुत क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय, एम्० ए०]

नत्वा दाशरथिं रामं रक्षोगणनिषूदनम् ।
करोमि निर्णयं यत्नैरर्थस्य दस्युदासयोः ।।
ऋग्वेदसंहिताग्रन्थे शब्दावेतौ किमर्थकौ ।
विषयेऽत्र महान् भेदः प्राच्यपाश्चात्ययोर्मते ।।
असुरार्थाविति प्राहुः प्राचीनमतकोविदाः ।
पाश्चात्याः पण्डितास्त्वाहुरनार्यार्थाविमौ ध्रुवम् ।।
एतयोर्मतयोर्मध्ये कतरच्छ्रुतिसंगतम् ।
इत्येतन्निर्णयः कार्यः पक्षपातं विनाधुना ।।
पाश्चात्यं तु मतं तत्र कल्पनामात्रमूलकम् ।
न तथा सायणादीनां सम्मतावप्रमाणता ।।
निष्पन्नं दस्यतेर्धातोरसुरार्थं तु तद्द्वयम् ।
श्रुतिमीमांसया ह्येतत् सिद्धं सर्वं निबोधत ।।
अर्थान्तरमपार्थस्तु न तत्र श्रुतिसंगतिः ।
प्रीयतामनया कृत्या भगवान् वेदपूरुषः ।।

हमारे प्राचीन ग्रथो का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करना पहले-पहल यूरोप के विद्वानो ने प्रारभ किया। भारत के आधुनिक विद्वान् प्रायः उन्ही का अनुसरण करते हैं। पाश्चात्यों के मत को स्वीकार करते हुए भारतीय विद्वान् भी इस बात पर विश्वास करने लगे कि भारत के प्राचीनतम ग्रथ, ऋग्वेदसहिता, मे आर्यों और आदिम जातियो के पारस्परिक युद्ध के सबध में बहुत से निर्देश मिलते हैं। आधुनिक विद्वानो का यह विश्वास

है कि ऋग्वेदसंहिता में इन आदिमजातियों के लिए 'दस्यु' और 'दास' शब्दों का प्रयोग किया गया है। जर्मन वैदिक विद्वान् रुदोल्फ रोथ ने स्वीकार किया है कि इन दोनों शब्दों का प्राथमिक अर्थ 'असुर' या 'दैत्य' था, और बाद में यही अर्थ परिवर्तित हो कर 'म्लेच्छ' या 'अनार्य' हो गया।[1] किंतु अन्य विद्वानों ने इस दूसरे अर्थ को ही प्रधानता दी[2] और आजकल प्रायः यही इन शब्दों का यथार्थ अर्थ समझा जाता है।[3] इन शब्दों का किसी समय 'असुर' अर्थ था, यह बात प्रायः लोग भूल जाते हैं। इतिहासज्ञ कहते हैं कि 'दास' शब्द का संबंध 'दह' (मध्य-एशिया की एक जाति का नाम) से है, और 'दस्यु' का ईरा-नियन 'दह्यु' या 'दहु' शब्द से है, जिन का अर्थ है 'प्रांत'। ऐसा माना जाता है कि 'अनार्य' अर्थ वाले 'दास' शब्द का संबंध उस 'दास' शब्द से भी है, जिस का अर्थ लौकिक संस्कृत में, और कभी-कभी ऋग्वेदसंहिता में भी 'गुलाम' या 'नौकर' है, जैसे अंग्रेजी का दास-वाचक "स्लेव" शब्द जाति-वाचक "स्लैव" शब्द से संबद्ध है। यह भी माना जाता है कि आर्यों की आदिमजातियों को पराजित कर के गुलाम बना लेने के कारण ही इस 'गुलाम' या 'नौकर' अर्थ की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार 'दस्यु' शब्द के उत्तरकालीन अर्थ 'डाकू' का वैदिक शब्द 'दस्यु' से संबंध माना जाता है, जो उन आदिमजातियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिन्हों ने आर्यों के आक्रमण का प्रबल विरोध किया, और उन की बस्तियों पर स्वयं आक्रमण भी किए। ऋक्संहिता में दासों और दस्युओं के जो वर्णन मिलते हैं, उन के आधार पर आर्य-विरोधी इन आदिमवासियों के आकार-प्रकार और स्वभाव के संबंध में भी अनुमान लगाया जाता है।

किंतु भारतीय परंपरा के अनुसार ऋग्वेदसंहिता के इन दोनों शब्दों का अर्थ है 'नाशक', 'असुर' या केवल 'शत्रु', और यह अर्थ बहुत से मंत्रों में ठीक बैठते हैं। जिन मंत्रों में ये शब्द आते हैं, उन का प्रकरण-सहित अध्ययन करने का अवसर कुछ दिन पूर्व मुझे मिला था, और मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इन शब्दों के अर्थ के संबंध में भार-तीय परंपरा तत्त्वतः ठीक है। ये शब्द ऋक्संहिता में असमस्त रूप से १४८ बार आए

---

[1] 'संस्कृत-वोर्टरबुख', जिल्द ३, पृ० ५५७-८ तथा ६०४-५

[2] मैकडानेल और कीथ, 'वेदिक इंडेक्स', जिल्द १, पृ० ३४७-९ और ३५६-८

[3] 'केम्ब्रिज हिस्ट्री अव् इंडिया', जिल्द १, पृ० ८४-६; मेसन-और्सेल, विल्मैन-ग्रबौस्का और स्टर्न, 'एंशेंट इंडिया ऐंड इंडियन सिविलाइजेशन', पृ० १९ व अन्यत्र।

हैं, और 'दिवोदास', 'दैवोदास', 'त्रसदस्यु' और 'त्रासदस्यव' इन व्यक्तिवाचक नामों या उन के यौगिक शब्दों में समस्त रूप में ३३ बार। इन स्थलों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि मूल ग्रंथ में 'दास' और 'दस्यु' एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जिन स्थलों पर ये शब्द असमस्त रूप में आए हैं, केवल उन्हीं पर विचार करने से स्पष्ट पता लगता है कि बहुत अधिक संख्या में प्रकरण के अनुसार 'असुर' अर्थ ही उपयुक्त है। शुष्ण, अहि, शबर, नमुचि इत्यादि सुविदित असुरों को 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है।[१] इंद्र ने जिन जलों को मुक्त किया वे पहले 'दासों' के अधिकार में बताए गए हैं।[२] इंद्र (कभी-कभी अग्नि और एक दो बार अश्विद्वय) 'दासों' या 'दस्युओं' को नष्ट कर के मनुष्य के लिए प्रकाश और आनंद लाते हैं।[३] इंद्र सूर्य के प्रकाश द्वारा 'दासों' या 'दस्युओं' की कृष्ण-वर्ण प्रजाओं को पराजित करते हैं[४], और अपने यज्ञ द्वारा[५], तथा मरुत् या अन्य मित्रों की सहायता से[६] उन से युद्ध करते हैं। इंद्र के जगत्संबंधी अद्‌भुत कर्मों का वर्णन जहाँ पर किया गया है, वहीं पर साथ ही साथ इस युद्ध का भी वर्णन है।[७] कई स्थलों में ऐसा कहा गया है कि दस्युओं को जला कर या धक्का मार कर स्वर्ग से नीचे गिरा दिया गया।[८] संक्षेप में, इन स्थलों को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर मन में यही धारणा होती है कि 'दास' और 'दस्यु' इंद्र के योग्य पराक्रमी शत्रु थे।

इस प्रकार के वर्णन इंद्र के भक्तों के मानवीय शत्रुओं के लिए उपयुक्त नहीं हो सकते। 'इलियाद' या अन्य प्राचीन ग्रीक ग्रंथों के पढ़ने वाले पाश्चात्य विद्वान् भले ही देवताओं और मनुष्यों के पारस्परिक युद्धों के वर्णन पढ़ने के अभ्यस्त हो गए हों, पर यदि वे

---

[१] ऋ० सं० १-५१-५,६; ५९-६; १०१-५, १७५-३,४; २-११-१८; १५-९; ४-१६-१२; ३०-१४,१५; ५-३०-७,८; ३१-७; ६-२०-६; २६-५; ३१-४; ४७-२१; ७-१९-२,४; ८-३२-२, ७७-३; १०-७३-७; १३८-३

[२] ऋ० सं० १-३२-११; ५-३०-५; ८-९६-१८

[३] ऋ० सं० १-१७४-७; २-११-१८,१९; ३-३४-९; ५-३३-४; ७-५-६

[४] ऋ० सं० २-११-४ (१०-१७०-२) इत्यादि।

[५] ऋ० सं० २-२०-८; ८-६-१४; १०-१०५-७

[६] ऋ० सं० १-३३-४; ३-२९-९, ४९-२; ४-२८-३; ५-३१-५, १०-७३-५

[७] ऋ० सं० २-१२-४; २०-७; ५-१४-४; ६-२४-८, ७-९९-४; ८-७६-११; ९-९२-५; १०-४८-२; ५४-१

[८] ऋ० सं० १-३३-७; ८-१४-१४; १०-४९-६; ५५-८

ऋग्वेदसंहिता में भी ऐसे ही भाव देखते हैं, तो मूल ग्रंथ के साथ घोर अन्याय करते हैं। ऋग्वेदसंहिता के देवता लोग मनुष्यों से बहुत ऊपर हैं और उन का मनुष्यों के रूप में उतना परिवर्तन नहीं हुआ है, जितना ग्रीक साहित्य में। फलतः वैदिक देवताओं के कर्मों के संबंध में जो वैदिक निर्देश मिलते हैं, उन को प्रधानतया वेदों की ही सहायता से समझने का प्रयत्न करना उचित है। परंतु अन्य देशों में भी वैदिक निर्देश के अनुरूप बातें हमें मिलती हैं। सूर्य के प्रकाश से 'दासों' या 'दस्युओं', अर्थात् असुरों के वध में किए जाने का जो वर्णन है उस का अनुरूप वर्णन ट्यूटॉनिक जन-कथाओं में भी मिलता है। इन कथाओं में सूर्य या अग्नि का प्रकाश होने पर भूत, पिशाचों ('ट्रॉल्स') के भाग जाने के वर्णन बराबर मिलते हैं।[1] अनार्य सूर्य या अग्नि के प्रकाश के सामने नहीं ठहर सकते थे, यह कोई बुद्धिमान् पुरुष नहीं मानेगा। ऋग्वेद के मंत्रों को ध्यान से पढ़ने पर यही धारणा होती है कि उन के रचयिता 'दासों' या 'दस्युओं' से बहुत डरते थे। यह बात 'दास' और 'दस्यु' का अर्थ 'आदिमवासी' मानने पर बिल्कुल असंगत हो जाती है। वास्तव में डरना तो आदिमवासियों को चाहिए। उत्तरी प्रदेशों में रहने के कारण आर्यों के शरीर अधिक पुष्ट और बलवान् थे, उन के अस्त्र-शस्त्र भी अच्छे रहे होंगे और वे तेज घोड़ों पर चढ़ कर युद्ध करते थे। वे इन आदिमवासियों को सरलता से पराजित कर सकते होंगे, फिर इन से क्यों डरते रहते? वास्तव में ऋक्संहिता में यह डर उसी तरह का है जैसा ब्राह्मण ग्रंथों में और संसार में और सब कहीं, और वह डर है 'असुरों' का, जो मनुष्यों को बहुत हानि पहुँचाने वाले माने जाते हैं। निश्चय ही, असुर ही देवताओं के, विशेष कर वैदिक देवताओं में सब से अधिक बलशाली इंद्र के, योग्य शत्रु हो सकते हैं।

इन दोनों शब्दों का यह अर्थ स्पष्ट ही स्वाभाविक प्रतीत होता है, फिर भी इस के न समझने का कारण यह है कि 'दासों' और 'दस्युओं' को अनेक स्थलों पर 'पूजा या यागादि न करने वाला' कहा गया है।[2] इसी लिए यह मान लिया गया है कि 'दास'

---

[1] थार्प, 'यूल-टाइड स्टोरीज' (बॉन-द्वारा प्रकाशित), पृ० ७१,७३,७४, १४०,२२२, और २९३

[2] अकर्मा (१०-२२-८), अब्रह्मा (४-१६-९), अयज्वानः (१-३३-४), अयज्ञान् (७-६-३) इत्यादि।

और 'दस्यु' अवश्य ही अनार्य, वैदिक धर्म को न मानने वाले होंगे। किंतु क्या यह परिणाम निकालना अनिवार्य है? इन लोगों को 'अदेव'[१] और 'अमानुष'[२] भी कहा गया है, जिस से ज्ञात होता है कि वे देवताओं और मनुष्यों के बीच में कुछ थे—अर्थात् वे असुर थे। तब क्या असुरों को 'अकर्मन्', 'अयज्वन्' इत्यादि नहीं कहा जा सकता? ब्राह्मण ग्रंथों में देवताओं को यज्ञादि करनेवाला क्यों कहा गया है? यदि देवता यज्ञ कर सकते हैं तो उन के विपरीत असुरों का 'यज्ञ न करनेवाला' इत्यादि कहा जाना स्वाभाविक ही है। बैबिलोनिया के सात असुरों के विषय में कहा गया है कि "वे तेल (?) की आहुतियां नहीं देते, न बलि देते हैं।"[३] इसी प्रकार मोरक्को देश में 'जिन्न' की भिन्न-भिन्न जातियों के भिन्न-भिन्न धर्म माने जाते हैं।[४] यह आवश्यक नहीं कि इंद्र के 'दास-वर्ण' को नीचा कर देने के वर्णन में[५] किसी जाति से ही अभिप्राय हो। वैदिक साहित्य में अनेक प्रसंगों पर असुरों का घर पृथ्वी के नीचे बताया गया है, और इस के अनुरूप वर्णनों की भारतवर्ष में और अन्य देशों में भी कमी नहीं है।[६]

'दासों' और 'दस्युओं' को काले रंग का कहना[७] स्वाभाविक ही है, क्योंकि देवता लोग शुभ्रवर्ण हैं, उन के विरुद्ध असुर लोग कृष्णवर्ण होंगे ही। प्रायः लोगों की यह

---

[१] ऋ० सं० ८-७०-७; १०-३८-३

[२] ऋ० सं० ८-७०-११; १०-२२-८; २-११-२ ('अमर्त्य')।

[३] आर० कैम्पबेल टामसन, 'दि डेविल्स ऐंड ईविल स्पिरिट्स अव् बैबिलोनिया', जिल्द १, पृ० १८७

[४] ई० वेस्टरमार्क, 'पेगन सर्वाइवल्स इन मोहेमडन सिविलाइज़ेशन', पृ० २१

[५] ऋ० सं० २-१२-४ इत्यादि।

[६] ऋ० सं० ५-३२-७। यहाँ कहा गया है कि इंद्र ने दानव के ऊपर वज्र-प्रहार कर के उस को सब प्राणियों के नीचे कर दिया। वाल्मीकि-रामायण, सुंदरकांड १।९२ भी देखिए, जहाँ पर कहा गया है कि इंद्र ने मैनाक पर्वत को आज्ञा दी कि वह समुद्र के नीचे रह कर दैत्यों को पाताल में दबा रक्खे। इस संबंध में बलि और वामन की पौराणिक कथा भी स्मरण-योग्य है। पारसियों के धर्म-ग्रंथ आवेस्ता के यस्न ९।१५ में लिखा है, कि ज़रथुश्त्र ने असुरों को पृथिवी के नीचे छिपा दिया। वेस्तेरमार्क भी पूर्वोल्लिखित पुस्तक के पाँचवें पृष्ठ पर मोरक्को के जिन्न के संबंध में कहते हैं कि "उन के निजी देश वास्तव में हैं पृथिवी के नीचे।" ट्यूटॉनिक जन-कथाओं के 'ट्रॉल' नाम के पिशाचों के घर भी प्रायः पृथ्वी के भीतर पाए जाते हैं।

[७] ऋ० सं० ९-४१-१-२

धारणा है कि 'दासों' और 'दस्युओं' को 'बिना नाक का' कहा गया है, जिस का अभिप्राय चपटी नाक वाले आदिमवासियों से है। इस बात पर कुछ विद्वानों का ऐसा दृढ विश्वास है कि इसी के आधार पर कहते हैं कि, "दक्षिणभारत के निवासियों की अपेक्षा बिलोचिस्तान के ब्राहुई लोग पुरानी द्राविड जातियों से अधिक समानता रखते हैं, यह ऋग्वेद के प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता!"[1] किंतु 'ऋग्वेद का प्रमाण' क्या है? केवल एक स्थान पर (ऋ० म० ५-२९-१०) 'दस्युओं' को 'अनासः' कहा गया है, जिस का अर्थ 'बिना नाक का' है। प्रकरण[2] देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यहाँ 'दस्यु' के लिए 'असुर' अर्थ ही संगत होगा। फिर, पुराने द्राविड लोग चपटी नाक वाले थे, यह कैसे ज्ञात हुआ? आधुनिक द्राविडों को भी चपटी नाक वाला कहना उन की आकृति पर झूठा कलंक लगाना है। उन लोगों की नाक की बनावट उत्तरी भारतीयों से बहुत भिन्न नहीं होती है, उन की नाक की लंबाई के हिसाब से चौडाई $\frac{7}{100}$ होती है[3]—यह चिपटी नाक का अनुपात नहीं है। और इस विवाद में आधुनिक द्राविडों को खींच लाने की क्या आवश्यकता है? पंजाब और सिंध के जिन प्राचीन निवासियों से वैदिक आर्य मिले होंगे उन के विषय में अब हम को कुछ परिज्ञान हो गया है। मोहेंजोदड़ो में पाई हुई मूर्तियों में नाक ऊंची ही बनी हुई मिलती है।[4] इस के अतिरिक्त ऋक्संहिता में असुरों के शरीरों में इस प्रकार की कई विरूपताओं और विकारों का वर्णन किया गया है, अतएव ऋ० स० ५-२९-१० की 'बिना नाक का' इस उक्ति में किसी जाति का अभिप्राय ढूंढना संगत न होगा। असुरों को 'बिना पैर का', 'बिना हाथ का' और 'बिना कंधों का' कहा गया है। 'बिना नाक का' विशेषण की भी इसी प्रकार व्याख्या करनी चाहिए। बंगाल की जन-कथाओं में ऐसे पिशाचों का वर्णन आता है, जिन के मुँह पर नाक के बदले केवल एक छिद्र होता है, और जो मिनमिनाते हुए बोलते हैं। बैबिलोनिया में असुरों की मूर्तियों में नाक के स्थान पर

---

[1] 'कैंब्रिज हिस्ट्री अव् इंडिया', पृ० ८५, टि० १ पर आर्थर बेरीडेल कीथ।

[2] इस सूक्त की ९वीं और ११वीं ऋचा, एवं १०वीं के प्रथम चरण पर ध्यान दीजिए।

[3] हेडन, 'रेसेज़ अव् मैन', पृ० २१

[4] सर जान मार्शल, 'मोहेंजोदड़ो ऐंड दि इंडस सिविलाइज़ेशन', जिल्द ३, प्लेट ९८, ३

केवल एक गाँठ सी वनी हुई मिलती है।[1] फलत "वैदिक प्रमाण के आधार पर" प्राचीन द्राविडो को चपटी नाक वाला कहना प्रमाणहीन कल्पना मात्र है।

'दास' और 'दस्यु' शब्दो के अर्थ के विषय मे यह भ्रम अनेक विद्वानो को इसी लिए हुए कि उन्हों ने पूरे वैदिक साहित्य पर और तुलनात्मक नृतत्त्वशास्त्र की शिक्षाओ पर ध्यान नही दिया। फिर भी कुछ स्थल अवश्य ऐसे है, जहाँ 'दास' और 'दस्यु' का अर्थ 'असुर' मानने मे कठिनाई सी मालूम होती है। ऐसे स्थल वे मत्र है जिन मे 'दास' या 'दस्यु' 'आर्य' शब्द के साथ-साथ और कभी-कभी उस के विरोध मे प्रयुक्त हुआ है। 'आर्य' का अर्थ जब 'आर्य-जातीय' माना जाता है, तब 'दास' या 'दस्यु' का 'अनार्यजातीय' क्यो न माना जाय? ऐसे मत्र सख्या मे बहुत थोड़े हैं, फिर भी उन का समाधान करना आवश्यक है। इन में से कुछ मत्र ऐसे है जहाँ प्रकरण के अनुसार 'दास' और 'दस्यु' का अर्थ 'असुर' मानना अनिवार्य है—जैसे ऋ० सं० १-११७-२१ के उत्तरार्ध मे इद्र 'आर्य' के लिए प्रकाश लाने को एक 'दस्यु' का वध करते हैं, जो कि इसी मत्र के पूर्वार्ध के अनुमार कृषि को हानि पहुँचानेवाला असुर जान पड़ता है। फलत यहाँ आर्य' का अर्थ 'आर्यजातीय' समझना उचित न होगा। कदाचित् यहाँ पर ठीक अर्थ 'धार्मिक मनुष्य' होगा। उत्तरकालीन सस्कृति मे आर्य का अर्थ केवल 'सत्पुरुष' था और यही अर्थ ग्रीक शब्द 'अरिस्तोस्' (= श्रेष्ठ) के 'अरि'-अश का भी है। वस्तुतः प्राय सभी स्थलो पर 'सज्जन', धार्मिक', 'भक्त', 'पूजक', ये अर्थ ठीक बैठते है। किंतु ऋ० स० १-५९-२ में 'आर्य' का अर्थ केवल 'मनुष्य' है, जो ऋ० स० १-११७-२१ मे तथा अन्य मत्रो मे भी सगत हो सकता है। इस प्रकार ऋक्सहिता मे सर्वत्र 'दास' और 'दस्यु' का अर्थ 'असुर' मानने मे कोई अडचन नही रह जाती। ये 'दास' और 'दस्यु' शब्द अन्य वैदिक ग्रंथो के 'असुर'[2] शब्द के समानार्थक है।

'दास' और 'दस्यु' शब्दों की व्युत्पत्ति जानने के लिए भारतवर्ष से बाहर जाने की आवश्यकता नही। ऋग्वेदसहिता मे 'दस्' (या 'दास्') धातु मिलती है, जिस का अर्थ

---

[1] मारिस जैस्त्रो, 'बिल्डरमैप जुर रेलिजियॉ बैबिलोनियन्स अंड असाइरियन्स', अ० २०

[2] ऋक्संहिता में ९४ बार 'असुर' शब्द 'देवता' 'ईश्वर' या 'प्रभु' के अर्थ में प्रयोग किया गया है, और केवल १४ अर्वाचीन ऋचाओं में बाद का 'दैत्य' अर्थ पाया जाता है।

है 'विनाश कर देना, उजाड़ देना'। इस धातु से बने हुए बहुत से शब्द मिलते हैं।[१] 'दास' और 'दस्यु' भी इसी धातु से बने हुए माने जा सकते है। और 'दास' शब्द जाति-वाचक 'दह' शब्द से सबद्ध न हो कर ईरान के वृत्रासुर 'अज़्कि दहाक' के नाम के द्वितीय पद ('दहाक'=सस्कृत 'दासक') से संबद्ध है, ऐसा माना जा सकता है। 'गुलाम' या नौकर अर्थ वाला 'दास' शब्द बहुत कम स्थलो पर मिलता है[२] और सभव है कि वह एक बिल्कुल दूसरा ही शब्द हो, जिस का निर्वाचन ('एटीमालोजी') असुरार्थक 'दास' शब्द से भिन्न है। 'दस्यु' शब्द का 'असुर' अर्थ से 'शत्रु' अर्थ हो जाना बहुत ही आसान है, जैसा कि ऋक्सहिता के कई स्थलो मे हुआ है। और इस 'शत्रु' अर्थ से ईरान मे 'दह्यु' शब्द का 'शत्रु का देश' और उस से 'दूसरा प्रात' ये अर्थ होना कठिन नही है।[३]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऋक्सहिता के ऋषियो ने 'दास' और 'दस्यु' शब्द से आर्यों के 'अनार्य शत्रु' का उल्लेख किया है, यह मानने का कोई कारण नही है, और इन शब्दो का अर्थ 'असुर' ही समझना चाहिए।[४]

---

[१] जैसे—दस्यति, दस्येत्, दासति, दासात्, दासत्, दासन्, ददस्वान्, दसत, दसमानः, दासीत्।

[२] ऋ० सं० १-९२-८; ७-८६-७; ८-४६-२२; १०-६२-१०

[३] जिमर, 'ऐल्टिंडिशेज़ लेबेन', पृ० ११०

[४] मेरे छात्र श्री आर्येंद्र शर्मा ने इस लेख का अंग्रेज़ी से हिंदी में अनुवाद किया है। गत सितंबर में यूरोप के रोम नगर में जो अंतर्जातिक प्राच्य-विद्या-महासम्मेलन हुआ था, वहाँ इस का मूल भेजा गया था। इस का सार उस की कार्य विवरणी में अंग्रेज़ी में छप रहा है। हमारे देश के विद्वानों की समालोचना के लिए मैंने देश-भाषा में इस का अनुवाद कराया। पंडितों से प्रार्थना है कि इसे पढ़ कर अपनी सम्मति से मुझे सूचित करें।

चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[लिखक—श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (ऑक्सन), बैरिस्टर-एट्-ला]

[३५]

गढ़वाल पर गोर्खाओं का आक्रमण

सन् १७९१ ई० मे गोर्खा लोगो ने गढवाल को पराजय करने के विचार से लगूर-गढ[1] पर आक्रमण किया। गढवाल के राजा प्रद्युम्न शाह की सेना ने गोर्खाओं को परास्त किया। हार जाने पर गोर्खे, गढवालियो से सधि कर के नैपाल लौट गए। इस विषय मे पडित हरिकृष्ण रतूडी अपनी पुस्तक में लिखते है—"गोर्खा सन् १७९१ ई० मे अचानक गढवाल के लगूरगढ के सुदृढ दुर्ग पर चढ आए। किंतु राजा (प्रद्युम्न शाह) की सेना से पराजित हो कर अत मे लौट गए। लगूर श्रीनगर से बहुत दूर नही है। इस दुर्ग के भीतर गोर्खे बारह महीने तक घिरे रहे। उन को सूचना मिली कि चीनी लोगो ने नैपाल पर आक्रमण किया है। इस लिए वे सन् १७९२ ई० मे गढवाल के राजा से सधि कर नैपाल लौट गए। राजा ने उन के दूसरे आक्रमण से बचने के लिए अपने राज्य की दशा देख कर गोर्खो को २५०००)

गोर्खाओ का पहला आक्रमण और उस का परिणाम

---

[1] गढ़वाल में पर्वतों की चोटियों पर ५२ गढ़ थे। सन् १३६० तक इन में इतने ही राजा थे। इन सब को अजयपाल (१३५८-७०) ने परास्त कर सारे गढ़वाल पर अपना आधिपत्य जमाया। लंगूरगढ़ इन्हीं ५२ गढ़ो में से एक विख्यात गढ़ है। इस के किले की दीवारें, खाइयाँ और खंडहर अब तक द्वारीखाल से एक मील लैंसडौन की ओर एक पहाड़ की चोटी पर मौजूद है। यहाँ से श्रीनगर ३७ मील और लैंसडौन १० मील है।

वार्षिक कर इस लिए देना स्वीकार किया कि वे गढ़वाल पर आक्रमण न करे।"[१]

इस सधि के कारण नैपाल का एक राजदूत श्रीनगर (गढवाल) के दरबार मे रहने लगा। उस का खर्च और उस के मित्र जो बद्रीनाथ की यात्रा करने आते थे और महीनो श्रीनगर मे पडे रहते थे उन का भी खर्च गढवाल के राजा को ही उठाना पडता था। सन् १७९१ के युद्ध के समय जो गोर्खा सिपाही गढवाल मे आए थे उन मे से कुछ लौट कर नैपाल नही गए। गढ़वालियो और नैपालियो के बीच सबध भी स्थापित होने लगे।

गोर्खाओ ने जो दूसरी बार सन् १८०३ ई० के फरवरी मास में गढ़वाल पर आक्रमण किया उस के कई कारण बताए जाते है—

गोर्खाओं के दूसरे आक्रमण के चार कारण

(१) गढवाल के मत्रि-वंश डोभाल व खंडूडी, राज्य तथा राजा पर अपना-अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए एक-दूसरे को दमन करने की चेष्टा कर रहे थे। डोभाल (कृपाराम) दीवान पद पर आरूढ़ थे। खडूडी (नित्यानद) राज्य के दफ्तर पर अधिकार किए थे। नित्यानद के सबधी रामा व धरणी, दो भाई राज्य के सेना-नायक थे। उस समय अल्मोडे का पदच्युत दीवान हर्षदेव जोशी, अल्मोडा छोड कर गढवाल के राजा के दरबार मे, श्रीनगर मे था। डोभालो ने नित्यानद खंडूडी पर अभियोग लगाया कि वह हर्षदेव से मिल गया है। रामा और धरणी दोनो भाइयो पर डोभालो ने यह दोष लगाया कि उन्हो ने गढवाल के राजा का सोने का सिहासन अल्मोडे भेज दिया है। डोभालो ने कुँवर पराक्रम शाह से कहा कि रामा व धरणी ही गढवाल के राजसिहासन तथा आप के बीच है। यदि ये हटाए जावे तो प्रद्युम्न शाह के बदले हम आपको गढवाल का राजा बना दे। षड्यत्र रच कर डोभाल मत्रियो ने रामा व धरणी दोनो खडूडी भाइयो को मरवा डाला। रामा व धरणी के वश मे एक बैजू खडूडी था। उस की स्त्री नैपाल के राजगुरु की कन्या थी। जब अन्य खंडूडियों के साथ डोभालो ने बैजू को भी मरवा डाला, तो उस की विधवा अपने पिता के पास नैपाल गई, उस ने पिता से बदला लेने के लिए आग्रह किया। "बैजू की बामणी" के नैपाल जाने के विषय मे गढ़वाल मे अब तक भडवाली (वीरगाथा)

---

[१] 'गढ़वाल का इतिहास', पृ० ४१५-६

गीत गाए जाते है। उस ने व्यक्तिगत दाह के कारण गढवाल पर गोर्खाओ का आक्रमण कराया।

(२) गढ़वाल मे सन् १८०३ के जनवरी मास मे बडा भयंकर भूकप हुआ, जिस से न केवल गॉव के गॉव उजड गए वरन् कई ऊँचे-ऊँचे पहाड व टीले भी गिर कर मिट्टी मे मिल गए। जन-सख्या केवल २०।२५ फी सदी रह गई। गढवाल आर्थिक व नैतिक और शारीरिक शक्ति से बिहीन हो गया था।

(३) गढवाल का राजा जो २५०००) वार्षिक कर नैपाल को देता था वह न दे सका।

(४) कुमाऊँ पर गोर्खाओ ने पहले ही अधिकार कर लिया था। गढवाल की सीमा पर सन् १७९१ के आक्रमण वाले कई गोर्खे सैनिक बसे हुए थे। और बार-बार छेड़खानी किया करते थे। गढवाल की भीतरी दशा, राजा प्रद्युम्न शाह व उन के भाई पराक्रम व प्रीतम के बीच के वैमनस्य, मन्त्रियो की आपस की लडाई और गढवाल की निर्बलता तथा दरिद्रता की सूचना ये गोर्खे नैपाली शासको को अल्मोडे व नैपाल मे पहुँचाया करते थे।

इन सब कारणो से सन् १८०३ के फरवरी मास मे अमरसिह थापा, हस्तिदल चौतरिया और बम शाह चौतरिया ने गढवाल पर आक्रमण किया।

गढवाल मे भीषण भूकप और गोर्खाओं का आगमन

साठ साल[1] भूकंपहि भयो। सहर बजार महल सब ढयो ॥
भार पाप को पड़्यो महाई। परजा पीड़न भ्रम हत्याई।
मरे हजारों गढ़ के माहीं। खबर गई कांतिपुर[2] ताईं ॥
साठ साल भूकंप चितायो। इकसठ में अब तुमहूँ[3] आये ॥
उपत खपत गढ़ की सब येती। तुम पै हमहुँ कही यो जेती ॥
सत नाथ गढ़ उतपत कीन्यो। सो तुम आन गोरखा लीन्यो ॥

कांतिपुर मे मोलाराम की कीर्ति

हड सुनि भारा दार सब, हस्ती दल बल बीर।
भये प्रसन्न हमकौ कह्यो, तुम साँचे हो कबीर।

---

[1] संवत् १८६० विक्रमी=सन् १८०३
[2] नैपाल की प्राचीन राजधानी।
[3] हस्तिदल चौतरिया और अमरसिह थापा।

कांतिपुर माँहि किरत तुहारी । सुनत रहे अब आँख निहारी ।।
चित्र विचित्र तुहारे देखे । आगम निगमहिं कवितु परेखे ।।
नाहक दुख तुमहू कौं दीन्यो । सो सब ही इन हूँ भर लीन्यो ।।

मोलाराम की ख्याति नैपाल राज्य में पहुँच चुकी थी। अब उन्हों ने अपनी आँखों से मोलाराम के चित्र देखे, और उन की कविता सुनी। उन को मोलाराम की राज-नीति-निपुणता का भी परिचय मिला। उन्हो ने आग्रह किया कि मोलाराम उन्हीं के दरबार मे रहे। गढ़वाल के राजा के पास न जाए। जो जागीर पहले मोलाराम के पास गढवाल के राजा की दी हुई थी, वह बहाल रक्खी। इस के अतिरिक्त मोलाराम की रखेल गनिका जिस को कुँवर पराक्रम शाह ने छीन लिया था वह भी मोलाराम को दिलाने की इच्छा प्रकट की। अमरसिंह थापा ने मोलाराम से कहा—

गोर्खा-दरबार में मोलाराम का सम्मान

अब आई गढ़ हमरी वारी । तुम निस दिन ही करो बहारी ।।
अपने गाँउ जागीरें खाओ । रोजीना अपना तुम पाओ ।।
तुम गनिका वह देहु बताई । कुँवर पराक्रम ने जो छिनाई ।।
हमहूँ ताको बाँधि मँगावैं । तुमरे पग महिं ताहि गिरावैं ।।
लछमी ताको नाम कहत हैं । वह गनिका अब कहाँ रहत है ।।
सो तुम हमको देहु बताई । कहाँ कुँवर लछमी हि छिपाई ।।

मोलाराम की लछमी गनिका

अमरसिंह काजी कही, जब यह हमसौं बात ।
दयो प्रति उत्तर इह तबैं, हम हूँ तिनके सात ।।

कवि लोगन के संग बैर कियो,
गनिकानि के संगत नेही भये ।
अपकीरत सौं जग में न डरे,
गुन धर्म सुकर्म कछू न रये ।।
जगदंब तबैं अत कोप भई,
गढ़ गोरखिया चढ़ राज लये ।
लछमी न रही पछमी न रहे,
लछमी पुरुषैं प्राकर्म गये ।।

लछमी और लक्ष्मी की तुलना

इहै अलछमी हमहि न चहिये। वहै लछमी हमैं दिलये॥
जाँसौं सब कछु कारज होवै। राजा रंक जाहि कौ जोहै॥
इय गनिका घनिखा धनखावै। बिन धन पल छिन नाहि रहावै॥
इह सुनि भारादार हँसाये। हमरे गॉउ सबैहि दिलाये॥
अमरसिह काजी भये राजी। इह सुनि हमकौ बकस्यो बाजी॥

मोलाराम लिखते है कि गोर्खा विजेता और शासन-कर्ताओ ने जब गढवाल के उस भाग को पराजय कर लिया जो अलकनदा (गगा की मुख्य शाखा) के इस पार है, और जिस को अब ब्रिटिश गढ़वाल कहते है,[१] और दरबारियो को तथा जिन्हो ने गोर्खाओ का आधिपत्य स्वीकर किया उन को पारितोषिक दे कर अपना लिया, तब हस्तिदल ने मोलाराम को नैपाल के राजाओ के नाम बताए—

नैपाल के तत्कालीन राजा और गढ़वाल में उस का क़ाजी

अंदर मंदर बैठे जाई। अपने राज की बात सुनाई॥

. . . .

उपजे तिनके बिबु सौ, श्री रणबहादुर साह।
गिरवाण जुद्ध तिनके भये, विक्रमशाह नर नाह॥

जिस समय गोर्खाओ ने गढ़वाल पर आक्रमण किया उस समय नैपाल मे रणबहादुर और उन के पुत्र गिरवाणयुद्ध राज्य करते थे। उन्हो ने, मोलाराम के कथनानुसार रणधीरसिह और हस्तिदल को गढवाल के "मुनायब" और "काज़ी" नियत किया।

[३६]

कांगड़ा पर गोर्खाओं का पहला आक्रमण

जब गोर्खाओं ने अपनी राजसत्ता का प्रसार गढवाल के, अलकनंदा (गंगा) के इस पार वाले भाग पर कर लिया, तब उन की इच्छा कागडा पर आक्रमण करने की हुई।

---

[१] अलकनंदा के उस पार का भाग जो कि प्रायः सारे गढ़वाल का पूरा आधा है टीहरी-गढ़वाल कहलाता है। गढ़वाल के उस भाग पर प्रद्युम्न शाह के वंशज (महाराजा नरेंद्र शाह) राज्य करते हैं।

कागडा का गढ़वाल के साथ पहले मे ही बड़ा घना सबध रहा है। मोलाराम कागड़ा से बडी अच्छी तरह परिचित था। गोर्खा शासक हस्तिदल ने मोलाराम से कागडे का हाल पूछा और उस से वहाँ का नक्शा बनवाया।

किला कॉगड़े हमहूँ जैहैं। फते तहाँ हम कैसे पैहैं॥
सो तुम हमको भेद बताओ। चित्र तहाँ को लिखि दिखलाओ॥
तब हौं चित्र लेखि दिखलायो। बुद्धि अनुमान भेद बतायो॥

मोलाराम ने हस्तिदल से कहा कि अगर तुम कागड़ा पर अधिकार करना चाहते हो और उसे अपने अधीन रखना चाहते हो तो तुम को नीति से काम लेना होगा—

मोलाराम के राजनीति-सबधी विचार

एक एक ग्यारा करे, ग्यारा ग्यारा एक।
वह जीते गढ कॉगडो, जो याको करे विवेक॥

. . . .

परजा कौ जो नर परचावे। मुलक परायो सो नर पावे॥
धींग धांग जो करत है नाई। ताके सब होवें बस माई॥
धीग धांग जो कोई करते। तिनके ग्रामहि ऊजड़ पड़ते॥
बिरता गूँठ जगीर जो हरहैं। कुम्भी नरक नृपति सो भरहैं॥
तिनको राज भ्रष्ट सब होई। बंस चले तिनको नहिं कोई॥
अपकीरत तिनकी जग माँही। मरिके गत तिनकी कछु नाहीं॥
जो काजो तुम पच्छिम जाओ। एक एक करि राज दबाओ॥
परजा कौ अस्वासन दीजो। बिरता सब बहाल ही कीजो॥
गॉउँ जगीर तगीर न कीजै। रोजीना सब ही का दीजै॥
परजा कौ परचाय के रखिये। भली बुरी काहू नहिं बकिये॥
नीत न्याउ सब ही का कीजै। जथापराध दंड ही दीजै॥
सबकौं होय तुहारी आसा। सुनै सुजस सब आवें पासा॥
या विध सब ही राज दबाओ। किला कॉगड़ा तब तुम पाओ॥

नैपाल के राजा ने हस्तिदल को पश्चिमी मुल्को को पराजय करने का आदेश किया।

हमे हुकम महाराज को, सरासरी तुम जाव ।
पूरब सौ पच्छिमहिं लौ, हमरो हुकम चलाव ।।
मिले जो कोई ताहि मिलाओ । लड़े जो कोई मार हटाओ ।।
चाँडे किला काँगडा हाणो । पुन लहौर दिल्ली हम जाणो ।।
इह आज्ञा स्वामी नै दीनी । तब हम बाट पछम की लीनी ।।
अब हम दूण छुड़ावे जाई । गढ़ के राजा संग लड़ाई[1] ।।
फौज लेइ गढ़ राजा आयो । हेड़ी खेड़ी के संग लायो ।।
तिनको जातहि सारथ पावैं । पुनि नाहण हम जाय छुटावैं ।।

इस तरह अपने दिग्विजय-क्रम की सूची बता कर हस्तिदल ने कवि मोलाराम से, जो बडे भक्त व धार्मिक थे विज्ञप्ति की—

तुमरे मुख मँहि सरसुति जो है । तुम जो कहो सोई कछु होवै ।।
तुम कवि हो हम कौ वर दीजै । फते होय यह किरपा कीजै ।।

. . . .

मोलाराम की भविष्यवाणी

इह काजी जब कवि सौ बोली । कविजन तबै सारदा तोली ।।
कहै सारदा सतलुज ताहीं । तुम को कोई रोके नाही ।।
आगे आगे गोरख भागे । ताके पाछे मनमथ लागे ।।
मनमथ कै जो पंथ चलैगो । ताकौ दिल्ली तखत मिलैगो ।।
आपा पंथी सब जग माहीं । मनमथ पंथी कोऊ नाही ।।
आपा पंथी सिह फिरंगी । तुम हूँ गोर्खा संग तिलंगी ।।
तुम दस ग्यारा बर्सहिं ताही । काजी रहोगे पच्छस साहीं ।।
किला काँगड़ा सिह[2] दबावे । तुमकौं सतलुज पार धपावे ।।

---

[1] गढ़वाल का राजा प्रद्युम्न शाह गढ़वाल छोड़ कर देहरादून चला गया था। देहरादून उस समय गढ़वाल राज्य के अंतर्गत था।

[2] यहाँ पर सिह से मोलाराम का मतलब रणजीत सिह से है। जैसा कि आगे चल कर कवि ने दर्शाया है, जब पंजाब-केशरी रणजीतसिह संसार चद के बुलाने पर उस की मदद को आए तो उस ने गोर्खाओं को परास्त कर सतलज पार कर दिया।

तुमहूँ मिलौ फिरंगी संगा। निमकहरामी करे तिलंगा ॥
तुमै फिरंगी संग ले जावै। सतलुज कुरमांचलिहि दबावै ॥
आगे आगम कहत है, जमनी भाषा माहि।
नीच महत्त अब होत है, दीनी तुम्हें सुनाहि ॥

मोलाराम की भविष्य वाणी के अनुसार फिरगो (अंग्रेजों) का राज्य सारे भारत में फैलेगा।

उत्तर औ दखण पूरब पच्छम तमाम सबका।
पहाड़ देस जंगल खलत तमाम सबका।
होता है साहेब मालक लेना सलाम सबका।
घर घर में अदल करना आलम तमाम सबका।
होता है कोई दिन मे हुकम्म कम्पनी साहेब का ॥

. . . .

मोलाराम की भविष्य-वाणी के अनुसार अंग्रेजों के राज्य मे अमन-चैन, इन्साफ और सुप्रबंध

जुलमी जुलम जे करते उनकौं कतल करैगा।
इनसाफ साफ होगा घर घर अदल फिरगा।
रैयत रहैंगी राजी कंनवा जबी भरैगा।
गुलजार जभी होगी सब कार ही चलैगा ॥
ले फौज तोफखाने साहेब जिधर पिलैंगे।
भाजैंगे सब गनीम जमीदार सब मिलैंगे।
हिंदू क्या मुसलमान सब इमान सो चलैंगे।
बाढ़ेगा धरम दुनिया पापी सभी गलैंगे ॥

. . . .

. . . .

भूले थे हिंदू जबही मुसलम्मान तबहीं आया।
भूला मुसलमान जबहीं, फिरंगान पठाया ॥
फिरंगी ने आन धूम इस आलम में मचाया।
बिरता जगीर सबका रोजीना छिनाया ॥

. . . .

. . . .

हस्तिदल ने मोलाराम की भविष्यवाणी पर विश्वास नहीं किया और उस की अवहेलना की। गोर्खा शासक ने कहा—

कह्यो कबी तुम हमहुँ डरायो। केते राज मारि हम आये ॥
हम काहू सेती नहिं डरिहैं। स्वामि कही सो हमहीं करिहैं ॥
. . . . .
हमहूँ दिल्ली तख्त दबावें। हिन्दू राज हिन्द बैठावें ॥
. . . . .
तुम हमरी जयवृद्धि मनाओ। बैठे गॉव रोजीना खाओ ॥
सुजस करो स्वामी का हमरे। सकल काज बनि आवें तुमरे ॥

मालूम होता है मोलाराम अंग्रेजो की सत्ता को समझ गया था। वह जानता था हिंदुस्तान में राजाओ की आपसी स्पर्द्धा और मुगल बादशाहो के पतन ने अंग्रेजो के लिए रास्ता साफ कर दिया था। अंग्रेजो की शक्ति सारे भारतवर्ष पर अपना सिक्का जमाएगी। इस लिए उस ने गोर्खा हस्तिदल और अमरसिंह को अंग्रेजो की शक्ति का परिचय अपनी भविष्यवाणी द्वारा कराया, और उन को परामर्श दिया कि तुम फिरंगियो से संधि कर लो, किंतु गोर्खाओं ने मोलाराम का कहना नहीं माना। तब मोलाराम ने उन से कहा—

मोलाराम की दूरदर्शिता और ऐतिहासिक धारणा

. . . . .
समझै जो समझाया नाहीं। पाछे पछतावै मन माहीं ॥
हँसै लोक सब हाँसी होवै। विनसै काज राज सब रोवै ॥
प्रदीप साह जू ने नहिं मानी। लग्यो रोग तन महिं पैछानी ॥
ललित साह लालची भये। सिगरो गढ़ लुंठन करि गये ॥
पड़ी न पूरी फौज रखाई। चढ़ी जिधर को भजि कैं आई ॥
ताके क्लेश प्राण धन गयो। सुजस कछू जग में नहिं भयो ॥
संतनि को वह पापहि लाग्यो। जैकृति साह जु गढ़ सौ भाग्यो ॥
राज खोय प्रद्युम्नहि लीन्यो। ताके पाव पराक्रम कीन्यो ॥

मोलाराम का स्पष्ट भाषण

प्रद्युमन प्राक्रम दुहूँ लड़ाये। तिनपै काजी तुमहूँ आये ।।
तुमहूँ बूझी मसलत हम कौं। जथा बुद्धि हम दीनी तुम कौं ।।
हमरे मित्र फिरंगी नाहीं। हमरो बैर न तुमरे माहीं ।।
हमरो सिंह न तहाँ पठायो। हमने तुमकौ नाहि बुलायो ।।
हम तुमकों अटकावत नाही। जित मन आवै जाव तहाँ ही ।।
जाको हमहूँ निमकहि खावै। ताकी निशि दिन भली हि चावै ।।

मैथिलकविकुलचूड़ामणि महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर

[लेखक—श्रीयुत डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०]

(क्रमागत)

विद्यापति की जीवनी

बाल्यपन में ही इन्हो ने एक बड़े मैथिल विद्वान् हरि मिश्र से विद्यारंभ किया था, और उसी समय उन का परिचय अनेक शास्त्रो के मर्म को जानने वाले नैयायिक-प्रकाड मैथिल जयदेव मिश्र उपनाम पक्षधर मिश्र से हुआ था। यह भी अपने पितृव्य हरि मिश्र से ही पढते थे।[1] विद्यापति थे बड़े बुद्धिमान् इस में लेशमात्र भी सदेह नही, किंतु इन का संबध राज-दरबार से शीघ्र हो गया। अतएव इन्हों ने शास्त्र का व्यवसाय विशेष नही किया। केवल शास्त्र के उन्ही विषयों से इन का सबध रह गया जो कि राज-दरबार में नित्य काम मे आते थे। आप ने धर्मशास्त्र तथा नीति के ग्रथो का ही निर्माण किया। इस के अतिरिक्त राज-दरबार में साधारण बुद्धि वाले पुरुष तथा स्त्रियो की रुचि के अनुसार अपनी मातृभाषा मैथिली में कविता बनाने लगे।

थे तो पूर्व मे यह शास्त्र के पढने वाले तथा पक्षधर मिश्र के समान विद्वानो के साथ रहने वाले, अतएव जब इन्हों ने भाषा मे रचना करने का विचार किया तब इन्हे कुछ ग्लानि सी मालूम हुई। फिर भी इन्हे भाषा-काव्य का माध्यम ग्रहण ही करना पडा और इन्हो ने सस्कृत से बाद वाले भाषा के रूप (जिसे कि इन्हो ने 'अवहट्ठ' या 'देसिल

---

[1] 'पितृव्यहरिमिश्रोपदिष्टः'—'चिंतामणि-आलोक' के प्रारंभ में।

वञ्चना' कहा है) को ले कर ही प्रथम रचनाएँ की। इन मे कही-कही संस्कृत के सुदर मनोहर श्लोकों का सन्निवेश करना यह नही भूले। इस 'अवहट्ठ' में दो काव्य लिखे गए—'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' जिन का वर्णन बाद में आवेगा।

इस के बाद विद्यापति ने देखा कि अपभ्रंश या 'अवहट्ठ' भाषा लोगों के लिए उतनी प्रिय नही है जितनी कि शुद्ध नित्य बोलने और लिखने मे व्यवहृत अपनी मातृ-भाषा मैथिली। अतएव उन्हों ने भाषा की कविता मैथिली मे करना आरभ कर दिया। 'अवहट्ठ' में लिखने के पूर्व भी यह मैथिली मे कविता किया करते थे, इस के प्रमाण मे यह कहा जा सकता है कि जिस कवि को १८ या २० वर्ष की अवस्था मे 'कीर्तिलता' के समान काव्य रचने की शक्ति हो, वह उस के पूर्व क्या अपनी परिष्कृत मातृभाषा मे कविता न करता रहा होगा? क्रमश मिथिला के राजा और रानी मैथिली के माधुर्य तथा सरलता एव सरसता से बडे प्रसन्न रहा करते थे, और नित्य कवि को उत्साह देते थे। फिर क्या था? चान्द्रीकला के समान विद्यापति की सरस कविता प्रत्यह बढने लगी और सहृदय को आनदा-मृत से नहलाने लगी। कवि ने अपनी कविता के सबध मे स्वय कहा है—

करोतु कवितुः काव्यं भव्यं विद्यापति. कविः।[१]

(कवि विद्यापति आनद देने वाली कविता करते हैं।)

ई (विज्जावईभासा) णिच्चइ नाअर मनमोहइ।[२]

(विद्यापति की भाषा अवश्यमेव सहृदय नागरिकों के मन को मोह लेती है।)

इतना सुंदर काव्य करने पर भी विद्यापति को अपनी कविता का गर्व नही था। उन्हों ने कहा है—

ते मोञ्ञ भलओ निरूढ़ि गए, जइसओ तइसओ कव्व।[३]

(जैसे-तैसे मेरा काव्य प्रसिद्धि को पावे यही मेरे लिए भला है)

फिर भी कहा है—

जइ सुरसा होसइ मझु भासा
जो बुज्झिह सो करिह पसंसा[४]

(यदि मेरी भाषा अच्छी रस वाली होगी तो निश्चय ही जो समझेगा वह प्रशसा करेगा।)

[१-४] 'कीर्तिलता'- प० १- पृ० ४

विद्यापति की कविताएँ महाराज शिवसिंह तथा उन की रानी लखिमा के समय मे पूर्ण विकास को प्राप्त हुई इसी लिए कवि ने स्वय कहा है—

लखिमा चरन ध्याने कविता
निकसय 'विद्यापति' इह भान।

(विद्यापति कहते हैं कि लखिमा के चरन के ध्यान ही मे कविता निकल पड़ती है।)

इसी समय कवि को शिवसिंह को यवनेश्वर से छुडाने के लिए दिल्ली जाना पडा। वहा जा कर कवि ने अपनी कविता से तत्कालीन मुसल्मान बादशाह को प्रसन्न कर 'शतावधान' की पदवी पाई। यहीं पर कवि का मलिक बहारुद्दीन नामक एक अच्छे गायक से परिचय हुआ था, जैसा कि कवि ने कहा है—

'विद्यापति' कवि रभसे गाव
मलिक 'बहार दिन' बुझई भाव।[1]

शिवसिंह को छुडा कर जब विद्यापति आए, और जब शिवसिंह २९३ ल० स० मे राजा हुए उसी समय इन्हे विसपी ग्राम राजा ने दिया। यही प्रथम बार राजा ने इन्हे 'अभिनवजयदेव' की पदवी दी। पूर्व मे गीतगोविंदकार बगदेशीय जयदेव हो गए थे अत-एव इन्हे 'अभिनव' कहा। शिवसिंह तथा लखिमा मे इन का इतना स्नेह बढ़ा कि विद्यापति ने इन्हीं को अपना आश्रयदाता माना और कहा भी है—

पंचगौडाधिप सिवसिंह भूप
कृपा करि लेल निज पास।
विसपी ग्राम दान कएल मोहि
रहइत राजसनिधान॥

इन की कविता से शिवसिंह इतने मुग्ध हो गए थे कि सुमति नामक एक कलावान कायस्थ के पुत्र जयत को राजा ने विद्यापति के पास नियुक्त कर दिया था जिस मे विद्यापति की बनाई हुई सभी कविताओ को मिथिला-देशीय राग-रागिनियो से मिला कर गावे तथा राजसभा मे या अत पुर मे सब को विद्यापति-रचित कविताएँ सुनाया करे।[2]

---

[1] 'विद्यापतिपदावली' (नगेंद्रनाथ-सं०), ४३८
[2] 'लोचन-रागतरगिणी', पृ० ३७ (दरभंगा राजसंस्करण)।

शिवसिंह के राज्यारोहण काल में विद्यापति ने जो 'अवहट्ठ' में कविता की थी, उस का परिचय दे चुका हूँ। अब शिवसिंह तथा मुसलमानों के बीच जो लड़ाई हुई थी उस का जो विद्यापति ने सुंदर वर्णन किया है उसे पाठकों को सुनाता हूँ।

दूर दुग्गम दमसि[१] भञ्जेओ गाढ़ गढ़ गूढ़ीअ[२] गञ्जेओ[३],
पातिसाह ससीमसीमा[४] समर दरसेओ रे।
ढोल तरल[५] निशान[६] सद्दहिं[७] भेरि काहल[८] संख नद्दहिं[९],
तीनि भुअन निकेत केतकि सन भरिओ रे[१०]।
कोह[११] नीर पयान चलिओ वायु मध्ये राय गरुओ[१२],
तरणि तेअ[१३] तुलाधार[१४] परताप गहिओ रे।
मेरु कनक सुमेरु कम्पिय धरणि पूरिय गगन झम्पिय[१५],
हाति तुरअ पदाति पयभर[१६] कमन[१७] सहिओ रे।
तरल तर तलवारि रङ्गे विज्जुदाम[१८] छटा तरङ्गे,
घोर घन सङ्घात वारिस काल दरसेओ रे।
तुरअ कोटि चाप[१९] चूरिय चारि दिस चौ बिदिस[२०] पूरिअ,
विषमसार आसार धारा[२१] धोरनी[२२] भरिओ रे।
अन्ध कूअ कवन्ध[२३] लाइअ[२४] फेरवि[२५] फफ्फरिअ गाइअ[२६],
रुहिरमत्त परेत भूत वेताल विछलियो[२७] रे।

---

[१] मेघ के समान गरज कर।　[२] कठिन।　[३] भर्त्सना किया।
[४] राज्य की सीमा पर्यंत।
[५] चंचल; संभव है कि यहाँ किसी बाजे के अर्थ में प्रयुक्त हो।
[६] निःस्वन=डंका के समान वाद्यविशेष।
[७] शब्द करते हैं।　[८] डंका।　[९] शब्द करते हैं।
[१०] त्रिभुवनरूप घर केतकी पुष्प के समान (सुगंध से) भर गया।
[११] खोह=पर्वत।　[१२] राजा गरुड़।　[१३] तेज।
[१४] तुल्य।　[१५] ढक गया।　[१६] पद भर।
[१७] कौन।　[१८] विद्युद्दाम=बिजली।　[१९] टाप।
[२०] चारों दिशाओं का मध्य।　[२१] भयंकर वाणों की लगातार वृष्टि।
[२२] धरणी।　[२३] बिना शिर का शरीर=धड़।
[२४] लाए गए=फेंके गए।　[२५] सिआर।
[२६] सिआरों ने अपने शब्द में गाया।
[२७] अलग-अलग किए या फिसलने लगे।

पार भइ परिपन्थि गञ्जिअ[1] भूमि मण्डल मुण्डे मण्डिअ,
चारु चन्द्र कलेव कित्ति सुकेतकी तुलिओ रे[2]।
राम रूपे स्वधम्म रख्खिअ दान दप्पे दधीचि वख्खिअ[3],
'सुकवि नव जयदेव' भनिओ रे।
देवसिंहनरेन्द्रनन्दन शत्रु-नरवइ-कुल-निकन्दन,
सिंह सम सिवसिंह राया[4] सकल गुनक निधान गनिओ रे॥

शिवसिंह के साथ इन का जितना प्रेम था उतना और किसी राजा मे नही था, यद्यपि इन का जीवन केवल राज-दरबार मे ही राजाओ के साथ व्यतीत हुआ, इस लिए शिवसिंह के मरने पर कवि ने उन के परिवार को नही छोडा और उन की रक्षा के लिए जितना प्रयत्न हो सका सब करते रहे। लगभग २९९ ल० स० मे राज बनोली में जब लखिमा को ले कर पुरादित्य के शरण में विद्यापति थे, वहाँ की एक घटना उल्लेख योग्य है। उस स्थान मे जलाशय पर्याप्त नही था, इस लिए विद्यापति ने एक बडी पुष्करिणी वहाँ खुदवाई, और उस के यज्ञ में बडे-बड़े मिथिला के विद्वान एकत्रित हुए। अर्जुन नामक एक बौद्ध मत का राजा वहाँ सप्तरी मे राज करता था, उस के साथ जो और भी बौद्ध थे, सबो ने मिल कर इस यज्ञ मे बडा उपद्रव किया। पहले तो शास्त्रचर्चा चली जो पीछे भयकर युद्ध मे परिणत हो गई, और अत मे दोनवारवशीय मैथिल ब्राह्मण राजा पुरादित्य की सहायता से बौद्ध लोग मार भगाए गए और उन का राजा अर्जुन युद्ध मे मारा गया। उस का धन सब ब्राह्मणो को बाँट दिया गया। सप्तरी परगना पुरादित्य के राज्य मे मिला दिया गया। यही पर विद्यापति ने 'लिखनावली' लिखी थी।

जिन-जिन राजाओ के साथ विद्यापति रहे थे, प्राय सब के नामो से उन्हों ने कविताएँ रची है। इतना ही नही प्रत्युत जिन लोगो से—शत्रु या मित्र, हिंदू या मुसलमान—इन का कभी परिचय हुआ था उन सबो के स्मरणस्वरूप इन्हों ने कविता बनाई। इस से

---

[1] शत्रुओ की भर्त्सना की।

[2] चंद्र की सुंदर कला के समान इन की कीर्ति की पताका फहराई गई; सुकेत=अच्छा झंडा।

[3] तिरस्कार किया। [4] राजा।

यह मालूम होता है कि कवि सब के प्रियपात्र थे, और कवि ने भी सब को अपने हृदय में स्थान दिया था। नीचे ऐसे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

१—कवि रतनाइ भाने
सङ्क कलङक दुअओ असमाने।
मिलु रति मदन समाजा
'देवल देवि' 'लखनदेव' राजा[१]।

२—राओ 'भोगीसर' सब गुन आगर
'पदमादेइ' रमान रे[२]।

३—'देवसिंह' नृप नागर रे
'हासिनिदेइ' कन्त[३]।

४—राजा 'सिवसिंह रूपनरायन'
'लखिमा' देइ पति भाने[४]।

५—'सिवसिंह' राजा एहो रस जानए
'मधुमति देइ' सुकन्ता[५]।

६—बूझ 'सिवसिंह' ई रस रसमय
'सोरम देवि' समाज[६]।

७—राजा 'सिवसिंह' मन दए सजनी
'मोदवती देइ' कन्त[७]।

---

[१] यह राजा लक्ष्मणसेन के संबंध में कहा है। नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण, पद सं० १६

[२] गंगानंदसिंह-संस्करण, पृ० २८९

[३] वही, पृ० ४१, २९७

[४] 'विद्यापति-पदावली', पृ० १९ (गं० सं०)। [५] वही, पृ० १२२

[६] वही, पृ० १५३; 'रागतरंगिणी', पृ० ९६। 'समाज' शब्द का ऐसे अर्थ में और भी जगह कवि ने प्रयोग किया है। जैसे—राजा सिवसिंह रूपनराएन लखिमा-देवि समाज—'लोचन-रागतरंगिणी', पृ० ९३।

[७] वि० प०, पृ० २५७, २७२ (गं० सं०)।

८—'मेधादेवि' पति 'रूपनराअन'
सुकवि भनथि कण्ठहार रे[१]।

९—राजा 'रूपनरायन' जान
राए सिवसिंह 'सुखमा देइ' रमान।[२]

१०—भनइ 'अमीकर' सुनह मधुरपति
राधा चरित अपारे।
राजा 'सिवसिंह' रूपनराएन
सुकवि भनथि कण्ठहारे।[३]

महाराज शिवसिंह के 'अमीकर' ('अमियकर' या 'अमृतकर') मन्त्री थे। शिवसिंह के मरने पर जब मिथिला का राज्य सुल्तान ने अपने अधीन कर लिया था तब इसी 'अमृतकर' कायस्थ ने पटना जा कर सुल्तान के प्रतिनिधि से शिवसिंह के छोटे भाई पद्मसिंह के निमित्त राज्य फिर से प्राप्त किया था।

११—अभिनव नागर बुझए रसवन्त
मति[४] 'महेसर' 'रेणुका' देवि कन्त।[५]

१२—कवि विद्यापति भान, मानिनि जीवन जान।
नृप 'रुद्रसिंह' बरु मेदिनि कलप-तरु॥[६]

रुद्रसिंह प्रायः धीरसिंह के पौत्र तथा जगन्नारायणसिंह के पुत्र 'रुद्रनारायणसिंह' का ही संक्षिप्त नाम था, ऐसा मालूम होता है। क्योंकि विद्यापति के समय में इस नाम का दूसरा कोई नहीं था।

१३—'कविशेखर' भन अपरुबरूप देखि
राए 'नसरत साह' भजलि कमलमुखि।[७]

---

[१] वि० प०, सं० ६० (न० संस्करण); 'रागतरंगिणी', पृ० ११२
[२] वि० प०, सं० १२७ (न० सं०)।
[३] वि० प०, पृ० ११६ (गंगानंदसिंह-संस्करण)। [४] मंत्री।
[५] 'रागतरंगिणी', पृ० ४९; वि० प०, पृ० २३७ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।
[६] वि० प०, पृ० २४४, २७२ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।
[७] 'रागतरंगिणी', पृ० ४५; वि० प०, सं० ३४ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

यह कविता विद्यापति की ही है, इस मे कोई संदेह नही। लोचन कवि ने भी इस कविता के अंत में लिखा है—'इति विद्यापते'।[१]

'नसरतशाह' प्रसिद्ध 'नसीबशाह' दिल्लीश्वर अलाउद्दीन हुसेनशाह के अठारहो पुत्रो मे सब से बड़े थे। यह बड़े योग्य थे इस लिए पिता के मरने पर सन् १५२१ ईस्वी में इन्ही को राज्य मिला। यह अपने भाइयों को बड़े प्रेम से अपने मे मिलाए रहते थे। नसरतशाह ने, सिकंदर लोदी के साथ जो संधि हुई थी, उसे तोड़ दी और तिरहुत पर १५३० ईस्वी के लगभग चढाई की तथा तिरहुत के राजा को मार डाला। उस समय राजा लक्ष्मीनाथ तिरहुत या मिथिला पर राज्य करते थे[२]। इन्हे विद्यापति अवश्य जानते थे। अतएव यह कहना होगा कि विद्यापति अनंत लगभग १५०० ईस्वी तक अवश्य जीवित थे। इसी से यह भी प्रमाणित होता है कि राजा रुद्रनारायण ही विद्यापति के रुद्रसिंह थे और इन के समय तक विद्यापति जीवित थे।

१४—भनइ 'विद्यापति' बुझ रसमन्त,
राए 'अरजुन' 'कमला' देवि कन्त।[३]

राजा 'अर्जुनसिंह' देवसिंह के भाई त्रिपुरासिंह के पुत्र थे। जैसा विद्यापति ने कहा है—

१५—भनइ 'सरसकवि' रस सुजान,
'त्रिपुरासिंह' सुत 'अरजुन' नाम।[४]
१६—'विद्यापति' कविवर एहु गावए
होउ उपदेसउ रसमन्ता।
'अरजुन' राए चरण पए सेवहि
'गुना' देवि रानि कन्ता॥[५]

---

[१] 'रागतरंगिणी', पृ० ४५

[२] 'हिस्ट्री अव् बेंगाल'—चार्ल्स स्टूअर्ट, सेक्शन ४, पृ० १३८-१४२; 'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ८०

[३] वि० प०, सं० ३०० (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

[४] वि० प०, सं० ७२१ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

[५] वि० प०. सं० ७२५ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।

१७—भन 'विद्यापति' सुन 'रमापति'[१]
सकल गुन निधान।
चिरजिव जिवओ राए 'दामोदर'[२]
दसासए अवधान।[३]

ऊपर कथित 'अर्जुनसिंह' और यह दोनों एक ही राजा का नाम हो सकता है, केवल इतना और कहना होगा कि इन की दो स्त्रियाँ थीं—'कमला' और 'गुणा'।

१८—भनइ 'विद्यापति' कवि जयराम।[४]
१९—भन 'विद्यापति' सुनु 'कविराज'।[५]
२०—भनइ 'विद्यापति' सुनहु 'अभयमति'।[६]
२१—'विद्यापति' कवि भान
'महलम' जुगपति चिर जिव जिवथु
'ग्यासदीन' सुरतान।[७]

यह कविता भी लोचन ने 'रागतरंगिणी' में विद्यापति-रचित मान कर उद्धृत किया है।[८]

ग़यासुद्दीन सुल्तान दिल्ली के राजा सुल्तान सिकंदरशाह के लड़के थे। १३६७ ईस्वी में गयासुद्दीन ने राज्यभार अपने ऊपर लिया और १३७३ ईस्वी तक बहुत अच्छी तरह राज्य किया।[९]

---

[१] यह मंत्री या और कोई विशेष सभासद थे।
[२] यह मिथिला राज्यांतर्गत कोई छोटे राज्य के अध्यक्ष थे।
[३] दशशतावधान—उन्हें कहते हैं जो हजारों विषयों पर एक साथ ध्यान दे।
[४] वि० प०, पृ० २५८ (गंगानंदसिंह-संस्करण)। 'जयराम' नाम के कोई व्यक्ति विद्यापति के समकालीन कवि मालूम होते हैं।
[५] वि० प०, पृ० १०४ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।
[६] वि० प०, सं० २४८ (नगेंद्रनाथगुप्त-संस्करण)।
[७] वि० प०, सं० २६८ (नगेंद्रनाथगुप्त-संस्करण)।
[८] पृ० ५७
[९] 'हिस्ट्री अव् बेंगाल'—चार्ल्स स्टूअर्ट, पृ० ११२-११५

२२—भनइ 'विद्यापति' होइह दुन रति
पूजवते पँचवाने।
'रूपिनि' देवि पति मति सिरि 'रतिधर'
सकल कलारस जाने।[१]

२३—'विद्यापति' कवि गावे
'जयमति' देवि वर सन गहि 'सङ्कर'
बुझए सकल रस भावे।[२]

२४—'विद्यापति' कवि रभसे गाव,
'मलिक बहारदिन' बुझ ई भाव।[३]

२५—'दस अवधान' भन पुरुव पेम गुनि प्रथम समागम भेला।
'आलम साह' प्रभुभाविनि भजिरहु कमलिनि भमर भुलला॥[४]

२६—'मोदवती' पति 'राघवसिंह' गति,
कवि 'विद्यापति' गाई।[५]

महाराज राघवसिंह धीरसिंह के पुत्र थे। इन की दो रानियाँ थीं—मोदवती तथा सोनमती—

भनइ 'विद्यापति' बुझ रसमन्त,
'राघवसिंह' 'सोनमति'देवि कन्त।[६]

---

[१] वि० प०, सं० ३३३ (नगेंद्रनाथगुप्त-संस्करण)।

[२] वि० प०, सं० ३५७ (नगेंद्रनाथगुप्त-संस्करण)।

[३] वि० प०, सं० ४३८ (नगेंद्रनाथगुप्त-संस्करण)।

[४] 'रागतरंगिणी', पृ० ८६। विद्यापति की उपाधि 'दशावधान' की थी। एकमात्र इसी प्रमाण के आधार पर यह कविता विद्यापति की रची हुई है यह कहा जा सकता है, किंतु 'आलमशाह' नाम का कोई भी मुसलमान राजा विद्यापति का समकालीन सुनने में नहीं आता है। एकमात्र 'शाह आलम' (प्रसिद्ध बहादुरशाह) लगभग १७०७ ईस्वी में था, जिस समय विद्यापति नहीं थे।

—'हिस्ट्री अव् बेंगाल'—चार्ल्स स्टूअर्ट, पृ० ३९५

[५] वि० प०, पृ० २७२ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

[६] वि० प०, सं० ७२४ (नगेंद्रनाथगुप्त-संस्करण)।

इस से यह मालूम होता है कि विद्यापति राघवसिंह के समय में भी जीवित थे। राघवसिंह के पुत्र कुमार गदाधरसिंह ने 'तंत्रप्रदीप' नामक ग्रंथ लिखा था[1] तथा ल० सं० ३७२ (१४९१ ई०) एवं ल० सं० ३७८ (१४९३ ई०) में इन की आज्ञा से अनेक ग्रंथ हस्तलिखित किए गए थे।[2] राघवसिंह के पिता धीरसिंह के राज्यकाल में, ल० स० ३२१ अर्थात् १४४० ई० में, इन की आज्ञा से 'सेतुदर्पणी' नाम का ग्रंथ लिखा गया था।[3] इस लिए राघवसिंह का समय हम इन दोनो के मध्य में अर्थात् लगभग १४६६ ईस्वी में रक्खे तो कोई आपत्ति नही हो सकती है। अत इस से यह मालूम होता है कि विद्यापति १४६६ के बाद तक जीवित थे।

इस प्रकार सबो से मिलते-जुलते, अपने परिचित हिंदू और तुरुक, तथा स्त्री और पुरुष दोनों के नाम पर कविता रचते हुए विद्यापति क्रमश थोडे ही समय मे एक विशिष्ट कवि हो गए। इन की कवित्वशक्ति से मुग्ध हो कर लोगो ने इन के ऊपर उपाधियों की वर्षा करना आरंभ कर दिया। ये उपाधियाँ बहुत प्रसिद्ध है—'दशावधान', 'अभिनव-जयदेव'[4], 'महाराज-पंडित'[5], 'सुकवि-कंठहार'[6], 'राजपंडित'[7], 'खेलनकवि'[8], 'सरस-कवि'[9], 'कविरतन'[10], 'नव-कविशेखर'[11], 'कवि'[12], 'कविशेखर'[13], 'कंठहार'[14]।

---

[1] 'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७४
[2] वही, पृ० ७९
[3] वही, पृ० ७४-७५
[4] शिवसिंह का दानपत्र।
[5] वही।
[6] 'रागतरंगिणी', पृ० ५३
[7] वि० प०, संख्या ५०९ (नगेंद्रनाथगुप्त-संस्करण)।
[8] 'कीर्तिलता', पृ० ११४
[9] वि० प०, पृ० १४०, १५६, १७७ (गं० सं०); 'रागतरंगिणी', पृ० १०५
[10] राग०, पृ० १०५; वि० प०, पृ० २९९ (गं० सं०); पद संख्या १६ (न० सं०)।
[11] वि० प०, पृ० ३, १८१ (गं० सं०); पद सं० ४, ४८४ (न० सं०)।
[12] वि० प०, पृ० २४, २९, ३०, ३६, ४१, ४८ इत्यादि (गं० सं०)।
[13] वि० प०, पृ० २८, ३९, ७३, ९५, ११५, १२१, १२४, १५०, १५७-५८, १६९, १९८, २०१, २१३, २२०, २८३ (गं० सं०); पद सं० २६, ३४, ११८ (न० सं०)।
[14] वि० प०, पृ० १६१ (गं० सं०)।

'कविवर'[1], 'कविरंजन'[2], 'सुकवि'[3], 'नव-जयदेव'[4] 'कवि-कठहार'[5] इन नामो से भी कवि ने कविता की है। अनेक पदो मे इन उपनामों के साथ-साथ 'विद्यापति' शब्द भी लगा है। इसी मे यह अनुमान होता है कि ये सब विद्यापति ही की उपाधियाँ हे जिन्हे इन के मरक्षक तथा उत्साहवर्धक लोगो ने दिया था।

प्राय इन सब उपाधियो का कवि ने अपने शृंगारिक रचनाओ ही के सबध मे प्रयोग किया है। वैराग्यावस्था मे जो कविताएँ इन्हो ने बनाई उन मे प्राय न किसी आश्रयदाता राजा या सुल्तान हो का उल्लेख है न अपने विशिष्ट उपाधियो का ही। इस मे ज्ञात होता है कि कवि ससार के नाना प्रकार के सुख-दुख को भोग कर पश्चात् यथार्थ मे ससार से विरक्त हो गए थे। इस में कोई सदेह नहीं कि कवि ने संसार मे अचल कीर्ति प्राप्त कर ली।

विद्यापति ने उचित समय पर विवाह भी किया। इन की स्त्री का नाम 'चंदल-देवी'[6] या चम्पतिदेवी[7] था। इन के तीन पुत्र—वाचस्पति ठाकुर, हरपति ठाकुर तथा नरपति ठाकुर[8] तथा एक कन्या थी। कन्या का नाम 'दुल्लहि'[9] था, यह लोगो की धारणा है।

---

[1] वि० प०, पृ० १२२, २९७ (गं० सं०)।
[2] वि० प०, २९६ (न० सं०); वि० प०, पृ० १२७, १४७ (गं० सं०)।
[3] वि० प०, पृ० ३०६, ३१०, ३२२, ३२५ (गं० सं०)
[4] वि० प०, पृ० ३२२ (गं० सं०)।
[5] वि० प०, पृ० ११४, १६१, २३९ (गं० सं०)।
[6] भनइ विद्यापति सुनह तिलोचन पयपङकज मोरि सेवा।
'चन्दल'देइ पति वैदनाथगति नीलकण्ठ हरदेवा।
'रागतरंगिणी', पृ० १०८;
'चम्पति' पति कह सेहे जुबति वर, गावउ तसु गुनगाथ।

[7] वि० प०, सं० ३९४ (न० सं०)। 'चम्पति' नाम और भी दो जगह मिलता है—'कवि चम्पति कह राहि मनाइते, आप सिधारह कान'—पद संख्या ४०१ (न० सं०); 'विद्यापति कवि चम्पति भान, राहि न हेरव तोहर वयान'—वही, ३७४। इन दोनों स्थानों में अर्थ यह होगा कि कवि विद्यापति ने 'चम्पति' से कहा।

[8] 'पुरुषपरीक्षा', टिप्पणी 'पञ्जीप्रबन्ध' से, पृ० २६४

[9] 'दुल्लहि, तोहर कतए छथि माय' इत्यादि। यद्यपि 'दुल्लहि' केवल स्नेहसूचक पुकारने के लिए ही कभी-कभी प्रयुक्त होता है तथापि कह नहीं सकते कि यह कन्या का नाम नहीं है।

वाचस्पति तथा नरपति के संबंध में अभी कुछ भी पता नहीं लगा है। हरपति अवश्य विद्वान् थे। इन्हों ने 'दैवज्ञवान्धव' नामक एक ज्योतिष का ग्रंथ बनाया था। इन्हों ने मैथिली में भी कविता की है, जिसे मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ—

आरे विधिवस[१] नयन पसारल[२],
पसरल हरिक सिनेह।
गुरुजन गुरुतर डरे सखि,
उपजल जिवहु[३] सन्देह।
दुरजन भीम भुजङ्गम[४],
वम[५] कुवचन विषसार।
तेंह तीखे विषे जनि माखल,
लाग मरम कनियार[६]।
परिजन परिचय[७] परिहरि,
हरिहरि परिहर पास[८]।
सगर नगर बड पुरजन,
घरे-घरे कर उपहास।
पहिलुक पेम क परिभव,
दुसह सकल जन जान।
धैरज धनि धर मने गुनि,
कवि 'हरपति' भान ॥१॥[९]

---

[१] भाग्य से या दुर्भाग्य से। [२] आँख खोला। [३] जीने में भी।
[४] भयंकर विषधर सर्प के समान दुर्जन लोग। [५] वमन करते हैं=बोलते हैं।
[६] उसी तीक्ष्ण विष में डुबोया गया शर मेरे मर्म-स्थानों में लगा। कनियार=तीक्ष्ण।
[७] बोलचाल। [८] समीप आना।
[९] कोई-कोई इसे विद्यापति ही की कविता कहते हैं, किंतु जब हमें इस में हरपति का नाम मिलता है तब हम संदेह क्यों करें? हरपति विद्यापति के पुत्र विद्वान थे, यह उन के ग्रंथ ही से मालूम होता है। अपने पिता का अनुकरण यदि इन्हों ने किया हो, तो इस में संदेह ही क्या?—वि० प०, सं० २७२ (नगेंद्रनाथगुप्त-संस्करण)।

तुअ पिअ सहचरि बुझलिहुँ[१] हमे[२] हरि,
　　तेँ मोहि पठओलन्हि आज रे।
सुजने विनय जत कहल कहब कत,[३]
　　तोँहु उत्तर किछु बाज रे।
　　सुहित बचन लएह मानि[४] रे॥
सुन सुन गुनमति मिलह मधुरपति,
　　अथिर जउवन धन[५] जानि रे।
अपन अपन गुन सबे सब तह गुन,[६]
　　निज काचहु कह हेम रे।
से पुनु सबहु चहि[७] गुरुवि गनिय महि,[८]
　　जे कर परक गुन पेम रे।
कत उपदेसिअ कत परबोधिअ,
　　तइअओ[९] न मानए बोध रे।
तोँहहि कहह सखि फुलल मालति लखि[१०],
　　के करत भमर निरोध[११] रे।
दुतिक वचन सुनि पिअ गुनगन गुनि,
　　तसु तनु पसरल भाव रे।[१२]

---

[१] जान कर।　　　　　　[२] मुझ को।

[३] सुजन अर्थात् कृष्ण ने जितना विनय (तुम्हारे लिए) किया, उतना किस तरह तुम से कहूँ, नहीं कह सकती।

[४] मान लो।

[५] यौवनरूपी धन स्थिर नहीं रहता।

[६] यह मनुष्य का स्वभाव होता है कि सब अपने-अपने गुणों को औरों की अपेक्षा अधिक गिनते हैं, अर्थात् उस का बहुत गौरव करते हैं।

[७] अपेक्षा; से।

[८] पृथ्वी में भारी (बड़ा) माना जाय।

[९] तथापि।

[१०] खिली हुई मालती के फूल को देख कर।　　　　[११] रोक।

[१२] उस के शरीर में सात्त्विक भाव फैल गया।

पुलकें उतर दए रहलि लाज कए,[1]
कवि 'हरपति' गाव रे ॥२॥

कितना अच्छा मधुर भाव इन कविताओं में भरा हुआ है। संभव है कि खोज करने पर इन की और भी कविताएँ मिलें। इसी प्रकार विद्यापति की चन्द्रकला नाम की एक पुत्र-वधू थीं। उन्हों ने भी कविता की थी, यह मैथिल कवि लोचन ने अपनी 'रागतरंगिणी' में लिखा है।[2] उसे भी मैं यहां उद्धृत करता हूं—

स्निग्ध-कुञ्चित-कोमलं, कचगण्डमण्डित-कोमलम् ।
अधर-बिम्ब-समान सुन्दर, सरदचन्द्रनिभाननम् ।
जय कम्बुकण्ठ विशाललोचन, सारमुज्ज्वलसौरभम् ।
बाहुबल्लिमृडालपङ्कज, हारशोभित ते शुभम् ।
शोभय सुन्दरि मम हृदयं, गद्‌गदहास सुदति निपुणम् ।
उर पीन कठिन विशाल कोमल याति युग्म निरन्तरम् ।
श्रीफलाकमला-विचित्र-विधानुनिर्मल-कुचवरम् ।
श्यामा सुवेषा त्रिवलि-रेखा जघनभार-विलम्बिते ।
मत्तगजकरजघनयुगवर-गमनगतिवरटाजिते ।
सुललित मन्द-गमन करइ, जनि पतिसङ्गवरटा भमइ ।
अतिरूपयौवन प्रथम सम्भव कि वृथा कथया प्रिये ।
तेजह रूप विमोह परिहर शोकचिन्तित चिन्तये ।
उपयातमदनव्याधि दुस्सह दहए पावक-सेवनम् ।
पवन दिसे दिसे दहए पावक युग्म-हारजमम्बरम् ।
श्यामासवन्दिते अतिसमयगीतसुशोभिते ।
आत्मदानसमानसुन्दरि धार-वर्षति सिञ्चये ।

---

[1] दूती के वचन को सुन नायिका अपने शरीर के रोमांच ही से उत्तर दे कर स्वयं लज्जित हो गई। अर्थात् नायक के गुणगान सुन नायिका के हृदय में सात्त्विक भाव भर आया जो रोमांच के रूप में समस्त शरीर में बाहर प्रकाशित हो गया। यही मानो नायिका ने उत्तर दे दिया। भाव को बाहर प्रकाशित देख कर मुग्धा नायिका लज्जित हो गई।

[2] इति श्रीविद्यापतिपुत्रवध्वाः—'रागतरंगिणी', पृ० ५३-५४

सिञ्चह सुन्दरि मम हृदयं, अधर-सुधामधुपानमियम् ।
चन्द्रकवि जयदेवमुद्रित मान तेज तोहें राधिके ।
वचन मम धर कृष्ण अनुसर किन्नु कामकलाशुभे ।
'चन्द्रकला' हे वचन करसी, भामिनि माधव अनुसरसी ।।

मैथिली और संस्कृत के मिश्रण का यह एक अच्छा नमूना है। इसी से चंद्रकला की विद्वत्ता का पूरा परिचय भी मिलता है।

इस प्रकार कवि अपने विद्वान परिजनों में पूर्ण हो कर क्रमश जीवन के अंत आने के पहले कुछ दिन इस संसार से विरक्त हो गए, और उन्हो ने अवशिष्ट समय मे केवल शिव की नचारी तथा कृष्ण-कीर्तन के ही पद बनाए। क्रमश शिव की भक्ति इन मे इस प्रकार हो गई कि एक विशेष घटना हो उठी। कहा जाता है कि एक समय इन के पास 'उगना' या 'उदना' नाम का एक सेवक था। एक समय उसे साथ ले कर विद्यापति किसी दूसरे ग्राम को जा रहे थे। रास्ते में उन्हे इतनी प्यास लगी कि कवि व्याकुल हो उठे और उगना से ढूँढ कर पानी लाने को कहा। चारो तरफ जंगलो से घिरे हुए उस स्थान मे कही भी पानी न था। उगना लौट आया। प्यास के मारे घबडाए हुए विद्यापति ने फिर उगना से कहा—'फिर से ढूँढो, पानी कही से शीघ्र ले आओ।' स्वामी की यह अवस्था देख कर उगना चल पड़ा और थोडी ही देर मे लौट कर उस ने एक लोटा स्वच्छ जल विद्यापति को दिया। जल पान कर उस के स्वाद से और पीछे उस के स्वरूप से कवि ने मन मे निश्चय कर लिया कि यह तो गंगाजल है, यहाँ कहाँ से आया। उगना से पूछा तो उस ने यही बतलाया कि यह एक समीपस्थ कुएँ का जल है। विद्यापति बारबार पूछने लगे कि—'ठीक-ठीक बताओ यह जल कहाँ से आया। यह तो गंगाजल है।'

जब उगना ने देखा कि अब पकड़े गए तब उस ने सारी बाते कह दी कि मै भृत्य के स्वरूप में तुम्हारी भक्ति के वशीभूत शिव हूँ। तुम्हे प्यास से व्याकुल देख, जल का कोई पता यहाँ न पा कर अंत मे मैने अपनी जटा से गंगाजल निकाल तुम्हारे पास ला कर दिया है। तुम्हारी भक्ति से इतना वशीभूत हूँ कि मै अभी भी तुम्हारे पास तब तक रहूँगा जब तक तुम किसी को यह समाचार नही कहोगे।

विद्यापति ने प्रतिज्ञा की और तब से उन्हों ने उगना से कभी ऐसा कार्य नही कराया जिस से उन के मन में कुछ खेद हो। कुछ दिन के बाद विद्यापति की स्त्री किसी

कार्यवश उगना पर बिगड़ गई और एक चैला ले कर उसे मारने उठीं। विद्यापति कहीं से यह देख रहे थे, दौड़े और अपनी प्रतिज्ञा को भूल कर कहा कि, "यह क्या करती हो! साक्षात् शिव के ऊपर यह प्रहार करना कितना अनुचित है।" परन्तु बेचारी ब्राह्मणी को इस रहस्य का क्या पता था? वह तो उसे केवल उगना ही समझती थी। फल यह हुआ कि उसी क्षण उगनारूपी शिव अन्तर्धान हो गए और विद्यापति उन के विरह में पागल-से हो कर गाने लगे—

'उगना' हे मोर कतए गेला।
कतए गेला सिव किदहु भेला॥
भाङग नहि बटुआ रुसि बैसलाह।
जोहि हेरि आनि देल हँसि उठलाह॥
जे मोर कहता उगना उदेस।
ताहि देवओं कर कँगना वेस॥
नन्दन वन में भेटल महेस।
गौरि मन हरखित मेटल कलेस॥
'विद्यापति' भन उगना सों काज।
नहिं हितकर मोर त्रिभुवन राज॥

अन्त समय में मोक्षदाता शिव का ही भजन करते-करते जब विद्यापति ने अपना मरण समय सन्निकट जाना, तो शास्त्र तथा मिथिला देश के आचार के अनुसार उन्हों ने मन में यह निश्चय कर लिया कि 'मरणं जाह्नवीतीरे' ही में यथार्थ में मुक्ति मिल सकती है, अतएव अब गंगादर्शन की यात्रा करनी चाहिए। ऐसा सोच कर, सब से पहले उन्हों ने अपनी कन्या से कहा—

'दुल्लहि' तोहर कतए छथि माय,
कहुन ओ आवथु एखन नहाय।
वृथा बुझथु संसार विलास, पल पल नाना तरह क त्रास।
माय बाप जों सदगति पाव, सन्तति कों अनुपम सुख आव।

'तुम्हारी माँ कहाँ है उन्हें स्नान कर आने को कहो।' इत्यादि उन से अपने मन की बात कह यात्रा की तैयारी की और कुलदेवी को प्रणाम कर पालकी पर चढ़ गंगायात्रा

की। मिथिला के लोग गगास्नान या गगालाभ के लिए समीप होने के कारण वर्तमान सिमरिया घाट आते है। इस लिए विद्यापति भी सिमरिया ही को चले। माल्म होता है कि काशी आने का समय नही था। जब 'बरौनी' के पास विद्यापति पहुँचे और माल्म हुआ कि अब यहाँ से केवल दो कोस पर गगाजी है तो उन्हो ने कहा कि मै तो गगाजी की खोज मे इतना दूर आया, क्या गगा माता मेरे लिए इतनी दूर भी नही आवेगी। ऐसा कह वही ठहर गए। कहा जाता है कि उसी रात मे गगा जी मे बाढ आई और गगा की धारा ठीक जहाँ विद्यापति ने डेरा डाल रक्खा था वही मे बहने लगी। दूसरे दिन

'विद्यापति'क आयु अवसान,
कातिक धवल त्रयोदशि जान।

—कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को विद्यापति ने गगा जी के तट पर नारायणीक्षेत्र मे अपनी ऐहिक लीला समाप्त की। इस स्थान पर बाद को एक शिवलिग की स्थापना हुई और शिवमदिर भी बनाया गया जो कि अभी भी वर्तमान है। गगा जी की नवीन धारा का चिह्न भी अभी देख पडता है।

अव यहाँ विचारणीय यह है कि यथार्थ मे विद्यापति कितने दिनों तक जीवित थे। पूर्व मे हम कह चुके हैं कि—विद्यापति १०० वर्ष से भी अधिक दिनो तक अवश्य जीवित रहे होगे। अब कुछ ऐसे ऐतिहासिक स्पष्ट प्रमाण मिलते है जिन के आधार पर और भी थोडा विचार हो सकता है। ऊपर कहा गया है कि विद्यापति ने 'नसरतशाह' के नाम पर एक कविता लिखी है, जिस को मैथिल कवि लोचन ने भी अपनी 'रागतरगिणी' मे विद्यापति ही की स्वीकार किया है। इतिहास मे यह मालूम होता है कि 'नसरतशाह' प्रसिद्ध 'नसीबशाह' सन् १५२१ ईस्वी मे राजा हुए, और उन्हो ने लगभग १५३० ईस्वी मे तिरहुत पर घोर आक्रमण किया। ऐसी स्थिति मे हमे यह स्पष्ट मालूम होता है कि विद्यापति ने नसरतशाह को अवश्य देखा था। अब मान लिया जाय कि नसरतशाह ५० वर्ष की अवस्था मे राजा हुए तथापि १५२१ ई० मे जब वह राजा हुए तभी विद्यापति ने उन्हे 'राए' अर्थात् 'राजा' लिखा होगा। कदाचित् नसरतशाह राजा होने के पूर्व ही वडे लोकप्रिय हो गए थे, इस लिए लोगो ने उन्हे पहले ही से राजा कहना आरभ कर दिया हो, और इसी लिए विद्यापति ने भी उन्हे राजा लिखा हो, फिर भी यह कहना होगा कि अंतत. नसरतशाह ३० वर्ष के अवश्य रहे होगे जब उन के अलौकिक गुणो से मुग्ध

जनता ने उन्हे राजा कहना आरभ किया होगा। तथापि सन् १५०० ईस्वी में हम विद्यापति को जीवित माने तो अनुचित न होगा।

द्वितीय बात यह है कि विद्यापति ने महाराज राघवसिंह तथा उन के भतीजे रुद्रसिंह के नाम पर भी कविताएँ रची। राघवसिंह लगभग १४६६ ईस्वी तक अवश्य जीवित थे। रुद्रसिंह इस के पहले तो कदापि नही रक्खे जा सकते हैं। इस से भी विद्यापति का १०० वर्ष से अधिक जीवित रहना सिद्ध होता है।

तीसरी बात यह है, जैसा पहले भी मैं ने कहा है कि विद्यापति वाचस्पति मिश्र (द्वितीय) के समकालीन थे। वाचस्पति मिश्र का १४७५ ईस्वी में होना विद्वानो ने माना है, अतएव विद्यापति भी इस समय मे वर्तमान रहे होंगे। इन सब प्रमाणो को देख यह मालूम होता है कि विद्यापति ने १५०० ईस्वी के लगभग परलोक यात्रा की होगी। अर्थात् कम से कम १३० वर्ष की अवस्था मे विद्यापति ने गगालाभ किया। इस विचार को मै यहीं पर स्थगित करता हूँ इस के सत्यासत्य को अब ऐतिहासिक लोग ही अच्छी तरह प्रमाणित कर सकते है।

(अपूर्ण)

समालोचना

साहित्य का इतिहास

उर्दू साहित्य का इतिहास——लेखक, श्रीयुत व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। प्रकाशक, श्री कमलमणि-पुस्तकमाला-कार्यालय, बनारस। मूल्य २)

अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से पहले हिंदुस्तान मे सभी पढ़े-लिखे हिंदू और मुसलमान हिंदी और उर्दू दोनो भाषाओ के साहित्यो मे वाकफीयत रखते थे। इस समय मे सैकडो मुसलमान कवियो ने हिंदी भाषा मे कविता की और इसी के साथ अनेक हिंदू कवियो के नाम मिलते है जिन्हो ने उर्दू को अपने हृदयो के उद्गार का माध्यम बनाया। 'मआसिरुलकिराम' मे केवल बिलग्राम के मुसलमान लेखको की जीवनियाँ दी हुई है, परतु उस से जान पडता है कि वहाँ का प्राय प्रत्येक लेखक हिंदी मे भी कविता करता था। मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद की 'आबेहयात' से इन दोनो भाषाओ के प्रयोग का रहस्य ज्ञात होता है। उन का कथन है कि जब कवि सहज और स्वाभाविक जीवन का चित्रण करना चाहता था, तो हिंदी भाषा का और जब बनावटी दरबारी भावो और दृश्यो को दिखाना चाहता था तो रेखता का इस्तेमाल करता था। 'शुअरा-ए-अहले-हनूद' पुस्तक से उन हिंदू कवियो का हाल मालूम होता है जिन्हो ने उर्दू मे कविता की। साथ-साथ प्रत्येक हिंदी साहित्य का इतिहास बताता है कि मुसलमानों ने हिंदी के विकास मे कितना बहुमूल्य भाग लिया।

आजकल अंग्रेजी के बोझ के कारण और आपस के साप्रदायिक झगड़ो के कारण इस अवस्था मे बडा अतर हो गया है। परिणाम यह है कि हिंदू मुसलमान न केवल राजनीति के क्षेत्र मे बल्कि सभ्यता और सस्कृति मे भी एक दूसरे से दूर हटते जाते है। हिंदी हिंदुओ की और उर्दू मुसलमानो की भाषा होती जाती है। यह अति शोचनीय दशा है। इस से राष्ट्रीय कल्याण और उन्नति के रास्ते मे जो बाधाएँ पडेगी उन को प्रत्येक हिंदुस्तानी स्वय भली भाँति समझ सकता है। विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नही।

इस समय में बाबू ब्रजरत्नदास ने हिंदी भाषा में उर्दू साहित्य का इतिहास लिख कर हमारी पुरानी सहिष्णुता और उदारता का प्रमाण दिया है। आप का नाम हिंदी-संसार में विख्यात है। आप ने न केवल इस हैसियत से कि एक हिंदी के महा-लेखक अर्थात् भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के वंशज हैं बल्कि हिंदुस्तानी कला और साहित्य के मर्मज्ञ होने के कारण हिंदी के लेखकों में नाम पाया है। बाबू हरिश्चंद्र उर्दू, फारसी, हिंदी और संस्कृत के ज्ञाता थे और उन के समकालीन बनारस के अन्य विद्वान् भी इन भाषाओं का ज्ञान रखते थे। बाबू ब्रजरत्नदास उसी परिपाटी पर स्थित हैं और योग्यता के साथ उस मर्यादा का पालन कर रहे हैं।

आप के लिखे हुए इतिहास में तेरह परिच्छेद, एक सहायक पुस्तकों की सूची और अनुक्रमणिका सम्मिलित है। आरंभ में आप ने उर्दू भाषा की उत्पत्ति पर दृष्टि डाली है और उर्दू साहित्य की मौलिक विशेषताओं का तथा इस पर फारसी साहित्य के प्रभाव का उल्लेख किया है। फिर दक्षिण के उर्दू कवियों का हाल दिया है। चार परिच्छेदों में दिल्ली के, दो में लखनऊ के, एक में अन्य केंद्रों के और एक में वर्तमान काल के कवियों का वर्णन लिखा है। अंत में दो परिच्छेदों में गद्य और नाटक उपन्यास आदि का इतिहास है। इस प्रकार लगभग तीन सौ पृष्ठों में उर्दू साहित्य के इतिहास से परिचय कराया है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस विषय पर बाबू ब्रजरत्नदास ने लेखनी उठाई है वह बड़े महत्त्व का है। साहित्य का इतिहास देश की सभ्यता के गूढ़ तत्त्वों पर प्रकाश डालता है और उर्दू के विकास में हमारे समाज के पिछले चार सौ वर्षों के उत्थान, पतन और पुनरुत्थान का चित्र अंकित है। वली और उस के समकालीन कवियों की कविता पर सत्य की छाप है, उस में सत्रहवीं सदी का प्रेम, उल्लास और भक्ति से पूर्ण जीवन प्रतिबिंबित होता है, हिंदू और मुसलमान की बोली, रुचि और भाव का सम्मिलन दिखाई देता है। मीर और सौदा का समय मुगल-साम्राज्य की दुरवस्था को प्रकाशित करता है। यदि मीर की कविता में हृदय को विदीर्ण करनेवाला करुण नाद है, तो सौदा के ठठोल में काल की निष्ठुरता का बीभत्स अट्टहास। जौक़ और ग़ालिब, शाह नसीर और मोमिन एक विजित और पराश्रित समाज के अंतिम पलों की उस सुंदर और चमकीली झलक का दृश्य दिखाते हैं जो मरने वाले के चेहरे को क्षण भर के लिए दीप्तिमान कर

देती है। नासिख और आतिश की बनावटी सजधज उस वेश्या के रंग-रूप के समान है जो अपना सर्वस्व गँवा चुकी है।

उर्दू साहित्य का वर्तमान काल हाली और आजाद से शुरू होता है जिन की कविता में नए जीवन का सञ्चार है। अकबर और इकबाल ने इस उर्दू कविता को पुरानी सीमित और संकुचित नहरों से निकाल कर जीवन के विशाल और गंभीर भावों की वेग भरी नदी के लिए रजबहा बना दिया है।

बाबू ब्रजरत्नदास की पुस्तक में इसी विप्लवपूर्ण साहित्य का संक्षिप्त इतिहास है। इस में पढ़ने वालों को साहित्य के नायकों, उन की रचनाओं और कृतियों का ब्यौरा मिलेगा जो अच्छे और व्यवस्थित क्रम में और रोचक शैली में लिखा गया है।

ता०

आलोचना

दादू—लेखक, श्री क्षितिमोहन सेन। प्रकाशक, विश्वभारती-ग्रंथालय, नं० २१०, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता। आकार रायल। पृष्ठ संख्या ६७३। मूल्य ४)

प्रस्तुत पुस्तक लगभग सात सौ पन्नों का एक विशालकाय समालोचनात्मक ग्रंथ है। यह ग्रंथ बँगला भाषा में है और हिंदी के प्रसिद्ध संत कवि दादू की जीवनी और वाणी से संबंध रखता है।

मोटी तौर से यह ग्रंथ पाँच भागों में विभक्त है—(१) भूमिका, (२) उपक्रमणिका, (३) दादूवाणी, (४) सबद (संगीत), (५) परिशिष्ट। इन में सब से महत्त्वपूर्ण भाग उपक्रमणिका और दादूवाणी है। भूमिका-लेखक विश्वकवि श्री रवींद्रनाथ ठाकुर है। इस प्रकार के ग्रंथ का भूमिका-लेखक विश्वकवि से अधिक उपयुक्त और अधिकारी कौन हो सकता है? लेखक ने आप ही को यह पुस्तक समर्पित की है और समर्पण-पत्र में आप को लेखक ने अपना गुरु कहा है। भूमिका के संबंध में और कुछ न कह कर केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि वह विश्वकवि के ही अनुरूप है और इस में गद्यकाव्य के सुर में साधक संतकवियों की आध्यात्मिक साधना, उन के तात्विक विचार तथा उन की कविता में सत्य और सुंदर की जो अनुपम भावना मिलती है, उसी पर सूक्ष्म विचार किया गया है।

इस के बाद लगभग २०० पृष्ठो की वृहद् उपक्रमणिका है। इस में लेखक ने दादू की जीवनी, परपरा और उन के काव्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है। जीवनी के अत में लेखक के गवेषणात्मक विचार गभीर और ध्यान देने योग्य है। हिंदी मे रहस्यवाद तथा कबीर प्रमुख सतकवियो पर प० रामचद्र शुक्ल, श्री रामकुमार वर्मा, कविवर हरिऔध तथा श्री परशुराम चतुर्वेदी आदि विद्वान् यथेष्ट विचार कर चुके है, पर मेरी धारणा है कि प्रस्तुत ग्रथ की उपक्रमणिका मे सतसाहित्यप्रेमी पाठको को बहुत कुछ नवीन विचार-सामग्री अवश्य मिलेगी।

इस के बाद पुस्तक का मुख्य भाग—दादूवाणी—आता है। इस अश के लेखन, सपादन तथा दादू के उपलब्ध साहित्य को सजाने मे लेखक के महान् प्रयास, गभीर अध्ययन तथा आधुनिक वैज्ञानिक रीति से प्राचीन साहित्य-सपादन-कुशलता का पूरा परिचय मिलता है। संपादन इस ढग से किया गया है कि हिंदी भाषा और साहित्य मे अनभिज्ञ केवल बँगला भाषा-भाषी पाठक भी पुस्तक से पूर्ण लाभ उठा सके। पहले दादू के साहित्य का उपलब्ध भाग बँगला लिपि म मोटे टाइप मे उद्धृत किया गया है। फिर एक एक विषय का बँगला गद्य मे अविकल और पूर्ण अनुवाद, जैसा कि लेखक ने मूल पद्य को समझा है—दिया गया है। लेखक का यह प्रयास सचमुच अत्यत श्रम और विद्वत्ता-सापेक्ष है। हिंदी के विद्वानो ने जैसा कि दादू को समझा है उस मे लेखक के विचार चाहे अनेक स्थलों पर मेल न खाये पर यह निर्विवाद है कि हिंदी भाषा और साहित्य, विशेष कर सतसाहित्य मे लेखक ने प्रशसनीय अभिज्ञता प्राप्त कर ली है और वे हिंदी साहित्यिको की ओर से सर्वथा बधाई के पात्र है।

अनुवाद के नीचे लेखक ने प्रत्येक विषय के निष्कर्ष को ले कर स्वतत्र रीति से अपनी भावना के अनुसार विचार किया है। इन विचारो मे एकाधिक स्थलो से सहमत न होते हुए भी हम यह सहर्ष कह सकते है कि लेखक एक रसोत्तीर्ण काव्य-मर्मज्ञ और पटु समालोचक है और हिंदी-ससार मे हम आप के ग्रथ को ध्यान से पढने की सिफारिश किए बिना नही रह सकते।

दादूवाणी को लेखक ने स्थूल रूप से छ प्रकरणो मे विभाजित कर लिया है और प्रत्येक प्रकरण विषय के अनुसार कई अगो मे विभक्त है। जागरण, उपदेश, तत्त्व, साधन, परिचय और प्रेम इन्ही छ प्रकरणो मे वाणी विभाजित की गई है। जागरण मे तीन अग—

गुरु, साधु और चेतावनी है। इसी प्रकार अन्य अंगो का भी विभाजन किया गया है। अंत मे एक प्रकरण 'सबद' (संगीत) का अलग है। सब के अंत मे पाँच या छ: फुटकर परिच्छेदो मे प्रश्नोत्तर, मधुकरी आदि विषयो पर तथा रहीम, तुलसी और दास आदि कुछ भक्त कवियो पर तुलनात्मक रीति से विचार किया गया है।

विश्वकवि रवींद्र का कबीर प्रेम सर्वजन-विदित है। इस पुस्तक के लेखक उन के एक योग्य शिष्य और जैसा कि इस ग्रंथ से स्पष्ट है अपने विषय के एक विद्वान् और बहुश्रुत विशेषज्ञ है और साथ ही आप की सारी कृति रवींद्र की आत्मा से प्रेरित-सी जान पड़ने के कारण बहुत ही सरस और उपभोग्य हो गई है। हिंदी-संसार के लिए यह वास्तव मे बड़े संतोष की बात है कि एक अन्य प्रांतीय और अन्य भाषा-भाषी विद्वान् ने एक हिंदी के कवि पर ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा है। हिंदी-संसार को विद्वान् लेखक ने अपनी इस कृति द्वारा सचमुच आभारी बना लिया है।

यदि इस ग्रंथ का, या कम से कम इस की उपक्रमणिका का अनुवाद हिंदी में प्रकाशित हो जाये तो निस्संदेह वह हमारे साहित्य मे एक उपयोगी ग्रंथ की वृद्धि करेगा।

ग० प्र० द्वि०

व्याकरण

ए ग्रामर अव् दि ब्रजभाषा—लेखक, मीरजा खाँ। संपादक, मौलवी जियाउद्दीन, फारसी-अध्यापक, विश्वभारती, शांतिनिकेतन। प्रकाशक, विश्वभारती बुकशाप, २१० कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता। १९३५। मूल्य ४)

बंगला भाषा के महाकवि श्री रवींद्रनाथ ठाकुर की विद्यापीठ 'विश्वभारती' से एक ग्रंथमाला प्रकाशित होती है। प्रस्तुत ग्रंथ उसी का तीसरा पुष्प है। इस ग्रंथ मे विद्वद्वर प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी का पाँच पृष्ठ का प्राक्कथन, उस के बाद संपादक मौलवी जियाउद्दीन की ३३ पृष्ठ की भूमिका, फिर मीरजा खाँ की फारसी मे लिखी हुई ब्रजभाषा व्याकरण का अंगरेजी अनुवाद १६ पृष्ठ मे, और अंत मे शेष पृष्ठो मे मूल ब्रज-भाषा व्याकरण, फारसी लिपि और भाषा मे है।

इस ग्रंथ का महत्त्व केवल एक बात से है और वह इस लिए कि किसी विदेशी द्वारा लिखी हुई ब्रजभाषा की यह प्रथम व्याकरण है। औरंगजेब के जमाने मे फखरुद्दीन

मुहम्मद के पुत्र मीरजा खाँ ने 'तुहफतुल्‌हिंद' नाम की एक पुस्तक लिखी थी। यह पुस्तक फारसी भाषा मे है। मीरजा खाँ का प्रथम उल्लेख लछमीनरायन 'शफीक' की पुस्तक 'गुलेराना' मे मिलता है और दूसरा सर विलियम जोंस्‌-लिखित (एशियाटिक रिसर्वेज, जिल्द ३ मे प्रकाशित) 'हिंदुओ की सगीतप्रणाली' शीर्षक अँगरेजी लेख मे।

'तुहफतुल्‌हिंद' ईस्वी सन्‌ १६७५ के लगभग लिखी गई। मीरजा खाँ फारस (ईरान) देश के निवासी थे। भारतीय सस्कृति और साहित्य का कुछ ज्ञान प्राप्त कर के उन्हों ने अपने विचार फारसी भाषा मे इस पुस्तक मे प्रकट किए। डा० चटर्जी के कथन के अनुसार यह वह समय था जब आक्रमणकारी विदेशी बादशाहो और उन के परिपोषित सरदारो की मनोवृत्ति मे कुछ अतर आ गया था ओर वह इस देश की सभ्यता को समझने का प्रयत्न अश्रेयस्कर नही समझते थे।

मीरजा खाँ की 'तुहफतुल्‌हिंद' (भारत का उपहार) मे प्रवेशक और उपसंहार के अतिरिक्त सात कांड इन विषयो पर हैं—

१—छदशास्त्र

२—तुक (यमक)

३—काव्यशास्त्र

४—शृगार (साहित्य मे)

५—सगीत

६—कामशास्त्र

७—सामुद्रिकशास्त्र

प्रवेशक मे लेखक ने हिंदी भाषा की वर्णमाला, ध्वनियो तथा व्याकरण पर प्रकाश डाला है और उपसंहार मे भाषा के तीन हजार से कुछ अधिक शब्द ले कर उन का उच्चारण और अर्थ फ़ारसी मे दिखाया है।

प्रस्तुत ग्रथ इस प्रकार 'तुहफतुल्‌हिंद' के प्रवेशक का एक अंश मात्र ले कर उपस्थित किया गया है। यदि सपूर्ण ग्रथ का सपादन नहीं हो सकता था तो कम से कम पूरे प्रवेशक का कर के जनता के सामने रक्खा जाता तो कुछ अधिक कौतूहल की शाति होती।

विद्वान्‌ सपादक ने ग्रथकार के ग्रंथ पर प्रकाश डाला है, और हर एक अध्याय का सक्षिप्त विवरण दिया है। फारसी वर्णमाला 'भारतीय' भाषाओ को अकित करने के

लिए कितनी अनुपयुक्त है इस का साधारण-सा ज्ञान मीरज़ा खाँ के उन प्रयत्नों से हो जाता है जो उन्हो ने फारसी लिपि मे ब्रजभाषा लिखने के किए है। 'त', 'थ', 'ट', 'ठ' का बोध कराने के लिए फारसी-अरबी वर्णमाला मे केवल एक अक्षर था 'ते'। ग्रथकार के सामने विकट समस्या उपस्थित थी। हिंदी के इन चारो वर्णो को 'ते' ही कह कर उन्हो ने चार प्रकार के 'ते' बनाए। मीरजा खाँ के इन निष्फल प्रयत्नो को देख कर उन सज्जनों पर दया आती है जो अब भी कहते है कि फारसी-अर्बी लिपि को ही देवनागरी के स्थान पर रखना चाहिए!

मीरज़ा खाँ की ब्रजभाषा व्याकरण पढ कर उन के ब्रजभाषा-ज्ञान की प्रशसा नही की जा सकती। उन्हों ने भाषा के शब्दो का जो उच्चारण किया है, उस मे स्पष्ट है कि वे सस्कृत भाषा के ज्ञान से नितात अनभिज्ञ थे; 'सस्कृत' को 'सहसकिर्त', 'प्राकृत' को 'पराकिर्त' लिखते है। उन के मतानुसार प्राकृत पातालवाणी या नागवाणी है, और भाषा (ब्रज) और सस्कृत के संयोग से बनी है।

ग्रथकार ने अपनी व्याकरण के दश अध्याय रक्खे है—

१—(ब्रज) भाषा का स्थान

२—शब्द

३—पुलिग

४—स्त्रीलिग

५—नपुसकलिग

६—बहुवचन

७—सर्वनाम

८—पदवृत्ति

९—संबध

१०—अव्ययादि

यह विषय-विभाग किस नियम पर स्थिर किया गया है यह समझ मे नही आता।

शब्द के तीन विभाग किए गए है—संपादन, कर्तव्य और कर्ता। कर्तव्य के अदर क्रिया और कर्म दोनो शामिल किए गए है। वर्तमान के उदाहरणो मे 'करत है', 'करत हे', 'करत हो' और 'करत हूँ' है। इन मे यह भी टिप्पणी दी है कि करत मे 'अ' रहे तो पुलिग और 'इ' (करति) तो स्त्रीलिंग का रूप होता है।

स्त्रीलिंग का प्रतिपादन करते हुए ग्रथकार कहते है कि स्त्रीलिंग दो प्रकार का है—एक तो किसी व्यक्ति का नाम, यथा सीता, राधा; दूसरे अव्यवस्थित। यह तीन तरह का है—

(१) जिस का जोड़ीदार पुंलिंग हो, जैसे हस्तनी, तुरगनी,

(२) जिस का जोडीदार लिंग नही, जैसे बयार, अगन,

(३) बिल्कुल अनियमित—कुछ वस्तुओ को पुलिंग और कुछ को स्त्रीलिंग मे रखते है।

स्त्रीप्रत्ययो मे ग्रथकार –'आ',–'ई',–'आनी' और –'नी' का उल्लेख करता है।

यह जानते हुए भी कि नपुंसकलिंग भाषा मे नही होता, सस्कृत मे होता है, ग्रथकार ने उसे अपनी व्याकरण मे क्यो स्थान दिया यह समझ पाना कठिन है।

सर्वनामो मे ग्रंथकार को केवल निश्चयवाचक (वा, ता, या, उन तथा इन) ओर संबधवाचक (जा, जिन) दिखाई पडे। अन्यों का ग्रंथ मे पता नही।

पदवृत्ति (पदबिर्त !) के अध्याय को ग्रथकार ने एक ही वाक्य मे समाप्त कर दिया—"यह जानना चाहिए कि उन के शब्दो मे पदवृत्ति का अर्थ वाक्य है और वाक्य में दो अश रहते है, यथा 'राम आयो'।"

अतिम अध्याय (अव्ययादि) सब से बडा है और उस मे उपसर्ग, प्रत्यय, सबोधन-द्योतक अव्यय, समासवाले शब्दो के द्वितीय शब्द प्रत्यय समझ कर प्रत्यय रूप (यथा—पत, महीपत), कर्तृवाचक प्रत्यय—अय्या आदि, क्रियार्थवाचक, गुणवाचक प्रत्यय, ह्रस्वता द्योतक आदि आदि एक साथ दिए गए है, देखते ही बनते है।

इस ग्रथ को आद्योपांत पढ कर ग्रथकार की अल्पज्ञता का ही अनुभव होता है, उस से कोई लाभ नहीं होता।

पद्रह-सोलह पृष्ठ की एक साधारण व्याकरण को योग्य सपादक ने इतना समय प्रदान किया इस के लिए उन को साधुवाद देना चाहिए। उन का परिश्रम और वैज्ञानिक शैली का अनुसरण सराहनीय है। केवल यह खटकता है कि उस का अनुचित उपयोग किया गया।

पुस्तक की छपाई, जिल्द आदि हृदयग्राही और कला की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण है।

स०

राजस्थानी काव्य

राजस्थान रा दूहा—भाग पहलडो (पिलाणी-राजस्थानी-ग्रंथमाला का द्वितीय पुष्प)। संग्रहकार और संपादक, पं० नरोत्तमदास स्वामी, एम्० ए०। प्रकाशक, नवयुग साहित्य-मंदिर, दिल्ली। पृष्ठ ११८+२४८। १९३५। मूल्य २)

राजस्थानी साहित्य की ओर राजस्थान के बाहर के विद्वानों का ध्यान प्रसिद्ध अन्वेषक टेसीटोरी ने आकर्षित किया था। हर्ष का विषय है कि राजस्थान के विद्वान् अब स्वयं ही इस साहित्य को प्रकाशित करने की ओर कटिबद्ध हुए हैं। राजस्थान कई सौ वर्षों से आर्य संस्कृति का क्रीड़ास्थल रहा है। विदेशियों की उद्दंडता से पीडित विद्वान् कवियों ने और पंडितों ने वहीं के नरेशों के दरबारों में आश्रय पाया था। स्वाभाविक ही है कि हिंदुओं की साहित्यिक धारा वहाँ अविच्छिन्न बहती रही।

पं० नरोत्तमदास स्वामी, बिड़ला कालेज, पिलाणी में अध्यापक है[1] और आप ने वहाँ से पिलाणी-राजस्थानी-ग्रंथमाला निकालने की आयोजना की है। इस ग्रंथमाला की पहली पुस्तक पं० सूर्यकरण जी पारीक द्वारा संपादित 'राजस्थानी वार्ता' है। यह गद्य कहानियों का संग्रह है।

प्रस्तुत ग्रंथ में राजस्थानी भाषा के सहस्रों दोहों में से बारह, सवा बारह सौ दोहों का संग्रह किया गया है। आरंभ में राजस्थानी वर्णमाला दी गई है। हिंदी के प्रचलित स्वरों के अतिरिक्त राजस्थानी में ह्रस्व 'ए', 'ओ', 'ऐ' और 'औ' भी मिलते हैं। इस के अतिरिक्त प्रचलित 'व' के सिवा एक और 'व', तथा 'ळ' और दो अन्य संघर्षात्मक ('फ्रिकेटिव') ध्वनियाँ मिलती हैं। पुस्तक में राजस्थान के वयोवृद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का प्रवचन है। कवियों की नामावली में ६९ नाम आए हैं। पाँच पृष्ठों में संशोधन-पत्र है। एक बृहत्काय (८५ पृ० की) प्रस्तावना से यह संग्रह सुसज्जित है।

प्रस्तावना में संपादक ने राजस्थानी भाषा और साहित्य का दिग्दर्शन कराया है। भाषा के विकास पर प्रकाश डालते हुए संपादक जी ने कई ऐसे कथन किए हैं जिन

---

[1] **इस समय आप डूँगर कालिज बीकानेर में हैं।—सं० हिं०**

के लिए, वे प्रमाण और युक्तियाँ भी उपस्थित कर देते तो पाठकों को उन के विचारों तक पहुँचने में आसानी होती—उदाहरण के लिए—

"आरंभ में प्राय समस्त भारत में एक ही भाषा साधारण प्रांतीय भेदों के साथ बोली जाती थी।" (पृ० ३०)।

भाषा का विकास दिखाते समय 'माता', 'बहिन', 'बेटी' इन शब्दों का प्रयोग कहाँ तक युक्तिसंगत है यह भाषातत्त्ववित् ही बतला सकेंगे। एक ही भाषा समयांतर में अपनी ही पुत्री हो जाती है! राजस्थानी "अपभ्रंश की जेठी बेटी है" (पृ० २९)। "अपभ्रंश का विकास विक्रम की प्रारंभिक शताब्दियों में आरंभ हुआ" (पृ० २९)। यह निष्कर्ष किस आधार पर निकला यह नहीं बताया गया।

राजस्थानी के साहित्य का विवरण और उस की विस्तृत समीक्षा बड़े परिश्रम से लिखी गई है और संपादक के पांडित्य की द्योतक है। दोहों का संग्रह भी अच्छा हुआ है। ग्रंथ बहुमूल्य और उपादेय है।

संपादक जी से निवेदन है कि हिंदी लिखने में वे प्रांतीय ध्वनियों का प्रयोग न करें तो अच्छा हो। पिंगल के स्थान पर पिंगळ और ठाकुर के स्थान पर ठाकर खटकते हैं। राजस्थानी भाषा लिखी जावे तो यह ध्वनियाँ उपयुक्त होंगी पर हिंदी में नहीं। ग्रंथ परिश्रम से तैयार किया गया है। ऐसा सुंदर ग्रंथ उपस्थित करने के लिए नरोत्तमदास जी हिंदी-जगत के धन्यवाद के पात्र हैं।

स०

भाषा-विज्ञान

ल लॉग ब्रज (दिआलेक्त द मथुरा)—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। प्रकाशक, लिब्रैरी अमरीक ए द ओरियाँत, ५ रू द तूर्नों, पारी (६)। १९३५। पृष्ठ ६+१३५

यह निबंध डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने पेरिस यूनिवर्सिटी की डी० लिट्० डिग्री के लिए प्रस्तुत किया था। यह फ्रांसीसी भाषा में है। इस का कारण यह है कि यूरोप के किसी भी देश की कोई भी यूनिवर्सिटी सिवाय अपने देश की भाषा के किसी अन्य भाषा में

अपने यहाँ की डिग्रियों के लिए निबध स्वीकार नही करती। भारतवर्ष ही ऐसा देश है जहाँ विदेशी भाषा में निबध लिखना अनिवार्य है। डाक्टर वर्मा ने फ्रास मे कई मास व्यतीत किए हैं, और फ्रांसीसी भाषा लिखने मे अच्छा अभ्यास प्राप्त किया है। इस का प्रमाण इस पुस्तक की विशुद्ध भाषा को देख कर प्राप्त होता है। इस पुस्तक की प्रस्तावना, भारतीय साहित्य के पडित जूल ब्लाक महोदय ने लिखी है। यही महानुभाव पेरिस यूनिवर्सिटी मे डाक्टर वर्मा के अनुसधान कार्य के निरीक्षक थे।

इस पुस्तक की रचना में डाक्टर वर्मा ने अपने विषय की समस्त प्राप्त सामग्री का उपयोग किया है। वह व्रज प्रदेश के स्वयं निवासी हैं अतएव वह इस भाषा के सबध में अधिकारपूर्ण सम्मति दे सकते हैं। यह सुविधा विदेशी विद्वानों को प्राप्त नहीं हो सकती। डाक्टर वर्मा व्रजभाषा-संबधी खोज का कार्य प्राय १९२१ से कर रहे हैं, अतएव प्रस्तुत निबध पद्रह वर्षो के परिश्रम का परिणाम है।

भूमिका (८२ पृष्ठ) मे योग्य लेखक ने व्रजभाषा की सक्षिप्त परतु समुचित पूर्वपीठिका दी है। इस मे व्रज प्रदेश तथा व्रज के लोगों का वर्णन किया गया है और तदनतर उन्नीसवी सदी से पूर्व की तथा आजकल की ब्रज का समष्टिरूप से वर्णन है। ग्रंथकार व्रज की बोलियो और व्रज के पडोस की अन्य बोलियो मे संबंध का दिग्दर्शन कराते है, और गाँव तथा शहर की बोली का परस्पर भेद दिखाते हैं। लेखक ने इस भाषा के शब्द-भडार की भी विवेचना की है। उन का यह निष्कर्ष कि कन्नौजी व्रज की एक बोली मात्र है ठीक जान पड़ता है। भारतीय भाषातत्वविदो का यह अनुभव है कि आरभ के यूरोपीय लेखकों ने भारतीय भाषाओं के सबध में बहुधा जो अनेक भेद बताए है, उन का वस्तुस्थिति से समर्थन नही होता।

भूमिका के अनतर व्रज की ध्वनियो का (१५ पृष्ठ मे) और शब्दरचना का (६८ पृष्ठ में) वर्णन है। अपने प्रत्येक निष्कर्ष के समर्थन में लेखक ने, जहाँ तक प्राचीन व्रज का संबध है व्रज साहित्य के पाठो से, और जहाँ तक आधुनिक व्रज का सबध है अपनी जाँच से प्रमाण दिए हैं। आधुनिक व्रज के सबध में, व्रजभूमि में कई दौरे लगाने से ही, लेखक को सामग्री प्राप्त हुई है। कही-कही डाक्टर वर्मा ने व्रजभाषा के रूपो की पडोसी भाषाओं के रूपों से तुलना की है, यह अंश तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से विशेष-रूप से रोचक है। वाक्य-विन्यास का प्रकरण केवल दो पृष्ठों का है। व्रजभाषा का वाक्य-

विन्यास अवधी तथा अन्य बोलियो के वाक्य-विन्यास से विशेष भिन्न नही है इस लिए उचित ही था कि इस प्रकरण मे विस्तार की आवश्यकता नही समझी गई।

लेखक कुछ मनोरजक परिणामो पर पहुँचे है। उन का यह विचार है कि स्कूली पुस्तकों द्वारा स्टैंडर्ड हिंदी के प्रचार के कारण और नगरो के सपर्क के कारण ब्रजभाषा मे प्रचुर परिवर्तन हो जायेगे। परतु इस लिए कि जिस समस्त प्रदेश मे हिंदी भाषा बोली जाती है वह बहुत बड़ा है और एकता उत्पन्न करने वाले साधन निर्बल है, ब्रज या किसी अन्य हिंदी की बोली के नितात लुप्त हो जाने की सभावना नही है।

इस पुस्तक मे ब्रजभाषा के विकास की चर्चा की आशा करना अनुचित है क्योकि इस मे केवल ब्रजभाषा के व्याकरण का ही वैज्ञानिक ढग से विवेचन किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक ब्रजभाषा की पहली प्रामाणिक व्याकरण है और एक भारतीय साहित्यज्ञ और भाषाविद् की कृति का श्रेष्ठ उदाहरण है।

हम आशा करते है कि डाक्टर वर्मा ब्रजभाषा का ऐतिहासिक व्याकरण तथा कोष भी तैयार करके हिंदी भाषा का उपकार करेगे। इस मे तो संदेह ही नही कि इस कार्य के लिए उन से अधिक उपयुक्त विद्वान् मिलना कठिन है।

स०

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड्थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरख प्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्जा अबुलफ़ज़्ल। मूल्य १)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०। मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत व्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य ४॥) सजिल्द, ४) बिना जिल्द।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य बिना जिल्द ६), सजिल्द ६॥)

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० मूल्य ॥)

नोबेल पुरस्कार-प्राप्त

प्रसिद्ध नाट्यकार

जॉन गाल्सवर्दी

की

चार अमूल्य रचनाएँ

१—न्याय—'जस्टिस' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २।)

२—हड़ताल—'स्ट्राइक' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २)

३—धोखाधड़ी—'स्किन गेम' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत ललिताप्रसाद शुक्ल, एम्० ए०। मूल्य १।।।)

४—चाँदी की डिबिया—'सिल्वर बॉक्स' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य १।।)

सभी पुस्तकों पर सुंदर सुनहरी कपड़े की मजबूत जिल्दें हैं।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट:

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहले पाँच वर्षों की कुछ फ़ाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं। मूल्य पहले वर्ष का ८)
तथा अन्य वर्षों का ५)

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी (संयुक्त प्रांत)

इलाहाबाद

के

चतुर्थ साहित्य-सम्मेलन

के अवसर पर

महामान्य डाक्टर सर तेज बहादुर सप्रू

के० सी० एस० आई०, एल् एल्० डी०, पी० सी०

का

स्वागत-भाषण

१२ जनवरी, १९३६

मान्यवर सज्जनो,

आज चार वर्षों के बाद इस एकेडेमी को आप के सहयोग का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सब से पहले मेरा कर्तव्य यह है कि मैं आप का स्वागत करूँ, और सम्मेलन में भाग लेने के लिए जो आप ने आने का कष्ट उठाया है उस के लिए आप को धन्यवाद दूँ।

सज्जनो! पिछले चार वर्षों में एकेडेमी को जिन बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, उन में सब से बड़ी कठिनाई, जिस की चोट से हम अब तक सुरक्षित नहीं हैं, वह रुपये की कमी रही है। सरकार ने, जिस की सहायता पर एकेडेमी का अस्तित्व निर्भर है। अपने प्रदान की आधी अर्थात् ५० फ़ी सदी रक़म घटा दी है। यदि यह कठिनाई हमारे सामने न होती तो मैं विचार करता हूँ कि दो-तीन अधिवेशन इस सम्मेलन के अब तक और हो चुके होते। इसी कारण हमारे प्रयत्न और उद्योग की परिधि सीमित हो गई है। फिर भी हम अपने उद्देश्यों की ओर से विमुख नहीं रहे हैं, अर्थात् इन कठिनाइयों के होते हुए भी इन चार वर्षों में रचनाओं तथा प्रकाशन का क्रम बराबर चलता रहा है, और इसी अवसर में एकेडेमी ने हिंदी और उर्दू की दो पत्रिकाएँ भी संचालित की हैं, जो मौलवी असग़र हुसेन साहब 'असग़र'

तथा श्रीयुत रामचंद्र टंडन के संपादकत्व मे प्रति तीन मास पर प्रकाशित होती हैं। इन में देश के प्रमुख साहित्यिकों के लेख निकलते रहे हैं, और इन लेखा की चर्चा तथा इन के हवाले अन्य पुस्तकों और पत्रिकाओं में भी पाए जाते है, जिस से अनुमान होता है कि ये पत्रिकाएँ ऊँची कोटि की हैं और इन्हें साहित्य-जगत मे विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है।

इस एकेडेमी की दूसरी एकेडेमियों से तुलना करना इस समय न्यायोचित न होगा। फ्रांस में जो एकेडेमी है वह राजकीय आज्ञा से १६३५ ई० में स्थापित की गई थी। आरंभ मे उस के केवल चालीस सदस्य थे। सन् १७९५ ई० मे, जब कि फ्रांस में राज्यक्रांति हो रही थी नेपोलियन ने इस का पुनः संगठन किया और इस के बाद भी इस मे परिवर्तन होते रहे। मैथ्यू आर्नल्ड ने इस एकेडेमी के विषय मे यह लिखा है कि, "यह साहित्य का सर्वोच्च न्यायालय और सच्ची साहित्यिक रुचि का केंद्र है।" एक फ्रांसीसी साहित्यिक ने इन साहित्य-प्रेमियों के विषय मे लिखा है कि, "यह न कहो कि इन के जीवन व्यर्थ गए। यद्यपि उन के नाम प्रतिक्षण लोगों के सामने नहीं है, परन्तु उन की कृतियाँ हमारे समस्त जीवन पर छाई हुई हैं। अर्थात उन्हीं के कारण फ्रांसीसी भाषा की वृद्धि तथा परिशुद्धि हुई है।"

पिछली जून मे मैं पेरिस में था, उस समय इस एकेडेमी की तीसरी शताब्दी का समारोह हो रहा था। मैं भी इस अधिवेशन में उपस्थित था। इसी अधिवेशन के संबंध मे इस के विशाल और विस्तृत भवन मे प्रदर्शिनी भी हुई थी, जिस के देखने के लिए एक सप्ताह भी पर्याप्त नहीं हो सकता था। इस एकेडेमी के पुस्तकालय और प्रदर्शिनी के देखने के लिए एक दिन में एक लाख से अधिक दर्शकों ने टिकट खरीदे थे। फ्रांस के एक-एक स्त्री-पुरुष को एकेडेमी के अस्तित्व पर गर्व था। उस एकेडेमी का आधार केवल सरकार की सहायता पर नहीं, वरन् संपूर्ण जाति के उत्साह और उदारता पर है। इसी प्रकार मैं अन्य एकेडेमियों की चर्चा कर सकता था, परन्तु इस मे अधिक समय लग जाने के भय से ऐसा नहीं करता हूँ।

हमारी एकेडेमी को स्थापित हुए आठ वर्ष हुए। जिन एकेडेमियों को स्थापित हुए तीन-तीन सौ वर्ष हो गए उन से इस आठ वर्ष के बच्चे की तुलना करना स्पष्ट रूप से अनुचित और व्यर्थ है। परंतु जब हमारी जाति में, विशेष कर इस समय, यह भावना नित्य बढ़ती जाती है कि किसी जाति की शिक्षा का अन्य भाषा में होना दुःसाध्य है, और सच्ची शिक्षा के प्रचार के लिए वास्तव में अपनी ही भाषा उपयुक्त हो सकती है, ऐसी स्थिति में यह आशा करना अनुचित न होगा कि हमारे धनी देशवासी इस एकेडेमी को भी अपनी उदारता से सहायता पहुँचावेंगे। मेरे विचार में इस एकेडेमी की नींव उस समय तक दृढ़ नहीं हो सकती जब तक इस के पास पर्याप्त धन न हो जावे और इस के कार्य के तथा पुस्तकालय के लिए एक स्थायी भवन न बन जावे। मैं आशा करता हूँ कि आप महोदय हमारे इस प्रयत्न में पूरी सहायता करेंगे।

मेरा निजी विश्वास यह है कि यदि हिंदुस्तान में जातीय एकता की नींव कोई हो सकती है तो वह सम्मिलित साहित्य या भाषा ही है। हम में यदि एक-दूसरे के साहित्य व कविता और इतिहास तथा दर्शन के लिए आदर उत्पन्न हो जावे या दूसरे शब्दों में यदि हम एक-दूसरे को समझने लगें तो बहुत कुछ मिथ्या भेद और विरोध, जो इस समय हमारे लिए लज्जाजनक है, दूर हो सकता है, और इस प्रकार एक सम्मिलित हिंदुस्तान, का स्वप्न स्पष्ट रूप से फलित हो सकता है। इस एकेडेमी का यह कर्तव्य है कि वह इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करे और हमारे देशवासी, यदि इस उद्देश्य को वह शुभ समझते हैं, तो इस में उस की सहायता करें।

इस संबंध में आप के सामने कतिपय प्रस्ताव उपस्थित किए जावेंगे। मैं उन के विषय में इस समय कुछ नहीं निवेदन कर सकता। इस संस्था के संचालक आप के परामर्शों से लाभ उठाने के लिए तत्पर हैं और सब से मुख्य उद्देश्य और तात्पर्य इस सम्मेलन का यही है।

अंत में मैं एकेडेमी को इस बात पर बधाई देता हूँ कि उस ने इस

सम्मेलन का सभापति मेरे प्रिय मित्र श्रीयुत सच्चिदानंद सिनहा को निर्वाचित किया है सिनहा महोदय ने केवल कानूनी या राजनैतिक विषयों में ही ख्याति प्राप्त नहीं की है, वरन साहित्य के जगत में भी आप एक उच्च आसन रखते हैं। आपने शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में भी बड़ी सेवाएँ की हैं, और पटने में एक विशाल पुस्तकालय जिस में अमूल्य ग्रंथ हैं आप ने जनता को भेंट किया है।

सभापतित्व स्वीकार करने के लिए मैं एकेडेमी की ओर से आप को भी धन्यवाद देता हूँ, और आशा करता हूँ कि यह अधिवेशन आप के सभापतित्व में पूर्ण सफलता प्राप्त करेगा।

मुद्रक—ओङ्कारप्रसाद् गौड, कायस्थ पाठशाला प्रेस, प्रयाग

हिंदुस्तानी एकेडेमी (संयुक्त प्रांत)

इलाहाबाद

के

चतुर्थ साहित्य-सम्मेलन

के सभापति

श्रीयुत सच्चिदानंद सिनहा

बार-एट्-लॉ, पटना

का

अभिभाषण

१२ जनवरी, १९३६

हिंदुस्तानी एकेडेमी के सदस्यगण, महिलाओं तथा सज्जनो !

हिंदुस्तानी एकेडेमी के सम्मेलन का सभापति चुनकर आप लोगों ने मुझे जो सम्मान दिया है, उस के लिए मैं आप का अत्यंत आभारी हूँ। सच बात तो यह है कि सभापति के पद के लिए मेरा चुनाव केवल एक कारण से उचित हो सकता है, वह यह कि मैं उन लोगों में से हूँ, जिन्हें इस बात का दृढ़ विश्वास है कि समय पाकर हिंदुस्तानी भाषा, इस महान देश की राष्ट्रभाषा होने की क्षमता रखती है, और इस के लिए वह साधारणतः हिंदी और उर्दू के नामों से प्रसिद्ध भाषा के कृत्रिम रूपों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। इस के अतिरिक्त हिंदुस्तानी भाषा में समान रूप से शास्त्रीय और जनता के व्यवहार के योग्य साहित्य प्रस्तुत करने की भी क्षमता है। इस विषय पर आगे चलकर मैं कुछ अधिक कहूँगा। यहाँ पर इस बात के कहने की भी अनुमति चाहूँगा कि मुझे सभापति चुन कर आप ने मेरी जन्म-भूमि बिहार को आगे आनेवाले हिंदुस्तान के भाषा-संबंधी संघ में स्थान प्रदान किया है और इस के लिए मैं आप को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। मेरी विनम्र सम्मति में, हिंदुस्तान में, भाषाओं के बीच में मेल का स्थापित होना और हिंदुस्तानी भाषा का देशभाषा स्वीकार किया जाना उतना ही आवश्यक है जितना कि शासन-संबंधी एकता का स्थापित होना है, जिस का कि नए सुधारों के साथ आयोजन हो रहा है।

हिंदुस्तानी एकेडेमी, जिस के तत्वावधान में हम लोग आज एकत्र हुए हैं, लगभग आठ वर्ष हुए, संयुक्त प्रांत की सरकार के, २२ जनवरी १९२७, के एक

प्रस्ताव के फल-स्वरूप स्थापित हुई, और इस संस्था का नियमित उद्घाटन, उसी वर्ष २४ मार्च को, लखनऊ में तत्कालीन प्रांतीय गवर्नर हिज़ एक्सिलेंसी सर विलियम मैरिस के हाथों से हुआ। यह स्मरण करके मुझे बहुत हर्ष होता है कि एकेडेमी की संस्थापना मेरे सम्मानित मित्र, प्रांत के तत्कालीन शिक्षा सचिव माननीय राय राजेश्वर बली के उत्तरी हिंदुस्तान की प्रमुख भाषाओं और साहित्यों के प्रति प्रेम का परिणाम है। एकेडेमी का कार्यारंभ प्रांतीय सरकार के ५०,०००) वार्षिक प्रदान से हुआ था, परंतु आर्थिक संकट के कारण, हमें खेद है कि यह प्रदान बहुत कुछ घटाना पड़ा। मुझे पूरी आशा है कि स्थिति के सुधरने पर शिक्षा-सचिव के लिए यह संभव होगा कि पुनः इस प्रदान की रक़म को बढ़ाकर पहले जितनी कर दे। मुझे विश्वास है कि इस प्रदान को घटाने का प्रांतीय सरकार को उतना ही खेद होगा जितना कि एकेडेमी के सदस्यों को है।

जहाँ तक मुझे मालूम है ब्रिटिश हिंदुस्तान के किसी प्रांत में हिंदुस्तानी एकेडेमी से मिलती-जुलती कोई दूसरी संस्था नहीं है। यह देखते हुए कि उक्त संस्था की स्थापना प्रांतीय व्यवस्थापिका सभा के मत के अनुसार की गई थी, बिहार तथा उड़ीसा प्रांत में भी कुछ समय के अनंतर इसी प्रकार का प्रयत्न किया गया। उद्देश्य यह था कि सरकार दो साहित्यिक संस्थाएँ, एक पटना और दूसरी कटक में स्थापित करे। प्रांतीय सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लिया। इस संबंध में शिक्षा-सचिव (स्वर्गीय सर मुहम्मद फ़ख़रुद्दीन) ने स्वर्गीय सर सैयद अली इमाम के सभापतित्व में प्रतिनिधि सदस्यों की एक समिति बनाई थी, जिस का उद्देश्य था कि बिहार तथा उड़ीसा में ऐसी साहित्यिक संस्थाओं के स्थापित होने के विषय में योजना प्रस्तुत करे। इस एकेडेमी के कई सदस्य बिहार और उड़ीसा की इस समिति में रक्खे गए और अंततः सर अली इमाम ने एक योजना प्रस्तुत की जो मेरी राय में उचित और कार्यरूप में परिणत की जाने के योग्य थी। परंतु उस समय तक बिहार और उड़ीसा की सरकार आर्थिक कठिनाई में पड़ गई थी। इस लिए यह योजना स्थगित कर दी गई और अब तक यह प्रस्ताव न तो वहाँ के शिक्षा-सचिव ने ही फिर आगे बढ़ाया है और न कौंसिल के अन्य सदस्यों ने। मुझे इस बात का बहुत खेद है, और मैं आशा करता हूँ कि बहुत शीघ्र बिहार में भी एक हिंदुस्तानी एकेडेमी स्थापित हो जायगी। निकट भविष्य में उड़ीसा का शासन पृथक् हो जाने के कारण कदाचित् बिहार सरकार का शासन-भार कम हो जाय और वह पटना में एक ऐसी हिंदुस्तानी एकेडेमी स्थापित कर सके जैसी कि इस प्रांत में इलाहाबाद में उपस्थित है।

यह संस्था लगभग आठ वर्ष से स्थापित है और मेरी राय में इस ने उन उद्देश्यों

की पूर्ति के लिए जिन के लिए, यह स्थापित हुई है, बहुत अच्छा कार्य किया है। इस की सेवाओं का परिचय इस की वार्षिक रिपोर्टों में मिलेगा। परंतु मैं इस के जेनरल सेक्रेटरी डाक्टर ताराचंद को यह परामर्श दूँगा कि वह यदि इस संस्था की आठ वर्ष की संपूर्ण कृतियों की एक संक्षिप्त रिपोर्ट एक साथ प्रकाशित कर दें तो बहुत ही उपयुक्त हो। जहाँ तक मैं वार्षिक रिपोर्टों को पढ़ कर जान सका हूँ एकेडेमी ने अब तक २७ ग्रंथ हिंदी और १४ उर्दू में प्रकाशित किए हैं, जिन में मौलिक पुस्तकों के अतिरिक्त अनुवादित ग्रंथ भी हैं। इन में अनेक मौलिक ग्रंथ प्रशंसनीय और बहुत उच्च कोटि के हैं और अनुवाद भी बहुत उपयोगी हुए हैं।

इन पुस्तकों के प्रकाशन के अतिरिक्त एकेडेमी ने अपनी स्थापना की तिथि से सन् १९३३ तक प्रसिद्ध विद्वानों की ६ हिंदी में और ६ उर्दू में व्याख्यानमालाओं का भी प्रबंध किया है। यह व्याख्यान—जिन में कुछ तो मौलिक रूप में और कुछ उर्दू से हिंदी, अथवा हिंदी से उर्दू के अनुवाद के रूप में प्रकाशित भी हो चुके हैं—एकेडेमी की एक प्रमुख कृति हैं। लेकिन मुझे यह जान कर बहुत खेद होता है कि सन् १९३४ से वह बंद कर दिए गए हैं और संभवतः इस का कारण सरकारी सहायता में बहुत बड़ी कमी का हो जाना है।

हमारे कार्यक्रम का एक दूसरा अंग, प्रसिद्ध लेखकों और यूनिवर्सिटियों के योग्य विद्यार्थियों की श्रेष्ठ पुस्तकों और रचनाओं पर पुरस्कार देना रहा है। इस कार्य में भी, हमारा उद्योग, समस्त हिंदुस्तान की एकमात्र साहित्यिक संस्था होने के नाते, हमारे अनुरूप ही हुआ है। क्योंकि हमारे यहाँ से ८०००) श्रेष्ठ रचनाओं के उपलक्ष में, हिंदी तथा उर्दू लेखकों को भेंट किए गए हैं और ८००) पुरस्कार-रूप में यूनिवर्सिटियों के विद्यार्थियों को, उन्हें प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से प्रदान किए गए हैं। मुझे इस बात में किंचित् संदेह नहीं कि लगभग ९०००) के पुरस्कार प्रदान करके एकेडेमी ने उत्तरी हिंदुस्तान की भाषाओं की उन्नति में मूल्यवान सहायता पहुँचाई है।

"हिंदुस्तानी" नाम की जो हिंदी तथा उर्दू में एकेडेमी की तिमाही पत्रिकाएँ हैं, गंभीर और ज्ञान की वृद्धि करनेवाले लेखों द्वारा विद्वत्ता का एक उच्च आदर्श प्रस्तुत करती रही हैं। इन ठोस और प्रकट सेवाओं के अतिरिक्त हिंदुस्तानी एकेडेमी ने और भी ऐसे प्रभाव डाले हैं जिन की इस प्रकार चर्चा नहीं की जा सकती और जिन्हें समय ही सिद्ध करेगा। हिंदुस्तानी बोलनेवालों के लिए वैज्ञानिक और साहित्यिक ग्रंथों को प्रकाशित करके इस ने जनता पर जो प्रभाव डाला है उस के उपयोगी परिणाम आगे चल कर प्रकट होंगे। हिंदी और उर्दू के लेखकों को एक ही संगठन के अंतर्गत लाकर, और भाषाओं को सरल रूप देने का प्रयत्न करके इस ने न केवल

साहित्यिक भेद-भाव वरन् सामाजिक भेद-भाव को कम करने का प्रयत्न किया है। अंत में अपनी समितियों द्वारा जो साहित्यिक प्रश्न पर परामर्श देती हैं तथा पुरस्कारों के विषय में निर्णय करती हैं, इस ने हमारी भाषाओं के आदर्श को ऊँचा किया है।

मैं ने एकेडेमी की स्थापना से लेकर इस की कृतियों की चर्चा करनी जो उचित समझी है वह इस लिए कि मैंने देखा है कि इन प्रांतों में भी उस के कार्यक्रम के विषय में लोगों में बहुत कुछ अनभिज्ञता है। और यह देखते हुए कि इस प्रकार के सम्मेलन का यह भी उद्देश्य है कि लोकमत शिक्षित किया जाय, मैंने संक्षेप में एकेडेमी के कार्यों का सिंहावलोकन किया है, जिस से कि जनता और प्रांतीय सरकार भी, एकेडेमी की आठ वर्ष की कृतियों के महत्व को स्पष्टतः समझ सके। अब तक यह संस्था सरकार द्वारा प्राप्त सहायता तथा अपने प्रकाशनों की न्यून आय पर मुख्यतः निर्भर रही है। परतु अब समय आगया है जब इसे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जनता से भी सहायता के लिए अनुरोध करना चाहिए। यदि इस विषय में अपील की जाय तो मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि हिंदी और उर्दू साहित्य के अनेक प्रेमी हमें उदारतापूर्वक सहायता देंगे। जो कुछ भी हो, यह प्रयोग कर देखने योग्य है।

इस संबंध में, मैं यह भी कहने की अनुमति चाहूँगा, कि मुझे यह बात आवश्यक जान पड़ती है कि एकेडेमी की ओर से प्रतिवर्ष एक सम्मेलन की आयोजना की जाय, और उचित यह होगा कि इस के अधिवेशन इस प्रांत के भिन्न-भिन्न नगरों में हों, वरन् यदि संभव हो तो हिंदुस्तानी भाषा-भाषी प्रांतों में, इस प्रांत की सीमा के बाहर भी इस के अधिवेशन हों, जिन में कि विद्वान लोग और उत्तरी हिंदुस्तान की भाषाओं में दिलचस्पी लेनेवाले सज्जन एकत्र होकर आपस में एकेडेमी के उद्देश्यों और कार्य से संबंध रखनेवाले विविध विषयों पर विचार-विनिमय करें। मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई है कि बंबई से प्रकाशित 'हंस' के नए संस्करण के दिसंबर के अंक में इस परामर्श का संपादकीय रूप से समर्थन हुआ है। यदि मुझे ठीक स्मरण है तो हिंदुस्तानी एकेडेमी का पिछला सम्मेलन सन् १९३२ में हुआ था, जिसे लगभग चार वर्ष होने को आते हैं। बीच का अवकाश निस्संदेह बहुत बड़ा अवकाश है। मेरी सम्मति में हमें यह नियम बना लेना चाहिए कि सम्मेलन प्रति वर्ष हो। संभवतः हमारी कार्यकारिणी समिति अब तक अपने आर्थिक संकट के कारण सम्मेलन का कोई अधिवेशन न कर सकी। यदि ऐसी बात है, तो इस की ओर भी अधिक आवश्यकता हो जाती है कि हम सरकार और जनता के सामने अपनी माँग रक्खें, जिस में भविष्य में हम उदार सहायकों की सहायता से अपने उद्देश्य की पूर्ति में और भी कुशलतापूर्वक लग सकें।

यहाँ तक मैं ने मुख्यतः इस संस्था के अब तक किए गए कार्यों का निरूपण किया है। मैंने यह भी बताया है कि किस तरह हम अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकते हैं, जिस में कि भविष्य में हम अपना कार्य विशेष संतोषजनक रीति से कर सकें। परतु मैं अनुभव करता हूँ कि आप लोगों के प्रति मेरा जो कर्त्तव्य है उस की पूर्ति तब तक न होगी जब तक मैं अपने विचार उन प्रश्नों पर स्पष्ट न करूं जो कि हमारे कार्य के मूल में हैं। माननीय राय राजेश्वर बली ने सर विलियम मैरिस को हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्घाटन करने का निमंत्रण देते समय कहा था कि "एकेडेमी भाषा का इस प्रकार विकास करेगी, जिस में वह सर्वसाधारण द्वारा ग्राह्य हो, और केवल विद्वानों की वस्तु न रहे।" यह एक ऐसा आदर्श है, जिस से मैं स्वयं पूर्णरूप से सहमत हूं। सर विलियम मैरिस ने शिक्षा-सचिव के उपर्युक्त कथन के उत्तर में कहा था—"प्रत्येक हिंदी लेखक का यह आदर्श होगा कि वह मानो मुसलमान पाठकों तक पहुँचने की इच्छा रखता है, इसी प्रकार प्रत्येक मुसलमान लेखक का आदर्श हिंदी पाठकों तक पहुँचना होगा। उदाहरण के लिए यदि उर्दू लेखक प्रचलित साहित्य में अत्यंत कृत्रिम अरबी शब्दावली का उपयोग करें या हिंदी लेखक अपनी शब्दावली को संस्कृत गर्भित बनावे, तो दोनों ही दोहरा अपराध करेंगे। प्रथम तो वह अपने पाठकों को जानबूझ कर समाज के आधे लोगों से अलग ले जावेंगे। यह निस्सदेह एक सामाजिक अपराध है साहित्यिक नहीं। परंतु ऐसा करने में वह अपनी पुस्तकों को साधारण जनता की समझ से बाहर की वस्तु भी बनावेंगे, और यह एकेडेमी के उद्देश्यों के विरुद्ध अपराध होगा और मुझे विश्वास है कि एकेडेमी के प्रबंधकर्त्ता इसे रोकने का पूरा प्रयत्न करेंगे।"

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश्यों के संबंध में ऊपर के शब्द स्वयं बहुत स्पष्ट थे, लेकिन १९३१ के सम्मेलन में, माननीय सर शाह मुहम्मद सुलैमान ने सभापति के पद से दिए हुए अपने भाषण में उन्हें इस प्रकार और भी स्पष्ट किया है—"एकेडेमी की निश्चित नीति एक समान भाषा ('कामन लैंग्वेज') का विकास करना है, जिस में कि प्रचलित शब्द ग्रहण कर लिए जावें और जिस से अप्रचलित तथा कठिन शब्द निकाल दिए जावें, यह शब्द चाहे संस्कृत से आए हों चाहे अरबी या फ़ारसी से लिए गए हों। इस का उद्देश्य है कि पूर्वीय साहित्य के अप्रचलित शब्दों को निकाल कर उन के स्थान पर ऐसे शब्द प्रचलित करे जो कि जनसाधारण की समझ में सरलता से आने वाले हों। मुझे विश्वास है कि हिंदुस्तानी एकेडेमी धीरे-धीरे विभिन्न प्रांतीय बोलियों में समानता ले आवेगी। समान भाषा के आदर्श की पूर्ति की ओर निश्चित रूप से उन्नति हो रही है, यद्यपि बहुत समय तक दो भिन्न लिपियाँ बनाए रखना पड़ेगा।"

एकेडेमी के संस्थापकों, अर्थात् शिक्षा-सचिव और गवर्नर की, तथा आधुनिक

चीफ़ जस्टिस—जो हमारे पहले सम्मेलन के सभापति थे—उन की उपर्युक्त अधिकार-पूर्ण विज्ञप्तियों को दृष्टि में रखते हुए, मैं इस बात पर तनिक विचार करना चाहता हूँ कि इस संस्था का मुख्य उद्देश्य जैसा कि इस के संस्थापकों तथा प्रमुख समर्थकों ने बताया है, कहाँ तक पूरा हो सका है, और कुछ परामर्श भी देना चाहता हूँ जिसे, यदि आप पसंद कर लें तो आप की कार्यकारिणी समिति, एकेडेमी के कार्य को अग्रसर करने या उसे फिर से नया रूप देने के लिए ग्रहण कर सकती है। जहाँ तक भाषा को सरल बनाने का और एक समान भाषा के विकास का प्रश्न है, मेरी समझ में यह एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है, न केवल शिक्षा के ऊँचे विभागों में देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा में विकास करने की दृष्टि से, वरन् जन-साधारण में राजनैतिक शिक्षा के प्रचार की दृष्टि से भी। परंतु मुझे विवश होकर स्पष्ट शब्दों में कहना पड़ता है कि एकेडेमी ने अभी इस विषय पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। इस से पूर्व सन् १९३१ के सम्मेलन में सभापति महोदय सर शाह मुहम्मद सुलैमान द्वारा निमंत्रित किए जाने पर मैंने प्रश्न के इस पक्ष की ओर लोगों का ध्यान दिलाया था, और मुझे यह जानकर संतोष हुआ था कि एकेडेमी ने एक प्रतिनिधि समिति इस विषय पर विचार करने के लिए नियुक्त की थी, और इस लिए भी कि वह उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपाय करे जिसे कि तत्कालीन शिक्षासचिव और गवर्नर की विज्ञप्तियों को दृष्टि में रखते हुए मैं इस संस्था का मुख्य उद्देश्य समझता हूँ। दुर्भाग्यवश ऐसा जान पड़ता है कि नियुक्त समिति इस कार्य की पूर्ति के लिए कोई व्यावहारिक कार्य न कर सकी। यह कम खेद की बात न थी, परंतु मुझे यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि सम्मेलन के एक प्रमुख सदस्य ने उपर्युक्त विज्ञप्तियों के होते हुए भी समाचार पत्रों में यह मत प्रकट किया कि संस्थापकों और समर्थकों द्वारा प्रकट किया गया उद्देश्य एकेडेमी का वास्तविक उद्देश्य नहीं है और ऐसी समान भाषा के विकास का उद्योग करना जो सारे उत्तरी हिंदुस्तान में समझी जा सके व्यर्थ है।

मुझे खेद है कि मैं इस मत को ठीक अथवा आधार संगत नहीं स्वीकार कर सकता। अनुभव यह बताता है कि किसी समान भाषा के अभाव में उत्तरी हिंदुस्तान के प्रांतों में, देशी भाषाओं के माध्यम से, उस प्रकार उच्च शिक्षा प्रदान करना प्रायः असंभव है जिस प्रकार कि सफलता पूर्वक कुछ अन्य प्रांतों में, विशेषतः बंगाल में हो रहा है। बंगाल में मैट्रिकुलेशन कक्षा तक सभी विषयों में बंगाली के माध्यम से शिक्षा देने का प्रबंध पूर्ण हो चुका है। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि समस्त बंगाल में बंगाली भाषा समान और व्यापक रूप से बोली और लिखी जानेवाली भाषा है और इस में जाति या धर्मभेद नहीं आ पाया है। वास्तव में यह एक ऐसी बात है जिस में बंगालियों को अन्य उत्तरी हिंदुस्तान के प्रांतों के निवासियों की अपेक्षा

विशेष सुविधा प्राप्त है, क्योंकि अन्य प्रांतों में हिंदुस्तानी के हिंदी रूप को उर्दू रूप पर और उर्दू रूप को हिंदी रूप पर विशेषता देने के विषय में संघर्ष हो रहा है। जिस समय सर हार्कोर्ट बटलर शिक्षा-सचिव थे इस प्रांत में भी प्राइमरी स्कूलों में प्रारंभिक शिक्षा देने के लिए एक समान भाषा के उपयोग करने का प्रयत्न किया गया था। लेकिन जहाँ तक मैं जानता हूं, इस में पर्याप्त सफलता नहीं हुई, क्योंकि ऐसी कोई समान भाषा नहीं है जो पढ़ने या आशय प्रकट करने के उपयोग में आ सके—यद्यपि, मुझे मालूम हुआ है कि देशी भाषाएँ मैट्रिकुलेशन तक शिक्षा की माध्यम हैं और परीक्षा की भी वैकल्पिक माध्यम हैं। इस परिपाटी की सफलता-असफलता पर निश्चित रूप से मत देना समय से पूर्व है। इस परिपाटी के प्रचार के कारण दोहरे शिक्षकों का रक्खा जाना आवश्यक होगा, और यह बात शिक्षा के ख़र्चे को बहुत बढ़ा देगी, नहीं तो शिक्षा त्रुटिपूर्ण होगी, क्योंकि यदि शिक्षक दोनों भाषाओं पर पूरा अधिकार नहीं रखता तो वह अपनी मिश्रित कक्षा में एक वर्ग के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति समुचित रूप से न कर सकेगा, और मान लिया जाय कि उसे दोनों भाषाओं में योग्यता प्राप्त है—जो असाधारण बात होगी—तो भी उसे अपनी बातों को दुहराना बहुत पड़ेगा, जिस के कारण विद्यार्थियों की उन्नति बहुत धीमी होगी।

अब मैं देखता हूँ कि इसी प्रकार का उद्योग बिहार प्रांत में भी किया जा रहा है। वहाँ के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मिस्टर सी० ई० फ़ाकस, सन् १९२४-२५ की अपनी रिपोर्ट में लिखते हैं—"हिंदुओं और मुसल्मानों के सम्मिलित स्कूलों को लक्ष्य में रखना वांछनीय होगा और भविष्य में टेक्स्ट बुक कमेटी, बिना विशेष आज्ञा प्राप्त किए हुए, लोअर प्राइमरी कक्षाओं के लिए कोई भी पुस्तक और अपर प्राइमरी कक्षाओं के लिए साहित्य के विषय को छोड़ कर किसी भी विषय की पुस्तक ऐसी न चुनेगी, जो जहाँ तक संभव हो केवल नागरी और उर्दू लिपि-भेद से एक ही पुस्तक न हो।" रिपोर्ट में यह भी लिखा है कि—"शिक्षकों को भी यह आदेश मिला है कि जब हिंदू और मुसल्मान लड़कों को साथ पढ़ावें तो ऐसी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनावें जो दोनों की समझ में आवे। मैं आशा करता हूँ कि इन उपायों से प्राइमरी स्कूलों के मुसल्मान विद्यार्थियों को वास्तविक लाभ होगा।"

मेरी सम्मति में इस उद्देश्य की पूर्ति नितांत वांछित होगी, और मैं मिस्टर फ़ाकस के प्रशंसनीय उद्योग के लिए पूरी सफलता चाहता हूँ। परंतु इस प्रकार के अन्य प्रयत्नों के जो हमें कटु अनुभव हुए हैं, उन से मुझे भय है कि बिहार में यह प्रयोग अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक सफल न होगा। सच बात तो यह है कि यह हिंदी-उर्दू का विवाद बहुत समय से हिंदू-मुस्लिम वर्गीय झगड़े का एक अंग बन गया है। आप निस्संदेह यह जानते होंगे कि आजकल विशेष कर पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत की

जनता का, और साधारणतया सारे देश की जनता का मन, उस प्रांत में हिंदी और गुरुमुखी की शिक्षा का, प्राइमरी कक्षाओं से आगे शिक्षा-सचिव द्वारा वर्जित किए जाने पर बहुत उत्तेजित है। आप को इस बात का भय न होना चाहिए कि मैं किंचिन्मात्र भी आप को इस विवाद में डालना चाहता हूँ। परंतु लाहौर के एक दैनिक पत्र में इस विषय पर एक लेख जो स्पष्टतः सर्कुलर के समर्थक द्वारा लिखा गया है, पढ़ते हुए मैंने एक पैराग्राफ़ देखा जिस का शीर्षक था "एक हिंदू विद्वान का अंगीकार।"

वह पैराग्राफ़ इस प्रकार है—"एक हिंदू लेखक डाक्टर ताराचंद को हिंदुस्तान के इतिहास की एक पाठ्य-पुस्तक में भाषाओं का एक नक़्शा देख कर मुझे कुतूहल हुआ। उन्हों ने हिंदुस्तान को तीन भाषा-प्रदेशों में बाँटा है और जो प्रदेश उन्हों ने हिंदी के लिए अंकित किया है वह संयुक्त प्रांत का केवल एक भाग है। मुझे इस में संदेह नहीं कि यह हिंदी भी यथार्थ में उर्दू की एक उप-भाषा है, जिस प्रकार कि इस भाषा की अन्य प्रदेशी बोलियाँ हैं। एक प्रमुख हिंदू विद्वान का यह मत ऐसा है जिस में उन लोगों को विचार की सामग्री मिलेगी जो कि हिंदी को हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा समझते हैं।" डाक्टर ताराचंद न केवल विद्वान हैं वरन् हमारी एकेडेमी के सेक्रेटरी भी हैं, इस लिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि लेखक द्वारा बताए गए इस नक़्शे को देखूं। जब मैंने उस वैज्ञानिक ढंग से बने हुए नक़्शे को देखा और उस में उर्दू बोलनेवाले प्रदेश का कहीं नाम न पाया—जैसा मैं आशा करता था—तो मुझे जो आश्चर्य हुआ उस का आप अनुमान कर सकते हैं। उर्दू का नाम न होने का कारण, जैसा कि प्रत्येक विद्वान जानता है, यह है कि उर्दू पश्चिमी हिंदी की एक उप-भाषा मात्र है, स्वतंत्र भाषा नहीं है। फिर भी लेखक ने डाक्टर ताराचंद का प्रमाण अपने एक अवैज्ञानिक बयान के समर्थन में देने का साहस किया है। और उन की पुस्तक में दिए गए नक़्शे से यह परिणाम निकाला है कि "हिंदी यथार्थ में उर्दू की एक उप-भाषा है।" सौभाग्यवश हम लोग इस सम्मेलन में इन प्रश्नों पर ठंडे जी से विचार कर सकते हैं और राजनीति या पक्षपात को दूर रख सकते हैं।

इस हाल की घटना को मैं ने केवल उदाहरण-स्वरूप लिया है, वह भी यह दिखलाने के लिए कि हवा किस ओर बह रही है। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि जिसे साधारण रीति से हम हिंदी-उर्दू-विवाद कहते हैं, उस पर हिंदुस्तानी के दो रूपों को पृथक् रखने का और मिल कर एक हो जाने से रोकने का उत्तरदायित्व है, और हिंदुस्तानी का सम्मिलित रूप ही एक ऐसा रूप है, जिस में कि समय पा कर समस्त देश की भाषा बनने की क्षमता है। वास्तविक बात तो यह है कि आपस के कार्यों के लिए एक समान भाषा का विकास करना तब तक असंभव है जब तक

यह दो रूप दो विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं, और प्रत्येक नाम के साथ जनता के मन में कुछ अवैज्ञानिक तथा राजनैतिक विचार लगे हुए हैं।

हिंदी के संबंध में यह अवैज्ञानिक धारणा फैली हुई जान पड़ती है कि कोई भी लिखित या बोली जानेवाली भाषा तब तक 'हिंदी' नहीं कहला सकती जब तक कि उस में से केवल सारे विदेशी शब्द ही न अलग कर दिए जायँ (चाहे वे जितने भी दीर्घकाल से हिंदी भाषा-भाषी लोगों की बोली में और घरेलू शब्द-भंडार में घुल-मिल चुके हों) वरन् जब तक बहुत से साधारण हिंदी शब्द भी न निकाल दिए जायें, जो कि साधारण बोल-चाल में सदा व्यवहृत होते हैं और व्यवसायिक पत्र-व्यवहार तथा और प्रकार की लिखा-पढ़ी में भी आते रहते हैं। इसी प्रकार उर्दू के संबंध में अवैज्ञानिक धारणा यह है कि इस भाषा में अच्छी शैली में लिखने और बोलने के लिए यह ज़रूरी है कि इस देश के शब्दों का व्यवहार जितना कम हो सके किया जाय—इतना कम कि जिस के बिना उर्दू का एक वाक्य भी लिखना असंभव हो जाय—और इस के सिवा शेष प्रायः सभी शब्द अरबी और फ़ारसी भाषाओं से लिए जावें।

इस विषय पर मैं यथेष्ट संकोच के साथ ही अपने विचार प्रगट करना चाहता हूँ। भाषा के ये दोनों रूप किस प्रकार आज लिखे जा रहे हैं, उस के संबंध में अपनी धारणा स्थिर करने में यदि मैंने भूल की है तो उस के संशोधन किए जाने पर मुझ से अधिक सुखी कोई न होगा।

पर मेरी धारणा नितांत ही भ्रांत है इस में मुझे पर्याप्त संदेह है। अभी पिछले अक्तूबर में मैं और राइट आनरेबल सर तेजबहादुर सप्रू दोनों ही लाहौर में थे। आपने रेलवे बुकस्टाल पर से कुछ उर्दू रिसाले साथ ले लिए थे। उन का कहना था कि उन सभों के लेखकों ने कुछ इस तरह की उर्दू लिखी है कि जिस से वह भी परिचित नहीं थे, यद्यपि आजन्म उन्होंने उर्दू पढ़ी और बोली है। उन्होंने यह भी कहा कि मामूली से मामूली हिंदुस्तानी शब्दों के लिए भी लिखनेवालों ने भद्दे अरबी और फ़ारसी के शब्दों से काम लिया है। उक्त महोदय (जो कि हिंदुस्तानी एकेडेमी के स्थायी सभापति भी हैं) के शब्दों से ज़्यादा ज़ोरदार कोई भी प्रमाण मैं अपनी धारणा की पुष्टि में नहीं दे सकता।

आधुनिक हिंदी (जैसी कि अख़बारों, रिसालों और किताबों में हम देखते हैं) के बारे में मैं साफ़ कह सकता हूँ कि इस के समझने में मुझे बड़ी कठिनाई होती है, यद्यपि मैं कबीर, जायसी, रहीम, सूर, तुलसी, तथा बिहारी आदि महाकवियों के काव्य के सौंदर्य का अनुभव अच्छी तरह बिना किसी कोष की सहायता के ही कर लेता हूँ। परंतु मुझे आधुनिक हिंदी गद्य और पद्य पढ़ते समय पग-पग पर कोष की ज़रूरत पड़ती है। मुझे मालूम नहीं आज कल के हिंदी लिखने-पढ़नेवालों ने प्रेस या

प्लैटफ़ार्म पर कभी इस प्रकार की भाषा के विरुद्ध आवाज़ उठाई है। पर यह जान कर संतोष होता है कि वह सुखद प्रतिक्रिया अब आरंभ हो गई है। एक प्रसिद्ध हिंदी लेखक (जो 'गंगाप्रसाद' ऐसा सुंदर नाम पाकर भी न जाने क्यों अपने को जी० पी० श्रीवास्तव कहना पसंद करते हैं) ने अभी हाल में एक बड़ा ही विनोद-पूर्ण नाटक लिखा है, जिस का नाम है "साहित्य का सपूत"। इस में उन्होंने बड़े ही तीखेपन से उन हिंदी लेखकों और बोलनेवालों की हँसी उड़ाई है जो अपनी भाषा को ऐसी दुरूह संस्कृत शब्दावली से अलंकृत करते हैं जिसे अधिकांश लोग बिल्कुल ही नहीं समझ पाते। मेरा विचार है कि इस प्रकार का रोचक प्रकाशन एक आशापूर्ण चिह्न है, और मेरा यह भी विश्वास है कि इस का प्रभाव अच्छा ही पड़ेगा और हिंदी लेखन और भाषण की शैलियाँ दोनों ही सरल हो सकेंगी।

आजकल की उर्दू लेखनशैली के विरुद्ध भी हिंदी से कम आक्षेप नहीं है, विशेष कर उन के दृष्टिकोण से जो कि उत्तर हिंदुस्तान में एक ऐसी समान भाषा के विकास में विश्वास रखते हैं जो कि समय पाकर देश भर की राष्ट्रभाषा हो सकेगी। मुझे यह देख कर प्रसन्नता होती है कि उर्दू रिसालों में अभी हाल में उर्दू को सरल करने के प्रश्न ने पर्याप्त रूप से ध्यान आकृष्ट किया है, विशेष कर 'ज़माना' में जिस का योग्यतापूर्ण संपादन हमारी एकेडेमी के ही एक सदस्य कर रहे हैं। पिछले वर्ष इस में कई विद्वानों के, जिन में हिंदू और मुस्लिम दोनों ही थे, कई अच्छे लेख निकले जिन का विषय "हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी" था। इन में उर्दू को अरबी और फ़ारसी से भरने की प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना और निंदा की गई थी। इन में से मैं केवल दो उद्धरण देता हूँ। एक के लेखक एक ऐसे प्रसिद्ध साहित्यिक और पत्रकार हैं जिन का उर्दू और हिंदी दोनों ही पर बहुत अधिकार है और फल-स्वरूप जिन के ग्रंथ उत्तर हिंदुस्तान के किसी भी और लेखक की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हो सके हैं। 'प्रेमचंद' के उपनाम से इस प्रश्न पर आप गत अप्रैल के 'ज़माना' में लिखते हैं :—"न तो अजीब अरबी और फ़ारसी शब्दों से लदी हुई उर्दू और न बड़े-बड़े संस्कृत शब्दों से भरी हुई हिंदी ही इस देश की जातीय भाषा हो सकती है। हमारी जातीय भाषा वही हो सकती है जो यहाँ के लोगों की देशभाषा है। मैं किसी भी शब्द को सिर्फ़ इस बिना पर न अलग करूंगा कि वह अरबी, फ़ारसी या संस्कृत का है। मेरी एक-मात्र कसौटी यह होगी कि वह शब्द सर्वसाधारण की समझ में आता है या नहीं।" मेरा विश्वास है कि हिंदुस्तानी एकेडेमी का ध्येय भी ठीक यही है, जैसा कि इस के संस्थापकों के मंतव्य से स्पष्ट है, और जिसे मैं ऊपर उद्धृत कर चुका हूँ।

दूसरा लेख प्रसिद्ध मुस्लिम लेखक अज़ीम बेग चुग़ताई का है और इसी विषय पर पिछली जुलाई के 'ज़माना' में निकला है। इस में इस प्रश्न पर विस्तार से पक्ष-

पात-रहित होकर विचार किया गया है। आप का पूरा लेख ध्यान देने योग्य है और इस के कई स्थलों से उद्धरण देने में मुझे कोई संकोच नहीं होता। यद्यपि यह लेख उर्दू-लेखन से ही संबंध रखता है पर वही बातें हिंदी पर भी लागू हैं :—

"उर्दू और हिंदी दोनों ही भाषाओं के लिखनेवाले ज़िद और दुराग्रह से प्रेरित हैं और दोनों ही भाषाओं को हानि पहुँचा रहे हैं। पिछले बीस साल से उर्दू के, विशेष कर मुसलमान लिखनेवालों ने अपनी रचनाओं में इतने अरबी के शब्द भर दिए हैं कि साधारण हिंदू इसे पढ़ और समझ नहीं सकता। एक ओर जब हिंदू लोग अरबी और फ़ारसी का अध्ययन छोड़ते जा रहे हैं, दूसरी ओर मुसलमान लोग कठिन, अपरिचित अरबी शब्दों की एक बड़ी संख्या तो भर ही रहे हैं साथ ही उन हिंदुस्तानी शब्दों को उर्दू से अलग करते जा रहे हैं जो अर्से से उर्दू में शामिल थे, और उन की जगह अरबी के शब्द भर्ती किए जा रहे हैं। इस का नतीजा यह हुआ है कि हिंदुओं की एक बहुत बड़ी संख्या आजकल की उर्दू नहीं समझ सकती, क्योंकि इस के लिए ज़रूरी हो गया है कि वह ज़िंदगी का एक बहुत बड़ा हिस्सा अरबी और फ़ारसी की जानकारी हासिल करने में बितावे। यह सब होने पर भी आधुनिक उर्दू के पृष्ठपोषक यह माने बैठे हैं कि हर एक हिंदू का यह जातीय कर्त्तव्य है कि वह इस नई और भयानक उर्दू का अभ्यास करे और उस की उन्नति करे। इस प्रकार यह नितांत आवश्यक हो गया है कि अगर उर्दू को ज़िंदा रखना है तो इस के पोषकों को चाहिए कि अरबी और फ़ारसी शब्दों का व्यवहार जितना कम हो सके उतना कम करें और पुराने हिंदुस्तानी शब्दों को अपना कर उर्दू को हिंदुस्तान की जातीय भाषा बनाने के संबंध में सदा जाग्रत रहें।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उर्दू या हिंदी दोनों ही के उदीयमान लेखक को पहले बड़े-बड़े दुरूह और आडंबरपूर्ण शब्दों के व्यवहार में सिद्धहस्तता प्राप्त करनी पड़ती है। इस खेदपूर्ण परिस्थिति का कारण यही है कि वहाँ के अधिकांश लेखक और वक्ता आज भी माध्यमिक युग की ही मनोवृत्ति रखते हैं—बहुत कुछ सोलहवीं सदी के अंग्रेज़ी साहित्यिक लिली तथा उसी के भाईबंदों के ढंग की। पर जब कि दीर्घकाल से अंग्रेज़ी साहित्यिक इस मनोवृत्ति को छोड़ चुके हैं, हम अब भी इस के वशीभूत हैं और फलतः बड़ी-बड़ी कठिन दुरूह और आडंबरपूर्ण शब्द-योजना के मोह में पड़ कर अरबी-फ़ारसी और संस्कृत की अपरिचित और दुर्बोध पदावली का सहारा लेकर अर्थ को आडंबर की, और सरलता तथा सुगमता को दिखावट तथा पांडित्य-प्रदर्शन की वेदी पर बलिदान कर रहे हैं। एकेडेमी के अधिकारी वर्ग चाहे कितना भी पीछा छुड़ावें पर इस प्रश्न का सामना उन्हें अब करना है, और उन के सामने प्रश्न यह है कि वे कौन सा ऐसा उपाय करें जिस से

लिखने और बोलने का एक ऐसा माध्यम विकसित हो जो सहज में सब की समझ में आवे और जोकि सचमुच "हिंदुस्तानी" कहा जा सके।

सभापति के पद से दिए गए एक भाषण में हमारे वर्तमान साहित्यिक जगत की स्थिति को सुधारने के सारे उपायों का निर्देश कर देना या इस संबंध के विधानात्मक प्रस्ताव करना सहज नहीं है। इस के लिए उन विशेषज्ञों के सम्मिलित विचार की आवश्यकता है जो हिंदुस्तानी भाषा और साहित्य की उन्नति में दिलचस्पी रखते हैं। मैं केवल कुछ ऐसी बातों का निर्देश कर सकता हूँ जो कि हमारे भावी कार्यक्रम के विचार की आधार-भित्ति हो सकते हैं। इन में से प्रथम तो यह है कि हमारी भाषा के दो रूपों के दो नाम न रख कर एक ही नाम स्वीकार करने का गंभीर प्रयत्न किया जाय, क्योंकि इस हिंदी-उर्दू-विवाद में प्रधान हाथ इन दो भिन्न नामों का ही है।

अब जहाँ तक इस भाषा के उर्दू नाम का संबंध है, यह नाम न तो प्राचीन है और न ऐसा है कि इस के पक्ष में जनता का कोई बड़ा वर्ग भाव-जन्य कारण रख सकता है। अपने विचारों के समर्थन में मैं एक प्रसिद्ध विद्वान और कवि—पटने के स्वर्गीय शम्सुल-उलेमा सैयद अली मुहम्मद "शाद" की प्रसिद्ध पुस्तक 'फ़िक्रे-बलीग़' से एक उद्धरण दूँगा। वह लिखते हैं—"कुछ ऐसे लोग हैं जो कहते हैं (और दुर्भाग्यवश जिन की कुछ अपढ़ लोग पुष्टि भी करते हैं) कि यह भाषा उर्दू इस लिए कहलाई कि इस का जन्म विजेता मुसलमानों के बाज़ार में हुआ। क्या ऐसे लोग मुझे कोई भी ऐसा इतिहास, रोज़नामचा या तज़करा दिखला सकते हैं जो छठीं और तेरहवीं (हिज्री) सदियों के बीच लिखा गया हो और जिस में यह भाषा उर्दू कही गई हो। जहाँ कहीं भी इस भाषा की चर्चा आई है यह हिंदी या हिंदुस्तानी कही गई है। इस लेखक ने उर्दू का नाम ढूँढ़ निकालने के लिए इतिहास, रोज़नामचे और तज़करे छान डाले हैं, परंतु वह यह नाम कहीं भी नहीं पा सका है। सच बात तो यह है कि यह उर्दू नाम अकस्मात् तेरहवीं सदी हिज्री के मध्य भाग में उपयोग में आया।" जिस का तात्पर्य यह है कि यह नाम उन्नीसवीं सदी ईसवी में पहले-पहल प्रयोग में आया।

यही विचार बहुत वर्ष हुए मेरे सम्मानित मित्र स्वर्गीय शम्सुल-उलेमा, सैयद अली बिलग्रामी ने भी प्रकट किए थे, और यह महोदय निस्संदेह एक प्रकांड विद्वान थे जिन की बराबरी के विद्वान अंग्रेज़ी राज्य में बहुत कम हुए हैं, और जिन्हें न केवल अरबी, फ़ारसी और उर्दू पर अधिकार प्राप्त था, वरन् जो संस्कृत और तद्भव कई आधुनिक देशी भाषाएँ भी जानते थे। इस प्रकार उर्दू शब्द के हिंदुस्तानी शब्द की अपेक्षा अधिक मान्य होने के विशेष ऐतिहासिक या भाव-जन्य कारण नहीं हो सकते। मेरे इस विचार का समर्थन, अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी जैसे विख्यात विद्वान

और लेखक द्वारा भी होता है, यह जानकर मुझे प्रसन्नता होती है। पन्ने में विगत सितंबर में एक व्याख्यान देते हुए आप का यह कथन बताया जाता है—"हमारी भाषा का नाम 'उर्दू' बहुत बड़ी भूल है, और इसे अब त्याग देना चाहिए। हमारी भाषा का नाम अब 'हिंदुस्तानी' होना चाहिए—इसी सिद्धांत पर जिस पर कि इंगलिस्तान को भाषा का नाम अंग्रेज़ी है, फ्रांस की भाषा का फ्रांसीसी, जर्मनी की भाषा का जर्मन, और इटली की भाषा का इटैलियन इत्यादि।" जिन विख्यात विद्वानों के उद्धरण मैंने दिए हैं, उन की बातों को और भी सँवार कर कहना मेरे लिए धृष्टता होगी।

हिंदी के समर्थकों द्वारा यह बात कही गई है कि 'हिंदी' शब्द के व्यवहार पर उस प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती जैसी कि उर्दू शब्द के व्यवहार पर। वह इस पर ज़ोर देते हैं कि उत्तरी हिंदुस्तान की भाषा का नाम हिंदी एक पुराना ऐतिहासिक नाम है और इस नाम का उपयोग मुस्लिम लेखकों ने अरबी और फ़ारसी पुस्तकों में भी बराबर किया है। वह यह भी कहते हैं कि ('हिंदुस्तानी' शब्द की भाँति) 'हिंदी' शब्द संस्कृत से बना हुआ शब्द नहीं है, हिंदुस्तानी शब्द भी नहीं है, यह ठेठ फ़ारसी शब्द है और इस लिए मुसलमानों के लिए विशेष कर आपत्तिजनक न होना चाहिए। इन दोनों तर्कों को यथार्थ मान कर भी यह कहना पड़ेगा कि 'हिंदी' शब्द भी 'उर्दू' शब्द की भाँति एक आवांछनीय रीति से हिंदी उर्दू प्रश्न पर जो राजनैतिक विवाद छिड़ा हुआ है उस से संबद्ध है। इस कारण से मैं यह परामर्श देने का साहस करूँगा कि एकेडेमी को न केवल हिंदी और उर्दू शब्दों का त्याग करना चाहिए और अपने प्रकाशनों में केवल हिंदुस्तानी शब्द का उपयोग करना चाहिए वरन् इस शब्द के प्रचार का भी जहाँ तक हो उद्योग करना चाहिए।

दूसरे परामर्श जो मैं देना चाहूँगा उन में एक यह है कि एकेडेमी को चाहिए कि जहाँ तक शीघ्र संभव हो एक हिंदुस्तानी के ठेठ शब्दों के कोष का संग्रह करे। मैं जान-बूझ कर 'ठेठ' शब्द का उपयोग कर रहा हूँ क्यों कि मेरा तात्पर्य उन शब्दों से भिन्न शब्दों का बोध कराना है जिन्हें कि पुरानी अथवा विदेशी भाषाओं के विद्वान समझते हैं। यह बात भली भाँति विदित है कि यद्यपि लैटिन एक मृत भाषा थी, फिर भी वह सदियों तक यूरोप में विद्वानों की भाषा समझी जाती रही है, और इस के प्रत्युत यूरोपीय देशों की स्थानीय भाषाएँ ठेठ या 'गँवारू' भाषाएँ समझी जाती रही हैं। मैं समझता हूँ कि हमारी भाषा में ऐसे हज़ारों शब्द हैं जो कि न तो संस्कृत से और न अरबी फ़ारसी से निकले हैं। परंतु दुर्भाग्य से, आज कल की जो प्रवृत्ति अपनी बोली या भाषा में अधिकाधिक संस्कृत और उसी प्रकार अरबी तथा फ़ारसी शब्दों के भरने की है, उस के फल-स्वरूप अपने ठेठ शब्दों के व्यवहार से लोप हो जाने का भय है। इस लिए उन्हें एकत्र कर के एक सुसंगृहीत कोष में रखने

की शीघ्र ही आवश्यकता है, नहीं तो यह कार्य बाद में असंभव हो जायगा। ऐसा बड़ा कार्य किसी एक आदमी के बस का नहीं है और न किसी ऐसी संस्था के बस का है, जिस की आर्थिक स्थिति अच्छी न हो। इस लिए मुझे एकेडेमी का इस ओर प्रयत्न करना उस का एक परम कर्त्तव्य जान पड़ता है।

एक दूसरा परामर्श (जिस की प्रेरणा मुझे अपने मान्य मित्र सर रास मसूद से प्राप्त हुई है) एकेडेमी द्वारा हिंदी और उर्दू के पुराने लेखकों की कृतियों का एक आकार की ग्रंथमाला में प्रकाशित किए जाने के संबंध में है, जिस में आलोचनात्मक भूमिकाएँ तथा शब्दार्थ और टिप्पणियाँ भी हों। आज कल हिंदी और उर्दू साहित्यों के प्रेमियों के लिए यह प्रायः असंभव है कि इन में से किसी भाषा के मान्य ग्रंथों का बिना बहुत अधिक व्यय या कष्ट के अच्छा संग्रह कर सकें। जो लोग डेंट की 'एव्रीमैन लाइब्रेरी' ग्रंथमाला की लगभग हज़ार पुस्तकों से अथवा आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस की 'वर्ल्ड्स क्लासिक्स' ग्रंथमाला से जिस में प्रत्येक पुस्तक का मूल्य २) से अधिक नहीं है, परिचित हैं, जहाँ तक हिंदी और उर्दू ग्रंथों के संग्रह करने का प्रश्न है अपने भाग्य को कोस सकते हैं। मुझे विश्वास है कि नागरी-प्रचारिणी सभा और अंजुमने-तरक्की उर्दू ने ऐसी ग्रंथमालाएँ निकाली हैं, जिन में कि पुराने हिंदी और उर्दू के ग्रंथ भी छापे हैं परंतु यह दो ग्रंथमालाएँ इतनी व्यापक नहीं हैं कि इन के द्वारा हिंदी और उर्दू के प्राचीन साहित्य के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। इस विषय में उर्दू कदाचित् हिंदी की अपेक्षा अधिक पिछड़ी हुई है। इस लिए इस महत्त्वपूर्ण कार्य में, मैं आशा करता हूँ कि हमारी एकेडेमी मार्ग-प्रदर्शन करेगी। जब ऐसा दिन आवे कि हिंदी और उर्दू के प्राचीन ग्रंथ समान आकार-प्रकार की ग्रंथमालाओं में, एक-एक रुपये के सस्ते मूल्य में उपलब्ध हो सकें तो निश्चय ही हमारे लिए यह बड़े भाग्य की बात होगी।

ऐसा साहित्यिक उद्योग हिंदी और उर्दू प्राचीन साहित्य के प्रेमियों और विद्यार्थियों के लिए अत्यंत लाभदायक होगा। इस बीच में मैं पूरी आशा करता हूँ कि एकेडेमी इसी वर्ष से एक "हिंदुस्तानी" साहित्य-संबंधी ग्रंथमाला का आरंभ कर देगी जिस में (संपूर्ण-रूप से अथवा अंशतः) ऐसी पुस्तकें हों, जो चाहे पुरानी हों चाहे आधुनिक, परंतु न क्लिष्ट उर्दू में हों न जटिल हिंदी में, वरन् जो सीधी-सादी हिंदुस्तानी में हों और नागरी तथा उर्दू लिपियों में लिखी जा सकती हों। पुरानी रचनाओं में इस ग्रंथमाला में ऐसी पुस्तकें रह सकती हैं जैसे सैयद इंशा की 'रानी केतकी और उदयभान की कहानी' और पंडित श्रीधर पाठक तथा पंडित अयोध्या-सिंह उपाध्याय की पुस्तकें। इन के अतिरिक्त नज़ीर अकबराबादी और सैयद अनवार हुसैन "आरज़ू" की रचनाओं के संग्रह अथवा संकलन हो सकते हैं। यदि एकेडेमी के

और मैं ऐसी ग्रंथमाला का प्रकाशन हो जिस में कि योग्य विद्वानों द्वारा संपादित मूल ग्रंथ हों तो हिंदुस्तानी साहित्य के विकास में इस का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ सकता है। मैं यह भी परामर्श दूँगा कि पुरस्कार के रुपयों का एक अंश हिंदुस्तानी साहित्य के विकास के लिए अलग कर दिया जाय, न कि सारा धन ऐसी पुस्तकों पर दिया जाय जो हिंदी और उर्दू के भेद-भाव को बढ़ाती हों।

मुझे भय है कि मैं ने आप का बहुत समय ले लिया और अब मुझे अपना वक्तव्य समाप्त करना चाहिए। उत्तरी हिंदुस्तान के साहित्यिक प्रश्नों के विषय में अपने बहुत पुराने विचारों को स्वतंत्रता के साथ आप लोगों के सामने रख कर संभव है मैं ने उन सज्जनों का विरोध जागृत किया हो, जो वर्तमान प्रवृत्तियों के विकास को ही श्रेयस्कर समझते हों, परंतु अपने मन में मुझे तनिक भी संदेह नहीं कि इस अवसर पर मेरा कर्तव्य हिंदुस्तानी एकेडमी के हित की पूर्ति करना था और उस के मुख्य उद्देश्यों को, जैसा कि मैं ग्रहण करता हूँ, आगे बढ़ाना था। इसी लिए मैं इस बात पर ज़ोर देता हूँ कि एकेडेमी को अब उस दिशा में बढ़ने की आवश्यकता है जिसे मैं ने प्रदर्शित किया है। मैं ने एकेडेमी के सब नहीं तो अधिकांश प्रकाशन दिलचस्पी के साथ देखे हैं, परंतु मुझे कहना पड़ता है कि मैं ने उन्हें उस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं पाया है, जिसे कि हमारे सभापति सर तेजबहादुर सप्रू ने एक बार 'हिंदी और उर्दू के पक्षपातियों की भाषा को संस्कृत और अरबी तथा फ़ारसी शब्दों के बोझ से दबाने की प्रवृत्ति' बताया था। मेरे जैसे विचार हैं—जिन्हें मैंने आप के सामने प्रकट किया है—उन्हें रखते हुए मैं कह सकता हूँ, कि यह बड़े खेद की बात होगी यदि एकेडेमी भाषा के ऐसे रूप का समर्थन करे, जो संस्कृत-गर्भित हिंदी शैली या अरबी-फ़ारसी से गर्भित उर्दू शैली में हो, और जिस पर एकेडेमी की स्वीकृति या छाप हो। इस के विरुद्ध मैं इस बात की आशा रखता हूँ कि इस विशिष्ट संस्था से, जहाँ कि राजनैतिक पक्षपात या विवाद को स्थान नहीं मिलता, ऐसी पुस्तकें प्रकाशित हों जो, वास्तव में एक मंगलकर आंदोलन की नींव रक्खें—अर्थात् उत्तरी हिंदुस्तान को, शिक्षा और साहित्यिक उद्गार दोनों ही के लिए, एक समान भाषा प्रदान करें।

※

मुद्रक—ओङ्कारप्रसाद गौड़, कायस्थ पाठशाला प्रेस, प्रयाग

हिंदुस्तानी एकेडेमी (संयुक्त प्रांत)
इलाहाबाद

के

चतुर्थ साहित्य-सम्मेलन

के अवसर पर

हिंदी-विभाग के सभापति

महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा

एम० ए०, डी० लिट्० एल्-एल्० डी०

का

भाषण

१२ जनवरी, १९३६

॥ श्रीः ॥

"एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति ।"
"एकमेव परं ब्रह्म व्यवहारे पृथग्विधम् ।"

यह कहने की अवश्यकता नहीं कि आज इस आसन पर आने में मुझे कितना आनन्द हुआ। इसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। पर विशेष कृतज्ञता मेरी इस बात पर है कि अब मेरी यह अवस्था आगई है जब 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्' इस नीति का अवलम्बन करना पड़ता है। इस से जो कुछ सिद्धांत या तर्कवितर्क मेरे मन में आया करते हैं उनको विद्वानों के सामने उपस्थित करना मैं अपना एक कर्तव्य समझता हूँ। इस कर्तव्य के अनुष्ठान का अवसर मुझे आज आप की कृपा से मिला है।

हिंदुस्तानी एकेडेमी का जब बीजारोपण हुआ तब मैं उपस्थित था। इसका प्रधान उद्देश्य भाषासुधार था—और 'सुधार' भी इस तरह का जिस से उर्दू-हिंदी का अनिष्ट-भेद दूर हो जाय। उद्देश्य अति उत्तम—भेद में अभेद सिद्ध करना दार्शनिकों का परम उद्देश्य सदा से रहा है। इस लिये यह परम उद्देश्य प्रशंसनीय था और सदा रहेगा।

परंतु मेरे मन में कुछ संदेह आरंभ ही से होने लगा। सभव है मैं अबतक उन प्रथम श्रेणी के अधिकारियों के दरजे तक नहीं पहुँचा हूँ जिनके लिए 'एकमेव द्वितीयं ब्रह्म' केवल चरम उद्देश्य ही नहीं है—उनके अनुभवगोचर भी वह 'ऐक्य' हो चुका है। मेरी बुद्धि अभी तक उसी मायामूलक व्यावहारिक दशा में घिरी हुई है जिससे मध्यम अधिकारी ही की दृष्टि अनुभवगोचर होती

है। इसी कारण से मेरी भावना बराबर ऐसी ही रही है कि पारमार्थिक दृष्टि से हिंदी-उर्दू—ये ही नहीं देश की सभी भाषाएँ—एक हैं और रहेंगी। परन्तु जब तक हम व्यवहार दशा में हैं तब तक भेद मानना ही पड़ेगा और तदनुसार ही आचरण भी करना ही होगा।

ऐसा भाव मेरे मन में हठात् नहीं उत्पन्न हुआ था। जब मैं १९०२ में प्रयाग आया और उस समय की टेक्स्ट बुक कमेटी का मेम्बर हुआ तभी से देखने लगा और बरतने का प्रयास करने लगा—उन सरकारी हुक्मों को जिनके अनुसार इन प्रान्तों में उर्दू-हिंदी के ऐक्य की स्थापना करना टेक्स्ट बुक कमेटी का परम धर्म था। तबसे इस एकता की स्थापना करने के प्रयत्न को साक्षात और परम्परा देखता और भुगतता रहा। इस अनुभव से मेरे मन में यह सिद्धान्त दृढ़ हो गया कि मामूली बोलचाल में—मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ इत्यादि प्रयोग समान रूप के होते हैं और होते रहेंगे—पर लेख, ग्रंथ-रचना के व्यवहार में ऐक्य सर्वथा असम्भव है—असंभव ही नहीं परम अनिष्ट है। इतना ही नहीं "प्रेमसागर" के निर्माण-काल से जो प्रवाह-क्रम हिंदी का चला वह अब इस दशा को प्राप्त हो गया था कि अब उस को दूसरे मार्ग में ले जाना परम अनिष्ट होगा। और इन भाषाओं का ऐक्य तभी होगा जब वे संसार के सब जल-प्रवाहों की तरह महासागर रूप शब्दब्रह्म में लीन हो जाएँगी।

जिस आदमी के हृदय में ऐसा सिद्धान्त दृढ़ हो गया था उसको दोनों भाषाओं के ऐक्य-स्थापन को अपना उद्देश्य रखनेवाली संस्था को संस्थापित देख कर चित्त में कुछ आश्चर्य होने लगा। अपने सिद्धान्त पर संदेह होने लगा। जब हिंदी-उर्दू के प्रायः सभी धुरंधर विद्वान् तथा ग्रंथकार इस उद्देश्य के साधन में यत्नवान हो रहे हैं तब यह उतना असंभव नहीं हो सकता जितना मैंने मान रक्खा था। इस से अपनी बुद्धि पर विश्वास भी कुछ शिथिल पड़ गया। और बड़ी उत्सुकता से एकेडेमी के कार्यक्रम को देखने लगा।

पर कुछ ही दिनों में—प्रायः मासों में भी नहीं—यह देख पड़ा कि हिंदी-उर्दू के दोनों प्रवाह प्रयाग में भी ऐक्य नहीं प्राप्त कर रहे हैं। और दोनों प्रवाह साथ-साथ पर पृथक्-पृथक् चल रहे हैं और अंततोगत्वा संस्था का मुखपत्र रूप त्रैमासिक पत्रिका भी दोनों में पृथक्-पृथक् निकल रही है।

मुझे वह दिन भी स्मरण है जब यूनीवर्सिटी में मेरा प्रस्ताव उपस्थित था कि हिंदी-उर्दू के बोर्ड अव् स्टडीज़ पृथक् हों। हिंदी-उर्दू दोनों भाषाएँ

पढ़ाई जाती थीं, कोर्स भी इनके अलग थे परंतु कोर्स का निर्धारक बोर्ड एक ही था, जिसमें सात सदस्य होते थे और कोर्स निर्धारण करना पड़ता था केवल हिंदी-उर्दू का ही नहीं, महाराष्ट्री, गुजराती, बँगला का भी। इसी से दो बोर्ड का प्रस्ताव था। इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया गया कि पृथक् बोर्ड होने से दोनों भाषाओं के ऐक्य में बाधा पड़ेगी; और अंततोगत्वा प्रस्ताव बहुमत में तिरस्कृत हो गया। ऐसे अनुभव के बाद आज इस हिंदुस्तानी एकेडेमी के अंतर्गत हिंदी-उर्दू के पृथक् विभागों को देख कर, और इस से अपने सिद्धांतों का समर्थन समझ कर मैं कितना हृष्ट हूँ, मैं नहीं कह सकता। जैसा हुआ है वैसा ही होना भी उचित था और है। प्रचलित भाषाओं का प्रभाव भाषा प्रयोक्ताओं की अभिरुचि ही पर निर्भर होता है। सदा सर्वत्र ऐसा होता है। प्रचलित भाषाओं पर हुकूमत नहीं काम करती। यदि हुकूमत काम करती तो पाणिनि से लेकर वैयाकरणों का अनुशासन रहते हुए भी 'मृत्यु' 'आत्मा' इन शब्दों का स्त्रीलिंग में प्रयोग कभी नहीं होता। 'मौत' और 'रूह' शब्द उर्दू में भले ही स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हों पर उनके हिंदी रूप 'मृत्यु' तथा 'आत्मा' का स्त्री-लिंग प्रयोग सकल शास्त्रीय आज्ञाओं के विरुद्ध है। पर इसे 'अशुद्ध' कहने का साहस नहीं हो सकता। भाषा-प्रवाह में इन का प्रयोग स्त्रीलिंग ही में होता देख पड़ता है, और हिंदी में अवश्य ही शुद्ध मानना पड़ेगा।

मेरा विश्वास है, मेरी आशा है, अभिलाषा है, अब इसी मार्ग का अवलंबन बना रहेगा। और दोनों प्रवाह जारी रहेंगे। यद्यपि चरम उद्देश्य 'ऐक्य' ही की ओर दृढ़ रहेगा। तदनुसार ही लेखक लोग भी 'एकं सत्' के परम सिद्धांत को मन में रखते हुए व्यवहार दशा में 'विप्रा बहुधा वदंति' इसी का अनुसरण करते जाएंगे और हिंदी-उर्दू दोनों प्रवाहों को जीवित रक्खेंगे।

केवल इसी देश में नहीं—सर्वत्र संसार में—एक ही भाषा हो। परम पुरुषार्थ यही रहे—'एकं सत्'। पर जब तक यह परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता तब तक व्यवहार दशा में नाना भाषाएं अर्थात् इस प्रांत में हिंदी-उर्दू दोनों ही का यथायोग्य व्यवहार होता रहे—हमारे सरीखे मध्यमाधिकारियों के लिये यही योग्य होगा। 'विप्रा बहुधा वदंति'—ऐसी ही वेद की आज्ञा है। इति।

मुद्रक—भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, मैनेजर, कायस्थ पाठशाला प्रेस, प्रयाग

तानी एकेडेमी (संयुक्त प्रांत)

इलाहाबाद

के

चतुर्थ साहित्य-सम्मेलन

के अवसर पर

उर्दू-विभाग के सभापति

मौलवी अब्दुल हक़

का

भाषण

१२ जनवरी, १९३६

हज़रात !

उर्दू ज़बान व अदब का जदीद दौर गुज़श्तः सदी के आग़ाज़ से शुरू होता है। इस में चार बड़ी बाक़ायदा और मुनज़्ज़म तहरीकें अमल में आईं।

१—फ़ोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता।

२—देहली कालेज।

३—साइंटिफिक सोसाइटी, अलीगढ़।

४–ओरियंटल कालेज, लाहौर।

पहली तहरीक जो उन्नीसवीं सदी के आग़ाज़ में शुरू हुई, मुल्की ज़रूरत पर मुबनी थी। इंग्लिस्तान से राइटर (मुहर्रिर) बिल्कुल नौ उम्र आते थे, यानी सोलह से अठारह बरस की उम्र के। इन में से अकसर की तालीम बहुत महदूद और कम होती थी और जो किसी की तालीम अच्छी भी हुई, तो उसे मुताला और तालीमी तरक़्क़ी का मौक़ा नहीं मिलता था। दूसरे जब यह नौ उम्र पहले-पहल हिंदुस्तान में आते तो उन की हालत लावारिसों की-सी होती थी और इब्तिदाय मुलाज़िमत में कोई उन की अख़लाक़ी और मज़हबी हालत का निगरां और रहनुमा नहीं होता था। नतीजा यह होता कि वह नाअह्ल और काहिल हो जाते थे।

दूसरी बड़ी बात यह थी कि मुलाजमीन कंपनी को मुख़्तलिफ़ अल्सिना व मज़ाहिब और अतवार वा आदात के लाखों आदमियों के अदालती मुआमलात फ़ैसल करने, इजला की मालगुजारी का इंतिज़ाम करना और उन के झगड़े चुकाने पड़ते थे। अदालतों में वकालत और तमाम जरूरी कार्रवाई देसी जबान के ज़रिए से होती थी। क़ानून अंग्रेज़ी नहीं बल्कि यहाँ का क़दीम क़ानून रायज था। इस लिए मजिस्ट्रेटों के फ़रायज़ बहुत पेचीदा और अहम हो गए थे। मामूली फ़रायज़ के अलावा जजों-मजिस्ट्रेटों को वक़्तन्-फ़वक़्तन् गवर्नर व इजलास कौंसिल के सामने मौजूदः क़वानीन के मुताल्लिक़ तरमीमात वग़ैरह पेश करनी होती थीं; जिस के लिए उन्हें अह्ले मुल्क की ख़्वाहिशात और ज़रूरियात का जानना ज़रूरी था।

दूसरी बड़ी चीज़ तिजारत थी, जो ईस्ट इंडिया कंपनी का असल मंशा था। इस से पहले यहा कोई फरमारवा तिजारत के भेस में नहीं आया था। और इस लिए किसी को गुमान भी नहीं हो सकता था कि यह अजनबी ताजिर कोठिया बनाते-बनाते क़िले तामीर करने लगेंगे और व्योपार करते-करते हुक्मरानी फरमाने लगेंगे। तिजारत के फ़रोग़ के लिए ज़रूर है कि ताजिर मुल्क की ज़बान और हालात से वाक़िफ़ हो, और जहा तिजारत के साथ हुकूमत का साया भी हो तो मुल्क की ज़बान, अह्ले मुल्क की आदात और रस्मो रवाज और उन के आईन व क़वानीन का जानना लाज़िम हो जाता है।

उस ज़माने में एक आफ़त और पैदा हो गई थी, और उस का इंसिदाद ज़रूरी था। इन्क़लाब फ्रांस ने तमाम यूरोप में हलचल मचा दी थी। मज़हबी और सियासी ख़्यालात में, एख़्तिलाल पैदा हो गया था, और वह ख़तरनाक वसूल रफ़्तः-रफ़्तः कंपनी के फौजी और मुल्की मुलाज़मीन तक भी पहुँच गए थे। इस लिए बड़ा अंदेशा था कि सब कैडेट और राइटर इस के शिकार न हो जाय। ऐसे मवाक़े पर दिलो दिमाग़ को ज़ेर करने के लिए हमेशा दो क़ुवतों से काम लिया गया है। एक हुकूमत, दूसरे मज़हब। इस लिए हुकूमत और मज़हब के वसूल सिखाने ज़रूरी थे ताकि नौ वारिद जवान आम रविश से भटकने न पावे। इसी वजह से मज़हबी तालीम कालेज का जुज़ थी और कोई आला ओहदा या प्रोफ़ेसरी या लेक्चरारी की ख़िदमत किसी ग़ैर ईसाई को नहीं दी जाती थी, और ऐसे ओहदादार को इक़रार सालेह करना पड़ता था कि वह निज के तौर पर या अलानिया ऐसे अक़ायद और आरा की तालीम न देगा जो ईसाई मज़हब या चर्च आफ् इंग्लैंड की तालीम व अरकान के ख़िलाफ़ हो।

इन ख़यालात के पेश नज़र रख कर लार्ड वेलेज़ली ने ४ मई सन् १८०० ई० को एक मदरसा बनाम फोर्ट विलियम कालेज क़ायम किया। वेलेज़ली बड़ा उलुल्-अज्म शख्श था, और इस मदरसे के मुताल्लिक़ उस के बड़े बड़े ख़यालात थे। वह उस में क़दीम व जदीद अल्सिना, हिंदुस्तान की देसी ज़बानों, उसूल क़ानून, तारीख़ आम्मा व तारीख़ हिंदुस्तान, नेचरल हिस्ट्री, कीमिया, मआशियात, रियाज़ी, नबातात वग़ैरह सब की तालीम देना चाहता था। मगर पैसे के लोभी कंपनी के डाइरेक्टरों के सामने इस की कुछ पेश न गई। इस लिए इस की तालीम ज्याद:तर देशी और मशरक़ी ज़बानों तक महदूद रह गई। डाइरेक्टर सिरे से कालेज के मुख़ालिफ़ थे। महज लार्ड वेलेज़ली की सीनेजोरी से चंद साल तक क़ायम रहा।

यह कुछ भी सही, लेकिन इस में मुतलक़ शुबहा नहीं कि कालेज ने देसी ज़बानों और ख़ास कर हिंदुस्तानी ज़बान के लिए बहुत मुफ़ीद काम किया। उर्दू ज़बान में सादा और रोजमर्रा की ज़बान लिखने का ढंग डाला, और मुक़फ्फा और मुसज्जा इबारत तर्क कर दी गई। कोई पचास से ऊपर किताबें तैयार हुईं और तब्आ की गई, जिन में कुछ तर्जुमें थे, कुछ तालीफ़ात और कुछ इंतिख़ाबात। जो क़सस व हिकायात, तारीख़, तज़करा, लुग़ात, सर्फ़ो नह्व और मज़हब वग़ैरह के मज़ामीन पर मुश्तमल हैं। कालेज ने उर्दू ज़बान के हक़ में दो बड़े काम किए। एक तो रोजमर्रा की ज़बान को सफाई और फ़साहत के साथ लिखना सिखाया, दूसरे उस ज़माने के लेहाज से उर्दू लुग़ात और सर्फ़ो नह्व पर जदीद तर्ज़ पर किताबें लिखने की कोशिश की गई। इस में डाक्टर जान गिलक्रिस्ट का बड़ा हाथ था। इस की बाज़ किताबें अब भी पढ़ने के क़ाबिल हैं और अपना जवाब नहीं रखतीं। एक काम इस ने यह किया कि नस्तालीक़ टाइप का मतबा क़ायम किया और कालेज की किताबें इस में तबा होने लगीं। यह मसला अब तक ज़ेर बहस है और इस में जैसी कि चाहिए कामयाबी नहीं हुई। अगर यह कालेज क़ायम रहता और हस्ब ज़रूरत इस के मक़ासिद में तौसीअ होती रहती तो बड़ी क़ाबिल क़द्र ख़िदमत अंजाम देता।

दूसरी तहरीक दिल्ली में नमूदार हुई। देहली कालेज का ज़िक्र हिंदोस्तान के निज़ाम तालीम के सिलसिले में नीज़ उर्दू ज़बान की तारीख़ में हमेशा किया जायगा, और तारीफ़ के साथ किया जायगा। अगर्चे अफ़सोस है कि हिंदोस्तान की तालीमी तारीख़ के लिखने वाले इसे अकसर भूल जाते हैं। इस की तीन बड़ी ख़सूसियतें थीं। एक यह कि यह पहली दर्सगाह थी जहां मशरिक़ और मग़रिब का संगम क़ायम हुआ और एक ही छत के नीचे एक ही जमाअत में मशरिक़ व मग़रिब का इल्मो अदब साथ-साथ पढाया जाता था। इस मिलाप ने ख़यालात के बदलने, मालूमात के

इज़ाफ़ा करने और ज़ौक़ की इसलाह में बड़ा काम किया और एक नई तहज़ीब और नए दौर की बुनियाद रक्खी और एक नई जमाअत ऐसी पैदा कर दी जिस में से ऐसे पुख़्ता, रौशन ख़याल और बालिग़ नज़र इंसान और मुसन्निफ़ निकले जिन का एहसान हमारी ज़बान और सोसाइटी पर हमेशा रहेगा। दूसरी ख़ुसूसियत उस की यह थी कि ज़रिया तालीम उर्दू ज़बान था। तमाम मग़रबी उलूम उर्दू ही के ज़रिए पढाए जाते थे और बावजूद उन मवानिआत के जो मोतरज़ीन ज़रिए तालीम की बहस में हर मौक़े पर पेश करते थे वह निहायत कामियाब रहा। कालेज के प्रिंसिपल अपनी एक रिपोर्ट में लिखते हैं कि, "मशरक़ी शोबे का तालिब इल्म अपने मग़रिबी शोबे वाले हरीफ़ से साइंस में कहीं बढा हुआ है।" अलावा इस के जिन-जिन माहिरान तालीम और काबिल असहाब ने कालेज का मुआइना किया उन्हो ने इस की तसदीक की। मिस्टर कर, डाइरेक्टर पब्लिक इंस्ट्रक्शन अहाता बंगाल अपने तबसरा तालीमी बाबत सन् १८५३ ई० में लिखते हैं कि 'एक मुद्दत से देहली कालेज की एक ख़ुसूसियत ऐसी चली आ रही है जो उसे बालाई और ज़ेरीं सूबेजात के दूसरे कालेजो से मुमताज़ करती है, और वह यह है कि वहा देसी ज़बान (उर्दू) के जरिए तालीम दी जाती है और यह (इम्तियाज़ी ख़ुसूसियत) खास तौर पर रियाज़ियात की तमाम शाख़ों और कमोबेश तारीख़ और अख़्लाक़ व फ़िल्सफ़ा की तालीम से ताल्लुक़ रखती है। इस तरीक़े तालीम पर मिस्टर बतरोस ने अपने ज़माने प्रिंसपली मे इस्तक़लाल के साथ अमल दरामद किया और उन के जानशीन डाक्टर स्प्रिंगर ने उसी जोश के साथ इसे जारी रक्खा। यह अब देहली कालेज के निज़ाम तालीम का एक जुज़ तसलीम कर लिया गया है। मुनासिब यह है कि इसे आज़ादी के साथ बढने और फूलने-फलने दिया जाय। चंद साल बाद हमे इस के नतायज का दूसरे तरीक़ों के नतायज से मुक़ाबला करने का मौका मिलेगा।"

अफ़सोस यह मौका कभी न आया!

तीसरी ख़ुसूसियत यह थी कि इस से मुताल्लिक़ एक ट्रांसलेशन सोसाइटी (मजलिस तर्जुमा) थी, जो कालेज के तुलबा के लिए अंग्रेजी से उर्दू में दरसी किताबों के तर्जुमे का काम अंजाम देती थी। यह तर्जुमे सब के सब कालेज के असातज़ा और तुलबा के किए हुए हैं। इस मजलिस के तर्जुमों और तालीफ़ात की तादाद क़रीब सवा सौ के है जो तारीख़, जुग़राफ़िया, उसूल क़ानून, रियाज़ियात और उस की मुख़्तलिफ़ शाख़े केमिस्ट्री, मेकानियात, फ़िल्सफ़ा, माशियात, तिब, जर्राही, नबातियात, अज्वियात, मेक़्नातीस, मनाज़िर व मराया वग़ैरह उलूम व फ़ुनून नीज़ अदबियात पर मुश्तमिल हैं। आजकल जब यह काम दुश्वार नज़र आता है तो उस

वक्त किस क़दर दुश्वार होगा जब न अच्छे मुतरज्जिम दस्तियाब होते थे और न उन तर्जुमों की क़द्र करने वाले कुछ ज्यादः तादाद में थे। लेकिन आफ़रीं है कालेज वालों की हिम्मत पर !

इस कालेज ने सही तरीक़ा तालीम को रवाज देने और उर्दू को इल्मी ज़बान बनाने में अज़ीमुश्शान ख़िदमत अंजाम दी और उस ज़माने के लेहाज़ से इस का यह काम निहायत क़ाबिल क़द्र है। अगर सन् ५७ की शोरिश में इस का शीराजा न बिखर जाता और यह कालेज इसी उसूल पर क़ायम रहता, और ज़माने की ज़रूरियात के मुताबिक़ इस में इसलाह व तरक़्क़ी जारी रहती तो आज हमारी ज़बान कहीं से कहीं पहुँच जाती।

इस के बाद सन् १८६४ में सर सैयद अहमद ख़ां मरहूम ने साइंटिफ़िक सोसाइटी की बुनियाद डाली। जिस की ग़ायत यह थी कि इल्मी किताबें अंग्रेज़ी से उर्दू में तर्जुमा कराकर मग़रिबी लिटरेचर और मग़रिबी उलूम का मज़ाक़ अहले वतन में पैदा किया जाय। इस सोसाइटी ने तक़रीबन चालीस इल्मी और तारीख़ी किताबें अंग्रेज़ी से उर्दू में तर्जुमा कराईं। देहली कालेज के बाद यह दूसरा इदारा था जिस ने उर्दू ज़बान में उलूम जदीदा को मुतक़िल करने और उसे इल्मी ज़बान बनाने की सई की। सर सैयद इसे अंग्रेज़ी तालीम फैलाने से भी ज्यादः ज़रूरी और मुक़द्दम समझते थे। 'इस्टीच्यूट गज़ेट' और 'तहज़ीबुलअख़लाक़' भी इसी के बच्चे थे जिन्हों ने मुल्क में इल्मी ज़ौक़ और रौशनख़याली फैलाने में बड़ा काम किया।

सन् ५७ की शोरिश के कुछ दिनों बाद जब इल्मी मरकज़ देहली से लाहौर में मुंतक़िल हुआ तो वहां आवायल सन् १८६५ ई० में एक अंजुमन बनाम "अंजुमन इशाअत मतालिब मुफ़ीदह पंजाब" क़ायम हुई जो बाद में अंजुमन पंजाब के नाम से मौसूम व मशहूर हुई और इसी की सई से ओरियंटल कालेज की बिना पड़ी, जो बाद में पंजाब यूनिवर्सिटी कालेज के तफ़वीज़ कर दिया गया। यह तालीमी इदारा भी था और तालीफ़ व तर्जुमा की एकेडेमी भी। मुतरज्जिम ज्यादःतर कालेज के मुअल्लमीन और उस के रफ़क़ा थे। इन साहबों ने मुख्तलिफ़ उलूम व फ़ुनून पर बहुत सी अंग्रेज़ी किताबों के तर्जुमे किए। चंद किताबें तालीफ़ भी कीं और बाज़ संस्कृत, अरबी, फ़ारसी किताबों के भी तर्जुमे किए। इस में डाक्टर लाइट्ज़ की कोशिश व इस्तक़लाल का बहुत बड़ा दख़ल था। वह अंजुमन पंजाब के प्रेसिडेंट और ओरियंटल कालेज के पहले प्रिंसिपल थे और सन् १८८६ ई० तक इस ख़िदमत पर मामूर रहे। इन के जाने के बाद तालीफ़ व तर्जुमा का काम सुस्त पड़ गया। अगर्चे पहला सा ज़ोर-शोर और एहतिमाम नहीं रहा ताहम यह कालेज उर्दू और मशरिक़ी ज़बानों

की ख़िदमत तालीम और इम्तिहानात के जरिए से अंजाम दे रहा है और गो अब वहा कोई शोबा तालीफ़ व तर्जुमा का नहीं मगर वह सुन्नते क़दीम प्रोफेसर शफी प्रोफ़ेसर इक़बाल, और प्रोफ़ेसर शेरानी के दम से ज़िंदा है।

यह चार तहरीके जिन का सरसरी जिक्र मैंने आप की खिदमत में किया है, गुजश्ता सदी की अदबी और इल्मी तरक़्क़ी में बहुत बड़ी अहमियत रखती हैं। फोर्ट विलियम कालेज, देहली कालेज और ओरियंटल कालेज ने, उर्दू जबान के लिए जो काम किया वह खास जरूरत से था, यानी दरसी कुतुब का बहम पहुँचाना। मगर इस में शक नहीं कि उन मे बहुत सी किताबे ऐसी भी थीं जो आम मुताले के लिए भी मुफीद थी और उन से तालीम व अदब के शाय़क़ीन को बहुत फायदा पहुँचा। अलावा मालूमात में इज़ाफ़ा करने और ख्यालात में इनकलाब पैदा करने के संजीदा मजामीन के लिखने का असलूब भी रायज हो गया। साइंटिफिक सोसाइटी का मकसद आम था लेकिन इस का काम भी देहली कालेज या ओरियंटल कालेज ही के नहेज पर हुआ। इन इदारों के हालात पर ग़ौर करने से एक बात अलबत्ता खटकती है। वह यह कि हर इदारे ने अज़ सरे नौ काम शुरू किया और गुज़श्ता तहरीकों मे कोई सिलसिला और रब्त कायम नहीं रक्खा। यानी नहीं देखा कि इस से पहले क्या काम हुआ, कौन-कौन सी किताबे लिखीं या तर्जुमा की गईं, तर्जुमा किन उसूल पर हुआ, कौन-कौन से नए अलफाज़ वजा किए गए और कौन से ऐसे पुराने अल्फाज थे जो नए इस्तेलाहात के लिए इस्तेमाल किए गए। इन की कौन सी चीज़ें इख़्तियार करने के काबिल हैं और कौन-सी क़ाबिलतर्क। इस से बड़ी बसीरत होती है और काम मे आसानी हो जाती है। जिस तरह अगलों के अच्छे काम पिछलों के हक में मुफ़ीद होते हैं उसी तरह उन की ग़लतियां कुछ कम मुफ़ीद नहीं होतीं, ताकि आनेवाले उन से बचे और उन का एआदह न करे।

मै देखता हूँ कि इस ज़माने में जो इदारे ज़बान व अदब की तरक़्क़ी व इशाअत का काम कर रहे हैं वह भी इसी ग़लती मे मुब्तिला हैं। और इस से भी बड़ी ग़लती यह हो रही है कि इन का काम किसी उसूल पर नहीं हो रहा है। कोई किताब अच्छी-सी हाथ लग गई, उस का तर्जुमा करा लिया। किसी ने कोई चीज लिख कर भेजी, कमेटी ने पसद की, छाप कर शाया कर दी। कोई तालीफ़ शाया हुई, सिफ़ारिश के साथ पेश हुई, इनाम दे दिया। कुछ लेक्चर दिलवा दिए, कुछ जल्से कर लिए और सब से बड़ा कारनमा यह कि मुशायरे का एहतिमाम कर दिया। गोया हम अँ-धेरे मे चॉदमारी कर रहे हैं। लगा तो तीर नही तुक्का। इस तरह से काम नही होते। इन हरकतों मे ज़बान और अदब नहीं बनता। इन तरीक़ों से आप ख़यालात में इन्क़-

लाब और तयाया में जिद्दत नहीं पैदा कर सकते। इस से भी बड़ी कोताही बल्कि मासियत जिस का इर्तकाब यह इदारे कर रहे हैं वह यह है कि इन इदारों में बाहमी कोई इत्तिहाद और इर्तिबात नहीं है। हर एक ने अपनी डेढ़ ईंट की अलग मसजिद बना रक्खी है। जब मक़सद एक है और काम एक है तो कोई वजह नहीं कि हम कभी-कभी सिर जोड़ कर न बैठें अपने कामों पर नज़र डालें और आइंदा के लिए अपने काम का कोई ऐसा नक़्शा तैयार करें जो हक़ीक़ी तौर पर हमारे अदब के हक़ में मुफ़ीद हो। इस इत्तिहाद अमल, इमदाद बाहमी और तक़सीम कार से काम में सहूलियत और तौसीअ और अमल में क़ुवत पैदा होगी, नीज़ बहुत से ऐसे मसायल हल हो जायेंगे जो इस वक़्त हमारी तवज्जोह के मुहताज हैं। इस तरह साल में एकाध बार बाहम मिल बैठने से और बहुत सी कारआमद बातें सूझ जायेंगी, जो फ़रदन्-फ़रदन् ग़ौर करने से ख़याल में नहीं आतीं। लेकिन यह मजलिसे हंगामे के लिए नहीं, बल्कि काम की ख़ातिर होनी चाहिए और इन में सिर्फ़ उन्हीं को दावत दी जाय, जो अह्ले नज़र और साहबे राय हैं। बाद में उन की तजवीज़ें और फ़ैसले आम इत्तिला और तनक़ीद के लिए शाया किए जायें, ताकि ज़रूरत हो तो इन फ़ैसलों पर नज़रसानी की जा सके।

हाशा व कल्ला मेरा मक़सद किसी इदारे को इल्ज़ाम देना नहीं। हर इरादा अपनी बिसात और फ़िक्र के मुताबिक़ कुछ न कुछ ज़रूर मुफ़ीद काम कर रहा है। लेकिन मेरा ख़याल है कि मौजूदा हालत में जिस तरह काम हो रहा है उस में बहुत सा वक़्त मेहनत और रुपया रायगाँ जाता है। अगर हम मुत्तफ़िक़ा तौर पर काम की नौइयत, काम की तक़सीम, उस की तरक़्क़ी और इशाअत, और जदीद ज़रूरियात के मुताबिक़ ग़ौर कर के कुछ उमूर तै कर लेंगे और उन के अमल में लाने की तदबीरें सोच लेंगे और उन के अंजाम देने के वक़्त का भी तऐउन कर देंगे तो यक़ीन है कि हम उतने ही वक़्त में, उसी क़द्र मेहनत और रुपए के सर्फ़ से बहुत बड़ा और बहुत बेहतर काम कर सकेंगे। यह मैं ज़ाती तजुर्बे की बिना पर अर्ज़ करता हूँ। 'अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू' एक मुद्दत तक अटकल पच्चू काम करती रही। एक अर्से के बाद मुझे तनब्बो हुआ कि इस तरह बे-उसूली से काम करना कुछ ज़ियादह मुफ़ीद नहीं। एक मुनज़्ज़म इदारे का काम जिस का मक़सद ज़बान और अदब की तरक़्क़ी है, इस से बेहतर और अफ़ज़ल होना चाहिए। चुनांचे अब हम ने एक ख़ास उसूल पर काम करना शुरू किया है। मसलन हम ने उर्दू शुअरा के तज़करे ढूँढ-ढूँढ कर मुरत्तब किए और इस वक़्त तक बहुत से कमयाब और नादिर तज़करे शाया हो चुके हैं, और बाज़ अभी ज़ेर तरतीब हैं। इन तज़करों से उर्दू अदब के इर्तिक़ा और उस

ज़माने की मआशरत के मुताल्लिक बहुत-सी मालूमात हासिल होती हैं और बहुत सी ग़लत फहमिया और ग़लत बयानिया जो अब तक चली आ रही थी इन की बदौलत रफा हो गई । चुनाचे इन नज़करों की इशाअत के बाद से उर्दू अदब की तारीख़ के मुताल्लिक जो तहरीरें और किताबें शाया हुई हैं उन के मुअल्लिफों ने इन से इस्त फादह किया है। इसी तरह अजुमन ने कदीम उर्दू अदब के मुताल्लिक तहकीक व जुस्तजू का सिलसिला जारी रक्खा है, और उर्दू की बाज कदीम कुतुब नज्म व नस्र शाया की है, जिन से इब्तिदाई ज़बान की कैफ़ियत मालूम होती है। नीज़ अजुमन ने एक सिलसिला लुग़ात का भी तरतीब देना शुरू कर दिया है। फिलहाल अंग्रेज़ी उर्दू की एक मबसूत और जामे लुग़ात भी ज़ेर तबा है, और जल्द शाया हो जायगी। अंग्रेज़ी-हिंदी लुग़ात भी ज़ेर तरतीब है। पेशावरों की इस्तेलाहात भी मुकम्मल हो चुकी हैं और अब उन की नज़रसानी की जा रही है। इस में तक़रीबन बीस हज़ार इस्तेलाहात मुख्तलिफ पेशो की बड़ी तलाश और मेहनत से जमा की गई है। कदीम उर्दू की लुग़ात भी ज़ेर तरतीब है। कदीम अल्फाज़ मौजूदा लुग़ात की किताबो में नही मिलते। हमारे लुग़त-नवीस उन्हे मतरूक व मरदूद समझते हैं। लेहाज़ा इस लुग़ात से अदबी तहकीक मे बहुत मदद मिलेगी। जायज़ए ज़बान उर्दू (यानी उर्दू ज़बान के सर्वे) का काम भी एक साल से हो रहा है। यू तो यह ज़बान हिंदोस्तान के तकरीबन हर सूबे में बोली और समझी जाती है, लेकिन हर इलाके में इस की क्या हैसियत है। किस क़दर लोग लिख-पढ़ सकते हैं। बोलने और समझने वाले कितने है। तालीफ व तसनीफ का क्या हाल है। अखबार और रसायल और मताबे कितने हैं, वहा की ज़बान की इम्तियाज़ी खसूसियात क्या हैं। मदारिस में इस की क्या हैसियत है, वग़ैरह-वग़ैरह हालात व वाक़यात का हमें पूरा इल्म नहीं। काम करने के लिए इन का जानना ज़रूरी है। अक्सर सूबों से रिपोर्टें वसूल हो चुकी है, और बाकी मुक़ामात मे काम जारी है। इस वक्त एक और तजवीज़ मेरे ज़ेर ग़ौर है। यह इरादा है कि दुनिया की आला ज़बानों मे जिस क़दर महा तसानीफ (क्लासिकल्स) हैं, उन सब का तर्जुमा उर्दू में कर दिया जाय। मैं ने इस की एक फ़ेहरिस्त तैयार की है जो ख़ास ख़ास असहाब की ख़िदमत मे राय के लिए भेजी जा रही है। अगर यह तजवीज़ अमल मे आ गई तो हमारी ज़बान मे एक ऐसा अजीब व ग़रीब सामान मुहैया हो जायगा जो दुनिया का बेहतरीन कारनामा और बनी नौ इसान का अफ़ज़लतरीं इर्स समझा जाता है। और इस से हमारी ज़बान को जो बेशबहा फायदा पहुँचेगा वह मुहताज बयान नहीं। इस के अलावा हम दुनिया की मौजूदा बड़ी-बड़ी तहरीकों पर बाज़ किताबे तालीफ़ करा रहे हैं जो मालूमात की तौसीअ मे बड़ा काम देगी। इस बयान से मेरा मतलब 'अजुमन तरक्की उर्दू' का इश्तिहार देना नहीं बल्कि मिसाल के

तौर पर वह तरीक़ा अमल बताना है जिस पर अंजुमन इस वक़्त कारबंद है या जो इस के पेश नज़र है।

अदबी इदारों के इत्तिहाद अमल में एक बड़ा फायदा यह भी होगा कि इस वक़्त जो हमारे अदब में एक क़िस्म की बे राहरवी पाई जाती है उस का भी इंसिदाद मुमकिन है। जब हम मुत्तफ़िक़ा तौर पर इस के ख़िलाफ़ आवाज़ बलंद करेंगे और अपने अमल से नमूने पेश करने की कोशिश करेंगे तो हमारी आवाज़ बे असर नहीं रहेगी। आजकल हमारे अदब में ख़यालीं या इस वक़्त के मुहावरे में रोमानी रंग ग़ालिब होता जाता है। कुछ मुद्दत क़ब्ल अदब जदीद के एक दौर में जिस का ताल्लुक ज्याद:तर अलीगढ़ तहरीक से था, उस वक़्त के अहले अदब मसलन सर सैयद अहमद ख़ाँ व मौलाना हाली, ज़िंदगी के वाक़यात और उस की मुश्किलात से बहस करते थे कौमी तनज़्ज़ुल के असबाब, आइंदा तरक्क़ी की तदाबीर तालीम की तरग़ीब, दुश्वारियों से मर्दानावार मुक़ाबला रस्मो रवाज और तवहुमात की तनक़ीद, अदब की इसलाह वग़ैरह ऐसे मज़ामीन थे जिन पर बहस करने से उन का क़लम कभी नहीं थका। मौलवी नज़ीर अहमद जैसे आलिम ने जितने नाविल लिखे वह सब उस वक़्त की ज़िंदगी और मआशरत का आईना हैं। लेकिन इस ज़माने में ऐसा मालूम होता है कि शरर और आज़ाद की रूह नए जीवन में नमूदार हुई है। हमारे अदीब और शायर आलमे ख़याल में परवाज़ करते फिरते हैं और रोज़-बरोज़ हक़ीक़त और ज़िंदगी से दूर होते जाते हैं। यूँ समझिए गोया वह ज़िंदगी की हक़ीक़तों और दुश्वारियों और उन पर ग़ौर करने से बचने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन क्या इन हीलों से बच सकते हैं। अदब ज़िंदगी से बना और उसी पर क़ायम है और अगर यह नहीं तो एक लचर कहानी है।

यह जो कहा गया है कि अदब ज़िंदगी का आईना है, वह हक़ीक़त पर मुबनी है। मसलन अरब जाहलियत के शोअरा को लीजिए। शायरी उन की रगों में भरी हुई थी। मामूली से मामूली और जुज़ई से जुज़ई मामला भी उन की नज़र में एक बड़ा वाक़या था, और तहरीक शेर के लिए काफ़ी था। उन की लड़ाइयाँ, उन की फ़तेह व शिकस्त, इश्क़ व मुहब्बत (ख़याली नहीं), ख़ौफ़ो ख़तर, इंतक़ाम, मेहमाँनवाज़ी वग़ैरह यहाँ तक कि एक बछड़े की वलादत तक का नक़्शा उन की नज़्मों में ज़िंदा मौजूद है। उन के कलाम में ताज़गी, आज़ादी, मर्दानापन और ज़ौक़ ज़िंदगी पाया जाता है। अगर हम उन के कलाम का मुताला करें तो इस ज़माने की मआशरत, रस्मो रवाज और ख़यालात व तवहुमात की तारीख़ मुरत्तब कर सकते हैं। गुज़श्ता तीस साल में हमारी ज़िंदगी में बहुत कुछ तग़य्युर वाक़े हुआ है

और अगर दो एक शायरों से क़त्अ नज़र की जाय तो क्या हमारे शोअरा के कलाम में कहीं भी इस इन्क़लाब का पता है? हमारे शायर यह समझते हैं कि वह तला-मेज़ुर्रहमान हैं, उन्हें मुशाहदा, मुताला और हक़ीक़त से कोई वास्ता नहीं। उन के दिलों पर आस्मान से हर वक़्त इल्हामात का नज़ूल होता रहता है। लेकिन अगर उन्हें अपना और दूसरों का वक़्त ज़ाया करना मंज़ूर नहीं है तो उन्हें हवाई परवाज़ से इस नापाक ज़मीन पर आना पड़ेगा वरना उन की शायरी को कोई आँख उठा कर भी नहीं देखेगा।

हमारे रिसाले और अख़बार भी बहुत कुछ इसी रंग में नज़र आते हैं। वह दुनिया की उन अज़ीमुश्शान तहरीकों पर जिन्हों ने दुनिया में हैजान पैदा कर रक्खा है, बहुत कम सजीदगी से बहस करते हैं। वह ज्यादःतर अदब लतीफ़, मामूली अफ़सानों और नज़्मनुमा नस्र के शायक़ मालूम होते हैं। एक बड़ा ऐब यह है कि जब कभी वह मुल्की मुआमलात पर बहस करते हैं तो उस में फ़िरक़ावदी की विसाध आने लगती है। या ख़्वाहमख़्वाह ऐसे मुआमलात को जिन का मज़हब से कोई ताल्लुक़ नहीं मज़हबी रंग में रँग कर पेश करते हैं। यह आम तौर पर हिंदी-उर्दू अख़बारों और रिसालों की हालत है। इस से तंगनज़री और तअस्सुब पैदा होता है। और यह अदब के हक़ में ज़हर है। अगर हमारे अदबी इदारे और किसी ग़रज़ से न सही, सिर्फ़ अदब की ख़ातिर मुत्तफ़िक़ा तौर पर इन बातों से अपनी बेज़ारी ज़ाहिर करें तो कोई वजह नहीं कि इस का असर न हो। लेकिन सिर्फ़ तजवीज़ें पेश कर देना और क़रारदादें मंज़ूर कर लेना काफ़ी न होगा। इन इदारों को ख़ुद भी इन पर अमल कर के दिखाना होगा।

इस क़िस्म के और बहुत से क़िस्से क़ज़िए हैं। मसलन हिंदी-उर्दू या रस्म ख़त की बहस या और छोटे-मोटे मसायल जिन का ताल्लुक़ ज़बान और अदब से है। इन सब झगड़ों के चुकाने का यही तरीक़ा हो सकता है, जो मैंने अर्ज़ किया है। अपनी-अपनी जगह पर हर एक अपनी राय को सायब और क़वी समझता है, लेकिन बाहम मिल बैठने और मशावरत की बड़ी करामात यह है कि जिन रायों को हम अटल समझे बैठे थे वह बाहम गुफ़्तगू करने के बाद भुरभुरी मालूम होने लगतीं हैं। ख़ुलूस नीयत शर्त है।

रस्म ख़त का मसला आज कल बहुत ज़ेर बहस है और ख़ासा भिड़ों का छत्ता बन गया है। इस में मुश्किल यह आ पड़ी है कि जैसा हमारे यहां आम दस्तूर है, रस्म ख़त को क़ौमी तहज़ीब और मज़हब का जुज़ समझ लिया गया है। इस लिए मौजूदा हालात में यह तवक़्क़ा नहीं हो सकती कि लोग ठंडे दिल से इस

पर ग़ौर करेंगे। लेकिन इस के यह मानी नहीं कि हम इस पर बहस करना तर्क कर दें। ग़ौर से देखा जायगा तो मालूम होगा कि इस मसले को जजबात और मज़हब से कोई ताल्लुक नहीं हो सकता, बल्कि यह इख़्तियारी मसला है। जिस रस्म ख़त में सर्फ़ कम होगा, वक्त कम लगेगा, जगह कम घिरेगी, और जिस के पढ़ने में आसानी होगी वही मक़बूल हो के रहेगा। आम तौर पर लोगों ने हिंदी-उर्दू से मुताल्लक़ कर के झगड़े के लिए एक नया शाख़साना खड़ा कर लिया है। रस्म ख़त का मसला आम है और हिंदुस्तान की तमाम ज़बानों से ताल्लुक़ रखता है। इस का हल आसान हो. लेकिन इस का रवाज आसान नहीं। इस के लिए एक मुद्दत दरकार होगी। फ़िलहाल यह मुनासिब मालूम होता है कि हमारे रसूम ख़त में जो नक़ायस हैं उन की इस लाह कुशादादिली से की जाय। हिंदी सम्मेलन ने इस तरफ़ क़दम उठाया है। इसी तरह अगर कोई एक कमेटी ऐसी क़रार दी जाए, जो उर्दू रस्म ख़त पर ग़ौर करके उस में मुनासिब इसलाह अमल में लाए तो एक मुफ़ीद काम होगा।

हिंदुस्तानी एकेडेमी का वजूद इस सूबे में बहुत ग़नीमत है। वह इसी क़िस्म के मसायल हल करने और इसी तरह की इसलाहें अमल में लाने के लिए क़ायम की गई थी। मैं इस वक़्त इस के कामों पर कोई तबसरा करना नहीं चाहता लेकिन एके-डेमी के कारफ़रमाओं की ख़िदमत में इस क़दर अर्ज़ करने की जुरअत करता हूँ कि जब एकेडेमी ने हिंदुस्तानी का लक़ब अख्तियार किया है और हिंदुस्तानी के रवाज का बीड़ा उठाया है तो क्यों अब तक कुछ किताबें ऐसी तालीफ़ नहीं कराई गई और कोई रिसाला ऐसा नहीं शाया किया गया जो हिंदुस्तानी ज़बान में हो और बजिंसहू बग़ैर किसी तग़ैयुर व तब्दीली के दोनों रस्म ख़त में लिखा जा सके। अगर यह मुमकिन हो और एकेडेमी इस की कोशिश करे तो ज़बान की बड़ी ख़िदमत होगी। और यह जो एतराज़ है कि हिंदुस्तानी की दौड़ सिर्फ़ मामूली बोलचाल और कारबार तक है और अदब में उस की कोई हैसियत नहीं, बहुत कुछ रफ़ा हो जायगा। और इस से भी ज़्याद: मुफ़ीद काम जो एकेडेमी कर सकती है वह यह है कि वह इसी ज़बान में ऐसी रीडरें तैयार कराए जो दोनों रस्म ख़त में लिखी जाएं और मदारिस में रायज की जाएं इस लिए वह दोरंगी जो इस वक़्त इस सूबे के मदारिस में पाई जाती है ख़ुद ब ख़ुद उठ जायगी। और लड़के इब्तिदा से ऐसी ज़बान लिखने और बोलने के आदी हो जायेंगे, जो इस इलाक़े का हर शख़्स समझ सकता है। हिंदुस्तानी के रवाज का सब से बड़ा ज़रिया यह मदारिस हो सकते हैं। जब ज़बान एक हो जाएगी तो रस्म ख़त की नज़ाअ आप-से-आप उठ जायगी। अभी ज़बान ही एक नहीं, रस्म ख़त की बहस कैसी!

हज़रात ! वक्त गुज़रता जाता है और बहुत से ऐसे मसायल अधूरे पड़े हैं अगर हम फौरन और बहुत जल्द उन को तै नहीं कर सकते तो कम से कम हम उन के जल्द तै करने का सामान फ़ौरन मुहैया करना चाहिए। जिस वक़्त कोई ऐसी तजवीज़ पेश हो और इंशा अल्ला इस का मौका बहुत जल्द आने वाला है तो मुझे उम्मीद है कि वह असहाब जो अपनी ज़बान के सच्चे बिहीख़्वाह हैं अपने तर्जुबे और मशविरे से मदद देने में दरेग़ न फ़रमायेंगे।

मुद्रक—भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, मैनेजर, कायस्थ पाठशाला प्रेस, प्रयाग

हिंदुस्तानी एकेडेमी (संयुक्त प्रांत)

इलाहाबाद

के

चतुर्थ साहित्य-सम्मेलन

के अवसर पर

डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल०

जेनरल सेक्रेटरी, हिंदुस्तानी एकेडेमी

का

शुक्रिया

१२ जनवरी, १९३६

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तरफ़ से मेरा कर्तव्य है कि मैं मिस्टर सच्चिदानंद सिनहा, डाक्टर गंगानाथ झा और मौलाना अब्दुल हक़ का शुक्रिया अदा करूँ। आप ने हम पर जो अहसान किया है उस के गुणों की चर्चा करना मेरा ऐन फ़र्ज़ है। एकेडेमी की नींव को डले आज क़रीब-क़रीब नौ बरस पूरे होते हैं। लोग पूछते हैं कि इन नौ बरसों में इस ने क्या काम किया और आगे इस से क्या आशा है। अदब या साहित्य की तारीख़ से परिचय रखने वाले जानते हैं कि किसी क़ौम या उस के अदब के जीवन में नौ बरस का समय बहुत थोड़ा होता है। इतने समय में किसी बड़ी तब्दीली की उम्मीद कठिन है। फिर भाषा, जिस पर अदब का आसरा है, बड़ी हद तक अपने स्वभाव से ही बदलती है, समाज की गति के साथ बनती और बिगड़ती है, लेकिन समाज की चाल का जिन शक्तियों पर आधार है उन पर क़ाबू पाना आसान नहीं। यह मानते हुए भी इतना कह देना ज़रूरी जान पड़ता है कि समाज भाषा पर दो तरह से असर डालती है—इरादे और इच्छा के साथ भी और बिना इरादे के अनजान तरीकों से भी। हर समाज अपनी नई पौध के बच्चों को भाषा सिखलाती है लेकिन पहले-पहल बिना किसी जाने-बूझे तरीक़े के यह तालीम होती है। मा-बाप, कुन्बे और पड़ोस वालों से लड़के-लड़कियां बोली सीखते हैं, लेकिन इस तरह की शिक्षा पाने के बाद यही बालक तालीम के दूसरे रास्ते पर चलना शुरू करते हैं, मदरसों और पाठशालों में जाते हैं। यह रास्ता उस तालीम का है जिस के तरीक़े सोच समझ कर निकाले गए हैं, समाज की इच्छा और इरादे से पैदा हुए हैं, और बदलते रहते हैं।

भाषा पर भी दोनों तरह के असर पड़ते हैं। एक तो वह जिन का संबंध हमारे इरादे के साथ है, और दूसरे वह जो आदमियों के मेल से उन के इरादों के बिना ही काम करते हैं। जहां तक एकेडेमी जैसी संस्थाओं का ताल्लुक़ है उन का फ़र्ज़ है कि सोच-समझ कर ऐसे असर पैदा करने की कोशिश करें, जिन के ज़ोर से

ऐसी भाषा बने जो देश और जाति के काम के लिए मुफीद हो। अगर इस निगाह से भाषा के सवाल पर ग़ौर करें तो दो-तीन बातों की तरफ ध्यान देना ज़रूरी होगा। पहली बात तो यह है कि हमारे लिए बड़े फख्र और गौरव की जगह है कि सारे हिंदुस्तान में हमारे सूबे ही की ज़बान को ही इस योग्य समझा गया है कि यह कुल क़ौम की ज़बान बने। लेकिन इसी के साथ दुःख इस बात का है कि हमारे सूबे में भारी दुविधा है कि इस ज़बान की सूरत कैसी हो। सोचने की बात है कि बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब में बंगला, मराठी, और गुजराती या पंजाबी बिला तफ़रीक़ के सूबे के सब रहने वालों की एक भाषा है। दक्खिन में द्राविड़ी भाषाओं की यही हालत है। लेकिन हमारे सूबे में जहां की ज़बान को सब हिंदुस्तानी सीखना चाहते हैं, चाहे वह उत्तर में रहते हों चाहे दक्खिन में, वहां अब तक यह फ़ैसला नहीं हो सका कि सूबे की ज़बान क्या हो? ज़बान एक हो या दो हो? इस दुविधा के नतीजे अच्छे नहीं हैं। इस से एकता के बजाय अनेकता फैलने का डर है। यह अनेकता देश और सूबे दोनों के हितों की विरोधी है।

इस वक्त सूबे का ही ख़याल कीजिए और यहां की कठिनाइयों पर ध्यान दीजिए। यह सब चाहते हैं कि हमारी तालीम नीचे दरजों से ले कर ऊँचे से ऊँचे दरजे तक हमारे देश की भाषा के ज़रिए से हो। बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और तामिल देशों में यह आसानी से हो सकता है पर अपने सूबे में बड़ी मुश्किल है। इस समय जब केवल एन्ट्रेन्स तक की पढ़ाई देशी भाषा में होती है तब भी स्कूल की हर एक जमात में उर्दू और हिंदी की अलग-अलग किताबें हैं। मास्टरों को दोनों भाषाओं का एक-सा अभ्यास नहीं। एक भाषा इस्तेमाल करते हैं तो दूसरी ज़बान के लड़के नहीं समझते, दोनों बोलने की कोशिश करते हैं तो घंटे में सबक़ कम पढ़ा सकते हैं। अगर एफ़्० ए०, बी० ए०, और एम्० ए० में भी देशी भाषा द्वारा पढ़ाई हुई तो ज़ाहिर है कठिनाई बढ़ जायगी क्योंकि ऊँचे दरजे के मज़मूनों को पढ़ाने के लिए ज़बानें, विज्ञान और इल्म की परिभाषाओं और इस्तिलाहों की वजह से, और भी दूर-दूर होती जायँगी। एक ही यूनिवर्सिटी में एक ही विषय को पढ़ाने के लिए दो-दो प्रोफ़ेसर रखने पड़ेंगे। इस वक्त भी यूनिवर्सिटी की तालीम का ख़र्चा सूबे पर भारी हो रहा है, आगे तो इस का बोझ सहने क़ाबिल न रह जायगा।

फिर काउन्सिलों में क्या होगा ? मेम्बर किस भाषा में बोलेंगे ? उन की तक़रीरों को कौन समझेगा ? राय देने वालों को कैसे समझायेंगे ? अख़बारों और इश्तहारों में और सरकारी एहकामों में कौन-सी भाषा का प्रयोग करेंगे ? अगर दो-दो ज़बानें चलीं तो सूबे का जीवन दो भागों में बँट जायगा। मज़हब तो अनेक हैं ही, समाजें भी अलग-अलग हो जायेंगी। राजनीति, शिक्षा, सभ्यता, सियासत, तालीम, तमद्दुन सभी जुदा-जुदा होंगे। ऐसी हालत में यह होगा कि बजाय इस के कि हमारे सूबे की भाषा सारे देश की भाषा हो, उस सूबे की भाषा यह जगह लेगी जो इन झगड़ों से पाक साफ़ हो और जिस में ऊँचे से ऊँचे विषयों कि तालीम हो सके। यह हमारे लिए शर्म की बात होगी।

कुछ लोगों की राय है कि एकता की कोशिश बेकार है। हमारे देश में एक ज़बान कभी नहीं चल सकती। यह तो मैं मानता हूँ कि इस समय देश की हालत बुरी है, सम्प्रदायों और फ़िरक़ों के झगड़ों ने कोलाहल मचा रक्खा है, तबीअतों में भेद और द्वेष, दिलों में बेचैनी है लेकिन क्या यही हालत हमेशा बनी रहेगी ? हरगिज़ नहीं, हरगिज़ नहीं। इस दशा के नतीजे ऐसे भयानक हैं कि उन को सोचने में ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कौन है जो अपनी आने वाली सतानों का सदा के लिए दुख, पीड़ा और ग़ुलामी की अभागी दशा में पड़ा रहना पसंद करेगा ? इस वक़्त देश पर चाहे जितना अँधेरा छाया हो, वह समय ज़रूर आएगा जब इस काली रात की अँधेरी दूर होगी, और प्रेम और अक़्ल का सूरज उदय होगा। हमें उस वक़्त की तैयारी करनी चाहिए। ज़बान के मुतअल्लिक़ बहुत सी बहकी बातें हो रही हैं। कुछ ने तो यह विचार कर लिया है कि ज़बान के साथ मज़हब ऐसा बँधा हुआ है कि अगर ज़बान पर कोई वार हुआ जिस से उस में कमज़ोरी आई तो मज़हब भी चल बसेगा। यह बड़ी भूल है। यूरोप व अमरीका में करोड़ों ईसाई हैं। उन में से सिवाय इने-गिने लोगों के किसी को ईसा मसीह की असली भाषा का ज्ञान नहीं है। हज़रत ईसा मसीह इब्रानी बोलते थे, उसी में इंजील की पुरानी और नई किताबें हैं, मगर इंगलिस्तान, फ्रांस और जर्मनी इत्यादि देशों के ईसाइयों को कभी यह घबराहट नहीं हुई कि बाइबिल के इब्रानी में न होने के कारण उन के धर्म में कोई दुर्बलता आई हो। चीन में करोड़ों बौद्ध और मुसलमान हैं। न बौद्ध पाली जानने

हैं जो उन के धर्म की पुस्तकों की भाषा है, न मुसलमान अरबी। लेकिन दोनों अपने-अपने मज़हब में पक्के हैं। हिंदी में अगर फ़ारसी अरबी का पुट दे दिया जाय तो हिंदू धर्म की हानि नहीं हो सकती, और उर्दू अगर हिंदी के लफ़्ज़ इख़्तियार कर ले तो इस्लाम ख़तरे में नहीं पड़ जायगा। यही ख़याल ठीक नहीं है कि हिंदुओं की सभ्यता और मुसलमानों के तमद्दुन की रक्षा के लिए दो अलग-अलग ज़बानें—पंडिताऊ हिंदी और मौलवियाना उर्दू—ज़रूरी हैं। पहला सवाल तो यही उठता है कि क्या सचमुच हमारे यहां दो सभ्यताएं या तमद्दुन हैं। यह सब मानते हैं कि सभ्यता का संबंध दो चीज़ों से है, एक हमारे अंदर है, दूसरी बाहर। अंदरवाली चीज़ मन है, बाहर वाली समाज। मन की दो सूरतें हैं, विचार और भाव। समाज भी दो खंभों के सहारे खड़ी है, शिक्षा और संपत्ति। अब अगर हम हिंदुस्तान के बनिज-व्योपार या खेती और दस्तकारी की तरफ़ देखें तो सम्प्रदायों और फ़िरक़ों में तनिक भी फ़र्क़ न मिलेगा। तालीम भी सब की बहुत कुछ एक-सी हो रही है। सब पर एक ही तरह के विचारों का, जिन का सोता यूरोप है, असर पड़ रहा है। पुराने ज़माने के दर्शन और शास्त्र, इल्म और फ़ल्सफ़े की तरफ़ से ध्यान हट रहा है, केवल इस लिए नहीं कि हम अंग्रेज़ी मदरसों में पढ़ते हैं और हमारे दिलों पर यूरोप का रोब छाया हुआ है, बल्कि इस लिए कि सायंस और फ़िलासफ़ी का आदमी मात्र की बुद्धि से नाता है और इस लिए वह किसी ख़ास देश की नहीं, सारी दुनिया की यकसां मीरास है।

भावों को देखिए। एक तरफ़ वह जीवन-यात्रा का रास्ता निश्चय करते हैं, दूसरी तरफ़ सफ़र की तकलीफ़ों को दूर करने के लिए राह को कांटों से साफ़ कर रंग-बिरंगे फूल-पत्तों से सजाते हैं। हमारे देश में आदमी और समाज के जीवन में नई ताक़तों, नए विचारों का ज़ोर दिखाई देता है। मज़हब के साथ वतन का भाव दिलों पर कब्ज़ा कर रहा है। गाँवों के झोंपड़ों में, शहरों के मकानों में, रईसों के महल्लों में, इस की आवाज़ गूंज रही है। यह आदमियों के मनों को बाँधने में, हिंदुस्तानियों को एक समाज बनाने में, दिनोंदिन सफलता हासिल कर रहा है। इस भाव का हमारी कला में, आर्ट में, कविता में, अदब में सञ्चार

हो रहा है। अब्दुल रहमान चग़ताई हो या नंदलाल बोस, उन की तस्वीरों के पात्र लैला मजनूं हो या शिव-पार्वती, दोनों का तर्ज़ एक है, असल एक है, रंग-आमेज़ी एक है, सुंदरता का आदर्श एक है।

ग़रज़ यह कि अगर हम अपनी समाज के जीवन-समुद्र की गहरी जाँच करें तो मालूम होगा कि कूड़ा-करकट, झाग और फेन से ढकी हुई सतह के नीचे एक पानी है जो लहरें ले रहा है। तफ़र्क़े का इंद्रजाल दिखावटी है जो आन की आन में टूट सकता है। आइए, हम आप इस एकेडेमी के मेम्बर मिल कर वह इस्मेआज़म पढ़ें जो इस तिलस्माती ढोंग का सदा के लिए अंत कर दे।

उर्दू हिंदी का फ़र्क़ ज़बानों के ढांचे का फ़र्क़ तो है नहीं। दोनों की क़वायद या व्याकरण एक है, दोनों एक ही आर्यन भाषा की शाखाएं हैं, दोनों का शब्दों का भंडार बहुत कुछ मिलता-जुलता है। फ़र्क़ है तो कविता में छंदों का, अदब में कुछ लफ़्ज़ों का और तरकीबों का। छंद का फ़र्क़ तो पुराना है, लेकिन हिंदी और उर्दू में नई-नई बहरें चल रही हैं जो इस फ़र्क़ को धीरे-धीरे मिटा रही हैं और कवि-सम्मेलनों और मशायरों में एक से राग सुनाई देते हैं। तरकीबों का फ़र्क़ आसानी से मिट सकता है। लफ़्ज़ों में मुश्किल है, ख़ास कर इल्म या विज्ञान की भाषा में। लेकिन अभी यह फ़र्क़ इतना नहीं बढ़ा है कि रुक न सके। संस्कृत और अरबी के तत्सम शब्दों से परहेज़ करने से और हिंदुस्तानी के तद्भव शब्द गढ़ने के लिए क़ायदे बनाने से यह कठिनाई दूर हो सकती है। जो शब्द हमारे यहां पेशावरों में इस्तेमाल में आते हैं उन से बहुत सी इस्तलाहें मिल सकती हैं। माद्दा या मूल शब्द कहीं का हो उस पर हिंदुस्तानी प्रत्यय साबिक़े और लाहक़े इत्यादि लगा कर हिंदुस्तानी बनाया जा सकता है। इसी तरह संज्ञा (इस्म) से कर्म (फ़ेल) और फ़ेल से इस्म बन सकते हैं और इसी तरह और शब्दों में समास या मुरक्कब। यह कोई नई बात नहीं। हिंदी और उर्दू का इतिहास इस तरह के अमलों-प्रयोगों से भरा है। हमारे मुल्क का नाम हिंदुस्तान ही इस का सबूत है। यह उस मेल की ओर इशारा करता है जिस की छाप हमारी आबादी पर है और हमारी सभ्यता, कला और अदब पर है।

समाज मनों के मेल से पैदा होती है और भाषा समाज के जीवन में प्राण है। मन मिल जायँ तो एक समाज बन जाय और एक भाषा पैदा हो जाय।

बड़ी हद तक यह काम शायर और अदीब, कवि और लेखक कर सकते हैं, वह नहीं जो लफ़्ज़ों के आडंबर रचते हैं, लेकिन वह जिन के लिए कहा है कि शायरी का दरजा पयंबरी है। यह लोग ज़बान के सँवारने वाले तो हैं ही, मनों के मिलाने वाले भी हो सकते हैं। अफ़सोस है इस वक़्त ऐसे शायर और अदीब कम हैं जिन का कोई पयाम हो। क्यों नहीं हमारे कवि उस दुनिया का संदेशा देते जिस के सुनहले आसमान पर अनंत सुख की मुस्कराहट है, जिस की हरी-भरी ज़मीन पर शांति सदा राज करती है, और जहाँ सच, सुंदरता और आनंद की देवियों के मंदिर हैं ? असली कवि वही है जिस का अनुभव हिस तेज़ है। वह इस दुनिया में कलियों की चटक, .कुदरत के रसीले राग सुनता है, फूलों की शोख़ी, रुतों के अनोखे दृश्य देखता है, उस की कल्पना तुरंत उसे दूसरी दुनिया में पहुँचा देती है, और वह यहाँ में वहाँ की लीला की झलक पाता है। वह आदमियों के व्यवहारों में कौतूहल का अनुभव करता है, समाज के जीवन-प्रवाह का तमाशा देखता है। उस की विचार शक्ति, तख़ैयुल की ताक़त, आदमियों में और समाज की संस्थाओं में अपार दुनिया के पात्रों का चरित्र, अटल नैतिक और इख़लाक़ी कुव्वतों की कार्रवाई देखती है। कविता, नाटक, क़िस्से और कहानी उस की चतुराई का पता देते हैं। क्यों कर वह अपनी रचना (तख़लीक़) के बल से उस दूर से दूर लेकिन नज़दीक से नज़दीक दुनिया की ख़बर उड़ा लाता है और इस दुनिया के मामूली इंसानों तक पहुँचा कर उन के दिलों को उमंग, जोश और वलवले से भर देता है।

अगर हमारी एकेडेमी हमारे कवियों और लेखकों को जगा सके ताकि वह इस मायावी दुनिया के सपनों की अस्लियत पहचान लें, और उस सच्ची दुनिया के अमृतमय नूर से हमारे मनों को रोशन कर दें तो सचमुच इस संस्था का मक़सद पूरा हो जाय।

मुझे उम्मीद है कि मिस्टर सिनहा जो वर्षों से इन आदर्शों के पूरा करने में लगे हैं, हमारी इस नई संस्था को इस रास्ते पर चलने में सहायता देंगे।

मुद्रक—भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, मैनेजर, कायस्थ पाठशाला प्रेस, प्रयाग

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

अप्रैल, १९३६

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी, अप्रैल, १९३९

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ६ | अप्रैल, १९३६ | अंक २

नागार्जुन

[लेखक—डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम्० ए०, डी० लिट्०]

नागरी-प्रचारिणी सभा के साहित्य-परिषत् में व्याख्यान[1] देते हुए पाँच वर्ष पूर्व मैं ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में बहने वाली योगधारा के अस्तित्व का दर्शन कराने की चेष्टा की थी, जो हिंदी साहित्य के इतिहासों में स्वीकृत निर्गुणधारा के बहुत पहले से बहती चली आ रही थी और निर्गुणधारा भी जिस का एक विकसित अथवा परिवर्तित रूप मात्र थी। मुझे हर्ष है कि हिंदी के विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इस विषय में मेरे साथ साहमत्य प्रकट किया है और अब हिंदी साहित्य के इतिहास में योगधारा को निर्विवाद स्थान प्राप्त हो गया है।

इस योगधारा में योग देने वाले कवियों में से बहुत प्राचीनों में नागार्जुन का भी नाम आता है। नागार्जुन के नाम से तीन 'सबदियाँ' मुझे प्राप्त हुई है जो हिंदी में हैं। त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन जी ने भी उन के 'नागार्जुनगीतिका' और 'स्वसिद्ध्युपदेश' नामक दो हिंदी ग्रंथों का उल्लेख किया है, जिन का पता उन्हें भोटिया भाषा के ग्रंथों से लगा है।

---

[1] निबंधरूप में यह नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अंक ४ में छप चुका है।

परन्तु सब से पहले प्रश्न यह उठता है कि—यह नागार्जुन है कौन ? इतिहास के लिए नागार्जुन एक पहेली ही हो गए है। द्रौपदी की चीर की तरह उन्हें किंवदंतियों ने ऐसा ढँक लिया है, कि उन के संबंध के तथ्य को खोलना ऐतिहासिकों के लिए असंभव-सा हो रहा है। यहाँ तक कि वे अब तो सामान्य लोक से ऊपर उठ कर बिल्कुल अलौकिक हो गए है। एक कथानक उन्हें तीन सौ वर्ष की आयु देता है, और एक और ५२९ वर्ष या इस से भी अधिक की।

फिर भी इतिहासज्ञो का कहना है कि इस नाम ने कम से कम तीन व्यक्तियो को ढँक रक्खा है, जिन के समय मे बहुत अतर है। एक नागार्जुन तो अवश्य ही विक्रमाब्द की दूसरी शताब्दी में हो गए थे जिन के आदेश से कुषाण नृप कनिष्क प्रथम ने बौद्धो की चतुर्थ महासंगीति को आमंत्रित किया था। बुद्ध की शिष्य-परंपरा मे वह तेरहवाँ अथवा चौदहवाँ व्यक्ति था। लंकावतार सूत्र के अंतिम श्लोको मे उस के नाम का उल्लेख है। नागार्जुन के नाम से प्रसिद्ध ग्रथो मे कनिष्क, किल्कि, वसुमित्र, अश्वघोष तथा धर्मगुप्त आदि राजाओ के नामो का उल्लेख मिलता है।

दूसरे रसेंद्राचार्य नागार्जुन है जो रसायन-शास्त्र (कीमिया) के आचार्य थे। आयुर्वेदशास्त्र की रसेंद्र (पारद) प्रक्रिया के आचार्य यही माने जाते है—नागार्जुन गर्भ भी आयुर्वेद के आचार्य प्रचलित है। युअन्च्वाग ने अपने भारत-यात्रा-विवरण मे इन का उल्लेख किया है, यद्यपि इस में सदेह नही कि उन्हो ने माध्यमिकाचार्य नागार्जुन को भी इन के साथ मिला दिया है। युअन्च्वाग ने लिखा है कि राजा यिन्-चिग ने इन के लिए पो-लो-मो-लो-कि-लि (भ्रमर गिरि) मे चट्टानो को काट कर एक गुफा-विहार बनाया था, जिस में कई मंदिर, बुद्ध की बडी-बडी स्वर्ण मूर्तियाँ, बडे-बडे कमरे आदि थे और जिस मे जाने के लिए दो मील लंबा रास्ता शैलो को काट कर बनवाया गया था। इस के बनाने मे जब राजा को अर्थाभाव हो गया तो नागार्जुन ने चट्टानो को सोने में बदल दिया। इस से पता चलता है कि रसायन (भारतीय कीमिया) के आचार्य नागार्जुन युअन्च्वाग के समय (सातवीं शताब्दी) से पहले हो गए थे। वट्र्स ने युअन्च्वाग के यात्रा-विवरण मे उल्लिखित राजा यिन्-चिग को आंध्रनरेश शातवाहन बनाया है। यह ठीक भी मालूम पड़ता है क्योंकि बाणभट्ट के अनुसार नागार्जुन शातवाहन का सुहृद् था जिसे उस ने पाताल के नागराजा से एकावली मुक्तामाला ला कर दी थी। इस माला में सब प्रकार

के विषो के प्रभाव को दूर करने की शक्ति थी।[1] कहते हैं कि शातवाहन के नाम सुहृल्लेख नामक एक चिट्ठी लिखी थी, जो चीनी और भोटिया भाषा में अब भी सुरक्षित है।

तीसरे, सिद्ध नागार्जुन हैं। लामा तारानाथ के वर्णन में इन के साथ माध्यमिकाचार्य और रसेन्द्राचार्य दोनो ससृष्ट हो गए हैं। इन्ही तीनो के सम्मिलित रूप को बोधिसत्त्व नागार्जुन समझना चाहिए।

हिंदी में भी एक और नागार्जुन का नाम आता है। विक्रमाब्द की अठारहवीं शताब्दी में भगवानदास निरजनी एक महत्त्वपूर्ण कवि हो गए है। 'प्रेम-पदार्थ', 'अमृत-धारा (१६८५ स०), 'भगवद्गीता' का अनुवाद और 'भर्तृहरिशतक' का अनुवाद—ये ग्रथ इन के नाम से मिलते हैं। इन्हो ने अपने गुरु का नाम नागार्जुन लिखा है।

क्या हमारे नागार्जुन इन मे से कोई है, अथवा इन से सर्वथा भिन्न ही हैं?

पहले नागार्जुन अर्थात् माध्यमिकाचार्य द्वारा प्रचारित विचारधारा का हिंदी के योगी तथा सत-कवियो के ऊपर काफी प्रभाव दिखाई देता है। नागार्जुन प्रज्ञावाद अथवा शून्यवाद के सब से बड़े आचार्य हैं। प्रज्ञावाद के अनुसार योग तर्कसम्मत तथा प्रत्यय-ज्ञान तथा वाह्यरूप-ज्ञान से ऊपर उठने से प्राप्त होता है। क्यो कि सामान्यतया मनस् जिसे वास्तविक समझता है, उस का परमार्थत कोई अस्तित्व नहीं। माध्यमिक शास्त्र (नञ्ज्यो स० ११७९) में नागार्जुन ने बतलाया है कि तत्त्व जैसा है वैसा (तथा) उस का वर्णन करना असभव है। वह शून्य है। शून्य ही में सब दृश्य पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं और शून्य मे ही वे लीन भी हो जाते हैं। इस शून्य-स्वरूप अर्थात् तथाता की अनुभूति होने के ही कारण बुद्ध तथागत समझे जाते हैं। वहीं से वे उत्पन्न हुए है इस लिए भी वे तथागत हैं। दृश्यपदार्थ भी शून्य ही है। यद्यपि बिना शरीर के व्यावहारिक अस्तित्व नहीं रह सकता फिर भी परमार्थत. तथागत का शरीर नहीं है, क्योंकि शरीर भी शून्य है। शून्य को न हम सत् कह सकते है न असत्। सत् और असत् दोनो भ्रम हैं। इन का आरोप तत्वप्राप्त तथागत पर नही हो सकता। तथागत मे आत्मभाव नही है। आत्मभाव न किसी मे जन्म

---

[1] 'हर्षचरित', सप्तम उच्छ्वास।

से पहले रहता है और न मरण के बाद। अतएव सापेक्ष व्यावहारिक गुणों के धीरे-धीरे निराकरण से प्रज्ञा प्राप्त होती है।

यद्यपि शकर के प्रभाव से आत्मनिषेधक इस शून्यवाद ने योगियो और निर्गुणी सतों मे आत्मवाद का बाना ग्रहण कर लिया है, फिर भी परिवर्तित वेष मे भी वह अलग पहचाना जाता है। गोरखनाथ ने कहा है—

वस्ती न शून्यं शून्यं न वस्ती अगम अगोचर ऐसा।

यद्यपि इस मे गोरखनाथ ने अगमतत्व के शून्यत्व का निषेध किया है फिर भी इस मे शून्यवाद के शून्यत्व का निषेध नही है। क्यों कि यह शून्यत्व केवल असत् का द्योतक है जिसे अनिर्वचनीय शून्यत्व पर आरोपित नही कर सकते। और तत्व को अस्ति और अनस्ति, सत् और असत् के बाहर बतलाना वस्तुत नागार्जुन की ही शैली का अनुसरण करना है। निर्गुण कवियों पर भी यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। कबीर ने कहा है—

सोई पै जानै पीर हमारी जिन्ह सरीर यह ब्यौरी।
जन कबीर ठग ठग्यो है बपुरो सुन्न समानी त्यौरी॥

और दादू ने—

सहज सुन्नि सब ठौर है, सब घट सबही माहिं।
तहाँ निरंजन रमि रहा कोइ गुण व्यापै नाहिं॥

कबीर और दादू के इस सर्वव्यापी शून्य मे नागार्जुनीयता विद्यमान है, यह उन के निम्न-लिखित उद्धरणों से सिद्ध होता है। कबीर कहते हैं—

जहाँ नहीं तहाँ कुछ जाणि।
जहाँ नहीं तहँ लेहु पछाणि॥
नाहीं देखि न जइए भागि।
जहाँ नाहिं तहँ रहिए लागि॥

दादू कहते हैं—

नाहीं तहाँ तैं सब किया फिर नाही ह्वै जाइ।
दादू नाहीं होइ रहु साहिब सौं ल्यौ लाइ॥

वस्तुत. नागार्जुन से आती हुई दार्शनिक परंपरा हिंदी में अपने शुद्धरूप में भी दिखाई देती है। लार्ड हेस्टिंग्स के जमाने मे हाथरस का राजा दयाराम इस मत का बड़ा पोषक था, उस के लिए बखतावर नामक जोगी ने 'शून्यसार' नामक ग्रथ लिखा। यद्यपि यह ग्रथ मेरे देखने में नहीं आया है फिर भी विल्सन ने इस के अवतरणो का जितना अनुवाद अपने ग्रथ 'रिलिजस सेक्ट्स अव् दि हिंदूज' में दिया है उतने से स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि लेखक नागार्जुन के ही सिद्धातो को अपने ढग से दुहरा रहा है। इधर-उधर कहीं थोडा-सा हल्के आत्मवाद का गिलाफ उस पर हो तो हो। यहाँ पर एक अवतरण दिया जाता है—

> जो कुछ मै देखता हूँ वह शून्य है, आस्तिकता और नास्तिकता दोनो भ्रम है, मिथ्या है। यह पृथ्वी और ब्रह्माड, इह लोक और परलोक, सूर्य और चद्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कूर्म और शेष, गुरु-चेला, व्यक्ति-जाति मदिर-देवता, पूजा-अर्चा, भजन-स्मरण सब शून्य हैं। कहना-सुनना, वाद-विवाद सब शून्य हैं। तत्व भी कुछ नहीं है।......
>
> मै शून्यता मे ध्यान लगाता हूँ पाप-पुण्य कुछ नहीं जानता।"

वस्तुत शकर मे भी यही बात है। उन्हो ने केवल बौद्धो के शून्यवाद और विज्ञान-वाद को अनात्मख्याति के स्थान पर आत्म-ख्याति का बाना पहना दिया है। इसी लिए शकर 'पद्मपुराण' मे प्रच्छन्न बौद्ध कहे गए हैं।

मै ने एक जगह कहा है कि शून्य को नाथ योगी ब्रह्मरध्र के अर्थ में भी प्रयोग करते है। नहीं कहा जा सकता कि माध्यमिकाचार्य के जमाने मे हठयोग का विस्तार हो गया था या नहीं, पर इतना निश्चय है कि नाथ योगी उन्हे योगी ही मानते रहे होगे। 'गोरक्षसिद्धात-सग्रह' मे नागार्जुन 'महानाथ' कहे गए हैं—'नागार्जुनो महानाथः'। कम से कम योगियो की सब से बडी सिद्धि आश्चर्य-जनक रूप से नागार्जुन के साथ सबद्ध है। शून्य के अतिरिक्त ब्रह्मरध्र का एक दूसरा नाम भ्रमर-गुफा है। नागार्जुन ने शून्य मे ध्यान लगा कर प्रज्ञापार-मिता की प्राप्ति की ओर सकेत किया था। इस महाशून्य मे यदि किसी की पूर्ण स्थिति हो सकती है तो स्वभावत शून्यवाद के सब से बडे आचार्य नागार्जुन की। अतएव शून्य नागार्जुन का वासस्थान हुआ। बाद को जब यह सूक्ष्म तत्व भी काया ही मे प्रतिष्ठित कर दिया गया और ब्रह्मरध्र मे लोग ध्यानस्थ होने लगे तो भी नागार्जुन का साहचर्य उस से

गया रहा। और धीरे-धीरे नागार्जुन का स्थूल निवास-स्थान सूक्ष्म ब्रह्मरंध्र का प्रतीक बन गया और भँवरगुफा अथवा भ्रमरगुहा कहा जाने लगा। यह वही भ्रमरगुहा है जिसे युअन्च्वांग के अनुसार राजा दिन्-चिंग (शातवाहन) ने पो-लो-मो-लो-कि-लि में बनवाया था। पो-लो-मो-लो-कि-लि भ्रमर-गिरि है जो आजकल की रीवा रियासत में स्थित है। इस बात का पता प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री राखालदास बनर्जी को रीवा नगर से बीस मील दक्खिन की ओर चद्रेह नामक स्थान के ९७३ ईसवी के एक शिलालेख से लगा था।[१] यह भ्रमरगिरि ब्रह्मगिरि भी कहलाता है जो ब्रह्मरंध्र और भ्रमरगुहा के पर्यायत्व का परिणाम है। यद्यपि मेरी समझ से शातवाहन का सुहृद् दूसरा नागार्जुन था तथापि जनसमुदाय दोनों नागार्जुनों में भेद नहीं मानता रहा है। इस लिए एक की बातें दूसरे पर आसानी से आरोपित होती रही है।

इन सब बातों के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत नागार्जुन वही थे: विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी में हिंदी का वह रूप नहीं हो सकता जो इन पद्यों में दिखाई देता है।

विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी वाले रसेंद्राचार्य भी ये नागार्जुन नहीं हो सकते। यह बात नहीं कि रसेंद्राचार्य का योगियो और संतो के ऊपर कोई प्रभाव ही नहीं है। योगियों में जड़ी-बूटियों के प्रयोग, धातुओं को बदलना, मारना तथा पारस पत्थर आदि आदि बातों के मूल रसेंद्राचार्य ही जान पड़ते है। परंतु उस समय भी हिंदी इस विकसित रूप में न रही होगी। फिर हमारे नागार्जुन की जो 'सबदियाँ' मिलती है उन में ऐसी कोई बात नहीं, जिस से उन्हे रसेंद्राचार्य की कह सकें।

भगवानदास निरंजनी के गुरु नागार्जुन वे नहीं है, यह भी निश्चय रूप से कहा जा सकता है। क्यों कि जैसा आगे चल कर पता चलेगा लामा तारानाथ ने अपने बौद्ध-धर्म के इतिहास में उन का जिक्र किया है। तारानाथ १५वीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ था जब कि भगवानदास विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में हुए है। यह बात ही दूसरी है कि भगवानदास ने अपने पंथ के बड़े आचार्य अथवा प्रवर्तक के नाते गुरु माना हो, वस्तुतः दीक्षा देने वाले गुरु के नाते नहीं।

---

[१] 'हिस्टरी अव् ओरीसा' भाग १

अब रहे सिद्धाचार्य नागार्जुन। मेरी समझ से यही इन सबदियो के लेखक हैं। स्वय इन सबदियो मे भी नागार्जुन ने अपने सिद्ध होने का सकेत किया है—'सिद्ध सकेत नागार्जुन कहै।' परंतु इस का एक दृढ प्रमाण यह भी है कि अलग-अलग सरणियों से विचार करने से दोनो का एक ही समय ठहरता है। त्रिपिटकाचार्य राहुल साकृत्यायन जी ने भोट देश के स-स्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओ (११४८-१३३६ वि०) की ग्रंथावली स-स्कय-व्क-बुम् तथा कौडियर की सूची के आधार पर चौरासी सिद्धों की एक उपयोगी तालिका[1] बनाई है। इस के अनुसार नागार्जुन सरह के शिष्य ठहरते है और सरह धर्मपाल के समकालीन। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य भी नागार्जुन को सरह का शिष्य मानते है।[2] सरह के शिष्य नागार्जुन को हम धर्मपाल (८२६-८६६ वि०) के पुत्र देवपाल (८६६-९०६ वि०) का समकालीन मान सकते है।

अलबेरूनी जब स० १०८७ वि० मे भारत आया था, तब उस ने नागार्जुन की ख्याति सुनी थी, जो उस से एक शताब्दी पहले हो गया था। यद्यपि जनश्रुति ने अलबेरूनी को रसेंद्राचार्य का यह समय बताया था तथापि यथार्थत. यह सिद्धाचार्य नागार्जुन के समय की ही अंतिम सीमा हो सकती है। अलबेरूनी के अनुसार नागार्जुन के समय की अतिम सीमा ९८७ वि० के लगभग ठहरती है। पर जनश्रुति से प्राप्त समय को बिल्कुल ऐतिहासिक तथ्य मानना ठीक नही है। मेरी समझ से नागार्जुन का अतिम समय ९०६ और ९८७ वि० के बीच मानना चाहिए।

अब इन सबदियो के लेखक के समय की ओर दृष्टिपात कीजिए। ये सबदियाँ जिन सग्रहो मे प्राप्त हुई हैं उन मे २० से ऊपर योगियो की पद्य-रचनाएँ सग्रहीत है। उन मे से चर्पट और कणेरी ने नागार्जुन का उल्लेख किया है, जिस से उस का उन के समय मे होना पाया जाता है। कणेरी ने लिखा है—

पूछै कणेरी नागा अरजन।
प्यंड छाड़ि प्राण कहाँ समाई॥

---

[1] 'साधनमाला'।
[2] गंगा (पुरातत्त्वांक)।

चर्पट की उक्ति है

टीका टामा टमकली. बोलें मधुरी बाणी ।

चरपट कहै सुनो हो नागा अरजन सौरा की सहनाणी ॥

चर्पट की उक्ति का अर्थ है—'खूब तिलक-फटाका बेंदी दिए रहते हैं और मीठी वाणी बोलते हैं, हे नागार्जुन ये चोरो के लक्षण है।'

कणेरी स्वय सिद्ध नागार्जुन के शिष्य है। परंतु उन के समय के स्वतत्र विवेचन का कोई साधन उपलब्ध नही है। हाँ. चर्पट के समय का है।

चर्पट का उल्लेख चबा रियासत की राज-वशावली में आता है। भोटिया ग्रथो के आधार पर बनी हुई साकृत्यायन जी की तालिका मे भी चर्पट चबा देश का निवासी बतलाया गया है। ग्रुब टोव मे भी चर्पटी का चपक देश के किसी राजा से सबध बतलाया गया है। इस से वशावली का कथन पुष्ट हो जाता है। चबा की राजवशावली के अनुसार चपा-राज्य और चपापुरी की स्थापना के साथ चर्पट का घनिष्ट सबध है। वह राजा साहिल्लदेव का समकालीन था। साहिल्लदेव के कोई संतति न थी। इस लिए वह अपनी सहधर्मिणी के साथ हिमालय के दक्षिण पार्श्व मे तप करने के लिए चला गया। चौरासी सिद्ध प्रसन्न हो कर प्रकट हुए और उन्हो ने उस से वर मॉगने को कहा। राजा ने पुत्र मॉगे। राजा ने अपने लौट आने तक सिद्धो को वहीं ठहरने को कहा और आप चर्पट के साथ चला। राजा के युगाकार आदि दस पुत्र उत्पन्न हुए। क्षत्रियो को हरा कर राजा ने इरावती के तट पर जहाँ पहले चपा के वृक्ष थे चपानगरी की स्थापना की। चर्पट की सम्मति से राजा ने गुप्त चद्रेश्वर और कूर्मेश्वर महादेव आदि मदिरो की स्थापना की। और चर्पट का भी स्थान निर्मित किया। विध्य से पत्थर लाने के लिए उस ने अपने पुत्रो को भेजा था। अत मे राजा साहिल्लदेव चर्पट के साथ तप में स्थित हुआ। चौरासी सिद्ध भी उस के साथ थे।

इस वर्णन मे एक साथ चौरासी सिद्धों का उल्लेख देख कर चकित न होना चाहिए। क्योंकि वंशावली बहुत बाद की लिखी हुई है और समय के बीतने के साथ चौरासी सिद्धो का उस मे प्रवेश पाना कोई आश्चर्य की बात नही है। इस वर्णन से इतना स्पष्ट है कि

चर्पट साहिल्लदेव का आध्यात्मिक गुरु था। वोगेल[1] और ओमन[2] का भी मत है कि चंबा के राजप्रासाद के पास के मंदिर-समूह में चर्पट का भी एक मंदिर होना इस बात का द्योतक है कि राजा साहिल्लदेव का आध्यात्मिक गुरु एक काल्पनिक व्यक्ति मात्र न था।

साहिल्ल के समय का तो कोई ताम्रपत्र अथवा शिलालेख नहीं मिलता परंतु उस के उत्तराधिकारियों में से सोमदेव और आसट के दान-पत्र अवश्य मिलते हैं। परंतु उन से उन के समय का कुछ पता नहीं चलता। हाँ, राजा आसट का उल्लेख 'राजतरंगिणी' में भी हुआ है।[3] उस के अनुसार यह आसट उन आठ पर्वतीय राजाओं में से एक था जो ११४४ वि० के हेमंत-काल में काश्मीर की राजधानी श्रीनगर गए थे। उस समय अनंतदेव का पुत्र कलश काश्मीर का राजा था। चंबा की वंशावली के अनुसार साहिल्ल और आसट के बीच में योगाकर, दोग्ध, विदग्ध, विचित्रवर्मन्, धैर्यवर्मन्, सालवाहन और सोमवर्मन राजा हुए। बीच की इन आठ पीढ़ियों के लिए यदि हम २५ वर्ष प्रति पीढ़ी के हिसाब से लगावें तो २०० वर्ष होते हैं जिस से साहिल्ल और तदनुसार चर्पटी का सं० ९४४ वि० में विद्यमान होना पाया जाता है। अतएव उस के समकालीन नागार्जुन का भी यही समय मानना उचित है। ऊपर हम भोटिया ग्रंथों के साक्ष्य तथा अलबेरूनी के साक्ष्य से इस निर्णय पर पहुँचे थे, कि सिद्ध नागार्जुन के अंतिम काल की सीमा सं० ९०६ और ९८७ वि० के बीच मानी जानी चाहिए। हमारी सबदियों के रचयिता का ९४४ वि० में उपस्थित होना इस धारणा को पुष्ट करता है कि ये दो न हो कर एक ही व्यक्ति है।

सिद्धों का नाथ-पंथ में लिया जाना कोई आश्चर्य की बात भी नहीं। नागार्जुन ही एक ऐसे सिद्ध नहीं जो नाथ-पंथ में स्वीकृत किए गए हों। जलंधर, चर्पट, मत्स्येंद्र, चौरंगी, गोरक्ष आदि कई और भी सिद्ध उस में गृहीत हुए हैं। 'गोरक्षसिद्धांतसंग्रह' के अनुसार पंथप्रवर्तक बारह माने गए हैं—

---

[1] वोगेल, 'एंटीक्विटीज़ अव् दि चंबा स्टेट', पृ० ८६-८७

[2] वही, पृ० ९९; जे० सी० ओमन, 'मिस्टिक्स, एसेटिक्स ऐंड सेंट्स अव् इंडिया', १९०३, पृ० १०६

[3] 'राजतरंगिणी', ७, ५८८; स्टीन, भा० १, पृ० ३१५; वोगेल, पृ० १०३

नागार्जुनो जड़भरतो हरिश्चंद्रस्तृतीयकः
सत्यनाथो भीमनाथो चर्पटस्तथा ।
अवद्यश्चैव वैराग्यः कंथाधारी जलंधरः
मार्गप्रवर्तका ह्येते तद्वच्चमलयार्जुनः ॥

इन मे पहले तीन—नागार्जुन, जडभरत और हरिश्चंद्र तो पौराणिक जैसे हो गए थे। शेष मे से चर्पट, कथड़ (कथाधारी) जलधर और वैराग्य (कणेरी) सिद्धो मे गिने जाते हैं। परंतु विशेष विचारणीय यहाँ पर मलयार्जुन हैं।

योगपंथो मे बहुधा यह देखा जाता है कि नवीन सिद्ध प्राचीन सिद्धो के अवतार माने जाते है, और उन के नाम भी तदनुसार रक्खे जाते हैं। बालानाथ बालयती थे। इस लिए वे लक्ष्मण भी कहे जाते है। दत्तनाथ और हनुमत एक ही व्यक्ति के नाम है। इसी प्रकार भर्तृहरि और विचारनाथ तथा वैराग्यनाथ और कणेरी पाव भी। सभवत पीछे के दोनो नागार्जुन अपने जीवन-काल मे अपने से पहले के नागार्जुन के अवतार समझे जाते रहे हो जिस से उन का एक बोधिसत्व नागार्जुन में मिल जाना तथा कई सौ वर्षो की आयु का प्रख्यात होना सभव हुआ हो।

नामो मे साम्य तथा गोलमाल का एक और कारण भी है। कभी-कभी ये नाम साधना-मार्ग मे तै की हुई अलग-अलग मजिलो के द्योतक भी होते है। जिस से एक ही व्यक्ति अलग-अलग समय मे अलग-अलग नामो से विख्यात हो जाता है। और इस प्रकार एक ही व्यक्ति के कई नाम हो जाते है। टूची को नेपाल-काठमाडु के राणा श्री केशर समशेर जंग के पुस्तकालय मे एक हस्तलेख मिला है जिस मे किसी दामोदर का उल्लेख है, जो साधना करते-करते अद्वय वज्र हो गया था। नागार्जुन नाम भी कुछ-कुछ उपाधि-परक ही मालूम देता है। 'शिक्षासमुच्चय' मे लिखा है 'कल्याणमित्रेषु शूर सज्ञा'। हरिभद्र ने और भी लिखा है—

'त्रैविद्यादित्व विशिष्ट धर्माधिगमयोगान्महाप्रधान भावेन महानागः क्लेश-संग्रामविजयित्वान्महानाग।'[1]

---

[1] बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल भाग २६, पृ० १४८

महाप्रज्ञापारमिता[1] शास्त्र में नागार्जुन ने भी महानाग का अर्थ महापापशून्य लिखा है। जो संगीनियों के सम्मुख पेश किए जाते थे नाग कहलाते थे। अर्हतों को नाग—सर्प अथवा गज कहते हैं, इस लिए कि सर्प पानी में खूब तैरते हैं और हाथी पर्वतों पर खूब धावा मारते हैं। हो सकता है कि नागे भी ऐसे ही 'नागा' हों। ऐसे वीरों में वीर नागार्जुन हैं।[1]

अभिनव गुप्ताचार्य ने तंत्रालोक में 'मच्छद' शब्द का प्रयोग किया है। इस की व्याख्या करते हुए राजानक जयद्रथ ने लिखा है

मच्छाः पाशाः समाख्याता चपलाश्चित्तवृत्तय—
श्छेदितास्तु यदा तेन मच्छदस्तेन कीर्तितः ॥

तथा

पाशखंडन स्वभावो मच्छंद एव।[2]

यह मच्छ और पाश चंचल चित्तवृत्तियों अथवा ज्ञानेंद्रियों का द्योतक है। नाग शब्द का भी इसी तरह का अर्थ हो सकता है। सर्प मनुष्य जाति का शत्रु समझा जाता है। मनुष्य के हृदय में उस के प्रति स्वाभाविक शत्रुता है। इस लिए उन का नाग कहा जाना स्वाभाविक ही है। वे शक्तिशाली गज भी कहे जा सकते हैं। इन नागों को वश में रखना ही साधना का प्रधान उद्देश्य है। मोहेंजो दड़ो की प्राप्त सामग्री के चित्रों में से एक में एक योगी की-सी मूर्ति बनी हुई है जिस के दोनों ओर से मुग्ध सर्प खड़े हैं। शिव जी शरीर पर व्यालों को लिपटाए रहते हैं। यह उन की इंद्रियजितता का ही लक्षण है। नागार्जुन दक्षिण के रहने वाले थे, जहाँ सर्पों और गजों दोनों का बाहुल्य है। ऊपर 'गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह' से नागों के पंथ-प्रवर्तकों के नाम दिए गए हैं. उन में एक मलयार्जुन का भी नाम आता है जो महानाथ नागार्जुन के अतिरिक्त है—'तदवच्च मलयार्जुन.'। यह मलयार्जुन ही हमारे सिद्ध नागार्जुन हैं। यह मलय शब्द उन के दाक्षिणात्य होने का संकेत है। चीनी भाषा में नागार्जुन को लुगशी (नागवृक्ष, चंदन, मलय) भी कहते हैं।[3] चंदन

---

[1] टैशो-संस्करण, भाग २५, पृ० ८१; बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल, भाग २६, पृ० १४८

[2] बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल, भाग २६, पृ० ११

[3] वट्टर्स, 'ऑन युअन्च्वांग', भाग २, पृ० २०३

के साथ सर्पो का विशेष संबंध है। कालिदास ने दक्षिण मे ऐसे चंदन वृक्षो का होना कहा है, जिन मे साँपो के लिपटे रहने से गहरे-गहरे निशान हो गए थे। दिग्विजय करती हुई रघु की सेना के हाथियो के कंठ-बंधन भी उन गहरे चिन्हो पर बाँध दिए गए थे जिस से वे ऊपर-नीचे नहीं खिसक सकते थे—

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीछेदिनामपि ॥[1]

यद्यपि दक्षिण मे हाथी भी अधिक होते हैं (विजयनगर के नरेशो की उपाधि ही इसी लिए गजपति होती थी) फिर भी चंदन के वृक्षों के साथ हाथियो का कोई विशेष संबंध नहीं जान पड़ता। अतएव नाग से विशेष कर सर्प ही अर्थ ठहरता है। अतएव नागार्जुन नाम ही इंद्रियो को वश मे करने का द्योतक है, साँपो को वश मे करना जिसका बाहरी प्रतीक माना गया जान पड़ता है। यह एक अर्थ गर्भ-तथ्य है कि सिद्ध नागार्जुन के शिष्य कणेरी को ही बहुधा सँपेरे अपना आदिगुरु मानते हैं। सँपेरे बहुधा मुद्राधारी नाथ ही हुआ करते हैं।[2] यहाँ तक कि बरमा के सँपेरे भी साँप को वश मे करने के पहले नाथो की वंदना करते हैं। हो सकता है कि अपने शिष्यो को नागार्जुन इंद्रियो को वश मे करने के उपाय के बाहरी प्रतीक-स्वरूप साँपो को वश करने का प्रत्यक्ष उदाहरण दिखाते रहे हों, जिस को अब उन के अनुयायियो ने पेशा बना लिया है। इसी प्रकार गोरखनाथी भी गोरखधंधा अथवा गोरखजंजाल दिखाते फिरते हैं, जो माया की उलझन का प्रतीक है जिसे सुलझा कर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। नागार्जुन नाम के चीनी अनुवादो मे से दो इसी ओर संकेत करते हैं। नागार्जुन को चीनी भाषा मे लुंग-मींग अर्थात् नाग-वीर और लुंग-शेंग अर्थात् नागविजयी कहते हैं।[3] नागार्जुन मे 'अर्जुन' शब्द अर्जुन के वीरत्व अथवा विजयित्व के कारण ही आया है। नागार्जुन शब्द के भोटिया अनुवाद, क्लुन ग्रब के माने है नागो को पूर्ण करने वाला। इंद्रियाँ साधक के लिए परिपूर्ण तभी हो सकती हैं जब बाह्य विषयो से हट कर वे अंतर्मुख हो जायँ।

---

[1] 'रघुवंश', सर्ग ४, श्लोक ४८
[2] स्टेट्समैन
[3] वट्टर्स—'ऑन युअन्च्वांग', भाग २, पृ० २०३

सर्पों के संबंध में तो शातवाहन के सुहृत् नागार्जुन को भी कुछ सिद्धि प्राप्त थी। 'हर्षचरित' सप्तमोच्छ्वास में बाणभट्ट ने लिखा है कि रसातल में जा कर वह नाग-राजा से एक मणिमाला लाया था जिस के प्रभाव से सब प्रकार के विष नष्ट हो जाते थे।

गोरक्षादि नाथाचार्यों के साथ जनसमाज के हृदय में हठयोग का अटूट संबंध जुड़ गया है। यद्यपि नागार्जुन को साधारणतया जनसमाज हठयोग से संबद्ध नहीं करता फिर भी उस का नाम (मल्यार्जुन से अभिप्राय है) 'गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह' ने योगपथ-प्रवर्तकों में यों ही नहीं लिया है। नागार्जुन की बहुत लंबी आयु का उल्लेख हो ही चुका है। किसी-किसी ने तो उन्हें छः सौ वर्षों के लगभग आयु दे डाली है। कहा जाता है कि नाक से पानी खींचना आदि क्रियाओं से उन्हों ने इतनी लंबी आयु प्राप्त की थी।[१] इस से पता चलता है कि हठयोग के नेती, धोती आदि षट्कर्म उन्हें ज्ञात थे।

सिद्ध नागार्जुन दक्षिण के रहने वाले थे। टुची को काठमांडु में प्राप्त ग्रंथ-खंडों में उन का स्थान करहाटक बतलाया गया है।[२] भोटिया ग्रंथ उन्हें श्रीपर्वत के निकट धान्यकटक का निवासी बतलाते हैं[३] जिसे पुरातत्ववेत्ता नई खुदाई के परिणाम-स्वरूप अब नरहल्ल बड्डु नागार्जुनी कोंड जिला गुंटूर के साथ एक बतलाते हैं। 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' में इस स्थान का बड़ा माहात्म्य गाया गया है। वहाँ सर्वार्थ सिद्ध करने वाले मंत्रों की तत्काल सिद्धि होती है।

श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञिके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि॥
सिध्यंते तत्र मंत्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थ कर्मसु।[४]

तारानाथ ने सिद्ध नागार्जुन का नालंदा में भी रहना लिखा है।

चीनी भाषा में नागार्जुन की दो भिन्न-भिन्न परंपराएँ मिलती हैं। एक के अनुसार नागार्जुन कणेरी के गुरु कहे जाते हैं और कणेरी राहुल के (नागार्जुन-कणेरी-राहुल)

---

[१] नन्-है-चो-किनी, अध्याय ८; तककुसु, पृ० ३४; वट्टर्स, 'ऑन युअङ्च्वाग', भाग २, पृ० २०३

[२] जर्नल अव् दि बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, भाग २६

[३] दलोङ्-दॅल-नसुङ् बुम् (ल्हासा) च, पृ० ६ क; गंगा (पुरातत्त्वांक), पृ० २१३

[४] गंगा (पुरातत्त्वांक) पृ० २१७

तथा दूसरी के अनुसार नागार्जुन राहुल के गुरु थे और राहुल कणेरी के (नागार्जुन-राहुल-कणेरी) परंतु भोटिया लामा तारानाथ के अनुसार नागार्जुन कणेरी के गुरु और राहुलभद्र के शिष्य थे (राहुलभद्र-नागार्जुन-कणेरी)। परंतु भोटिया भाषा के ग्रंथों में नागार्जुन सरह पा के शिष्य भी बनाए गए हैं।

किंतु अब प्रश्न यह है कि नागार्जुन के नाम से मिलने वाली ये सबदियाँ इतनी पुरानी हैं या नहीं जितने सिद्ध नागार्जुन। दसवीं शताब्दी के आरंभ में हिंदी का इतना विकसित होना विद्वानों को एकाएक स्वीकृति-योग्य न जान पड़ेगा। परंतु तथ्य यह है कि फूँक-फूँक कर क़दम रखने वाले विद्वानों ने अति सावधानी के कारण देश-भाषाओं को बहुत अर्वाचीन मान लिया है। अन्यथा इन सबदियों को नागार्जुन-कृत मानने में हिचक का कोई कारण नहीं। तेरहवीं शताब्दी में रचित विद्यापति की पदावली में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, उस का आजकल की मैथिली से विशेष अंतर नहीं जान पड़ता। इस ओर की सात-आठ शताब्दियों में जब उस में कोई विशेष अंतर नहीं आया तो कहा जा सकता है कि उस ओर की तीन चार सदियों में भी कोई इतना भारी परिवर्तन न हुआ होगा। मैथिली ही नहीं समस्त देश-भाषाएँ दसवीं शताब्दी से भी पुरानी हैं। विक्रमाब्द ८३५ में किसी दाक्षिण्य चिन्होद्योतनाचार्य ने अपनी 'कुवलय-माला-कथा' में इन भाषाओं के दर्शन कराए हैं। अपभ्रंश की भूमिका में ये अंश उद्धृत किए गए हैं। मीना-बाजार में भिन्न-भिन्न देश से आए हुए वणिक अपनी-अपनी भाषाओं में ग्राहकों को निमंत्रित कर रहे हैं। मध्यदेश से आए हुए वनिए से 'तेरे-मेरे आओ' कहलाया गया है।—'तेरे-मेरे आउत्ति जम्पिरे मज्झदेसेय।' संस्कृत में इस का रूपांतर किया गया है—'तेरे मेरे आओ इति' जल्पतो मध्यदेश्यश्च।[1] यद्यपि जान पड़ता है कि दाक्षिण्य चिन्होद्योतनाचार्य स्वयं मध्यदेशी नहीं थे और मध्यदेश की भाषा नहीं जानते थे। सुना-सुनाया जैसा उन की समझ में आया वैसा लिखा है। फिर भी इस से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक मध्यदेश में प्रचलित भाषा आजकल की हिंदी का काफी विकसित रूप है। 'तेरे मेरे' हर किसी के अर्थ में अब भी पछाँही मुहावरा है। मध्यदेशी वणिक तेरे मेरे हर किसी से 'आओ आओ' कह रहा है। जो सबदियाँ मैं आप के सामने रख रहा हूँ वे इस से डेढ़ सौ

---

१ 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी' (गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज़) पृ० ९२

से अधिक वर्ष बाद की हैं। अतएव उन को दसवीं शताब्दी मे रचित मानने में कोई अड-चन नही पडती। यह अभिप्राय नही कि परपरा में चले आते हुए इन में कुछ भी परि-वर्तन नही हुआ। स्मृति मे चले आते रहने मे, लिपिकारों के प्रमाद से, जिन पर अपने काल की भाषा का प्रभाव जोर मारता रहता है, कभी-कभी मूल में परिवर्तन हो जाता है। परतु यह परिवर्तन बहुत अल्प होता है। उस समय के अपभ्रंश मे लिखे काव्यों की प्रचुरता भी इस के विरोध मे प्रस्तुत नही की जा सकती। अपभ्रंश उस समय तक साहित्यिक भाषा हो गई थी। जन-साधारण के अधर संस्पर्श से दूर हो चली थी। हिंदी के क्षेत्र में बोल-चाल की भाषा वही थी जिस की दाक्षिण्य चिन्होद्योतनाचार्य ने एक जरा-सी झलक दिखाई है। उसी में सिद्ध नाथो ने प्रचार की दृष्टि से अपने सिद्धातो को सचित किया।

मुझे चार संग्रहों में ये सबदियाँ मिली है, जिन मे से एक जयपुर का है, दो जोधपुर के है, और एक बीकानेर का। इन मे से किसी में भी समय नही दिया हुआ है। परंतु इतना निश्चय है कि अकबर के समय मे योगेश्वरी वाणी निश्चयरूप से लिपिबद्ध हो गई थी। अकबर के समकालीन दादू के शिष्य रज्जब ने संतवाणी का 'सरबंगी' नामक एक सग्रह ग्रंथ बनाया था। उस मे इन वाणियो के भी उद्धरण दिए गए है। नही कहा जा सकता कि अकबर से समय के पहले ये केवल स्मृति मे ही संचित थी अथवा लिपि रूप मे बद्ध हो गई थी।

नागार्जुन की सबदियाँ यहाँ दी जाती है—

दारु थै दाध उतपनी, दाध क्यों नांहि जाई।
दाध दारु परत्या भया, तब दाध मै दारु समाई ॥१॥

पुरब उतपत पछिम निरंतरि।
उतपति परलै काया अभि अंतरि ॥
प्यंड छाड़ि प्राण भरपूर रहै।
ऐसा सिध संकेत नाग अरजन कहै ॥२॥

आपा मेटीला सतगुर षोजीला, ना करिबा जोग जुगत का हेला।
गुरु मुषि डोरि जब षंचीला, तब सहज जोति का मेला ॥३॥

दारु-लकडी, वृक्ष अर्थात् शरीर ही से सु-स्वादु अमृतफल द्राक्षा अर्थात् साक्षात् ब्रह्मानुभूति उत्पन्न होती है। किंतु जब दारु (शरीर) में द्राक्षा (ब्रह्म) का परिचय प्राप्त हो जाता है तब द्राक्षा (ब्रह्म) मे ही दारु (शरीर) समा जाता है।

उत्पत्ति का द्वार पूर्व दिशा (प्राण) है, निरतर (नित्यता) प्राप्त करने का मार्ग पश्चिम (सुषुम्न) मे। इस प्रकार उत्पत्ति और प्रलय (आवागमन का नाश) दोनों इसी शरीर में है। शरीर को छोड कर यदि प्राण सुषुम्न में समाया रहे तो वह पूर्ण हो सकता है। नागार्जुन यह सिद्ध-संकेत (सांकेतिक भाषा मे सिद्धि का मार्ग) बताता है।

मै ने आपा (अहंकार) को मिटा कर सद्गुरु की खोज की। गुरु के सामने जब मै ने भिक्षा के लिए झोली खोली तो सहज-ज्योति का प्रकाश प्राप्त हो गया। योग-युक्ति की अवहेलना नही करनी चाहिए।

मारवाड़ की मेवाड़ को समय-समय पर दी हुई कुछ सहायताएँ

[लेखक—साहित्याचार्य पंडित विश्वेश्वर नाथ रेउ]

यद्यपि मेवाड के महारानाओ का प्रताप और स्वाधीनता-प्रेम किसी भी भारत-वासी मे छिपा नही है, तथापि उन के बाहरी और भीतरी सकटों के समय दी हुई मारवाड नरेशो और राठोड़ सरदारो की सहायता का ज्ञान, पूर्ण शोध और निष्पक्षता से लिखे राजपूताने के इतिहास के अभाव मे अब तक अधकार के गर्भ मे ही विलीन है। इसी लिए यहाँ पर इस विषय के कुछ तथ्य एकत्रित कर उद्धृत किए जाते है—

(१) जिस समय मेवाड के महाराना लाखा ने, अपनी वृद्धावस्था होने पर भी, मारवाड के राव चूडा की कन्या हंसाबाई से विवाह करने का आग्रह प्रकट किया, उस समय उस के भ्राता राठोड़-राजकुमार रणमल्ल ने यह शर्त पेश की कि, यदि हंसाबाई के गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र को, अन्य राजकुमारों से छोटे होने पर भी, मेवाड़ की गद्दी का उत्तराधिकारी मान लिया जाय, तो यह विवाह हो सकता है। उस समय महाराना लाखा विवाह के लिए अत्यत उत्सुक हो रहे थे। इस लिए कुछ तो उन्हें प्रसन्न रखने, और कुछ महाराना की वृद्धावस्था मे पुत्र होने को दूर की बात जान, उन के ज्येष्ठ राज-कुमार चूडा ने यह शर्त स्वीकार कर ली। इसी से जब विक्रम सवत् १४७६ और १४७८ (ई० स० १४१९ और १४२१) के बीच किसी समय महाराना लाखा की मृत्यु हुई, तब राजकुमार चूडा को अपना गद्दी का हक छोड़ना पडा, और हसाबाई के गर्भ से उत्पन्न हुआ महाराना मोकल ११ वर्ष की अवस्था मे मेवाड की गद्दी पर बैठा। यद्यपि नवाभिषिक्त महाराना के छोटे होने के कारण कुछ काल तक उस का बडा भाई रावत चूडा ही राजकार्य की देखभाल करता रहा, तथापि कुछ ही दिनो मे उस के कार्यों से उस की विमाता हसाबाई के चित्त मे शक पैदा हो गया। इस पर रावत चूंडा, मेवाड छोड, महारानाओ के सहज

सनु माड के सुलतान के आश्रय में जा रहा। यह देख राजमाता हंसाबाई को अपने भ्राता रणमल्ल की सहायता लेनी पड़ी। इस प्रकार अपने भानजे पर संकट आया जान रणमल्ल ने मेवाड़ का राज्य-प्रबंध अपने हाथ में ले लिया और सात-आठ वर्ष तक उसे इस खूबी से चलाया कि किसी विपक्षी को सिर उठाने का मौका न मिला। अंत में जब वि० सं० १४८५ (ई० स० १४२८) में महाराना मोकल १८ वर्ष का हो गया, तब वह वहां का प्रबंध उसे सौंप अपने पैतृक राज्य मंडोर में चला आया।

(२) वि० सं० १४९० (ई० स० १४३३) में महाराना लाखा के अर्ध-भ्राता (महाराना खेता की विजातीय पत्नी के पुत्र) चाचा और मेरा ने अपनी गूढ दुरभिसंधि[1] को सफल करने के लिए अपने भतीजे महाराना मोकल को मार कर चित्तौड़ के किले को घेर लिया। उस समय महाराना मोकल का ज्येष्ठ पुत्र महाराना कुंभा केवल सात वर्ष का था। ऐसी हालत में भी जब मेवाड़ का कोई सरदार आततायियों से बदला लेने और चित्तौड़ का उद्धार करने को अग्रसर न हुआ, तब अपने राज्य पर आए संकट की गंभीरता को समझ महाराना कुंभा की पितामही हंसाबाई ने एक बार फिर अपने भ्राता राव रणमल्ल से सहायता की प्रार्थना की। इस पर वह अपने चुने हुए पांच सौ राठोड वीरों को ले कर शीघ्र ही मेवाड़ आ पहुँचा। उस के आने की सूचना मिलते ही चाचा और मेरा भाग कर पाई कोटड़ा के पहाड़ों में घुस गए। यह देख रणमल्ल ने उन का पीछा किया और छ मास के अनवरत परिश्रम, और भीलों की सहायता प्राप्त करने में अपने प्राणों को संकट में डालने के बाद वह उन्हें मारने में समर्थ हुआ। परंतु षड्यंत्रकारियों में से परमार महपा स्त्री का वेष बना कर निकल भागा, और उस के मांडू पहुँचने पर रावत चूंडा ने उसे वहां के सुलतान की शरण में रखवा दिया।

---

[1] कर्नल टॉड लिखता है—यद्यपि मोकल की हत्या का कारण उस के द्वारा कहा गया व्यङ्ग्य-पूर्ण वचन ही बतलाया जाता है, तथापि उस के उत्तराधिकारी बालक कुंभा के स्वरक्षार्थ किए उपायों को देख कर विश्वास करना पड़ता है कि, यह घटना किसी गंभीरतम षड्यंत्र का प्रारंभ थी।......हत्यारे मादरी के दुर्गम स्थान में चले गए। कुंभा ने इस संकट के समय मारवाड़-नरेश की मित्रता, और सौजन्य पर विश्वास किया; और उस को अपने विश्वास का फल भी अच्छा ही मिला।

'ऐनाल्स ऐंड ऍंटिक्विटीज़ अव् राजस्थान', भा० १, पृ० २३२

इस के बाद जब राव रणमल्ल ने मेवाड़ के भीतरी षड्यंत्र को दबा कर वहां का राज्य-प्रबंध ठीक कर लिया, तब उस ने महपा को आश्रय देने के कारण मांडू के सुल-तान पर चढ़ाई कर उसे दंड दिया।

यद्यपि अंत में परमार महपा और चाचा के पुत्र एका के षड्यंत्र से वि० सं० १४९५ (ई० स० १४३८) में राव रणमल्ल धोके[1] से मारा गया, तथापि वि० सं० १४९६ (ई० स० १४३९) का, राणपुर का शिलालेख आज भी राव रणमल्ल की मेवाड़ के अभिभावक के रूप में की हुई निःस्वार्थ और गौरवपूर्ण सेवाओं की घोषणा, निर्विवाद रूप से, कर रहा है।

वि० सं० १४९६ (ई० स० १४३९) में महाराना कुंभा केवल तेरह वर्ष का था।[2] इस लिए राणपुर के लेख में दी हुई उस की सारंगपुर (मालवा), नागोर, गागरून,

---

[1] यद्यपि मेवाड़ के ऐतिहासिकों ने राव रणमल्ल की हत्या जैसे गर्हित पाप को छिपाने के लिए उस पर मेवाड़ के राज-सिंहासन को दबा बैठने की इच्छा रखने का कलंक लगाया है, तथापि इस में वे पूरी तौर से सफल नहीं हो सके हैं। यदि वास्तव में राव रणमल्ल का विचार मेवाड़ पर अधिकार करने का होता, तो वह महाराना मोकल और कुंभा की बाल्यावस्था में ही उसे दबा बैठता। मेवाड़ के राजकीय इतिहास 'वीरविनोद' की इन पंक्तियों से भी इस बात की पुष्टि होती है—

'एक दिन दादी राठोड़ी जी ने कुंभा से कहा कि मेरे संबंध से रणमल्ल यहाँ आया, चाचा मेरा को मारा, मुसलमानों से लड़ा, मेवाड़ की कीर्ति बढ़ाई और यहीं मारा गया. . . यही मेवाड़ की सेवा बजाई जिस का बदला मिला।'

इस से स्पष्ट प्रकट होता है कि मेवाड़ की सहायता करने में राव रणमल्ल का किसी प्रकार का बुरा विचार न था।

[2] पुरानी ख्यातों के अनुसार वि० सं० १४६५ (ई० स० १४०८) में जिस समय राजकुमार कान्हा का जन्म हुआ, उस समय राव चूंडा के कहने से उस का बड़ा पुत्र रणमल्ल मारवाड़ की गद्दी का अपना हक़ अपने छोटे भाई कान्हा को देकर मेवाड़ की तरफ चला गया। इस के बाद हंसाबाई का विवाह महाराना लाखा से हुआ। इस लिए मोकल का जन्म जल्दी से जल्दी वि० सं० १४६६ (ई० स० १४०९) में माना जा सकता है। इस से सिद्ध होता है कि, वि० सं० १४७७ (ई० स० १४२०) में महा-राना लाखा की मृत्यु पर उस की अवस्था केवल ११ वर्ष की, और वि० सं० १४९० (ई० स० १४३३) में जब वह स्वयं मारा गया तब २४ वर्ष की थी। ऐसी हालत में यदि महाराना मोकल की १७ या १८ वर्ष की अवस्था में अर्थात् वि० सं० १४८३ (ई० स० १४२६) में उस के पुत्र महाराना कुंभा का जन्म मान लिया जाय, जो बहुत संभव प्रतीत होता है, तो वि० सं० १४९० (ई० स० १४३३) में मोकल के मारे जाने के समय वह (कुंभा) किसी भी हालत में ७ वर्ष से अधिक बड़ा नहीं हो सकता; और इसी से वि०

नराना (जयपुर), अजमेर, मंडोर, मांडलगढ़, बूंदी, खाटू और चाटसू (जयपुर) की विजयों में से अधिकांश का श्रेय राव रणमल्ल को ही मिलना है, क्योंकि वि० सं० १४९५ (ई० स० १४३८) तक वही मेवाड़ का अभिभावक ('रीजेंट') था।

(३-४) वि० सं० १५७७ (ई० स० १५२०) में जिस समय महाराना सांगा ने गुजरात के शासक मुजफ्फरशाह पर चढ़ाई[1] की; और वि० सं० १५८४ (ई० स० १५२७) में जिस समय बाबर ने स्वयं महाराना सांगा पर हमला किया,[2] उस समय भी मारवाड़-नरेश राव गांगा ने अपनी सेना द्वारा उस की सहायता की।

(५) वि० सं० १६२४ (ई० स० १५६७) में जब बादशाह अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया, तब महाराना उदयसिंह को अपने कुटुंब के साथ पहाड़ों में आश्रय लेना पड़ा, और अकबर जैसे प्रबल शत्रु से चित्तौड़ के किले की रक्षा करने का भार मारवाड़ के वीरवर राठोड़ जयमल्ल[3] और मेवाड़ के पत्ता को सौंपना पड़ा। परंतु 'अकबर-नामा' से प्रकट होता है कि, जैसे ही राठोड़ जयमल्ल मारा गया, वैसे ही चित्तौड़ का किला अनाथ की तरह शत्रु के हाथ में चला गया।

(६) वि० सं० १७४८ (ई० स० १६९१) में महाराना जयसिंह का ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह बागी हो गया। इस अंत:कलह को दबाने में असमर्थ हो महाराना जयसिंह स्वयं राठोड़ गोपीनाथ के पास घाणेराव चला आया, और वहाँ से उस ने मारवाड़-नरेश महाराजा अजितसिंह और उन के सरदारों से सहायता की प्रार्थना की। इस पर राठोड़ दुर्गादास आदि कुछ राठोड़-सरदार मेवाड़ जा पहुँचे। उन्हें आया देख राजकुमार को पिता की अधीनता स्वीकार करनी[4] पड़ी।

(७) वि० सं० १७५२ (ई० स० १६९५) में राजकुमार अमरसिंह ने दुबारा बगावत की। इस पर महाराना ने मारवाड़-नरेश महाराजा अजितसिंह को अपनी

सं० १४९६ (ई० स० १४३९) में, राणपुर का शिलालेख लिखे जाने के समय, उस की अवस्था १६ वर्ष की माननी होगी।

[1] 'महाराना सांगा', पृ० ७९

[2] 'ऐनाल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज़ अव् राजस्थान', भा० २, पृ० ९५३

[3] 'राजपूताने का इतिहास', जिल्द २, पृ० ७२४–७२५

[4] 'अजितोदय', सर्ग १५, श्लो० १–१७, और 'वीरविनोद' में मारवाड़ का इतिहास।

भनीजी के साथ विवाह करने के बहाने मेवाड मे बुलवा लिया। यह देख राजकुमार को फिर शांत होना पडा।[1]

(८) वि० सं० १८२७ (ई० स० १७७०) में महाराना अड़सी (अरिसिह) के समय फिर मेवाड मे भीतरी झगड़ा उठ खडा हुआ। यह देख महाराना ने मारवाड़ नरेश महाराजा विजयसिह के पास एक नम्रतापूर्ण पत्र भेजा, और साथ ही सहायता करने के बदले गोडवाड का उर्वर प्रदेश मारवाड़-नरेश को भेंट कर दिया। यह प्रदेश अब मारवाड का ही एक प्रांत माना जाता है।

महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा ने अपने राजपूताने के इतिहास[2] मे लिखा है—

"महाराना ने जोधपुर के राजा विजयसिह को लिखा कि, रत्नसिंह को दबाने के लिए तीन हज़ार सेना नाथद्वारे मे रख लो और जब तक वह सेना वहाँ रहे तब तक उस के वेतन के लिए गोडवाड की आय लेते रहो, परंतु वहाँ के सरदार हमारे ही अधीन रहेंगे।"

परंतु ओझा जी का यह लिखना कहाँ तक ठीक है, यह बात महाराना अडसी के पत्र से जो यहाँ दिया जाता है, प्रकट हो जायगी।

(पत्र का सीधी तरफ का भाग)

१—श्री माहाराज वीजेसिंघ जी हु—
२—जूर राणा अड़सी रो मुजरो मा—
३—लम वे अप्रंच आप मालु कि—
४—रपा करी जोदपुर उदेपुर इक
५—कीदो मारो भलो हुवे जो विचारो
६—जी ऊपर मे आपरी नजर गोडवा—
७—ड नजर कीदी हे सो हु मारो बेटो

---

[1] अजितोदय, सर्ग १५, श्लो० २९-३५, और राजरूपक, पृ० १४१
[2] जिल्द २, पृ० ९७०

८—थारा दंसरो वेसी सोई थाल मे

९—लफादद पाड़सी तीन पर एक—

१०—लिगजी री आण हे मारी मारा रा—

११—जरी सरम आपने हे जादा का—

१२—ही लखा परमेसर उपरे कामना

१३—नमत परोग करे जाही कामना वे

१४—नें ईसवर हेथारथ जय नाम पु—

१५—न करे हे तो ईसवर सारी काम—

१६—ना मनोरथ सारो पूरवे हे जु मे

१७—आप ऊपर आगला राख ओ राज मे

१८—आपरा खोलाह । आछी जाण जू क—

१९—रे पण ढील न वे अवार मारा राज रो

(पत्र की उन्टी तरफ का भाग)

२०—हाल सरूप हे जो मालम हु—

२१—सी आप करता मो आसान हे

२२—सारो मीटाय देमी थारे भ—

२३—रोसो आपरो हे समत १८२७ रा वे—

२४—साख वद ११

अवध के ज़िलों के नाम

[लेखक—डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)]

अपने देश मे स्थानो के नामो का अभी तक अध्ययन नही किया गया है। अनेक नामो के सबंध मे जनश्रुतिया और किवदन्तिया मिलती है किन्तु इन का भी कोई सग्रह अभी तक मौजूद नहीं है। अवध के ज़िलो के नामो का यह अध्ययन केवल दिग्दर्शन कराने के निमित्त है। इस की अधिकाश सामग्री का मूलाधार गजेटियर की जिल्दे है। नामो के पीछे छिपे हुए इतिहास की खोज न कर के केवल नामो की व्युत्पत्ति के सबंध मे प्रचलित मतो का निर्देश इस निबंध मे किया गया है।

अवध का उपप्रांत १२ जिलों मे विभक्त है। यह जिलों का विभाग १८५६ ईसवी मे अवध पर अंग्रेजो का कब्ज़ा हो जाने के बाद हुआ था। यद्यपि इस का मूलाधार मुस्लिमकालीन विभाग था, जो इस से बहुत मिलता-जुलता था। लेकिन इस से यह तात्पर्य नहीं है कि इन जिलों के नगरो का निर्माण भी अंग्रेजी काल मे हुआ। इन १२ नगरो मे से प्रत्येक १८५६ के पहले मौजूद था। यह अवश्य है कि इन मे से अनेक नगर, ज़िले के मुख्य नगर-स्वरूप चुने जाने के बाद विशेष समृद्धि प्राप्त कर सके। लखनऊ और फैज़ाबाद मुस्लिम काल में ही अवध के प्रधान नगर थे। अवध के इन १२ जिलों के नामो की व्युत्पत्ति के सबध मे नीचे अकारादि क्रम से उपलब्ध सामग्री सक्षेप मे दी गई है। कुछ की व्युत्पत्ति तो स्पष्ट है कितु अधिकाश के सबध मे संदेह बाकी रह जाता है। इस क्षेत्र के भावी कार्यकर्ताओ को यह अपूर्णता प्रोत्साहक होनी चाहिए।

१—बहराइच—ऐतिहासिक दृष्टि से यह नाम 'भर' जाति के नाम पर पडा था। 'आयच' प्रत्यय की व्युत्पत्ति अस्पष्ट है। जनश्रुति के अनुसार इस नगर का मूल नाम 'ब्रह्मायच' था किन्तु इतिहास तथा ध्वनिविज्ञान से इस की पुष्टि नही होती।

२—बाराबंकी—इस नाम मे 'बारा' सत्र-सम्मति से बारह का विकृत रूप माना जाता है। 'बंकी' अश 'बॉकि' अथवा 'बनकी' (छोटा बन) अर्थ वाला समझा जाता है।

अर्थात् १२ बाँके या १२ छोटे छोटे बन इन १२ बाँको के संबंध में एक किंवदंती प्रसिद्ध है, जो गजेटियर में विस्तार से वर्णित है। इस नाम का 'भरो के बन' अर्थ से संबंध जोड़ना बहुत सन्तोषजनक नहीं होगा।

३—फैजाबाद स्पष्ट ही फारसी तत्सम नाम है। इस नगर के प्राचीन भाग का अयोध्या नाम अभी तक मिट नहीं सका है।

४—गोंडा नाम की व्युत्पत्ति 'गोठ' या पशुओं के ब्रज से मानी जाती है, क्योंकि इस स्थान पर एक हिंदू राजा की 'गोठ' प्रारंभ में थी।

५—हरदोई नाम प्रसिद्ध साधु 'हरदेउ' के नाम पर पड़ा, ऐसी एक किंवदंती है। 'हरदेउ' उपनाम एक जागीरदार का भी बतलाया जाता है, जिस का मुख्य नाम हरनकस था।

६—खेरी नाम की कोई व्युत्पत्ति पुस्तकों में नहीं मिलती है। छोटे खेरे से इस नगर का नाम पड़ सकता है। अवधी के विशेषज्ञ और खेरी के रहने वाले डाक्टर बाबूराम सकसेना के अनुसार इस का संबंध 'खैर' शब्द से होना चाहिए।

७—लखनऊ—यह आश्चर्य की बात है कि अवध की राजधानी के नाम की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। नाम का पूर्वार्द्ध लखन, लक्ष्मण का विकृत रूप है, किंतु एक दूसरी जनश्रुति के अनुसार एक प्रसिद्ध भवननिर्माता लिखना के नाम पर नगर का नाम पड़ा है। 'दनों' का 'अऊ' होना ध्वनिविज्ञान के अनुसार संभव नहीं है।

८—प्रतापगढ़ राजा प्रतापमित्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस नाम की व्युत्पत्ति असंदिग्ध है।

९—रायबरेली—जनश्रुति के अनुसार यह नगर भरों ने बसाया था और इस का नाम प्रारंभ में भरौली या बरौली था जो बिगड़ कर बाद को बरैली या बरेली हो गया। राय अंश एक निकटवर्ती गाँव राहि का विकृत रूप बतलाया जाता है जो बरेली नाम की अन्य बस्तियों से पृथक् करने के लिए इस नाम के साथ जोड़ दिया गया है। क्योंकि यह नगर बहुत दिनों कायस्थ जमींदारों के हाथ में रहा था इस लिए यह रायबरेली कहलाने लगा, ऐसा एक दूसरा मत भी इस संबंध में है।

१०—सीतापुर नाम की व्युत्पत्ति स्पष्ट ही है।

११—सुल्तानपुर नाम सुल्तान अल्लाउद्दीन गौरी के समय मे पड़ा था। इस वस्ती का प्राचीन नाम कुशपुर वतलाया जाता है।

१२—उन्नाव—राजा उनवंत के नाम पर पड़ा ऐसा प्रसिद्ध है, किंतु ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति सदिग्ध मालूम होती है।

ऊपर के सक्षिप्त विवेचन से कुछ रोचक निष्कर्ष निकलते हैं—

(क) किसी भी नाम पर अंग्रेजी प्रभाव नही मिलता। स्थानो के नामो पर अंग्रेज़ी प्रभाव अभी कम पडा है।

(ख) फ़ैजाबाद स्पष्ट ही मुसल्मानी नाम है और सुल्तानपुर आधा नर आधा मृगराज है। इस तरह की प्रवृत्ति नामो के संवध में बराबर पाई जाती है।

(ग) सीतापुर विशुद्ध संस्कृत नाम है। प्रतापगढ, हरदोई और लखनऊ मे भी सस्कृत मूल रूप स्पष्ट दिखलाई पडते है।

(घ) अन्य नामो—वहराइच, वाराबंकी, गोडा, खेरी, रायवरेली और उन्नाव—की व्युत्पत्ति वहुत स्पष्ट नही है। वहराइच, वरेली और वारावंकी नाम भरो के नाम पर पड़े थे ऐसा माना जाता है, गोडा और खेरी नाम इन स्थानो की प्रकृति पर पड़े। उन्नाव नाम के संबध मे संदेह ऊपर प्रकट किया जा चुका है।

वास्तव मे अवध के ज़िलो के इन १२ नामो मे से अधिकाश की व्युत्पत्ति अभी सदिग्ध है और इन की विशेष खोज होने की आवश्यकता है। इन नामो के पीछे कितना इतिहास छिपा पड़ा है, यह तो पृथक् ही विषय है।

हिंदू धर्म के दश युग

[लिखक—रावराजा रायबहादुर पंडित श्यामबिहारी मिश्र
तथा रायबहादुर पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र]

इन युगो के विवरण मे सब मे प्रथम मामला समय-निरूपण का है, किन्तु यही हमारे धार्मिक ग्रथो के लिए बडा ही कठिन प्रश्न है। साधारण हिदुओ को स्वभावश. समझ पडता है कि अपने प्राचीन ग्रथो का ऐतिहासिक समय निर्धारित करना उन पूज्य ग्रथो और शास्त्रो का अपमान है। वेद, उपनिषद्, गीता आदि के प्रत्येक शब्द का मानने वाला भी केवल ऐसा प्रयत्न कर के साधारण जनता के क्रोध का भाजन हो जाता है। बहुत लोगो को समझ पडता है कि अपने प्राचीन ग्रथो, महात्माओ आदि के बहुत ही पुराने समय बतलाने से ही उन का मान सभव है, अन्यथा नही। बड़े-बड़े विद्वानो में भी बहुतेरे महाशय इसी मानसिक दुर्बलता के शिकार समझ पडते है और कोई न कोई युक्ति लगा कर शास्त्रो आदि के समयो को पीछे घसीटने के उत्सुक देख पडते है। अपने दश युगो के वर्णन में समय के घटाने या बढाने आदि का कोई प्रयत्न न कर के हम आज वर्तमान विद्वानो से माने हुए समयों के अनुसार ही कथन करेगे अथच उन के कारण न दे कर केवल सर्व-मान्य सिद्धातों के अनुसार विवरण मात्र देगे। इन कथनो मे मतभेद बहुत कुछ सभव है। फिर भी यथासाध्य पंडितो द्वारा बहुधा माने हुए सिद्धातो पर ही यहाँ अनुगमन होगा।

प्रथम युग

अनार्य धर्म (३२५० ई० पू० से २७५० ई० पू० तक कोई समय)

मोहजो दडो और हड़प्पा मे १९२२ से १९२७ तक जो खोदाई हुई, उस मे इन दोनों प्राचीन नगरों का बहुत कुछ सामान प्राप्त हुआ है। यह समय सर जान मार्शल का माना हुआ है। डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी इसी को ४००० ई० पू० मानते हैं।

उन काल आदिम मातृदेवी, शक्ति और शिव के पूजन होते थे। जानवर देवताओं के वाहन थे, तथा नर-पूजन भी चलता था। वहाँ ध्यानमग्न शैव मूर्तियाँ, लिंग-योनि युक्त अर्घ, ध्यानमग्न योगियों की मूर्तियाँ, सिहवाहिनी मातृदेवी या पृथ्वीदेवी (बहुधा), त्रिनेत्र शिव आदि मिले हैं। शिव के निकट हाथी, चीता, भैंसा और गैंडा होने से वे पशुपति हैं और मृगों के दो चर्मों पर बैठे हैं। जानवरों का भी पूजन था। सींग देवत्व का चिन्ह था। स्नान पर बड़ा जोर था। गिरि-पूजन भी अन्य साक्षी से कहा गया है। इतने निष्कर्ष केवल वस्तुओं से निकले हैं। लेख प्रचुरता से मिले हैं किंतु अभी पढ़े नहीं गए हैं। कुछ महाशयों का यह भी प्रयत्न है कि यह समय ऋग्वेद से पीछे का है किंतु वेद का इतना प्राचीन समय अभी तक प्रमाणित नहीं हुआ है।

द्वितीय युग

वैदिक धर्म (१८०० से ९५० ई० पू० तक)

अन्तिम पाँच वेदर्षि (चार मंत्पाल के पुत्र और एक नारायण ऋषि) युधिष्ठिरी काल के हैं। अतएव अंतिम वैदिक समय युधिष्ठिरी काल-निर्णय पर अवलंबित है। आजकल पंडितों के बहुमत का झुकाव इसे दशवीं शताब्दी ई० पू० मानने पर है। यह समय ऋग्वेद का है। अन्य तीन वेद ब्राह्मण-काल के माने जाते हैं। अठारहवीं शताब्दी ई० पू० वैदिक समयारंभ समझा जाता है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएँ ले कर, उन पर गद्य में टिप्पणियाँ बढ़ा कर, तथा कुछ नवीन ऋचाएँ जोड़ कर, यज्ञों पर जोर देते हुए ऋषियों ने यजुर्वेद बनाया, तथा गाने योग्य ऋचाओं से सामवेद। अथर्ववेद प्राय ऋग्वेद के साथ ही अथवा उस से कुछ पहले प्रारंभ हो कर उस से कुछ पीछे तक बनता रहा। ऋग्वेद में ३३ देवताओं की मुख्यता है। विश्वामित्र ने अपने तृतीय मंडल में एकेश्वरवाद चलाया तथा दसवें मंडल में नारायण ऋषि ने पुरुषसूक्त में एकेश्वर के साथ जन्मज अथवा कर्मज जातिभेद भी जोड़ दिया।

ऋग्वेद बहुत कर के साहित्यिक है। उस में प्राकृतिक शक्तियों की मुख्यता, तथा इंद्र, विष्णु (उपेंद्र) और अग्नि की महत्ता है। समाज का अच्छा विजयी चित्र सामने आता है। वेदों का प्रधान महत्व ऐतिहासिक है। ऋग्वेद में ईश्वरवाद होते हुए भी ३३ देवताओं की मुख्यता है। यजुर्वेद में शैव ईश्वरत्व प्राप्त है जो अथर्ववेद तक

अक्षुण्ण है। ऋक् और अथर्व को मिला कर पढने से हिंदूधर्म के विकास का आदिम चित्र सामने आता है। ऋग्वेद के दशवे मंडल मे कुछ प्राचीन ऋचाएँ अवश्य है। किंतु मुख्यतया प्रथम नो मंडल दशवे से प्राचीनतर हैं। दशवें में आध्यात्मिक विचार भी आने लगे है।

तृतीय युग

ब्राह्मण और उपनिषत्काल (दशवी से छठी शताब्दी ई० पू० तक)

यजुर्वेद और अथर्ववेद के उपर्युक्त विचार इसी समय के है, विशेषतया इस के प्रारभ के। ब्राह्मण-साहित्य के प्रायः ७० ग्रंथो मे याज्ञिक विधान की वृद्धि हो कर कुछ ऐतिहासिक विवरण भी आए। आरण्यकों और उपनिषदो मे ज्ञान-कथन का आधिक्य रहा। यहाँ मुख्यता निर्गुणवाद की रही। प्राचीनतम उपनिषत् गद्य के है। पुराने उपनिषदो मे ऐतरेय, कौषीतकि, केन (कुछ भाग), छादोग्य, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, प्रश्न और मुडक की गणना है। ईश और माडूक्य इन से कुछ पीछे के है। उपनिषदो मे परमात्मा अस्पृश्य, अपरतत्र, अचल (बृहदारण्यक), अकाय, अव्रण, अस्नाविर (ईशोपनिषत्), अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अनादि, अनत (कठोपनिषत्), अच्छाय, अशरीर, अलोहित (प्रश्नोपनिषत्) अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अपाणिपाद, अमूर्त, अज, अप्राण, विरज, निष्कल, अमन, अक्षर (मुडकोपनिषत्) आदि व्यतिरेकवाची शब्दो में है। अन्वयवाची शब्दों मे वह शुद्ध, आँख की आँख, कान का कान, मन का मन (ईशोपनिषत्), नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, भूतयोनि, शुभ्र, रुक्मवर्ण, अचिंत्यरूप, सूक्ष्मात् सूक्ष्मतर, ज्योतिषाज्योति, तमस पर, परत. पर (मुडकोपनिषत्) आदि है। ऋग्वेद तक ३३ देवताओं की महत्ता रही और यजु. और अथर्व मे रुद्र शिव की ईश्वरता सामने आई। औपनिषद्धर्म मे भी शिव की प्रधानता रही, किंतु विष्णु की भी महत्ता बढ़ने लगी, विशेषतया नारायण के रूप मे। सामाजिक विषय में ऋग्वेद के पहले नौ मडलो मे कोई जातिभेद नही है। ब्राह्मण यज्ञ का एक कार्यकर्ता मात्र है। वेदर्षि ऋषि थे। क्षत्रिय राजन्यवर्ग कहलाते थे। जो लोग मुख्य स्थानों पर बस कर कार्य करते थे वे विश थे। आर्य समाज इन्ही तीन ऋषि, राजन्य और विश श्रेणियो में विभक्त था। ये श्रेणियाँ जन्मज न हो कर कर्मज थी। समय पर इन्ही से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य

की तीन जातियाँ निकलीं। यद्यपि विश्वामित्र पहले राजन्यवर्ग में थे। वे भगवान रामचंद्र से प्राय १०० वर्ष पूर्व के थे किंतु उन के समय में भी वर्तमान रहे। इन के समकालीन जमदग्नि ऋषि के पिता ऋचीक और पितामह और्व भार्गव थे। और्व के लड़कपन में हैहय क्षत्रियों ने भार्गवों से धन माँगा। उन्हों ने अपने पास भी धनाभाव बतलाया। जब हैहयों ने विश्वास न कर के उन में से कुछ के घर खोदवाए तो प्रचुर मात्रा में धन निकला। तब उन्हों ने भार्गवों को खोज-खोज कर उन का वध किया। केवल और्व बचे। यह राजन्यों और ऋषियों का पहला भारी झगड़ा हुआ। और्वात्मज ऋचीक प्रकट कारणों से आर्यत्व रखते हुए शस्त्री भी हुए। उन के पौत्र परशुराम ने हैहयपति अर्जुन का निधन कर के उस वंश का विध्वंस किया। उधर सूर्यवंशी त्रय्यारुण का पुत्र सत्यव्रत वशिष्ठ के कोप में पड़ कर त्रिशंकु कहलाया तथा पिता-द्वारा घर से निकाला जा कर जंगल में रहने लगा। त्रय्यारुण के मरने पर भी वशिष्ठ ने पुरोहित के रूप में राज्य चलाया और त्रिशंकु को गुजारे के लिए भी कुछ न मिला, जिस से वह मृगया-द्वारा कालक्षेप करता रहा। एक द्वादश-वार्षिक अकाल भी पड़ा। चाहे इस के कारण हो, या सत्यव्रत की दुर्दशा के कारण, प्रजा शायद वशिष्ठ से अप्रसन्न हुई, और उन्हें राज्य चलाने को राजन्य सेना न मिली, जिस से वे म्लेच्छ सेना रख कर उस की सहायता से शासन करते रहे। इसी म्लेच्छ-दल द्वारा वशिष्ठ ने कान्यकुब्ज-नरेश विश्वामित्र का पराभव किया। यह युद्ध किसी अंतर्राष्ट्रीय कारण से हुआ होगा न कि केवल एक गाय के लिए।

अब राज्य छोड़ विश्वामित्र ऋषि हो गए। तप के समय सत्यव्रत त्रिशंकु ने इन के कुटुंब का मृगया-द्वारा पालन किया। अनंतर विश्वामित्र के प्रभाव से वशिष्ठ अधिकार-च्युत हुए तथा सत्यव्रत राजा एवं विश्वामित्र राज-पुरोहित हुए। उस काल पुरोहित का पद राज्य में केवल राजा से कम होता था, इतरों से नहीं। विश्वामित्र ने सत्यव्रत का यज्ञ भी कराया और वशिष्ठ के विरोध होते हुए भी वह पूर्ण हुआ। सत्यव्रत त्रिशंकु के पीछे तत्पुत्र हरिश्चंद्र राजा हुए। जब ये यज्ञ करने को हुए तब वशिष्ठ ने फिर विश्वामित्र के राजर्षि मात्र होने का प्रश्न उठाया और हरिश्चंद्र के निर्णय से वे पदच्युत हुए तथा वशिष्ठ फिर से पुरोहित बने। अनंतर शुनःशेप-संबंधी यज्ञ में विश्वामित्र का प्रभाव फिर बढ़ा। यह कथा ऐतरेय ब्राह्मण की है। ऋचीक, वशिष्ठ और परशुराम युद्ध में प्रवृत्त हो कर भी ऋषि होने के कारण ब्रह्मर्षि ही माने गए, न कि राजन्यवर्ग में।

इधर विश्वामित्र के प्रतिकूल राजर्षि होने का जो झगड़ा उठा, वह राजनीतिक कारणो से था न कि धार्मिक से। कथन धर्म का ही किया जाता था, किंतु उस की आड मे पुरोहित के उच्च पद का प्रश्न वास्तव में था। ययाति के भाई यति तथा कण्व ऋषि क्षत्रिय वश-भव हो कर भी ब्रह्मर्षि हो कर यज्ञादि कराते रहे। यह समय राम से प्राय: २० पुश्त (तीन शताब्दी) पहले का है। इधर राम से प्राय दो शताब्दी पीछे शंतनु के ज्येष्ठ बधु देवापि ने ब्रह्मर्षि हो कर स्वय अपने भाई को यज्ञ कराया और उन के प्रतिकूल राजर्षिपन का प्रश्न न उठा। अतएव प्रकट है कि महाभारत-काल के कुछ ही समय पूर्व तक राजर्षि एव ब्रह्मर्षिपन का कोई प्रश्न न था। पाडव अर्जुन के समकालीन मदपाल ने एक शूद्रा स्त्री मे चार पुत्र द्रोण, जरितर आदि उत्पन्न किए, जो चारो वेदर्षि थे। स्वय वेदव्यास शूद्रा के पुत्र हो कर वेदो के सब से बड़े व्यास माने गए। वेद के दशवे मडल मे युधिष्ठिर के समकालीन नारायण ऋषि का पुरुषसूक्त है, जिस में शूद्र का कथन एवं चातुर्वर्ण्ययुक्त जाति-भेद का विवरण है। इस मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियो के रूप मे पहले-पहल प्रस्तुत हैं। यद्यपि यह निश्चय नही है कि पुरुषसूक्त का जातिभेद जन्मज था या कर्मज, तथापि कम से कम शूद्रों की कक्षा जन्मज होगी। पंडितो का विचार है कि शूद्र नाम्नी कोई भारी अनार्य जाति होगी जिस का अर्थ व्यापक हो कर सारी अनार्य जातियो तथा कुछ गिरे हुए आर्यो का भी बोधक हो गया। अथर्ववेद मे ब्राह्मणो का प्राधान्य मिलता है तथा यजुर्वेद में जन्मज जाति की ओर रुझान पाया जाता है।

यद्यपि ऋग्वेद में ३३ देवताओ की मुख्यता है, तथापि एकेश्वरवाद का अभाव नही है। महर्षि विश्वामित्र ही ने पहले-पहल एकेश्वरवाद का कथन अपने तृतीय मडल मे किया। औपनिषत्काल मे भी कुछ क्षत्रियों के प्रभाव से परब्रह्म के विचार ने बल पकड़ा। कुछ राजन्यवर्ग वेदर्षि भी थे। अतएव प्रकट है कि हमारे आदिम हिंदूधर्म के स्थापन मे क्षत्रियो का भी हाथ था, केवल ब्राह्मणो का नही; हॉ उस का सरक्षण अवश्य ब्राह्मणो ने किया, सो भी क्षत्रियो के प्रोत्साहन से। यज्ञो का भी भारी प्रचार ब्राह्मणो के प्रोत्साहन से क्षत्रियो द्वारा ही हुआ। उपर्युक्त कथनो से प्रकट है कि जातिभेद आदिम वैदिक काल मे न था, तथा औपनिषत्काल मे वह जन्मज हुआ। फिर भी गौतम बुद्ध के समय तक ब्राह्मणो की कुछ कन्याएँ क्षत्रियो को ब्याही गई, अथच नवी शताब्दी ईसवी तक क्षत्रियो की कन्याएँ ब्राह्मणों की पत्नी हुई। इस कथन का प्रमाण डाक्टर बेनीप्रसाद के ग्रंथ में है।

चतुर्थ युग

शंकाएँ और नवीन मत (छठी से तीसरी शताब्दी ई० पू० तक)

तर्क से शुद्ध प्रमाणित निर्गुणात्मक ईश्वरवाद बहुत लोगो को प्रसन्न न रख सका। पथ्य भोजन की भाँति वह कुछ रूखा अथच अरुचिकर था। वेन, विरोचन, हयग्रीव आदि ने इस के प्रतिकूल आवाजे उठाई। सब से अधिक बल चार्वाक् ने लगाया। इस लोकायत मत का वर्तमान दर्शनशास्त्र बहुत दृढ नही है, किंतु डाक्टर सर राधाकृष्णन का विचार है कि इस का जैसा भद्दा विवरण आजकल मिलता है, उस से यह वास्तव में बहुत श्रेष्ठतर होगा, नहीं तो इस का इतना प्रभाव समाज पर न पडता जैसा कि वास्तव में पडा। दर्शनशास्त्र के सर्व-प्रथम निर्माता कपिल भगवान ने भी सांख्य-शास्त्र मे परमेश्वर का मान न किया। यही दशा पूर्व-मीमांसावादी जैमिनि की हुई। गौतमबुद्ध ने वेद और ईश्वर दोनो को छोड कर आचारात्मक हीनयानीय मत चलाया। इन चारो ऋषियो (चार्वाक्, कपिल, जैमिनि और बुद्ध) के तर्कपूर्ण आघातो से प्राचीन शैव ईश्वरत्व गिर-सा गया और मत-परिवर्तन की आवश्यकता सामने आई।

पंचम युग

गीता से पूर्व का हिंदूधर्म (छठी से तीसरी शताब्दी ई० पू० तक)

यही समय वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत के प्राचीन भागो का पंडितो द्वारा माना गया है। इन मे अवतार नही है, तथा वैदिक देवता, एवं काम, कुवेर, शुक्र, कार्त्तिकेय, गंगा, लक्ष्मी, उमा आदि देवी-देवता है। शेष, हनुमान, जाम्बवान, गरुड, जटायु आदि अर्द्ध-देवता हैं। विष्णु और शिव की महत्ता है। नाग, वृक्ष, नदी, तडाग आदि पूजित हैं। देवताओं के मंदिर और प्रतिमाएँ हैं किंतु शिवलिंग नही। पशुवलि है। आवागमन सिद्धांत की पूरी उन्नति नही है। तीसरी शताब्दी ई० पू० के महानारायणीय उपनिषद् में विष्णु वासुदेव हैं। प्रतिमा कल्पसूत्र मे है किंतु उस के पूजन के विषय मे आदेश नहीं है। वह पसंद कम है। प्राचीन ग्रीक लेखकों की भी साक्षी से प्रकट है कि हिंदू लोग गंगा-स्नान मे पुण्य मानते थे। कौटिल्य-कृत अर्थशास्त्र को विद्वान लोग तीसरी से पहली शताब्दी ई० पू० तक का ग्रंथ मानते हैं। विष्णुगुप्त चाणक्य उपनाम कौटिल्य

चद्रगुप्त, बिंदुसार तथा अशोक का मंत्री था। उस के अर्थशास्त्र में बडे-छोटे देवता है, पहाड़ो, नदियो, वृक्षो, आग, चिड़ियो, नागो, गायो आदि के पूजन, मरी आदि से बचने को किए जाते थे, तथा इसी अभिप्राय मे रीतियों, मत्रो और जादू के कार्य कराए जाते थे। आवागमन, कर्म और मुक्ति के कथन नही है। यह धर्म कुछ-कुछ अशोक वाले के समान है। इस से स्वर्ग और आनंत्य की प्राप्ति लिखी है। इस युग के धार्मिक विचार गीतावाले के पूर्व तथा औपनिषद्विचारो के परवर्त्ती-से है। रामायण तक के समय में शिव गिरे नही है।

छठा युग

बौद्धधर्म और सगुणवाद (छठी शताब्दी ई० पू० से पहली शताब्दी ईसवी तक)

उपर्युक्त चार्वाक्, कपिल और जैमिनि के सिद्धातों से जब निर्गुण के साथ शैव ईश्वरत्व शिथिल हुआ, तब उसी विचार-धारा को दृढ करते हुए महावीर तीर्थकर और महात्मा गौतम बुद्ध ने नवीन मत चलाए। महावीर के जैनमत मे ईश्वरत्व का अभाव तो था किंतु तीर्थकर कुछ-कुछ अवतारो या स्वयं ईश्वर के समान थे। आचारात्मिकता की प्रधानता थी ही। इधर आदिम (हीनयानीय) बौद्धमत मे ईश्वर बिल्कुल न थे, और वह पूर्णतया आचारात्मक था। उस ने बुद्ध, धर्म और सघ का त्रिरत्न निकाला तथा कामना-त्याग से निर्वाण प्राप्ति पर जोर दिया। अब तक हमारा सहितावाला धर्म साहित्या-त्मक था, औपनिषत् तर्कात्मिक और बौद्ध आचारात्मक। ससार ईश्वर के छोडने को तैयार न था किंतु यज्ञ से समर्थित भी निर्गुणवाद पर सर्वसाधारण की आस्था नही जमती थी और वह केवल भारी विद्वानो को मान्य था। ऐसी दशा में भगवान बादरायण व्यास ने भगवद्गीता का धर्म ऐसा चलाया जो साथ ही साथ साहित्यात्मक, तर्कात्मिक, आचा-रात्मक और विश्वासात्मक था। उस की रचना बहुत उत्कृष्ट साहित्ययुक्त है, वह निर्गुणवाद का यथासाध्य मान करता हुआ सर्वसाधारण के योग्य विश्वासात्मक सगुण ईश्वर सामने लाता है और बौद्धो के कर्मवाद को आदर दे कर आचारात्मक निर्वाण का लक्ष्य मानता है। चौथी शताब्दी ई० पू० के बोधायन ऋषि गीता का एक अवतरण देते है। तीसरी शताब्दी ई० पू० वाले अशोक के समय प्रस्तुत निदेश द्वारा प्राप्त व्यूह-पूजन का चलन गीता मे नहीं है। इन दोनों कारणों से वह पाँचवी शताब्दी में प्रस्तुत

समझ पड़ता है। इधर कुछ योरोपीय विद्वानो ने गीता मे पहली शताब्दी तक के विचार दिखलाए है। जान पडता है हमारे कई शास्त्रो के समान गीता भी बनी प्राचीन काल मे, किन्तु उस में भी कुछ नवीन भाग पीछे तक जुडते रहे। गीता मे वैष्णव ईश्वरता, अवतार-वाद, आवागमन, कार्मिक सिद्धात, निर्वाण आदि प्रस्तुत है तथा शैव ईश्वरत्व का अभाव है। गगा की महत्ता है किन्तु पूजन नही। प्रतिमा नही है। षड्दर्शन के मूल सिद्धात भी कुछ बुद्ध से पूर्व और कुछ उन से कुछ ही पीछे स्थापित हुए किंतु ये दर्शन अंतिम रूपो मे दूसरी से छठी शताब्दी ईसवी मे बने। बादरायण व्यास के गीताकार तथा पाँचवी शताब्दी ई० पू० मे होने मे कुछ संदेह किया जाता है, क्यो कि वे उत्तर-मीमासाकार भी है। जान पडता है कि उन्हो ने पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में उत्तर-मीमासा तथा गीता के मूल रूप रखे, तथा कुछ पीछे तक इन मे कुछ नवीन भाग भी जुडते रहे। छवो दर्शनो मे जैन, बौद्ध, एव एक-दूसरे के सिद्धानो के खंडन-मंडन है तथा जैन, बौद्ध मतो मे भी उन के विचार है।

तीसरी शताब्दी ई० पू० तक बौद्धधर्म बहुत कर के संप्रदाय रूप में रहा और उस का मान केवल गृह-त्यागियो मे हुआ। अब अशोक ने इस महामत को गृहस्थो मे भी फैलाया। अशोक के मत मे जैन और बौद्ध मतो का मिश्रण है, यद्यपि है वह मुख्यतया बौद्ध ही। उस में सहिष्णुता विशेष है और माता, पिता, गुरु आदि की आज्ञा-पालन पर बल है, वरन् वे राजाज्ञा से भी दृढ़ है। मांसाशन का प्राय निषेध है। अशोक ने पाश्चात्य देशो तथा दक्षिण एव लका मे भी बौद्धमत फैलाया। मुक्ति उपनिषदो मे द्विजों को प्राप्य है, जैनो और बौद्धो मे सब को तथा गीता मे हिंदुओं को। यहाँ ज्ञान, कर्म, और भक्ति मार्ग के उपदेश है तथा सांख्य, योग और उपनिषदो का मिश्रण है। सांख्य मे कैवल्य शूद्रों को भी प्राप्य है, किंतु उन से नीचे वालो को नही। वेदांत में वह केवल द्विजो के लिए है, और योग में सब के लिए। पुराण ग्रंथ भी प्राचीन काल से चले आते थे किंतु उन मे नवीन भाग प्रचुरता से जुड़ कर वे गुप्त काल मे दृढ हुए।

सातवाँ युग

प्रतिमा तथा साधारण धर्म (दूसरी शताब्दी ई० पू० से आठवीं शताब्दी ईसवी तक)

याज्ञिक निर्गुणवाद जो औपनिषत्काल मे चलता था वह जब गिरने लगता

है, तब हमारे सामने तीन प्रकार के मत आते हैं। उन में से बौद्ध और गीता के धर्म तो ऐसे हैं जो महोपदेशकों द्वारा चलाए गए किंतु वाल्मीकीय रामायण, जय और कौटिल्य-कृत अर्थशास्त्र में एक ऐसे धर्म का भी परिचय मिलता है जो उपदेशकों से असंबद्ध था अथच साधारण समाज में प्रचलित मात्र था। इसी लिए धार्मिक महत्ता में तो यह उन दोनों से न्यून था, किंतु लोकस्वीकृति इसी पर अधिक थी। इस में निर्गुणवाद के गिराव से मोटिया धर्म की ओर अभिरुचि देख पड़ती है। इन तीनों मतों में लोकस्वीकृति के लिए समय के साथ अच्छी-खासी होड़ हुई। दूसरी शताब्दी ई० पू० से ग्रीक सीदियनों का शासन भारत के भागों में स्थापित हुआ तथा थोड़े ही दिनों के पीछे शकों ने इन्हें पराजित कर के हमारे कुछ प्रांतों पर अधिकार प्राप्त किया। अनंतर समय पर कुशानों (पहली शताब्दी) और हूणों (छठी शताब्दी) का भी प्रभाव कुछ काल तक भारत पर जमा। ये सब जातियाँ उत्तर-पश्चिम और पश्चिम से भारत में आई थीं। उन के देशों में तीसरी शताब्दी ई० पू० में अशोक-द्वारा भेजे हुए उपदेशकों का धार्मिक प्रभाव बहुत कुछ जम चुका था। अतएव ये विदेशी जातियाँ राजनैतिक प्रभुत्व पा कर भी भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल न हुईं वरन् यहाँ आते ही अति शीघ्र हमारे समाज में मिल गईं। इन की मानसिक उन्नति के अनुसार भी हमारे धार्मिक विचारों में परिवर्तन होने लगे। साधारण जनता स्वभावतः मोटिया विचारों को पसंद करती है। इन बाहरी लोगों के आने से और भी स्थूल धर्म की वृद्धि होने लगी। लोग टके के दान से सैकड़ों वर्षों के लिए स्वर्ग प्राप्ति और गंगा जी में एक गोता लगाने से तीन जन्मों के पाप कटने के अधिकाधिक उत्सुक हुए।

अब गीता में प्रतिपादित अवतारवाद बढ़ कर व्यूह-पूजन पर आ गया। निद्देश में बलराम का पूजन कथित है। दूसरी शताब्दी ई० पू० से व्यूह-पूजन की और भी वृद्धि होने लगी और समय पर भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी ईश्वरांश माने जाने लगे। तीसरी शताब्दी ई० पू० के पूर्व से ही वासुदेव-मत का प्रचार था। यह अवैदिक था ही और उत्तर-मीमांसा में इस की समीक्षा भी है, किंतु समय के साथ वासुदेव का विष्णु से एकीकरण हो गया और गीता के वैष्णव-मत की वृद्धि इस प्रकार हुई। महाराज संक्षोभ के ताम्रपत्र (सन् ५२८) में भागवत-धर्म का अस्तित्व है। उस में द्वादश अक्षर मंत्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) लिखा है। विष्णुपुराण में पंचरात्र मत है।

यह ग्रंथ चौथी शताब्दी से पीछे का नहीं है पाशुपत शैवमत भी चौथी-पाँचवीं शताब्दी का कहा जाता है। लकुलीश का प्रादुर्भाव सर रामकृष्ण भांडारकर पहली शताब्दी के निकट मानते हैं, किंतु कुछ लोग उन्हें तीसरी-चौथी शताब्दी का समझते हैं। त्रिमूर्ति का कथन मार्कंडेय और शिवशायनीय पुराणों में है। हरिवंश में हरि-हर एक हैं। सर राधाकृष्णन के निष्कर्ष हैं कि पाशुपत, भागवत और तांत्रिक विचार ई० पू० ६०० से ईसवी २०० तक के बीच के हैं। मूर्ति-पूजन भारत में मोहनजो दडो और हड़प्पा द्वारा अनार्यों में अवैदिक काल से प्रमाणित है। आर्यों ने 'न तस्य प्रतिमास्ति' के मंत्र द्वारा अपने में इस का प्रवेश रोकना चाहा। वैदिक साहित्य में पचविंश ब्राह्मण प्रतिमाओं का कथन कुछ संदिग्ध प्रकार से करता है, जिस से उस के केवल अनार्यों से संबद्ध होने का विचार उठता है। कल्पसूत्र प्रतिमा-पूजन का कथन कर के भी उस के विषय में आदेश नहीं देता। वाल्मीकीय रामायण के प्राचीन भागों में भी प्रतिमा-पूजन है। आजकल लक्ष्मी की सांकेतिक प्रतिमा के अतिरिक्त बुद्ध-पूर्व की कोई प्रतिमा हड़प्पादि से इतर प्राप्त नहीं है। इन कारणों से प्रतिमा का विस्तार उस काल कम समझ पड़ता है। अनंतर जब साधारण गृहस्थों में प्रतिष्ठित हो कर समय के साथ तर्कात्मक एवं आचारात्मक हीनयानीय बौद्धधर्म विश्वासात्मक महायान में परिणत हुआ, तब बौद्धों में हम प्रतिमा-पूजन का विस्तार पाते तथा कनिष्क के समय संस्कृत में महायानीय बौद्ध त्रिपिटक बनते देखते हैं। इसी के साथ हिंदुओं में भी प्रतिमा-पूजन बढ़ा। इस ने कुशान-काल में बहुत वृद्धि पाई, क्योंकि वे तुर्क हो कर भी भारतीय देवताओं के भक्त हुए। तुर्किस्तान और पश्चिमी एशिया में उस काल प्रतिमा का बहुत व्यापक प्रचार था। इसी से कुशानों के समय से भारत में प्रतिमापूजन ने बहुत बड़ी वृद्धि पाई। समय पर तीर्थ-स्नान, अवतार और प्रतिमा ही हिंदूधर्म के मुख्याधार हो गए अथच निर्गुण ब्रह्म एक पूज्य सिद्धांत मात्र रह गया, एवं उस का मान केवल मौखिक रहा।

हिंदू, बौद्ध तथा जैन दर्शनशास्त्र हैं काफी उच्च, किंतु उन का प्रचार केवल भारी पंडितों में रहा, और सर्वसाधारण में निर्गुणवाद की भाँति उन का भी मान मौखिक मात्र हुआ। बौद्धधर्म में पितरों, गुरुओं आदि के मान, राजाज्ञा पर भी अवलंबित हुए। उस में मांसाशन का भी निषेध-सा था। अतएव बौद्धधर्म अनुयायियों की साधारण स्वतंत्रता का बाधक था। उधर हिंदूधर्म में ये दोष न थे तथा मानसिक और धार्मिक

उन्नति मे दोनो धर्म समान थे। बौद्धधर्म विदेशियो तक मे स्वमत-प्रचार का इतना उत्सुक रहा कि जिन विदेशियो ने भारत जीत कर बौद्धमत पर श्रद्धा दिखलाई उन के प्रतिकूल भारतीय बौद्धो ने कुछ भी प्रयत्न न किया, वरन् अपने ग्रंथो मे उन का भारी धार्मिक मान करते हुए स्वदेश-प्रेमी उन भारतीयो की निंदा भी की जिन्हो ने देश-भक्ति के कारण उन का सामना किया, या उन्हे पराजय किया। ये कथन प्राचीन बौद्ध ग्रंथ 'मंजुश्रीमूल-कल्प' (आठवी शताब्दी) से प्रमाणित है। इसे प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने भी प्रामाण्य माना है। अतएव स्वतंत्रता तथा देश-भक्ति के प्रति-कूल हो कर बौद्धधर्म क्रमशः साधारण समाज से उठ गया। इस का मुख्य प्रचार कभी-कभी केवल राजबल के कारण हुआ। प्रसिद्ध गुप्त साम्राज्य बहुत कर के बौद्धमत अपनाने से ही गिरा और इसी कारण हर्षवर्द्धन का साम्राज्य उस के पीछे स्थायी न हो सका। इन दोनों कथनो मे कुछ मतभेद भी संभव है, किंतु यह निश्चित है कि आठवी शताब्दी वाले स्वामी शंकराचार्य से पूर्व साधारण समाज से यह मत उठ चुका था तथा उन के समय कुछ पंडित मात्र इस के पक्ष मे वादरत थे। अतः अपने सातवे युग के अंत मे हम बौद्धमत का पतन देखते है तथा हिंदूमत मे उपनिषदो और गीता के उच्च सिद्धांतो का मौखिक मात्र मान पाते है अथच उस मोटिया धर्म की वृद्धि देखते है जो रामायण के समय मे सर्व-साधारण मे प्रचलित था। इस के अधिकाधिक प्रचार के कारणों में तत्कालीन साधारण हिंदू समाज की मानसिक निर्बलता तथा बाह्य जातियो—सीदियनो, शकों, कुशानो, हूणो आदि को—हिंदूधर्म में लाने की आवश्यकता थी। हिंदूधर्म हुआ तो विजयी, किंतु वैष्णव, शैव, पाशुपत, शाक्त, गाणपत्य आदि मतो को मोटिया और कुछ-कुछ कामुक (तांत्रिक) बना कर।

आठवाँ युग

तर्कवाद (आठवीं से १४वीं शताब्दी ईसवी तक)

इस काल में पहले तो पूर्व-मीमांसावादी ऋषिवर कुमारिल्ल भट्ट ने सारे भारत के बौद्ध पंडितो को वाद से पराजित किया और उन के पीछे ही स्वामी शंकराचार्य ने उत्तर-मीमांसा पर जोर दे कर तर्कवाद को जाग्रत किया। आप ने पूर्व-मीमांसावादी मंडन मिश्र, पाशुपत मतवादी नीलकंठ, तथा अनेकानेक बौद्ध और जैन पंडितों को वादो मे परा

जिन कर के मोटिया हिंदू धर्म के स्थान पर गीता और उपनिषदों में प्रतिपादित उच्च धर्म का मान बढ़ाना चाहा। शंकर ने अद्वैतवाद 'तत्त्वमसि' के आधार पर दृढ़ किया, तथा जीवात्मा की सत्ता केवल व्यावहारिक घोषित कर के मायावाद चलाया। इधर के १२०० वर्षों में विज्ञान और दर्शन की वृद्धि से मायावाद की आवश्यकता नहीं रह गई है और परमाणु एवं जीवाणु शक्ति के केंद्रमात्र प्रमाणित हो कर ईश्वरांश माने जाने से संसार, परमाणुओं तथा जीवात्मा की वास्तविक सत्ता मानते हुए भी अद्वैतवाद दृढ़ रहता है। शंकर स्वामी की सब से बड़ी बहादुरी यह है, कि जिस काल तक विज्ञान की समुचित दशा प्राय कुछ भी वृद्धि नहीं हुई थी, तब भी उन्हों ने अद्वैतवाद का उच्च सिद्धांत प्रमाणित किया। यदि उन का मायावाद बिल्कुल छोड़ दिया जावे, तो भी वर्तमान वैज्ञानिक विचारों के ही आधार पर अद्वैतवाद दृढ़ता-पूर्वक प्रतिपादित किया जा सकता है।

जैसे औपनिषद् निर्गुणवाद के गिरने पर सर्वसाधारण में धार्मिक विचार भद्देपन की ओर अग्रसर हुए थे और हीनयानीय बौद्धधर्म तथा गीता के उच्च सिद्धांत पूज्य माने जा कर भी समाज को स्थूल धार्मिक विचारों से न बचा सके, वैसे ही शंकर स्वामी के उच्च सिद्धांत मौखिक मात्र मान पाते हुए समाज के त्राता न हो सके, वरन् नाथ संप्रदाय के अनेकानेक उपदेशकों ने उन से कुछ ही पीछे कामुक-विचारपूर्ण तांत्रिक मत का प्रचार किया। सातवीं शताब्दी से ही सिंध प्रांत में अरबी मुसलमान राज्य स्थापित हुआ, किंतु उस काल उस से भारतीय संस्कृति की कोई क्षति नहीं हुई, वरन् अरब में ही हमारे दर्शन, वैद्यक आदि अनेकानेक शास्त्रों का प्रभाव पड़ा। ग्यारहवीं शताब्दी से अफगानी महमूद गजनवी के आक्रमणों के साथ पहले-पहल विजातीयों द्वारा हमारी सामाजिक संस्था से युद्ध प्रारंभ हुआ। भारत एक बहुत बड़ा देश है। हिंदू लोग बस तो सब कहीं गए, किंतु रेल, तार, डाक आदि के अभाव में हम देश में एक राष्ट्र स्थापित न कर सके और केवल संस्कृति के ऐक्य पर हमारा ध्यान रहा, जिस से विविध माडलिक राज्य हो कर भी यहाँ संस्कृति की भारी एकता रही। धीरे-धीरे हमें संस्कृति का ऐक्य इतना महान एवं माडलिकपन के कारण राजकीय बल इतना तुच्छ समझ पड़ा, कि हम ने अपना प्राय सारा सामाजिक बल उसी के परिपोषण में लगाया, तथा राज्यों के बनने-बिगड़ने से कोई सामाजिक हानि-लाभ न समझा वरन् हमें यह एक व्यक्तिगत तुच्छ बखेड़ा मात्र दिखा

फल यह हुआ कि राज्य-रक्षण के साथ देश-रक्षण भी हमे तुच्छ दिखने लगा और सामरिक शक्ति की समुचित उन्नति न हुई। मुसलमानो से पूर्व जितने विजेता बाहर से आए उन के आचरणो से भी इसी भाव की पुष्टि होती रही। अतएव हमारे यहाँ राजकीय और शेष सामाजिक संस्थाएँ एक-दूसरे से बहुत कर के पृथक् हो गई। जब मुसल्मानो ने पहले-पहल हमारी राजकीय सस्था को ग्यारहवी शताब्दी मे दबा कर सामाजिक, धार्मिक और मानस बल को भी खड्ग द्वारा जीतना चाहा, तब यहाँ पहले-पहल भारी बखेडा उठा। सामरिक शक्ति के प्राय. अभाव मे हम आत्म-बल से बहिष्कार द्वारा अपनी संस्कृति की रक्षा करने लगे। अब तक के विजेताओ से हम अति शीघ्र रोटी-बेटी का व्यवहार खोल कर उन्हे अपने धर्म और समाज मे मिला लेते थे। उन की मानसिक उन्नति के अनुसार हम ने अपने धर्म में भारी परिवर्तन तक कर डाले, किंतु जब मुसल्मानो ने हमारा धर्म ग्रहण न कर के हमी को अपना धर्म सिखलाना चाहा, सो भी तर्क छोड़ केवल खड्ग के बल से, तब हम को भी बहिष्कार का प्रयोग कर के समाज-संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी लिए ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी के महर्षि रामानुजाचार्य तथा अन्य महात्माओ ने तर्काश्रित भक्तिवाद चलाया, जिस से समाज मे विश्वासात्मक धर्म की वृद्धि हो कर सगठन शक्ति बढी। मुसल्मानो के धार्मिक आक्रमणो से भारत से रहा-सहा बौद्ध-मत तिरोहित हो गया, तथा महात्मा गोरखनाथ ने गोरखपंथ चला कर निम्न श्रेणी के समझे जाने वाले हिंदुओ का भी बहुत कुछ सहयोग समाज-रक्षण मे प्राप्त किया। सहजिया पथ के बौद्ध लोग भी इसी मे आ गए। सहजिया-पथ सहज ही मे बौद्धों को निर्वाण प्राप्त कराता था, जैसे कि हमारे यहाँ गगा-स्नान आदि से मुक्ति मिलती थी।

नवाँ युग

भक्तिवाद (पंद्रहवीं से १९वीं शताब्दी के मध्य तक)

जब धार्मिक झगडों के कारण समाज में शक्ति-प्रयोग की प्रथा बढ़ी, तब तर्क की आवश्यकता कम देख पड़ने लगी और भक्तिवाद ने तर्काश्रय खुले-खुले छोड़ कर केवल विश्वासवाद का सहारा लिया। इधर स्वामी रामानुजाचार्य ने शूद्रों का मान भक्तों मे नही किया था, किंतु स्वामी रामानद ने उसी सप्रदाय में हो कर भी सस्कृत छोड़ कर हिंदी मे उपदेश दिया तथा गृहस्थो मे शूद्रो का प्रभाव यथावत रख कर सप्रदायों में उन्हे

द्विजों के समान ही मान लिया, जिस से कबीरदास जोलाहे, धना, सवना, रैदास आदि का भी यथावत् मान रामानंदी सम्प्रदाय मे हुआ। इस प्रकार शूद्रों का मान बढ़ कर उन के द्वारा समाज-सगठन मे समुचित लाभ पहुँचने लगा। कबीरदास द्वारा कबीरपंथ चला जिस मे भी गोरखपंथ की भाँति निम्न कहलाई जाने वाली श्रेणी के मनुष्य बहुतायत से आए। इन दोनो पथो के प्रयत्नों से बल से बढ़ने वाले मुसल्मानी धर्म का हिंदुओ मे प्रभाव कम हुआ। कबीरदास ने कहने भर को सगुणवाद को भी मान कर मुख्यता निर्गुणवाद की रक्खी। इन्हों ने तथा नामदेव ने हिंदू-मुसलमानो के मिलाने का प्रयत्न किया। यही प्रयत्न सूफी संप्रदाय के कई मुसल्मान हिंदी कवियों ने किया, किंतु तत्कालीन मुसल्मानी धार्मिक उद्दंडता के कारण इन प्रयत्नों का कोई विशेष फल समाज पर न पड़ा। इन्ही दिनो वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, बाबा नानक आदि के प्रभाव से पश्चिमी युक्तप्रात, राजपूताना, गुजरात, बंगाल और पंजाब मे धार्मिक वृद्धि हुई। नानकपंथ मे प्रतिमा-पूजन का निषेध है। रामानंदी वैष्णवो का प्रभाव अयोध्या, शेष युक्त प्रात, मध्यभारत आदि मे पड़ा। सूरदास आदि हिंदी कवियों ने भी भक्तिपूर्ण रचना कर के समाज-सगठन मे योग दिया। अनन्तर उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ मध्यकालीन उपदेशक महात्मा तुलसीदास का प्रादुर्भाव हुआ। आप ने अपनी कविता में हिंदूधर्म का वह रूप दिखलाया जो अब तक अक्षुण्ण बना हुआ है। इन का प्रभाव समाज पर बहुत अधिक पड़ा। इन का धर्म अद्वैतवाद-पूर्ण विश्वासात्मक भक्तिवाद था। दादूदयाल भी इस काल के अच्छे उपदेशक थे। गोस्वामी तुलसीदास उपनिषदो का निर्गुणवाद ले कर एकेश्वरवाद के रूप में परमात्मा का भाव अवतार मे आरोपित करते है, तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि की महत्ता हटा-कर शुद्ध एकेश्वरवाद पर आते है। गोस्वामीजी के पीछे हम महात्मा एकनाथ, तुकाराम और रामदास को शिवाजी के समय महाराष्ट्र देश में भक्ति का उपदेश देते पाते है।

दसवाँ युग

विवेकवाद (१९वीं शताब्दी के मध्य से अब तक)

जब अंग्रेजी-राज्य देश मे फैला और ईसाई उपदेशको द्वारा फिर से तर्कवाद से हिंदूधर्म पर आघात होने लगे तब विश्वासात्मक हिंदूधर्म ने अपने को बचाने मे असमर्थ

पाया। दशवीं शताब्दी के पीछे से इस काल तक हमारे धर्म में विश्वास की दिनों-दिन वृद्धि होती आई थी और विज्ञान के समुचित ज्ञानाभाव से हमारे पवित्र ग्रंथों में अनेकानेक अप्राकृतिक घटनाएँ तक आ गई थी। विद्वान हिंदू ऐसी कथाओं के मानने में असमर्थ हुए और विद्वत्ता की कमी से उस काल हिंदूधर्म का शुद्ध रूप समाज के सामने न लाया जा सका। अतएव बंगाल और पंजाब में कुछ उच्च कक्षा के हिंदू तक सुख से इसाई होने लगे। उधर मदरास प्रांत में ईसाई धर्म की वृद्धि हुई। ऐसी दशा में पंजाब में स्वामी दयानंद सरस्वती और बंगाल में ब्रह्मसमाज के प्रयत्नों से समाज ने अपने धर्म का कुछ-कुछ शुद्ध रूप देखा। आर्यसमाज के कारण वैदिक साहित्य का भी मान बढा और समाज से असबद्ध लोग भी इस से अभिज्ञ होने लगे। इस प्रकार उच्च कक्षा के लोगों में ईसाई होने की जो कुछ-कुछ अभिरुचि पाई गई थी वह पूर्णतया स्थगित हो गई। आजकल महात्मा गांधी जी के प्रयत्नों से भी धर्म का शुद्धाचरण बढ रहा है और देशभक्ति बढ़ कर ईश्वरभक्ति का स्थान ले रही है। असंभव धार्मिक विचार सभ्य समाज में आदर नहीं पाते और दार्शनिक वृद्धि से धर्म का भी शुद्ध रूप प्रस्फुटित होता देख पड़ता है। हरिजनों और शूद्रों को निम्न श्रेणी का कहना उचित ही गर्हित समझा जाने लगा है, खान-पान के बंधन ढीले हो रहे है तथा अंतर्जातीय एवं अंतर्धार्मिक विवाह तक होने को है। हरिजन खुले-खुले उन्हें नीच समझने वाले हिंदू शास्त्रों तथा धर्म से विरोध करने लगे है। इतर हिंदू भी समय पर उत्पत्ति के कारण किसी व्यक्ति या जाति को उच्चता या नीचता प्रदान करने वाली शास्त्रीय आज्ञाओ का विरोध करेंगे। अब स्वतंत्रता के विशुद्ध विचार धर्म में भी स्थान पा रहे हैं और हमारे धार्मिक जल पर जितनी कुछ काई जमी हुई है वह प्राय. ५० वर्षों के भीतर बह जावेगी, ऐसी आशा है।

चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[लेखक—श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (ऑक्सन), बैरिस्टर-एट्-लॉ]

[३१]

कांगड़ा पर गोर्खाओं का दूसरा आक्रमण

मोलाराम के परामर्श के विरुद्ध गोर्खाओं ने कांगड़ा पर आक्रमण कर ही दिया। उस समय कागड़ा के राज-सिंहासन पर राजा संसारचंद था। नैर्नसिंह काज़ी ने सेना ले कर कागड़े पर चढ़ाई की।

नैर्नसिंह सिंहा ज्यों आये।
देखि कांगड़ा लोक डराये॥
नैर्नसिंह काजी जबै, पहुँचे पच्छिम जाय।
महा त्रास सब कौं भयो, भाजे लोक डराय॥

गोर्खा-सेनापति नैर्नसिंह की बल-वीरता

चल्यो सिंह ज्यों नैर्नसिंहा हि काजी।
रहे और पाछे फते माहिं साझी॥
. . . .
कई मोरचा मोरि के तोरि डारे।
परी लोथ पै लोथ ही बहुत सारे॥
धरे पैर आगे परे नाहिं पाछे।
निमक्के हलाली तिलंगा हि आछे॥

लड़ी खूब पलटन पलट शत्रु दीन्यो ।
रहे देख सब ही किनारा हि लीन्यो ॥
मनो इंद्र चढ़ि स्वर्ग तैं आप आयो ।
चहूँ ओर तैं घोर घनसार छायो ॥
किला सों छुटैं तोप ही कोप सेती ।
परैं वज्र ज्यों इंद्र के रोष सेती ॥
मनो इंद्र गोपाल को जुद्ध लाग्यो ।
चढ्यो बीर नैपाल कट्टोच भाग्यो ॥
महासिंह ज्यो नैनसिंहा हि गाजै ।
चले भाजि कट्टोच ज्यों मृग्गराजै ॥
दयो भीतरैं वाड़ ताकौं किला के ।
दये भिन्न ही पाठ मानो सिला के ॥
फिरें झूमते घूमते बीर बाँके ।
खुले काहु से नाहि जो पाठ बाँके ॥
धसे आय ही बीर नहिं फौज जागी ।
अकस्मात गोली तहाँ आन लागी ॥

मोलाराम रणभूमि मे मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए महायोद्धा नैनसिंह की तुलना मस्त मतग से करता है—

पड़्यो मस्त मातंग ज्यों भूमि माही ।
कहे जाओ आगे थमो कोउ नाहीं ॥
मृत्यु-शय्या पर नैनसिंह
महासिंह ज्यो नैनसिंहा हि गाजै ।
सबै फौज कट्टोच ही की जो भाजै ॥
करै मार ही मार ललकार सेती ।
करै हाथ तो वाहि संसार जेती ॥
न ऐसो कोई बीर बाँको निहार्‌यो ।
महा सूर सावंत दिल को करारो ॥

महा मौज दरिया वही दान दाता ।
कवी कौं सबी कौं जगत माँहि ख्याता ।।
किधौं तारिका बृंद सौं चंद छुट्यो ।
किधो इंद्र इंद्रासनै इंद्र छुटयो ।।
किधौं राहु नव जाय के जुद्ध लायो ।
गिरयो भांनु बेवान सौ भूमि आयो ।।
पर्यो खेत माँहि चेत नाँहि प्रेत लागै ।
लखे नैन सो नैनहीं भूक भागै ।।
झरे जार ही जार सरदार रोवैं ।
सबै आपनो आपनो मूँह धोवैं ।।
मनो आज वर्षा हि रितु रीत लागी ।
झरै नैन सों नीर झरना झरागी ।।
भयो भूमिका पै सबै त्रास भारी ।
रही बीर के चित्त की चित्त धारी ।।
चढ़े व्योम बेवान सब देव आये ।
लखे नैन ही सिंह नैना भराये ।।
अचंभा इहै देखि रम्भा ऽकुलानी ।
इतै शत्रु की फौज सब ही पलानी ।।
किला होन खाली लग्यो कांगड़ाई ।
इते जाय किनहूँ हकीकत सुनाई ।।

कांगडा का राजा संसारचंद अपने किले के अंदर छिप गया था। कांगड़े का दुर्ग बहुत मजबूत था। गोर्खा-सेना न तो किले की दीवारों को फाँद कर अंदर जा सकी और न किले के फाटक को ही तोड सकी। गोर्खा-सेनापति नैनसिंह ने स्वयं किले के द्वार को तोडना चाहा और जिस समय यह वीर किले के द्वार को तोडने का प्रयत्न कर रहा था, किले से किसी कांगड़े के सैनिक की गोली अकस्मात उस पर लगी। वह वीरलोक को सिधारा। किंतु इस

रणवीर नैनसिंह की मृत्यु

ना पना संसारचंद वा उस की सेना को नहीं था। कांगडे की सेना भागने लगी और किला खाली होने लगा। इस बीच किसी ने जा कर संसारचंद से कहा कि—

काजी कौं गोली लगी, तुम क्यों भाजी जाय।
खबरदार ने खबर दी, राखो फौज थमाय॥

. . . .

नैनसिंह जब ही हते, पाई फतह कटोच।
अमरसिंह काजी कियो, हर्ष सोक ही सोच॥

नैनसिंह की मृत्यु पर अमरसिंह और नैपाल के राजा के भाव

हर्ष इहै मन माँहि जो कीन्यो।
नैनसिंह ने किला न छीन्यो॥
इह जस जो अब हमही पावें।
इक दिन किला इहैं जो छिनावैं॥
शोक इहै कीन्यो मन नाहीं।
गोत बाव लाग्यो तन पाही॥
सोच भई जो नृप सुन पावें।
निमक हराम हमहिं ठहरावें॥
गई खबर नैपाल इह, कांतीपुर दरबार।
नैनसिंह काजी गिरयो, करी खूब तलवार॥
प्राण दये पर खेत न छाड़्यो।
खेद दये अरि जस जग बाढ़्यो।
महाराज सुनि उत्तर दीन्यो।
जो इत कहि गयो सो उत कीन्यो।
नैनसिंह से बीर कहाँ अब।
जो मुख कहैं करैं सोई सब॥
सीस दियो पर पीठ न दीनी।
निमक हलाली जग माँहि कीनी।

नैपाल के राजा गिरवाण युद्ध को रणवीर नैनसिंह के वीर-लोक को सिधारने पर अति शोक हुआ। उस के साथ ही उसे हर्ष भी हुआ कि नैनसिंह ने अपने राजा को

कांगड़े के लिए रुद्रवीर और दलभंजन की नियुक्ति

सेवा में अलौकिक वीरता दिखाते हुए रणभूमि में प्राण दिए। नैनसिंह के भाई भीमसेन ने राजा से कांगड़ा जा कर अपने भाई के अधूरे कार्य को पूरा करने की आज्ञा माँगी। किंतु गिरवाण युद्ध ने

भीमसेन सेती कह्यो, महाराज भरि स्वास।
जो तुम जाओ कांगड़े, कौन हमारे पास॥
तुम बिन इत कैसे निभै, तुमरे सिर सब भार।
निमक हलाली में रहो, निसि दिन ही दरबार॥

भीमसेन के बदले नैपाल-नरेश ने रुद्रवीर और दलभंजन पांडे को कांगड़ा के लिए रवाना किया।

[३८]

कांगड़ा पर गोर्खाओं का तीसरा आक्रमण

मोलाराम लिखता है—

रुद्रवीर चौतरिया आये।
दलभंजन संग माहि पठाये॥
लियो कांगड़ा तिनहुँ विराई।
चहूँ तरफ फौजेंहि फिराई॥

. . . .

फिरैं तिलंगा चहुँ तरफ, आठों जाम अथाह॥
देखि पेखि संसार कौं, भयो महा भय त्रास।

संसारचंद का संधि का प्रार्थी हो कर दलभंजन के पास आना

संसार चंद्र तब ही मिल्यो, आन दुहुन के पास॥
पाँच लाख धन पुत्रिका, कीनी आन कबूल।
किला कांगड़ा सहित ही, लेहो मुलक मसूल॥
संसार चंद्र ने इह कही, बैठ इकांतहि माँहि।
पांडेहि से और चौतरा ताँहि

ससारचद का यह सधि का सदेश दलभंजन पाडे और रुद्रवीर चौतरिया ने कांतिपुर राजा के पास भेजा। जब इस का पता अमरसिंह को लगा, तो उस ने नैपाल के राजा के पास चुगली लिख भेजी।

अमरसिंह नैपाल के राजा से चुगली करता है

संसारचंद्र बहु घूसहि दीनी।
दलभंजन चौतरिया लीनी॥
किला छाड़ि मिलि बैठे दोई।
करी हमारी सब ही खोई॥
जो इह पलटि तहाँ को जावैं।
किला कांगड़ा हमहुँ छुटावैं॥

. . . .

अमरसिंह ने तंत्र इह, लिखि भेज्यो दरबार।
महाराज ने सुनत ही, भेज्यो भारावार॥

[३९]

कांगड़ा पर गोरखाओं का अंतिम आक्रमण

कांगड़ा पर चौथी बार चढ़ाई के लिए वीरभद्र नियुक्त किया गया।

दलभंजन औ चौतरा, दोनों लये बुलाय।
कुँवर बीर ही भद्र जो, दीन्यो सीघ्र पठाय॥
बीरभद्र तुम बीर हो, करो काज इहि आज।
किला कांगड़ा फौज ले, जाव कह्यो महाराज॥

. . . .

संवत् १८६६ (सन् १८०९ ई०) के फागुन महीने में वीरभद्र ने अपने दलबल के साथ श्रीनगर में प्रवेश किया। नैपाल-नरेश ने कवि मोलाराम की रक्षा के विषय में ताकीद कर दी थी।

कियो प्रवेस वीर नै, श्रीनग्र याहि भाँत सौं।
सिफ़ता बुला हमैं दई जो म्हौर हाथ सौं॥

अनेक भाँत की कृपा, हमै जो भूप की भई।
धाम ग्राम बाग ही, जगीर थाम सब दई॥

गोर्खा-सेनापति वीरभद्र का गढ़वाल की राजधानी में बड़ा अच्छा स्वागत हुआ प्रतीत होता है। वीरभद्र होली के अवसर पर श्रीनगर में पहुँचा था।

वीरभद्र का श्रीनगर में स्वागत

राग रंग नृत्य फाग, सहू में मचाइयो।
अबीर औ गुलाल बीर, बहुत ही उड़ाइयो॥
मृदंग खंजरी झंजाल, और बीन बाजती।
सरंगि हि सितार तार, बांसुरी हि गाजती॥
नचैं नरी परीहि ज्यों, वरांगनाहि रंग मै।
अबीर आस पास बीर ही सबै तरंग मै॥
महराज गीरवाण जुद्ध, को प्रताप गावते।
बीरभद्र ध्यान धार प्रेम सौं लड़ावते॥
देत रोज मौज दर्ब सर्ब ही गुनीन कौं।
प्रसन्न होइ कै बुलाय देत बिप्र दीन कौं॥

फागुन का मास इस तरह आनंद-पूर्वक गोर्खा-सेनानायक ने अपनी सेना के साथ श्रीनगर मे बिताया। चैत्र मास के आरंभ होते ही वीरभद्र ने कागडे पर चढाई की तैयारी की। कागडे पहुँचने से पहले वीरभद्र ने सिरमोर को पराजय करना चाहा। इस लिए पहले रास्ते मे सिरमोर पर, जिस को मोलाराम 'मोरनी' भी कहता है हाथ फेरा।

कागड़े आने से पहले वीरभद्र का सिरमोर पर आक्रमण

मोलाराम के कथनानुसार—

अमरसिंह काजी कह्यो, जो दूहूँ सिरमौर।
प्रथम मोरनी तोड़नी, बीरभद्र रणजोर॥
बली बीर रणजोर सजि सेन आये।
कुँवर बीरभद्रै हि संग मे पठाये॥
घटा घूमि कै झूमि कै ज्यों भराई।
मिली दामनी सामनी सैन आई॥

लड़ै गोरखे बीर बाँके तिलंगी।
लगी बाजने गाजने तोप जंगी॥
धरी सामने तोप छूटै कराला।
दुहूँ ठौर सेती मनौ ज्वाल माला॥

. . . .

वीरभद्र की वीरता

धस्यौ फौज कौ चीर कै बीरभद्दै।
गये पाथिया भाजि कै ठांट छद्दै॥
खड़े खेत मैं खैंच तलवार षुंडा।
दये काटि ही कूटि अरि रुंड मुंडा॥
कहूँ खूँखरी षुंड तलवार गाजैं।
मनो भूमि भूकंप आकास गाजैं॥
करैं मोर ज्यों सोर चहुँ ओर सेती।
लई मोरनी मारि कै जोर सेती॥
अटा की छटा पै खड़ी नार देखै॥
कहूँ भाजने को नहीं राह देखै॥
भजै जा दिसा बाँह ऐचै तहाही।
कहूँ भाजने कौं मिली बाट नाहीं॥

इस के बाद कवि मोलाराम ने सिरमोर की स्त्रियों के सौदर्य का संकेत करते हुए उन की तुलना गोपियों से की है। और कहा है कि गोर्खा-सैनिकों के मन को सिरमोर की सुदरियों ने मोह लिया था—

सिरमोर की मोरनियों और गोर्खा सिपाहियों का आमोद-प्रमोद

जितै बीर रणजोर काजी हि जोहै।
जो देखै छबी वाहि को चित्त मोहै॥
भई आन कै नार सब पास ठाड़ी।
मिट्यो त्रास तिनको महानंद बाढ़ी॥
लगी टकटकी धकधकी मूर्च्छाई।
मनों गोपनें भेंट पायो कन्हाई॥

कवि ने अपने काव्य मे सिरमोर की वीरागना और गोर्खा वीरो के आमोद-प्रमोद

का सविस्तर उल्लेख किया है। कदाचित् पाठकों को कवि के उन पदों को उद्धृत करना अश्लील प्रतीत हो।

सबैं बीर मैं धीर बलि बीरभद्रं।
लिधौं दक्षप्राजापती हेत रुद्रं॥
लड़्यो येकलो जंग महि बंग कीन्यो।
महा मोरनी दुर्ग गढ़ तोड़ दीन्यो॥

मोलाराम ने बीरभद्र के अतिरिक्त सुदर थापा, बली सिंह, चंद्रबीर, भगवत, जैकृष्ण और रिपुमर्दन इत्यादि अन्य गोर्खा बीरों की वीरता का भी विवरण किया है। गोर्खा योद्धाओं के वीरत्व के कारण—

सिरमोर में गोर्खा आतंक

इहै भाँत सब ही भये तहँ प्रहारी।
पड़्यो सह्र सिरमौर आतंक भारी॥
सबै बीर महि बीरभद्रैं महाई।
धर्यो आप ही मोरनी जा छुटाई॥
भजो कर्म परकास भी कर्मनासा।
रही रत्नपरकास[1] को नाँहि आसा॥

जब सिरमोर का राजा निराश हो गया, तब वह रणभूमि को तज कर भाग गया। राजा के इस व्यवहार का सिरमोर के लोगों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। सब लोग राजा की कायरता की निंदा करने लगे। जनता ने मोलाराम के शब्दों में यह भी कहा—

सिरमोर के राजा की कायरता

लड़ैं आपनी भूमि पै भूपती जो।
मरैं तो तरैं होय ताकी गती जो॥
इहैं साह प्रद्युम्न[2] गढ़राज कीनी।
दयें आपने प्राण नाँहि लाज दीनी॥

---

[1] **रत्नप्रकाश, सिरमोर का राजा।**

[2] **समस्त गढ़वाल का अंतिम नरेश प्रद्युम्नशाह गोर्खा सेना से लड़ते-लड़ते देहरादून में रणक्षेत्र में मारा गया।**

भयो भ्रष्ट सिरमौरिया राज वाको।
बचे प्राण उपहास भ्यो लोक ताको॥

सिरमोर (नाहन) राज्य की प्रजा गोर्खा-सेनापति के शरणागत हो गई। गोर्खाओं ने उनको आश्वासन दिया और उन से अपनी प्रजा-तुल्य व्यवहार करने का वचन दिया। इस पर—

सिरमोर की प्रजा ने विजयी गोर्खाओं की शरण ली

मिट्यो त्रास तिनको, भयो जी हुलासा।
चल्यो पंथ मन्मथ्य सरवत्र खासा॥

गोर्खा-शासकों ने सिरमोर राज्य का संगठन तथा सुप्रबंध किया।

सबै मुल्क बाजार गुलजार कीन्यो।
महादान सन्मान सों विप्र दीन्यो॥
महा दुंदभी भेर झंकार बाजी।
बजे मारफा तास बंदूक गाजी॥
सबै सहर सिरमौर नाहण बसाई।
फिरी साह गिर्बाण जू की दुहाई॥

विजयी गोर्खा-शासकों ने सिरमोर में निरंकुश राज्य करने का विचार नहीं किया। मोलाराम के काव्यानुसार गोर्खाओं ने सिरमोर की राजधानी नाहन में एक शासन-मंडली अर्थात् एक प्रकार की 'कौंसिल अव् रिजेंसी' स्थापित की। और इस राजमंडली द्वारा सिरमोर में राज्य करने का विचार किया।

विजयी गोर्खाओं ने सिरमोर में राज्य-शासन के लिए 'सभा-मंडली' स्थापित की

रची तहँ सभामंडली सुद्ध सारी।
महातंत्र ही जंत्र मंत्राधिकारी॥
लहैं नैन ही ऐंन कहैं मधुर बानी।
करैं दूध को दूध पानी को पानी॥
बिचारी अचारी रची नीत सारी।
रहैं सिंह ही मृग सभा येक सारी॥
रहैं बैठ बारादरी न्याय माहीं।
रहैं चारो ही वर्ण नीके तहाँ ही॥

इस बात का पता मोलाराम के काव्य से नहीं लगता है कि आया इस 'सभा-मडली' (राज्य-मडली) में सिरमोर के लोग भी थे। किंतु यह देखते हुए कि उस राज्य-मडली में चारो वर्ण के लोग मौजूद थे यह प्रतीत होता है कि उस सभा-मडली में प्रजा-पक्ष के लोग भी अवश्य रहे होगे।

गोर्खा-सेना मे नैपाल से केवल एक ही वर्ण के लोग अर्थात् क्षत्रिय गए होगे। इने-गिने ब्राह्मण भी रहे होगे किंतु शूद्र और वैश्य लडने के लिए सिरमोर क्यो सेना के साथ जाते ? यदि इन दो वर्णो के लोग गोर्खा-सेना के साथ गए थे तो वे केवल सिपाहियो की सेवा आराम के लिए। इन अपने सेवक अथवा काम के आदमियो को गोर्खा शासक राज्य-सभा-मडली मे क्यो रखते ? अस्तु इस सभा-मडली मे प्रजापक्ष के लोग अवश्य रहे होगे।

अमरसिंह का पुत्र रणजोर सिरमोर का क़ाजी (गवर्नर) नियत हुआ। उस ने लोगो को जागीरे, खिल्लते, आभूषण, वस्त्र, हाथी और घोडे दिए। इस तरह सिरमोर के पराजित निवासी और अपने सैनिक तथा शासको को प्रसन्न व सन्तुष्ट कर रणजोर नैपाल के राजा गिरवाण युद्ध की ओर से सिरमोर मे राज्य करने लगा।

रणजोर सिरमोर में नैपाल की ओर से राज्य करने लगा

सिरमोर को पराजय कर गोर्खा सेना ने कागडे के किले पर चढाई की। और

कागड़ा पर चौथी बार आक्रमण आरंभ हुआ

किला कांगड़ा घेरि कै, कीन्यो सब मजबूत।
अकुलाये तब ही तहाँ, सब रांडी के पूत॥
रस्त बंद सब करी तहाँ ही।
खलबल पड़ी किले के माँही॥
खाली भये भंडार कुठारा।
बाहर सों अन्न न आवे भारा॥
त्राहि त्राहि गढ़ भीतर भई।
नर नारी सब मूर्च्छित रही॥
घास फूस सब खानहि लागे।
एक एक कर जात है भागे॥

जब किले के अंदर बंद कांगड़े के लोग इस तरह व्याकुल और आतुर हो गए तो संसारचंद ने अपने सब राज-कर्मचारियों और मंत्रियों से परामर्श किया।

संसारचंद युक्ति से काम लेना चाहता है

प्रधान-सचिव नौरंग ने राजा से कहा—

जो कोई दिन जीया चाहो।
काजी सौं कछु सूत्र मिलाओ॥
....
प्रान काहु बिध सौं रख लीजै।
प्रान रहे जो घट के मठ ही।
फेर करैं हम हूँ नटखट ही॥
सौ परतीत शत्रु कौं दीजै।
अपनो काम काढ़ि सब लीजै॥

राजा संसारचंद ने प्रधान-मंत्री नौरंग को अमरसिंह काजी के पास भेजा। नौरंग ने—

संसारचंद के मंत्री नौरंग का छल

कह्यो बचन मृदु मधुर सुहाई।
हौं राजा ने दियो पठाई॥
कायल हो नृप बिनती कीनी।
इह अरजी करि तुम सौं दीनी॥
किला कांगड़ा हम हूँ छाड़्यो।
अब हम कौं तुम बाहर काढ़्यो।
अपना करि कै हम कौं राखो।
बचन यहै नौरंगा भाखो॥

अमरसिंह को नौरंग की बातों पर विश्वास हो गया। उस ने प्रसन्न हो कर नौरंग से कहा—

किला कांगड़ा छाड़ि कै, आओ हमरे पास।
रहो चाकरी माँहि तुम, पूर्न होय सब आस॥

नौरंग ने क़ाजी से कहा किले के द्वार से चौकी पहरा हटा दीजिए। हमारे रहने को किले से बाहर निवास-स्थान नियत कीजिए और हमारा सामान ढोने को कुली

दीजिए। हम फौरन आते हैं। अमरसिंह इन सब बातों को करने को सहमत हो गया। किले में गोर्खा चौकी-पहरा हटा दिया गया। तब संसारचंद ने अपने मंत्रियों से कहा——

संसारचंद की पंजाब-केसरी रणजीतसिंह से सहायता के लिए प्रार्थना

किला गोरखा जो इह पावैं।
धुर कासी कस्मीर दबावैं॥
पुनि लहौर में लगे नवारा।
लेहि पिसौर हिंद इह सारा॥
ताते तुम जो किला बचाओ।
रणजितसिंह को सिघ्र बुलाओ॥
किला सौंपि पालायन कीजै।
अपनो बोझ ताहि सिर दीजै॥
किला कांगड़ा सिंह दबावै।
तो कोई दिन में हम पावैं॥
इह मसलत सब के मन भाई।
पाती सिंह पै सिघ्र पठाई॥

कांगड़ा के राजा संसारचंद के दरबार मे कई बडे-बड़े चित्रकार थे उन की चित्र-कला "कांगडा कलम" के नाम से प्रसिद्ध है। कांगडे के चित्र राजपूत चित्रकला के उच्च-कोटि के चित्र माने जाते हैं। कांगडा कलम और गढवाल की चित्रकला मे बहुत समता है। संसारचंद ने अपने दरबार के किसी अच्छे चित्रकार से एक चित्र इस विषय पर अंकित करवा कर पत्र के साथ भेजा।

पाती महि हाथी लिखि दीन्यो।
आसपास ही कीचर कीन्यो॥
कीचहिं बीच फँसै जब हाथी।
काढ़े गधा न काढ़ै साथी॥
सिंह सिंह को काज सुधारै।
सूर सूर सौंही ललकारै॥

साह साह को काज चलावै ।
राजा राजा मदत को आवै ॥
इनहूँ बहोत आज लौं थामी ।
पूरब बेरी पश्चिम–जामी ॥
तातें याको करो बिचारा ।
पाली बाँधि लगै नहि बारा ॥
किला कांगडा तुम को दीन्यो ।
नातर इहैं गोरखा लीन्यो ॥

संसारचंद के उक्त पत्र को पढ़ कर महाराजा रणजीतसिंह को गुस्सा और जोश आया। उस ने फौरन अपनी सिख सेना तैयार की।

रणजीतसिंह की सहायता

तुपक तीर तलवार सरोही ।
लीने चक्र चढ़े सब कोई ॥
तोफन की गिनती कछु नाईं ।
अंध धुंध सरबत्रहि छाईं ॥
फौजन को कछु नांहि सुमारा ।
जित कित सिंह फिरे असवारा ॥

रणजीतसिंह की सेना ने फौरन कांगडा किले को घेर लिया। संसारचंद को किले से बाहर ले आए। तब गोर्खाओं को पता लगा कि क्या हो रहा है, और नौरंग ने कैसा धोखा दिया।

तबै गोरखा बात चिताई ।
फौजें जब सिर पै चढ़ि आई ॥
दल बादल चहुँ दिस चढ़ि आये ।
बरषा रितु ज्यों नभ घन छाये ॥
सिंह कहै उठि घर कौ जाओ ।
कै तो लड़ने सनमुख आओ ॥
रस्स बंद चहुँ गिरद सौं कीनी ।
पौन सरीखी आन न दीनी

जल बिन सब ही अत अकुलावै ।
अन्न मिलै नहिं घासहि खावै ।।
सबै गोरखा अत अकुलाये ।
काजी सहित मिलन तब आये ।।
रणजितसिंह को सीस नवायो ।
जीवदान तब सब ही पायो ।।

रणजीतसिंह ने गोर्खाओं से कहा कि तुम फौरन सतलज के पार हो जाओ, और आगे सतलज इस पार कभी न आना।

अमरसिंह तब सीस नवायो ।
कर सलाम सतलज कौं आयो ।।
सूखे ठौर में बैठचो जाई ।
कांतीपुर इह खबर पौंछाई ।।
किला कांगड़ा सिंह ने लीन्हो ।
हम को सतलज वारहि दीन्यो ।।
हम सूखे अब ठौरहि आये ।
सतलज वार सब राज दबाये ।।
रणजितसिंह सिरमौर के माँहो ।
बलभद्र गयो दूण के ताँही ।।
श्रीनगर बहादुर भंडारी ।
दसरथ खत्री संग तिन्हारी ।।
हमें हुक्म अब जो कछु होई ।
करे चाकरी हम हूँ सोई ।।
रणजितसिंह संग फौज घनेरी ।
थकै आँख वा तर्फ जो हेरी ।।
लीनी जिन कस्मीरहि सारी ।
खुरासान मुलतानहि भारी ।।

नैपाल में समाचार भेजा जाना

८

इह अरजी नैपाल पठाई ।
भीमसेन जर्नैल बँचाई ॥
महाराज सुनि के जो रिसाये ।
बखतावर बसन्यात पठाये ॥
कह्यो जाओ थीनप्र के माँही ।
बैठ करो तुम काज तहाँ ही ॥

हिंदू-कालीन भारत में नगर-जीवन

[लेखक—प्रोफ़ेसर प्रसन्नकुमार आचार्य, पी-एच्० डी० (लेडेन), डी० लिट्० (लंदन)]

प्राचीन वेदों मे 'ग्राम' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यह शब्द प्राय ३००० वर्ष पुराना है। परतु इस का व्युत्पत्यात्मक अर्थ अथवा इस की उत्पत्ति का इतिहास अज्ञात है। संस्कृत मे यह केवल समूह, वर्ग, या संग्रह के अर्थ मे आता है—जैसे गुण-ग्राम, भूतग्राम इत्यादि। इस समय यह शब्द साधारण रूप से ऐसे घरो या झोपडो के समूह के अर्थ मे आता है, जिस मे कुछ परिवार या कृषकगण रह कर खेती का काम करते है। इसी अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग अंग्रेजी तथा अन्य पाश्चात्य भाषाओ मे भी होता है। गॉव से बडी बस्ती को क़स्बा या शहर कहते है, और जिस कस्बे में कोई म्यूनिसिपैलिटी या कारपोरेशन या गिरजाघर हो, उसे नगर कहते है। इसी विश्लेषण के आधार पर पौर-शास्त्र या 'सिविक्स'-विज्ञान के विशेषज्ञो का कहना है कि आदिम मनुष्य इच्छानुसार इधर-उधर पशुओ की भॉति देहातो मे घूमता फिरता था। समय पा कर उस ने स्थायी-रूप से रहने का स्थान बना लिया। एक स्थान में रहने वाले बहु-सख्यक लोग जब एक गरोह बना कर एक मुखिया के अंतर्गत रहने लगे तब वह बस्ती ग्राम कहलाने लगी। यह एक स्वतत्र और अपने ही मे पूर्ण सत्ता थी। सभ्यता के कुछ और अग्रसर होने पर क़स्बे या ग्रामो मे कुछ बडी बस्तियाँ बनी, जिन मे अन्य ग्रामो की चीजे बेचने और ख़रीदने की सुविधाएं प्राप्त हो सकती थी। व्यापारिक जीवन के विकास का आरंभ इन्ही कस्बों से होता है। नगर-जीवन में व्यापारिक सभ्यता का कुछ और विकसित रूप लक्षित होता है। इस अवस्था मे लोग राजनीति और शासन आदि पर गभीर ध्यान देने लग गये थे। इस के बाद यह भी कहा जाता है कि ग्राम से स्व-व्यवस्था, कस्बे से सगठन, तथा नगर से नागरिको के अधिकारो और कर्तव्य का ज्ञान विकसित हुआ।

परन्तु यहाँ पर विशेषत. हमे ग्राम, कस्बे तथा नगरों के स्थापत्य-सबंधी विकास पर ही विचार करना है। शिल्पशास्त्र के युग मे एक ओर गाँवो तथा दूसरी ओर नगरो की अवस्था ऊपर बताए हुए कस्बों के ही ढंग की थी। इस का अर्थ यही है कि न तो गाँव केवल-मात्र किसानो की झोपडियो के समूह थे, और न नगर ऐसे थे, जिन मे भिन्न देशो के राजनीतिज्ञ एक-दूसरे के कार्य पर गूढ दृष्टि रखते हो। वास्तव मे 'मानसार' मे—जो इस विषय पर प्रामाणिक ग्रंथ है—नगर-जीवन पर ग्राम, नगर, तथा गढ के शीर्षको के अंतर्गत ही विचार किया गया है। यह सभी सुव्यवस्थित कस्बे थे, जिन मे स्वास्थ्य, आत्म-रक्षा, तथा निवासियो की सुविधाओ का प्रबंध करने वाली संस्थाएँ थी। इस ग्रथ मे जिन आठ प्रकार के गाँवो, आठ प्रकार के नगरो, तथा पंद्रह प्रकार के गढो का वर्णन है, उन का सबध औद्योगिक प्रतिस्पर्द्धिता से न हो कर अधिकतर भौगोलिक स्थिति तथा शास्त्रीय व्यवस्था से ही है।

'दंडक' ग्राम मे एक सीधा, चतुष्कोण भू-भाग होता है, जिस के छ भाग होते है। ग्राम के चारो ओर प्राचीर के बराबर-बराबर एक सड़क होती है। जो भाग केवल ब्राह्मणो के रहने के लिए होता है, उस मे चार और सीधी गलियाँ होती है, जो उस भाग को पाँच बराबर टुकडो मे विभाजित करती है। सार्वजनिक गृहो के अंतर्गत उत्तर-पूर्व कोण पर एक शिवालय और एक विष्णु-मदिर होते हैं, और इन की स्थिति गाँव के बीच वाली सड़क और बाहरी सडक के चौराहे पर पश्चिम मे होती है। इस प्रकार सभी निवासियो की पहुँच इस मदिर तक आसानी से हो सकती है।

'सर्वतोभद्र' ग्राम का विन्यास अत्यत सुदर होता है। बाहरी सड़क के अतिरिक्त इस मे दो प्रधान सडके और होती है, जो गाँव के बीच से होती हुई, इसे चार वर्गाकार भू-भागो मे विभाजित करती हैं। प्रत्येक भू-भाग अन्य बहु-संख्यक गलियो द्वारा विभाजित रहता है और इस प्रकार प्रत्येक विभाजित भू-भाग भिन्न-भिन्न वर्ग के निवासियो के लिए नियत रहता है। गाँव के मध्य मे एक मदिर होता है और इस से संलग्न चार मठ होते है, जो चारो वर्गाकार भू-भागों के चारो कोनो पर स्थित होते है। गाव के प्रत्येक कोने पर एक धर्मशाला होती है। पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाली सड़क पर एक सार्वजनिक तालाब रहता है। परिखा के उत्तर-पूर्व कोण पर एक क्षेत्रपाल का मंदिर भी होता है। यह किसानो के प्रिय देवता है।

'नद्यावर्त' ग्राम वास्तव मे एक बड़ा कस्बा है। यह पूर्व से पश्चिम की ओर फैला हुआ एक चतुर्भुज जनपद होता है, जिस के चारो ओर परिखा और प्राचीर होती है। पूर्व से पश्चिम पॉच, और उत्तर से दक्षिण चार सडके होती है। इस प्रकार यह पचीस टुकडो मे विभाजित होता है। केंद्र मे एक क्रीडा-भवन और एक उद्यान रहता है। इस उद्यान के उत्तर और दक्षिण एक-एक विष्णु के मदिर होते है और पूर्व और पश्चिम की ओर छ. शिव-मदिर होते हैं। बाहरी सडक पर, उत्तर की ओर सरस्वती और लक्ष्मी के मदिर होते है। उद्यान के सामने बीच मे दो सार्वजनिक मडप होते हैं। इस ग्राम मे चारो वर्णो के लिए अलग-अलग हिस्से तो रहते ही है, साथ ही बौद्धों तथा कुछ ऐसे वर्गो के लिए भी अलग बस्तियाँ है जैसे दर्जी, सुनार, मछुए, धोबी, मोची, थवई, लुहार, बढई, पुरोहित, चिकित्सक, दरबारी, नर्तक, अमात्य, लेखक आदि। पश्चिम की ओर केंद्र-स्थल मे राज-प्रासाद होता है। बाहरी सडक पर पश्चिम की ओर रक्षको (पुलिस) का स्थान नियुक्त है।

'पद्मक' का विन्यास कमल के आकार का होता है। इस के भी चारो ओर एक बाहरी सडक होती है। इस मे भी चार भू-भाग गॉव के बीच वाली दो सड़को से विभाजित रहते है। इन के अतिरिक्त इस में और भी बहु-सख्यक गलियाँ होती हैं, जो कि चारो भू-भागो को अनेक टुकड़ों मे बॉटती है। इस गॉव मे भी एक राज्य-प्रासाद, एक केंद्र-स्थित उद्यान-मंदिर, तथा विविध प्रकार के सार्वजनिक गृह होते हैं। नगर के बीच एक मंडप होता है।

'स्वस्तिक' ग्राम का विन्यास स्वस्तिक चिह्न की ही बनावट का होता है। इस के बीच के एक भाग मे राज्य-प्रासाद होता है। बाहरी सडक के अतिरिक्त इस मे और भी सडके होती है, जो चारों भू-भागो मे से प्रत्येक को दो चतुर्भुज भागों मे बॉटती है। इस मे अनेक हिंदू, बौद्ध, तथा जैन मंदिर होते हैं। भैरव तथा चामुडा के मंदिर वहॉ होते है जहॉ मृतको की अंत्येष्टि-क्रिया आदि के स्थान होते है। गॉव के अदर ही दक्षिण-पूर्व के कोने पर एक ऐसे देवता का मंदिर होता है जिस की पूजा ज्वर से पीडित लोगो द्वारा होती हैं। बाहर प्राचीर मे आठ द्वार होते हैं और कोनो पर रक्षको के लिए निगरानी की मीनारे भी होती है। यह एक प्रकार से मदिरो का ग्राम होता है।

'प्रस्तर' ग्राम का विन्यास एक चतुर्भुज के का होता है पूर्व से पश्चिम

इस की लंबाई, उत्तर से दक्षिण चौड़ाई होती है। इस का विन्यास कुछ-कुछ नंद्यावर्त ग्राम जैसा होता है; परन्तु इस में भू-भागों का विभाजन भिन्न प्रकार का होता है। इस में पाँच मुख्य सड़कें पूर्व से पश्चिम को, और पाँच उत्तर से दक्षिण को पार करती हुई जाती हैं। बाहरी सड़क, जो ग्राम के चारों ओर हो कर जाती है, वह भी रहती है और बहु-सख्यक छोटी सड़कें तथा गलियाँ भी। सार्वजनिक तालाब, बाजार की दूकानें, सार्वजनिक मंडप, राज्य-प्रासाद, तथा रक्षकों के गृह उचित स्थानों पर रहते हैं। सारा ग्राम 'दैव', 'मानुष' तथा 'पैशाच' भागों में सुंदर रीति से बँटा रहता है।

'कार्मुक' ग्राम अर्द्धवृत्त आकार का होता है। तीन बड़ी सड़कों द्वारा यह इस प्रकार विभक्त रहता है कि इस का विन्यास धनुषाकार हो जाता है। बाहरी सड़क के अतिरिक्त इस में दो और वृत्ताकार सड़कें होती हैं। यह नदी या समुद्र के तट पर बसा हुआ होता है। इस में राज्य-प्रासाद नहीं होता परन्तु इस में दो शिव तथा दो विष्णु के मंदिर होते हैं। आगे का भाग बाजार तथा गोदाम के लिए अलग रहता है। आगे चल कर यदि ग्राम का विस्तार हो तो उस की भी गुंजाइश रहती है। इस में इच्छानुसार द्वार हो सकते हैं, प्राचीर रहे वा न रहे।

'चतुर्मुख' ग्राम का विन्यास अत्यंत सुंदर होता है। यह यद्यपि चतुर्भुज के आकार का होता है पर भीतर विविध आकार के भू-भागों में बहुत चारु रूप से विभाजित रहता है। बीच में अर्थात् 'दैव' भाग के केंद्र में एक सार्वजनिक मंदिर होता है और इस के चारों ओर ब्राह्मणों तथा पुरोहितों के स्थान होते हैं। मध्यस्थित चतुर्भुज भू-भाग के चारों कोनों पर चार दूकानें होती हैं। 'मानुष' भाग के एक ओर समृद्ध व्यवसायियों के स्थान होते हैं। इस के पीछे चार भिन्न भू-भाग होते हैं जिन में ग्राम के रक्षकों के स्थान, धर्मशाला, लक्ष्मी तथा सरस्वती के मंदिर होते हैं। 'पैशाच' भाग के दक्षिण-पश्चिम कोने पर, यदि आवश्यकता हुई तो राज्य-प्रासाद के लिए स्थान पृथक् रहता है। ग्राम के चारों दिशाओं के बीच में चार बड़े फाटक होते हैं, और इसी कारण ग्राम 'चतुर्मुख' कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक गाँव ईंट तथा पत्थर की दीवारों से घिरा होता है, जो इतनी ऊँची होती है कि उन्हें कोई लाँघ न सके। इस के आगे एक खाई होती है, जो इतनी चौड़ी तथा गहरी होती है कि आक्रमण के समय पार करने में एक बड़ी बाधा डाल सके। साधारणत. चारों ओर चार फाटकों के अतिरिक्त चारों कोनों पर भी फाटक होते हैं। दीवार के भीतर

की तरफ भी गॉव के चारो ओर जाती हुई एक सड़क होती है। यह सडक विशेष रूप से जुलूसो और रक्षको की फेरी या हवाखोरी के लिए होती है। दो और बडी सडके होती है जो एक फाटक से दूसरे आमने-सामने के फाटक तक होती है। इस प्रकार ग्राम के बीचोबीच एक चौराहा बन जाता है। यहाँ गॉव वालो के एकत्र होने के लिए एक मंडप या मंदिर होता है। यह गॉव, इस प्रकार चार भू-भागो में बॅटा होता है। इन में से प्रत्येक भाग अन्य छोटी सडको द्वारा अनेक टुकडो में विभाजित रहता है। मुख्य सडको पर बने हुए मकानों के नीचे के तल्लों में साधारणतया दूकाने होती है। चारों ओर घूमी हुई सडक पर पटरियाँ भी होती हैं, और मकान उन के केवल एक ओर होते है। यह गृह प्राय सार्वजनिक गृह होते है, जैसे विद्यालय, पुस्तकालय, अतिथि-गृह आदि। अन्य सडको के दोनो ओर मकान होते है, जो बहुधा नागरिको के निवास के लिए होते है। यह मकान चाहे ऊँचे हो, या नीचे समान ढग के होते हैं। यथासंभव बहुत पास-पास मकान नही होते। गाव के ढाल की ओर नालियाँ या जलद्वार होते है। तालाब और सरोवर बस्ती के सब ओर होते है और ऐसे स्थानों पर होते है जहाँ बस्ती के निवासी अधिक से अधिक सख्या मे पहुँच सकें। सर्वसाधारण के उपासना-मंदिर तथा उद्यानादि भी इसी प्रकार स्थित रहते है। साधारणत एक जात तथा पेशे के लोग एक साथ बसाए जाते है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नगर को एक बडा गॉ समझना चाहिए। इस की लबाई पूर्व-पश्चिम अथवा उत्तर-दक्षिण हो सकती है, और यह स्थिति अथवा औद्योगिक आवश्यकताओ के अनुसार वर्गाकार, चतुर्भुज, वृत्ताकार या अन्य आकार का हो सकता है। साधारणत नगर में बारह बडी सडके होती हैं। यह नदी-तट या पहाड के निकट बसता है, जिस से व्यापार मे सुविधा हो सके। गॉव की भॉति नगर में भी परिखा, प्राचीर तथा फाटक हो सकते है। तथा इस में भी नालियॉ, उद्यान, मंदिर, मंडप, अतिथिगृह, विद्यालय, पुस्तकालय, तथा साथ ही बाजार, दूकानें, घाट, और राज्य-प्रासाद, अमात्य-गृह तथा ब्राह्मणो और अन्य वर्ण तथा पेशा के लोगों के लिए अलग-अलग स्थान नियत होते हैं।

नगरो के आठ प्रकार कहे गए है, अर्थात् (१) 'राजधानी', (२) 'नगर', (३) 'पुर', (४) 'नगरी', (५) 'खर्वट'; (६) 'खेट', (७) 'कुब्जक' और (८) 'पट्टन' 'राजधानी' मे राजा का महल होना आवश्यक है 'नगर' बिना राज-महल के

भी हो सकता है। 'पुर' में साधारणतया उद्यान, सट्टी और वैश्यों के निवास होते हैं। 'नगरी' 'पुर' के समान होती है परंतु इस में राज-महल होता है। 'खर्वट' आठ भू-भागों का एक वृत्ताकार जनपद होता है, जो छोटी-बड़ी सड़कों से विभक्त होता है और जिस के बीच में एक मंदिर होता है। यह पहाड़ियों से घिरे हुए स्थान पर बसाया जाता है। 'खेट' उस प्रकार का नगर है जो ऐसी नदी के तट पर होता है, जिस के सामने एक बंदरगाह हो। इस में तीन बड़ी सड़कें होती हैं। साधारणतः इस में व्यापारी बसते हैं और इस में राज-महल नहीं होता। 'कुब्जक' संज्ञाधारी नगर के बीच का भाग उभड़ा हुआ होता है, जिस से यह कुबड़ा सा दिखाई देता है। इस के मध्य में एक मंदिर होता है, जिस के चारों ओर महल और सार्वजनिक इमारतें होती हैं। यह सुचारु ढंग से बीस भू-भागों में विभाजित रहता है। 'पट्टन' नामक नगर समुद्र-तट के व्यापारिक गढ़ को कहते हैं। इस में सभी वर्ण तथा श्रेणी के लोगों की बस्तियाँ रहती हैं। इस में रक्षकों की छावनी की विशेष प्रकार से व्यवस्था रहती है।

'दुर्ग' का नाम सुरक्षित नगरों और सेना तथा रक्षकों की छावनियों को दिया जाता है। इस के भी कई प्रकार हैं। 'द्रोणक' ऐसे सुरक्षित व्यापारिक नगर को कहते हैं, जिस में एक बंदरगाह हो। इस के मध्य में एक राज-महल भी होता है। इसी प्रकार 'शिविर' एक चतुर्भुज आकार की छावनी होती है। इस के मध्य में भी राज-महल होता है। इस में सैनिकों के डेरे, छावनी, शस्त्रागार, अस्तबल, अंगरक्षकों या ऐसे ही अन्य सैनिक दलों के लिए अलग-अलग प्रबंध होते हैं। इसी भाँति साधारणतया 'वाहिनीमुख', 'स्थानीय', 'संविद्ध', 'कोटक', 'निगम' तथा 'स्कंधावार' आदि की रचना होती है। 'जलदुर्ग' पूर्ण-रूप से एक सैनिक बस्ती होती है। यह त्रिभुजाकार होता है और इस की दो ओर बंदरगाह होते हैं। विशेष स्थलों पर प्रहरी भी नियुक्त रहते हैं। इसी ढंग से 'वनदुर्ग', 'पंकदुर्ग' 'रथदुर्ग', 'देवदुर्ग' तथा 'मिश्रदुर्ग' होते हैं। पहाड़ की चोटी पर तथा घाटी और तलहटी में भी दुर्ग बनते हैं। यह दुर्ग विशेष रूप से दृढ़ बनाए जाते हैं और इन सभी में खाइयाँ तथा प्राचीर होते हैं, साथ ही रक्षकों के लिए, निगरानी करने के लिए, मीनारें होती हैं।

'मानसार' में चालीस प्रकार के ग्राम वर्णित हैं और इन का वर्गीकरण इन की भूमि के विस्तार के आधार पर किया गया है। एक छोटा ग्राम भी चार हज़ार वर्ग फीट

का और सब से बड़ा नगर प्राय. तीस वर्ग मील का होता है। गृह-निर्माण मे इन विस्तारो का एक-तिहाई भाग चला जाता है। 'रामायण' मे अयोध्या का जो वर्णन है, उस के अनुसार इस की चौडाई तथा लंबाई का अनुपात एक और चार का है। पाटलिपुत्र प्राय: ९ मील लबा और डेढ मील चौड़ा था। हिंदू-कालीन गौड़ नगर एक लबा चतुर्भुज था, और इस का एक लंबा किनारा किसी नदी या झील के तट पर था। इस मे एक तो निवासियो के नहाने की सुविधा होती थी, दूसरे आक्रमण से रक्षा के लिए चहारदीवारी-जैसा काम निकल आता था। मिस्टर हैवेल की इस सबध मे टिप्पणी यह है कि—"शताब्दियो के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय ग्रामों और नगरो की इस प्रकार की रचना आक्रमण से रक्षा के लिए तो सर्वोत्तम होती ही है, साथ ही यह स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छी और सुखदायक भी होती है। सड़कों के पूर्वमुखी विन्यास के कारण सूर्य की किरणें दिन भर उन्हे पवित्र और स्वास्थ्यजनक बनाया करती थी और प्रधान सड़कों से उत्तर-दक्षिण की ओर जो छोटी सडकें निकलती थीं उन के द्वारा मुक्तवायु तथा ठंडी हवा के झकोरो के लिए मार्ग एक दम खुला रहता था।"

इसी प्रामाणिक लेखक का यह भी कथन है कि—"प्राचीन भारत के हर्म्य-निर्माण और स्थापत्य-विज्ञान-संबधी ग्रथो मे इतने वैज्ञानिक ढग से नगर-निर्माण की शिक्षा दी गई है कि आज-कल के निर्माणकला-विशेषज्ञो को उसे देख कर कदाचित् नया ज्ञान प्राप्त होगा। बहुत-सी रहस्यमय बातो के पीछे, जिन को अंधविश्वास कह के हम तिरस्कार कर सकते है, गभीर कलाज्ञान और वैज्ञानिक अनुशीलन की नीव पर आश्रित है।" मिस्टर हैवेल स्पष्ट रूप से यह अंगीकार करते है कि —"यूरोप का अत्युत्तम विज्ञान भी, सिद्धात-रूप से भारत के उन उद्यान-नगरो की रचना-चातुरी से आगे नही जा सका है, जो कि प्राचीन भारत के ग्रामो की रचना के आधार पर ही बने है। इडो-आर्यन ग्रामो का विन्यास उद्यान को अपनी रचना का आधार मानता था।"

मैथिलकविकुलचूड़ामणि महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर

[लेखक—श्रीयुत डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०]

(क्रमागत)

विद्यापति की रचनाएँ

विद्यापति ने तीन प्रकार की भाषा मे रचना की है—सस्कृत में (१) भूपरिक्रमा, (२) पुरुषपरीक्षा, (३) लिखनावली, (४) शैवसर्वस्वसार, (५) शैवसर्वस्वसार-प्रमाण-भूत-पुराणसग्रह, (६) गगावाक्यावली, (७) विभागसार, (८) दानवाक्यावली, (९) दुर्गाभक्तितरंगिणी, (१०) गयापत्तलक तथा (११) वर्षकृत्य; अवहट्ठ मे (१) कीर्तिलता और (२) कीर्तिपताका, तथा शिवसिह का राज्यारोहणवर्णन और उन्ही का युद्धवर्णन, और इन के अतिरिक्त परिष्कृत मैथिली मे—पदावली। इन सव का सक्षेप मे यहाँ परिचय दिया जाता है—

(१) भूपरिक्रमा—यह ग्रथ महाराज देवसिंह की आज्ञा से लिखा गया था। वलराम जी को शाप के दिनो मे जो कथाएँ मिथिला में सुनाई गई थी उन का वर्णन इस में लिखा है। मिथिला से नैमिषारण्य तक के सभी प्रधान तीर्थों का भी वर्णन इस मे किया गया है। यह अभी तक अप्रकाशित ही है। इस की एक हस्तलिखित प्रति एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के पुस्तकालय में है।[१]

(२) पुरुषपरीक्षा—शिवसिह की आज्ञा से लिखी गई थी। यह भी नीतिग्रथ है। यह ग्रंथ नवीन बुद्धि वाले बालकों को नीति का परिचय कराने तथा कामकला मे कौतुक रखने वाली पुरस्त्रियों को हर्ष पहुँचाने के लिए कवि ने लिखा है।

---

[१] राजेंद्रलाल मित्र, 'हस्तलिखित पुस्तकसूची', ग्रंथ ६, नं० ७९

इस की भूमिका मे कवि ने कहा है कि चद्रातपा नाम के नगर मे पारावार नाम का एक राजा था। उस की पद्मावती नाम की एक अत्यंत सुंदरी कन्या थी। कन्या को विवाह योग्य देख कर राजा ने सुबुद्धि नाम के ऋषि से कहा कि महाराज! इष्ट कार्यो मे जल्दी निर्णय नही करना चाहिए। सभव है मोहवश कोई अनुचित ही कार्य न कर बैठे, क्योकि मोहवश बड़े-बड़े बुद्धिमान भी अनर्थ कर बैठते है, जिस से सुख की हानि होती है। इस लिए हे ऋषि! किस प्रकार का वर अपनी कन्या के लिए ढूँढूँ, यह आप कहे।' तब ऋषि ने कहा—'राजन्! पुरुष वर करिए।' राजा ने आश्चर्य मे आ कर पूछा कि 'क्यो अपुरुष भी कन्या के लिए वर हो सकते है?' तब ऋषि ने कहा—'राजन्! इस संसार मे बहुत से पुरुष कहलाने वाले पुरुष के आकार के लोग देख पडते है किंतु वे सब पुरुष नही है। इस लिए आप पुरुष को पहचान कर कन्या के वर का निश्चय कीजिए। पुरुष को पहचानने के लिए निम्नलिखित चिह्न है—जो पुरुष वीर हो, सुधी हो, विद्वान हो, तथा पुरुषार्थ करने वाला हो, वही यथार्थ मे पुरुष है। इस के अतिरिक्त पुच्छविषाण-हीन पशु ही है।'

इन चार भेदों का, चार परिच्छेदो मे, उदाहरण-प्रत्युदाहरण-सहित कवि ने वर्णन किया है। प्रथम परिच्छेद मे वीर पुरुषो की कथा है। वीर चार प्रकार के होते है—दानवीर, जैसे—हरिश्चन्द्र तथा विक्रमादित्य; दयावीर, जैसे—राजा शिवि तथा हम्मीर-देव, युद्धवीर, जैसे—अर्जुन तथा कार्णाटकुल-संभव महाराज मिथिलेश नान्यदेव के पुत्र मल्लदेव, तथा सत्यवीर, जैसे—युधिष्ठिर एव चौहानकुल-संभव चाचिकदेव। प्रत्युदाहरण कथा मे चोर, भीरु, कृपण तथा अलस कथाएँ है।

द्वितीय परिच्छेद मे 'सुधी' पुरुष के उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण मे निम्नलिखित कथाएँ है—सप्रतिभ, मेधावि, सुबुद्धि, वचक, पिशुन, जन्मबर्बर, तथा संसर्गबर्बर।

तृतीय परिच्छेद मे विद्या में निपुण पुरुषो के उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण मे कथाएँ है। जैसे—शस्त्रविद्य, शास्त्रविद्य, वेदविद्य, लोकविद्य, उभयविद्य, उपविद्य, गीतविद्य, नृत्यविद्य, इन्द्रजालविद्य, पूजितविद्य, अवसन्नविद्य, अविद्य, खडितविद्य, तथा हासविद्य।

चतुर्थ परिच्छेद मे पुरुषार्थ वालों की कथाएँ है। जैसे—सात्त्विक, तामस, अनु-शयि, महेच्छ, मूढ, बहुराग, सावधान, कामानुकूल, दक्षिणनायक, विदग्ध, धूर्त, घस्मर,

निर्वंधि, निस्पृह तथा लब्धसिद्धि।

इस ग्रंथ में प्राय सभी कथाएँ ऐसी है जिन के दृष्टांत लोक मे सदैव मिल सकते है, और इसी लिए सब के हृदयंगम भी हो सकते है। लेखनशैली सरल तथा मधुर है। कथाएँ बड़ी रोचकता के साथ लिखी गई है। इस मे बहुत ही थोड़े शब्द ऐसे होगे जिन्हे हमारे कालेज के साधारण विद्यार्थी न जानते हो।

इस पुस्तक का अनुवाद मैथिली में कविवर चदा झा ने; बँगला मे फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के छात्रो के लिए १८१५ ई० में हरप्रसाद राय ने; अंग्रेजी मे लार्ड बिशप टर्नर के विचार से १८३० ई० मे राजा कालीकृष्ण बहादुर ने तथा विद्यापति प्रेस लहेरियासराय से हिंदी मे हुआ है। इसी से इस ग्रंथ की उपयोगिता मालूम होती है।

(३) **लिखनावली**—यह ग्रंथ राजवनौली के रहने वाले राजा पुरादित्य की आज्ञा से प्राय. २९९ ल० सं० अर्थात् १४१८ ई० में बनाया गया था। इस ग्रंथ को थोड़े पढ़े हुए लोगो की चिट्ठी-पत्री लिखने की शिक्षा के लिए तथा विद्वानों के आमोद के लिए विद्यापति ने लिखा। जितने प्रकार के पत्र लौकिक व्यवहार में लिखे जा सकते है, सब के नमूने इस ग्रंथ मे दिए गए है। ये सब चिट्ठियाँ संस्कृत ही मे लिखी है। कुछ ऐसे पत्र है जिन से विद्यापति की समकालीन सामाजिक व्यवस्था का भी ज्ञान होता है।

इन पत्रो के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि मिथिला मे भृत्य और दासियो का क्रयविक्रय आपस मे सेवा के लिए होता था, तथा उसे नियमबद्ध रखने के लिए कैसे लेख होते थे। एक प्रकार से यह प्रथा अभी भी वर्तमान है। भृत्य लोग हल जोतना, जूठा उठाना, पानी भरना, पालकी उठाना इत्यादि सब कार्य करते थे। यह अभी भी है। इस से यह भी मालूम होता है कि नवीन निर्जन स्थान में जा कर लोग बसे इस का भी उद्योग राजा करते थे।[1] उन दिनो मालगुजारी लेने का तरीका यह था कि फसल वाले जमीनो को नाप कर फ़सल के स्वरूपानुरूप मालगुजारी लगाई जाती थी।[2]

(४) **शैवसर्वस्वसार**—यह ग्रंथ महाराज पद्मसिंह की स्त्री विश्वासदेवी की आज्ञा से कवि ने लिखा था। इस में शिव-पूजनादि पर सविस्तर विचार है। यह ग्रंथ भी

---

[1] **'लिखनावली', पृ० ८, पत्र १०**
[2] **वही पृ० १० पत्र १३**

अभी अमुद्रित है। इस की प्रतियाँ एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के पुस्तकालय में[१] तथा दरभंगा राज-पुस्तकालय[२] में हैं।

(५) शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूतपुराणसंग्रह—यह ग्रंथ भी प्रायः शैवसर्वस्वसार का समकालीन है। इस में उन प्रमाणों का संग्रह है जिन का कवि ने शैवसर्वस्वसार में उल्लेख किया है। यह भी अमुद्रित ही है। इस की एक प्रति दरभंगा राज-पुस्तकालय[३] में है।

(६) गंगावाक्यावली—यह ग्रंथ भी विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखा गया[४] और अमुद्रित है। गंगा जी की पूजादि के संबंध में इस में सब बातें हैं।

(७) विभागसार—यह ग्रंथ महाराज नरसिंहदेव के समय में लिखा गया। इस में धन का बँटवारा दायादों में किस तरह होना चाहिए, इस पर विचार है। इस में दायभाग के अतिरिक्त द्वादशपुत्रलक्षणनिरूपण, अपुत्रधनाधिकारनिरूपण तथा स्त्री-धनविभागनिरूपण आदि विचार भी हैं। यह ग्रंथ भी अमुद्रित है। इस की एक प्रति नैयायिक श्री जगदीश झा, नवानी, तमोडिया (दरभंगा) के घर में है। और भी अनेक स्थानों में इस की प्रतियाँ हैं[५]।

(८) दानवाक्यावली—यह ग्रंथ महाराज नरसिंहदेव की पत्नी रानी धीरमतिदेवी की आज्ञा से लिखा गया था। जितने प्रकार के दान हो सकते हैं उन सबों के करने की विधि इस में दी गई है। स्थान-स्थान में समय-समय पर कौन सी चीज दान दी जाय यह भी इस में कहा गया है। पाप के कारण आठ प्रकार के विशेष रोग होते हैं, यह इस में कहा गया है। यह रोग हैं—उन्माद, चर्मरोग (त्वग्दोष), राजयक्ष्मा, श्वास, मधुमेह, भगंदर, उदर तथा मसूरी[६]। म्लेच्छ देश का लक्षण 'विष्णुपुराण' से उद्धृत किया गया है अर्थात् 'जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन की व्यवस्था न हो

---

[१] राजेंद्रलाल मित्र, 'हस्तलिखित पुस्तकसूची', ग्रंथ ६, नं० १९८३
[२] 'मिथिला हस्तलिखित पुस्तकसूची', ग्रंथ १, पृ० ४१६
[३] वही, पृ० ४१८
[४] श्यामनारायण सिंह, 'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० १८१-८३, फुटनोट।
[५] 'मिथिला हस्तलिखित पुस्तकसूची', ग्रंथ १, पृ० ३६८-६९
[६] 'दानवाक्यावली', पृ० ५

वही म्लेच्छ देश हैं'[१]। नेपाली कंबल उन दिनों बहुमूल्यक समझा जाता था, और राजा महाराजा शाल या दोशालों के स्थान मे इसे ही दान करते थे। अंतत मिथिला मे यही व्यवहार था विद्यापति ने 'लिखनावली' तथा 'दानवाक्यावली'[२] में इस का विशेष उल्लेख किया है।

कुछ संस्कृत के ऐसे शब्दो का प्रयोग यहाँ मिलता है जो कि आसानी से अन्यत्र नही मिल सकता। जैसे 'राहलि.'[३] (अरहड—हिंदी; राहडि—मैथिली), 'साठी[४]' (क्वार का धान—हिदी; साठी या गन्हडी—मैथिली) 'बीजपूर'[५] (अमरूद—हिंदी; लताम—मैथिली)। १००० पल, २७७ सेर[६] का कहा गया है। 'आराम'[७] उस समीपस्थ बाग को कहते है जिस मे केवल एक ही प्रकार के वृक्ष हों तथा 'उद्यान'[८] उस समीपस्थ बाग को कहते है जिस में नाना प्रकार के वृक्ष हो।

इस के अतिरिक्त इस ग्रंथ के पढने से यह मालूम होता है कि उन दिनों कितने प्रकार के वस्त्र होते थे और किन-किन चीजों से ये बनाए जाते थे।

(क) साधारण सूत का वस्त्र—जिसे कार्पासिक वस्त्र[९] कहते थे, इस के अनेक भेद होते थे। आधुनिक विलायती रूई के समान सूत जमाए हुए कोमल तोलियो के समान पहले भी वस्त्र बनता था। जिसे 'तूलवत् कार्प्पासिक वस्त्र'[१०] कहते थे। यह रूई के समान कोमल वस्त्र होता था।

(ख) 'सरोमवस्त्र'[११]—रोएँ को सूत के साथ मिला कर रूई के समान कोमल वस्त्र बनता था।

---

[१] 'दानवाक्यावली', पृ० १०-११
[२] वही, पृ० १३५
[३] वही, पृ० ११२
[४] वही, पृ० ११३
[५] वही, पृ० ११६
[६] वही, पृ० १२४
[७] वही, पृ० १५२
[८] वही, पृ० १५३
[९] वही, पृ० २३२
[१०] वही, पृ० २३३
[११] वही पृ० २३३

(ग) 'क्षौमवस्त्र'[१]—अतसी से बने हुए वस्त्र। मिथिला देश में अभी भी इस प्रकार के वस्त्र के लिए 'तिसिऔटा' शब्द विद्यमान है।

(घ) 'कौशेयवस्त्र'[२]—कोश से निकाले हुए रेशमी सूत के बने हुए।

(ङ) 'कुशवस्त्र'[३]—कुशवास के बने हुए वस्त्र।

(च) 'कृमिजवस्त्र'[४]—कीड़ो से निकाले हुए रेशमी सूत के बने हुए पट्टवस्त्र। इस मे और 'कौशेयवस्त्र' मे हम लोगों को कोई विशेष भेद नहीं मालूम होता है, किन्तु विद्यापति ने इस का भेद किया है। इस से मालूम होता है कि 'कौशेयवस्त्र' किसी विशेष कोश से सूत निकाल कर बनाया जाता था, और 'कृमिजवस्त्र' कीड़ो से निकाले हुए रेशमी सूत का बना हुआ वस्त्र होता था।

(छ) 'मृगलोमजवस्त्र'[५]—हरिण या अन्य किसी पशु के रोएँ से बना हुआ वस्त्र।

(ज) 'वृक्षत्वक्संभववस्त्र'[६]—पेड़ों के खाल से बना हुआ वस्त्र। जिसे हम वल्कलवस्त्र भी कहते हैं।

(झ) 'आविकवस्त्र'[७]—भेड के रोएँ से बना हुआ ऊनी वस्त्र।

(९) **दुर्गाभक्तितरंगिणी**—यह ग्रंथ महाराज भैरवसिंह की आज्ञा से लिखा गया। मुद्रित भी हुआ है। मिथिला देश मे दुर्गा जी की पूजा बडी धूम-धाम से होती है, विशेष कर आश्विन के शारदीय नवरात्र में, तथा वासतिक चैत्र मे। इस पूजा के समस्त विधान को कवि ने इस ग्रंथ मे लिखा है।

(१०) **गयापत्तलक**—यह ग्रंथ, ठीक पता नही कि किस की आज्ञा से कवि ने लिखा है। अभी तक यह भी अमुद्रित है। इस मे गयाश्राद्ध-संबंधी सभी बातो की विवेचना है। यह पुस्तक भी अनेक स्थानो में पाई जाती है। एक तो मेरे ही पास है, और दूसरी

---

[१] 'दानवाक्यावली', पृ० २३४
[२] वही।
[३] वही।
[४] वही।
[५] वही।
[६] वही, पृ० २३५
[७] वही पृ० २३६

पडित श्री शिवेश्वर झा (लाल्गज, झझारपुर, दरभगा—मिथिला) के [1]यहाँ।

(११) **वर्षकृत्य**—यह भी अमुद्रित है। इस मे साल भर के सभी शुभ कर्मों का विधान दिया हुआ है, और पूजा, व्रत, दान आदि सभी के नियम बताए गए है।

(१२) **कीर्त्तिलता**—यह ग्रथ महाराज कीर्त्तिसिंह के लिए लिखा गया था। कवि ने स्वय कहा है 'महाराज कीर्त्तिसिंह काव्य सुनने वाले, दान देने वाले, उदार तथा कविता करने वाले है। इन के लिए सुदर मनोहर काव्य की रचना कवि विद्यापति करते है'।[2] इसी के अनुसार इस काव्य मे कीर्त्तिसिह की वीरता का वर्णन किया गया है। इस ग्रथ का बँगला तथा हिंदी अनुवाद भी हुआ है।

सक्षिप्त मे इस ग्रथ का विषय यह है कि महाराज गणेश्वरसिह को ल० स० २५२ मे असलान नामक एक मुसलमान ने राज्यलोभवश मार डाला किंतु बाद मे बहुत पछताया और उसने राज्य लौटा दिया। राजा के दोनों पुत्र बीरसिंह तथा कीर्त्तिसिंह ने ईर्ष्यावश बदला लेने के अभिप्राय से उसे अगीकार न किया। ये दोनों भाई स्वयं इतने प्रौढ नही थे कि इस का बदला बिना किसी अन्य सहायक के ले सकते। इस लिए अपनी माता से आज्ञा ले, अपने सब मे छोटे तीसरे सोदर भाई राजसिंह[3] के ऊपर सब भार दे, तिरहुत के स्तभ-रूपी विचक्षण मत्री, मत्री आनदखान, मित्र हंसराज, गुण से गुरुता को प्राप्त मत्री गोविंददत्त, शिवभक्त हरदत्त, धर्माधिकारी हरिहर, नीतिनिपुण अमरेश झा, तथा न्यायसिह राउत[4] सब को घर पर माता की सेवा मे रख दोनो भाई वहाँ से पैदल ही जौनपुर को, जहाँ मिथिला का प्रधान अधिपति इब्राहीम शाह रहता था, चल पड़े। मार्ग मे अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हुए यह दोनों भाई जौनपुर पहुँचे। दरिद्र बालकों के समान, असहाय यह दोनों मार्ग मे जा रहे थे और मार्ग के लोग इन्हे देख दयार्द्र हो इन के सहायक होते थे। कवि ने कहा है[5]—

---

[1] 'मिथिला हस्तलिखित पुस्तकसूची', ग्रंथ १, पृ० ९२-९३

[2] श्रोतुर्दातुर्वदान्यस्य कीर्त्तिसिंहमहीपतेः।
करोतु कवितुः काव्यं भव्यं विद्यापतिः कविः॥
—कीर्त्तिलता, पृ० ४, नागरी-प्रचारिणी सभा-संस्करण।

[3] सिरि अह्म सहोअर राजसिह
—कीर्त्तिलता, पृ० ७४

[4] 'कीर्त्तिलता', पृ० ७२-७४

[5] 'कीर्त्तिलता', पृ० २४

पाञ्ने[1] चलु बुअओ[2] कुमर,
हरिहर सबे सुमर।
बहुल छाड़ल पाटि पातरे[3],
बसने पाञ्नेल ऑतरे ऑतरे।[4]
जहाँ जाइअ[5] जेहे[6] गाञ्नो,[7]
भोगाइ रजाक बड़िड नाञ्नो।[8]
काहु[9] कापल[10] काहु घोल,[11]
काहु सम्बल[12] देल थोल[13]।
काहु पाती भेलि पैठि,[14]
काहु सेवक लागु भेंठि।[15]
काहु देल ऋण उधार,
काहु करिअहु नदीक पार।
काहु ओ वहल भार बोझ,[16]
काहु बाट[17] कहल सोझ।[18]
काहु आतिथ्य विनय करु,[19]
कतेहु दिने बाट सन्तरु।[20]

---

[1] पैर से=पैदल हो; 'ञ्न' तृतीयाकारक का चिन्ह है।

[2] यह शब्द अभी भी मैथिली में इसी स्वरूप में प्रयुक्त होता है।

[3] बहुत से पाँतरों को पार कर ; 'पाँतर' मैथिली में ऐसे प्रांत को कहते हैं जो दूर तक फैला हो, तथा उतनी दूर में कोई गाँव या टोल छाया जलाशय आदि न हो। एक प्रकार से दूर तक विस्तृत निर्जन स्थान को 'पाँतर' कहते हैं। इस का शुद्ध संस्कृत शब्द 'प्रांतर' है—'प्रांतरं दूरशून्योऽध्वा', अमरकोष—भूमिवर्ग, श्लोक १७; 'दूर शून्यछायाजलादिवर्जितमार्गस्य'—रामाश्रमीटीका।

[4] बीच-बीच में रहने को पाया। [5] जाते थे। [6] जिस। [7] गाँव। [8] भोगेश्वर राजा का बड़ा नाम था। [9] कोई। [10] कपड़े।

[11] मट्ठा—यह शब्द विद्यापति के समय में 'मट्ठा' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था

—चंडेश्वर ठक्कुर तथा मैथिली, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज,पृ० ३५४

[12] सामग्री। [13] थोड़ा। [14] कोई इन के पंक्ति में मिल गया।

[15] कुछ सेवक आकर मिलने लगे। [16] किसी ने बोझा-भार ढो दिया।

[17] मार्ग। [18] सीधा। [19] किया। [20] (इस प्रकार) कितने ही दिनों में रास्ता पार किया।

चलते-चलते जोनापुर (जौनपुर) पहुँचे, नगर का चहल-पहल देख क्षुब्ध हो गए। समृद्धिशाली नगर के हर एक अंग को देखते हुए यह दोनों भाई बाजार में पहुँचे, जिस का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है[१]—

हाट करेओ प्रथम प्रवेश। अष्टधातु घटना टाङ्कार, कँसेरी पसरॉ[२] कांस्य झेङ्कार,[३] प्रचुर पौरजनपद सम्हार सम्हीन,[४] धनहट्टा, सोनहट्टा, पक्वानहट्टा, मछहट्टा करेओ सुखरव कथा कहन्ते, होइअ झूठ जनि गम्भीर गुर्गुरायर्त कल्लोल कोलाहल कान भरन्तो, मर्यादा छाडि महार्णव उँठ।

अर्थ—बाजार में पहले प्रवेश करते ही आठों धातुओं से वस्तु बनने का टकार, कसेरो के दूकान में काँसा का झेकार शब्द, अनेक नगर-वासियों के समूह से खचाखच भरे हुए धन के बाजार, सोने के बाजार, पक्वान्न के बाजार तथा मछली के बाजार से होते हुए, आनंदपूर्वक बातचीत करते हुए चले। लोगों को तो झूठ मालूम होगा, (परंतु यथार्थ में) मानो जैसे गंभीर गुडगुडाती हुई लहरों के कोलाहल से कान भर रहा था, (मालूम होता था कि) समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ कर उठ आया हो।

फिर भी देखिए[५]—

मध्यान्हे करी बेला संमद्द साज, सकल पृथ्वीचक्र करेओ वस्तु बिकाएँ आए बाज। मानुस क मीसि[६] पीसि[७] वर आँगे आँग। उँगर आनक तिलक आनकॉ लाग। यात्राहूतह[८] परस्त्रीक वलया भाँग। ब्राह्मण क यज्ञोपवीत चाण्डाल हृदय लूल[९]। वेश्या-ह्नि करो पयोधर जटीक हृदय चूर। इत्यादि।

कवि ने हाट-बाजार के, विशेष कर वेश्याओं की चेष्टाओं के वर्णन में ऐसी चतुरता दिखाई है कि कही नही जा सकती।

इस के बाद कवि 'किछु बोलओ तुरुकाणओ लष्वण'—अर्थात् कुछ तुर्कों के लक्षण कहते हैं—

---

[१] पृ० २८-२९
[२] लोहार तथा बढ़ई के दूकान के फैलाव को मैथिली में पसरॉ कहते हैं।
[३] कांस के बर्तन को रगड़ने आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है।
[४] संभार—संभिन्न। [५] पृ० ३० [६] भीड़। [७] कुचल कर।
[८] जाने-आने में। [९] स्पर्श करता था।

कहीं कोटि गन्दा कहीं वाँदि वन्दा
कहीं दूर निक्वारिए[1] हिन्दु गन्दा।
तही तथ्थ कूजा तवेल्ला पसारा,[2]
कहीं तीर कम्माण दोक्काणदारा।
तौल्लन्ति[3] हेरा लसूला[4] पेआजू।
षरीदे षरीदे बहूता गुलामो,
तुरुक्कें तुरुक्कें अनेको सलामो[5]।
अब्बेवे भणन्ता[6] सराबा पिबन्ता,
कलीमा कहन्ता कलामे जिअन्ता।
कसीदा कढन्ता[7] मसीदा भरन्ता,[8]
किलेबा[9] पढ़न्ता तुरुक्का अनन्ता॥

और भी—

हीन्दू तुरके मिलल वास,
    एकक धम्मे अओका उपहास।
कतहु बाँग कतहु वेद,
    कतहु बिसिमिल कतहु छेद।

---

[1] निकाल बाहर कर देते थे।

[2] वहाँ कहीं पूजा और तवेलों का फैलाव था।

[3] तौले जाते थे। संस्कृत प्रत्यय के समान इस में भी 'न्ति' लगाया गया है। इस तरह के प्रयोग विद्यापति की भाषा में पर्याप्त मिलते हैं।

[4] लशुन।

[5] बहुत से दास ख़रीदने आते थे और तुर्कों में आपस में ख़ूब सलामें होती थीं। इन में यह देखा जाता है कि जब कभी मिलेंगे, चाहे एक दिन में दस बार, तब हर एक बार आपस में सलाम करेंगे। यह मुसलमानी सभ्यता है।

[6] इस तरह की बोल-चाल भी मुसलमानी सभ्यता का चिन्ह है।

[7-8] कसीदा काढ़ना भी मुसलमानी सभ्यता के अंतर्गत है। और इसी प्रकार मसीद भरना भी। ये सब बातें यद्यपि संयुक्त प्रांतों में अच्छी समझी जाती हैं, लोग व्यवहार में लाते हैं, किंतु यह सब मिथिला में अभी भी निंदनीय समझी जाती हैं और अब्राह्मणोचित कर्म कही जाती हैं।

[9] 'किलेबा' शब्द मात्र ही में कवि का तात्पर्य है। हिंदू सभ्यता के उचित शब्द 'पुस्तक' या 'पोथी' है न कि 'किताब'। परंतु इन प्रांतों में ठीक इस का विपरीत व्यवहार है।

कतहु ओझा कतहु षोजा,
कतहु नकत कतहु रोजा।
कतहु तम्बारु कतहु कूजा,
कतहु निमाज कतहु पूजा।
कतहु तुरुक बरकइ,
बाट जाइते बेगार धर।
धरि आनए बाभन बटुआ,
मथाँ चडावए गाइक चुडुआ।
फोट चाट जनउ तोड,
उपर चड़ावए चाह घोड़।

इस तरह बाज़ार देखते-देखते दरबार में पहुँचे। वहाँ जा कर इन्हों ने देखा कि नाना देश-प्रदेश के दरबारी कर्मचारी सब अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। कोई आते थे और कोई अपना कार्य कर चले जाते थे। वहाँ सब से बड़ा बादशाह था। राजदरबार की सजावट देख कर ये राजकुमार क्षुब्ध हो गए। और लोगो से पूछ-पूछ कर वहाँ का सब हाल जानने लगे। आशालता पनप गई। रात को उसी नगर में एक ब्राह्मण के घर में इन लोगों ने डेरा डाला।

सवेरा होते ही यह लोग वज़ीर के पास गए और उन से इन्हो ने अपना सब उद्देश्य कह सुनाया। बाद को मंत्री की सलाह से शुभ मुहूर्त्त में एक घोडा और सुंदर वस्त्र ले कर बादशाह से मिले। बादशाह ने प्रसन्न हो कुशल-वार्ता पूछी। नम्र हो कर बार-बार प्रणाम कर कीर्त्तिसिंह ने सब वृत्तांत कह सुनाया, बादशाह की प्रशंसा की और 'असलान' के प्रति उन की क्रोधाग्नि प्रज्वलित की।

झट आदेश हुआ—'अपने साँठे सम्पलहु तो तिरहुत्ति पआन'। बड़ा हलचल मच गया। सब लोग युद्ध के लिए घबड़ा उठे। सब तैयारी हो गई। सुल्तान इब्राहीम शाह का तख़्त चल पड़ा। और

गिरि टरइ महि पडइ नाग मन कंपिआ,
तरणि रथ गगन पथ धूलि भरे झंपिआ।

सबल शत बाजकत भेरि भरे फुक्किआ,

प्रलय घण सद्द हुअ णर रव लुक्किआ। इत्यादि।

बादशाह चारो ओर घूमते हुए शत्रुओ को जीत कर उन की सपत्ति अपने अधीन करते हुए आगे बढे। दोनो राजकुमार भी इन के साथ-साथ घूमने लगे। इस यात्रा के वर्णन मे कवि ने कहा है कि देश की दशा इस तरह की हो गई थी कि—

सेरें कीन्नि पानि आनिअ, पीवए षणे कापडे छानीअ।

पान क सए सोनाक टङका[1], चान्दन क मूल इन्धन विका॥

बहुत कौडि कनिक थोड, घीवक वेचों वीअ घोंड[2]।

कुरुआ क तेल आङ्ग लाइअ,[3] वाँदी वड दासञ्गो छपाइअ॥

इस प्रकार सर्वत्र दूर देशो मे तुर्कों के साथ बराबर ये दोनो राजकुमार घूमते रहे। प्राय फलमूल ही इन का आहार था। तुर्कों के साथ रह कर वडी कठिनता से इन्हों ने आचार की रक्षा की।[4] वडी दुर्दशा को प्राप्त हुए—

सम्बर निरबल किरिस तनु अम्बर भेल पुराण।

जवन सभावहि निक्करुण तौ न सुमरु सुरुतान॥

धन बिना कोई चीज़ खरीद भी नही सकते थे। न तो परदेश मे ऋण ही मिल सकता था। आत्मगौरव को स्मरण कर भीख भी नही माँग सकते थे। राजा के घर में उत्पन्न होने के कारण दीन वचन कभी नही बोल सकते थे। अत मे क्या करे, उपवास करने लगे। परिजन भूख के मारे साथ छोड कर भाग गए। घोडो को घास न मिलने के कारण बहुत दुख होने लगा।

इस अवस्था में भी कायस्थ श्रीकेशव तथा सोमेश्वर ने कुमारो का साथ न छोड़ा। कीर्त्तिसिह को कभी-कभी अपनी मा का स्मरण हो जाता था। वह दुखी हो जाते थे।

---

[1] टका।

[2] घी के दाम की जगह अपना घोड़ा दे देते थे।

[3] सरसों ही का तेल शरीर में लगाने की प्रथा उन दिनों भी मिथिला में थी, यह इस से स्पष्ट मालूम होता है।

[4] राजा होते हुए भी अपने आचार की रक्षा किस तरह इन दोनों राजकुमारों ने की यह विचारने योग्य है।

परन्तु करते क्या ? अन्त में फौज तिरहुत पहुँची। लड़ाई खूब हुई। असंख्य सेना मरी। 'असलान' भाग निकला। कीर्त्तिसिंह ने ललकारा। लेकिन वह लौटा नहीं। कीर्त्तिसिंह ने जीवनदान दे दिया। इन की जीत हुई। शंख की ध्वनि हुई। चारो वेदों की ध्वनि के साथ शुभ मुहूर्त्त में कीर्त्तिसिंह का राज्याभिषेक हुआ।

इस प्रकार 'कीर्त्तिलता' की कथा समाप्त हुई। कहीं-कहीं वर्णन बहुत रोचक है। मुसलमानो का वर्णन, देश-दशा, युद्धयात्रा तथा कुमारों की दशा के वर्णन का आनंद पढने ही से हो सकता है।

इस की भाषा पर संस्कृत की पूरी छाप है। बहुत विचारने से यह भी मालूम होता है कि कुछ ही ऐसे शब्द है जो आधुनिक मैथिली मे अविकल रूप से न प्रयुक्त होते हों। सर्वनाम तथा कारक-चिह्न प्राय पाली तथा प्राकृत से अधिक मिलते है। प्राकृत की अपेक्षा पाली का अधिक प्रभाव इस पर माल्म होता है।

(१३) **कीर्त्तिपताका**—यह ग्रंथ 'कीर्त्तिलता' के समान 'अवहट्ठ' भाषा मे महाराज शिवसिंह के समय मे कवि ने लिखा था। इस मे शिवसिंह की कीर्त्तिपताका का वर्णन है। इस की मिथिलाक्षर मे लिखी हुई एकमात्र हस्तलिखित प्रति[1] नेपाल के राज-पुस्तकालय मे है, जिस की प्रतिलिपि मुझे मिली है। यह ग्रथ खंडित है। मध्य मे लगभग २२ पत्र इस के नष्ट हो गए हैं। जहाँ-तहाँ और भी छूट है, तथापि पुस्तक अमूल्य है। ऐसी हालत मे भी इस की रक्षा होनी आवश्यक है।

दोहा, छंद तथा गद्य मे यह ग्रथ लिखा गया है। कहीं-कहीं संस्कृत के श्लोक तथा एक-दो पंक्ति गद्य भी देख पडता है। ग्रथ के आदि में कवि ने 'चंद्रचूड' शिव के अर्ध-नारीश्वर स्वरूप का वर्णन किया है। बाद मे गणेश जी की वंदना कर ग्रथ आरंभ किया है। प्रारंभ ही मे कवि ने कहा है—

पण्डिअ मण्डलि बद्धगुणे भीषम कौरसुहेन,
वाणी महुरमहग्घ रस पिअऊ सुजनस बलेन।

इस के बाद कवि ने महाराज शिवसिंह के आचरण का वर्णन करते हुए कहा है—

---

[1] **यह हस्तलिखित प्रति ल० सं० ४२६ (१५४५ ईस्वी) जेठ वदि ८ की लिखी हुई है**

धम्म देखीव्यवहार लोक नहिं, नहइ परभेद। सब कों घर ऊव्वाह पलटि जनि जम्मिअ। बाहर दाने दलइ। दारिद्द खगो (?) परि पडी खण्डिअ। जस पऊरुस पत्राणे ..... तिरहुति रूज्आदा वहि रहिअ। करि तुरअ पत्ति पअ भारभरें कुरूलु को बक (?) समसि सहिआ। इत्यादि।

इस के अनतर बहुत दूर तक शृगाररस का वर्णन है। इसी प्रसग में कवि ने कहा है कि रामावतार मे सीता के हरणजन्य विरह से खिन्न रामचद्र ने अपने दुख को दूर करने के लिए ही कृष्णावतार मे गोपियो के साथ नाना प्रकार का भोगविलास किया था।

बाद में फिर सुल्तान के साथ शिवसिह के युद्ध का वहुत विस्तृत वर्णन भी बहुत ही सुदर है। सुल्तान का पराजय और शिवसिह का जय-वर्णन कवि ने अनेक उत्प्रेक्षाओ के साथ गद्य और पद्य में किया है। इसी मे ग्रथ की समाप्ति भी हुई है। अंत में कवि ने लिखा है––

एवं श्रीशिवसिंहदेवनृपतेः संग्रामजातं यशो
गायन्ति प्रतिपत्तनि प्रतिदिशं प्रत्यङ्गणं सुभ्रुवः ॥

पदावली––यह कोई अलग ग्रथ के रूप मे नही है। विद्यापति ने बाल्यावस्था से ले कर मरणपर्यंत जितनी कविताएँ की उन सबों के संग्रह का यह नाम है। इस प्रकार के सग्रह अब तीन-चार हो गए है। बँगला मे श्री नगेद्रनाथ गुप्त का, हिदी में एक श्री ब्रजनदनसहाय का, दूसरा इंडियन प्रेस, प्रयाग का तथा तीसरा पुस्तक-भडार लहरिया सराय का है। किंतु इन सबो के आधारभूत जैसा कि श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने बतलाया है, दो-तीन हस्तलिखित ग्रथ है। एक तो तालपत्र के ऊपर लिखी हुई कविताओं का सग्रह मिथिला से प्राप्त हुआ है। कहते है कि यह संग्रह विद्यापति के प्रपौत्र ने किया था। दूसरा प्रामाणिक सग्रह नेपाल राजपुस्तकालय से महामहोपाध्याय स्वर्गीय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त हुआ था। इस के अतिरिक्त कुछ थोडे से पद मैथिल कवि लोचनकृत 'रागतरगिणी' मे भी पाए जाते है। इस के पूर्व बँगला 'कल्पतरु' आदि में भी कुछ पद संग्रह किए गए थे। इन सग्रहों में जो नेपाल से मिला है तथा जो बगाल से मिला है, ये दोनों सग्रह उन-उन स्थानों की भाषा के मिश्रण से इस प्रकार भ्रष्ट हो गए है, कि कही-कही तो पदो का कुछ भी अर्थ नही लगता। मिथिला से अभी तक कोई संग्रह नही प्रकाशित हुआ है। ऐसा होने से भाषा की परिशुद्धि तो मालूम हो सकती थी अभी तो केवल शुद्धाशुद्धि

के लिए हमे मिथिला की स्त्रियो ही के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि विद्यापति के पदो की यथार्थ रक्षा करने वाली मिथिला की स्त्रियाँ ही हैं। वे ही परपरा से इन पदो को श्रुति के समान सुनती आई है, और उन्हें फिर कनिष्ठवर्गो को सुनाती जाती है। अब तो कही-कही स्त्रियाँ भी इन पदों को लिख कर उनकी रक्षा करने लगी है।

ऐसी स्थिति में मुझे इन सब मौखिक तथा लिखित संग्रहो पर ही इस समय निर्भर रहना पडता है। इस के विना यथार्थ मे समालोचनात्मक कोई भी प्रबंध नही लिखा जा सकता है।

विद्यापति के पदों को प्रधान रूप से हम तीन भागो मे विभक्त करते है—शृगारिक, भक्ति-रसात्मक तथा विविध-विषयक। जितने पद राधाकृष्ण के नाम से या नायक-नायिका के संबध मे अन्य किसी भी प्रकार से कहे गए है, वे सब शृगारिक है। दूसरी श्रेणी मे प्रधानत. शिव की नचारियाँ ली जाती है। इस के अतिरिक्त दुर्गा, गौरी तथा गगा के सबंध के पदो का भी समावेश इन्हीं में है, और कुछ थोड़े से पद ऐसे भी है जिन मे राधा-कृष्ण के अलौकिक भाव का वर्णन है। उन्हे भी मै इसी श्रेणी मे रखता हूँ। तृतीय श्रेणी मे बहुत ही थोड़े ऐसे पद है जिन्हे हम 'प्रहेलिका', 'कूट' इत्यादि कहते हैं। इन के अतिरिक्त और भी कुछ पद है, जैसे शिवसिंह का राज्यारोहण-वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि। वे सब तृतीय श्रेणी मे रक्खे गए है।

इन सब की सक्षिप्त विवेचना यहाँ की जाती है—

(क) **शृंगाररसात्मक**—जब से बाल्यावस्था समाप्त होती है और युवावस्था शरीर मे प्रवेश करती है उसी समय से शृंगाररस का आधिपत्य प्रारभ हो जाता है। धीरे-धीरे जिस प्रकार मनुष्य के शरीर मे विकास उत्पन्न होता जाता है उसी प्रकार रस मे भी विकास उत्पन्न होता है। जिस अवस्था में शरीर का विकास अपनी चरमावस्था को पहुँच जाता है, वही तक शृंगार की राज्यसीमा रहती है। उस के बाद शातरस या भक्तिरस का प्रभुत्व आ जाता है। यह एक साधारण नियम है। इस मे कभी-कभी वैषम्य भी देख पड़ता है, किंतु वह बहुत ही अल्प।

यदि विद्यापति के पदो का विभाग करें, तो हमे प्रत्येक अवस्था के सूचक पद मिलते है। प्रकाशित पदावलियो को देखने से मालूम होता है कि औरों ने भी इसी व्यवस्था पर पदो का विभाग किया है।

इस विचार के अनुसार सब से पहले हमे 'वय संधि' ही मिलती है। देखिए कवि ने कैसा अच्छा वर्णन किया है—

सैसव जउबन दरसन भेल,
दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल।[१]
मदन क भाव पहिल परचार,[२]
भिन जन देल भिन अधिकार।
कटि क गौरव पाओल नितम्ब,
एकक खीन अओक[३] अवलम्ब।
प्रकट हास अब गोपत भेल,[४]
उरज प्रकट अब तन्हिक लेल।[५]
चरण चपल गति लोचन पाव,
लोचन क धइरज पदतल जाव।
'नव कविशेखर'[६] कि कहइत पार,
भिन भिन राज भिन भिन बेवहार॥

कैसी स्वभावोक्ति है। शृंगाररस का प्रवेश-मात्र भी कितना मनोरंजक है। यह सब के लिए एक-सा है। इस में लौकिक भाव छोड़ और कोई भी भाव नही है। नवीन राज्याभिषेक हुआ है। राजा ने आते ही अपने कर्मचारियों को अपना-अपना कर्तव्य बतला उन को अपने-अपने स्थानो पर नियुक्त कर दिया।

विद्यापति स्वयं भी बहुत बुद्धिमान थे और अनेक प्रकार के अनुभव भी इन्हे प्राप्त हुए थे। इस लिए मनुष्य के हृद्गत भावों का पूरा परिचय इन्हे मिला था। उसी परिचय के आधार पर इन्हो ने पदो मे भी भावो का सन्निवेश किया है।

---

[१] शैशव और यौवन इन दोनों मार्ग को देखते-देखते कामदेव ने प्रस्थान किया।
[२] शृंगारिक भाव का यह प्रथम विकास था। [३] दूसरे का।
[४] पहले निर्लज्ज के समान हँसा करती थी, अब वह हँसी गुप्त हो गई (मुस्कराहट में परिणत हो गई)।
[५] और जो गुप्त था वह उस के स्थान पर प्रगट हो गया।
[६] पूर्व में ज्योतिरीश्वर ठाकुर 'कविशेखर' हो गए है, इस लिए इन्हें 'नव' कहा गया है।

वय संधि के पूर्व भी तो किसी का आधिपत्य नायिका के शरीर पर था। इतने दिनो से जिस पर कोई आधिपत्य रखता आया है वह कैसे भी प्रबल राजा के आने ही से झट क्यों अपना अधिकार हटा लेगा ? बिना युद्ध के तो सूई के छिद्र के बराबर भी स्थान कोई दूसरे को नही दे सकता है। इस लिए युवावस्था को शैशवावस्था के साथ बडी लड़ाई लडनी पड़ी। जिस का वर्णन कवि ने किया है—

सैसव जउबन उपजल बाद,
केओ न मानए जय अवसाद।
'विद्यापति' कौतुक बलिहारि,
सैसव से तनु छोड़ नहि पार ॥[1]

अंत में शैशव पराजित हो गया। किंतु नायिका जिन आचरणो से इतने दिनो तक अभ्यस्त थी उसे फिर भी भूल से कर बैठती है और नवीन अवस्था का स्मरण कर सम्हल भी जाती है। इसी से कवि कहता है—

खने-खन नअन-कोन अनुसरई,
खने-खन वसन धूलि तनु भरई।
खने-खन दसन-छटा छुट हास,
खने-खन अधर आगे गहु बास।
चउँकि चलए खने-खन चलु मन्द,
मनमथ पाठ पहिल अनुबन्ध।
हिरदय-मुकुल हेरि-हेरि थोर,
खने आँचर दए खने होअ बिभोर।
बाला सैसव तारुन भेट,
लखए न पारिअ जेठ कनेठ।
'विद्यापति' कह सुन बर कान,
तरुनिक सैसव चिन्हइ न जान ॥[2]

---

[1] 'विद्यापति-पदावली', पृ० १० (गंगानंदसिंह-संस्करण)।
[2] वही, पृ० १२

इस के वाद क्रमिक तारुण्य अंग-प्रत्यंग में अपना आधिपत्य पूर्ण रूप से ... लेता है, जिस में वाद को किसी प्रकार की अस्थिरता कहीं न देख पड़े। अतएव कवि ... नायिका के तारुण्य का वर्णन करते हुए कहा है—

माधव! की कहब सुन्दरि रूपे।
कतेक जतन बिहि आनि समाइल,
देखल नअन सरूपे।
पल्लवराग चरनजुग सोभित,
गति गजराजक भाने।
कनक-कदलि[1] पर सिंह[2] सभारल[3]
तापर मेरु समाने।[4]
मेरु उपर दुइ कमल[5] फुलाएल
नाल बिना रुचि पाई,
मनिमय-हार धार बहु सुरसरि[6]
तेंइ नहिं कमल सुखाई॥
अधर बिम्ब सन[7] दसन दाडिम बिजु,[8]
रबि[9] ससि[10] उगथिक पासे।
राहु[11] दूर बस निअरो न आवथि,
तैं न करथि गरासे।
सारँग[12] नअन व अन पुनु सारँग,[13]
सारँग[14] तसु[15] समधाने[16]।

---

[1] सोने के केले का स्तंभ तो नायिका की जाँघ है।
[2] उस के ऊपर सिंहसमान कटि है। [3] बनाया हुआ।
[4] उस के ऊपर मेरु पर्वत के समान ऊँची भूमि है। [5] स्तन।
[6] मणि का हार ही मानो गंगा की धारा है, जो मेरुपर्वत के ऊपर से बह ... है; और उस के संसर्ग से स्तन-रूपी कमल सर्वदा खिला हुआ रहता है।
[7] दाँत। [8] अनार के दाने। [9] सिंदूरबिंदु। [10] मु...
[11] केश। [12] हरिण। [13] कोकिल। [14] कामदे...
[15] उस का। [16] कटाक्ष में।

सारँग[1] उपर उगल दस[2] सारँग[3]
केलि करथि मधुपाने।
भनइ 'विद्यापति' सुन वर जउअति
एहन जगत नहिं आने।
राजा 'सिवसिंह', रूपनराएन
'लखिमा' देइ-पति भाने।

इस पद में कवि ने शब्दों के प्रयोग में अपनी चतुरता और साथ ही साथ भाव का भी विकास दिखाया है। इस पद को पढने से मालूम होता है कि नायिका को कवि ने सर्वथा शृंगाररस का जीवित चित्र बना लिया है। अब इस में क्रमिक रस सचारित होगा और नाना प्रकार के हाव तथा भाव उद्बुद्ध होंगे, जिस में शृंगाररस की पुष्टि होती रहेगी। अस्तु, उक्त कविता नवीन वयस की रचना मालूम होती है।

शब्द के बाद कवि अर्थ को ले कर जब भाव निकालना चाहता है, तब देखिए कैसा आनंद आता है! नायिका को गढने में ही तो यथार्थ परिश्रम है। जब वह सर्वांग-पूर्ण हो जायगी तब तो रस आप से आप प्रवाह के साथ बह चलेगा। इस लिए कवि ने कहा है—

चाँद-सार लए मुख-घटना करु,[4]
लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोए आँचरेधनि पोछल,
दह दिस भेल उँजोरे।[5]

नायिका का मुख चंद्रमा के सारभूत अंश से बनाया गया। उस में चकोर पक्षी के समान तो लोचन है। जलरूपी अमृत से उस मुख को धो कर जब नायिका ने अपने अञ्चल से उसे पोंछा,[6] तो दसो दिशा में चाँदनी चमकने लगी।

---

[1] कमल (ललाट)।
[2] दस शब्द यहाँ केवल बहुत्ववाचक है।
[3] भ्रमर (चंचल केशराशि)।
[4] चंद्रमा का सार ले कर मुख बनाया।
[5] 'विद्यापति-पदावली', पृ० २१ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।
[6] स्त्रियाँ स्नान कर अपने आँचर ही से शरीर पोंछती हैं, इस लौकिक प्रथा को भी कवि ने सूचित किया।

इसी बात को दूसरी जगह कवि ने दूसरे प्रकार से कहा है—

आनि पुनिम-ससि कनक थोए कसि,
सिरिजल तुअ मुख-सारा।
जे सबे उबरल काटि नड़ाओल,
से सब उपजल तारा।
उबरल कनक औटि (?) बटुराओल,
सिरिजल दुइ आरंभा।
सीतल छाह छइल छुइ छाड़ल,
छाड़ि गेल सबे दंता।[१]

कोई दूती नायिका से कहती है कि, 'हे सखि! पूर्णिमा के चंद्र को सोने के ऊपर घिस कर उस के सार से तुम्हारा मुख बनाया गया है। उस में से जो बचा, उसे टुकड़े-टुकड़े कर फेंक दिया, और वे ही तारे बन गए। उस में से कुछ फिर भी बचा उसे फिर इकट्ठा कर उस से दो आरंभ-गौरव की वस्तु, अर्थात् दो पयोधर बनाए, जिस की शीतल छाया को रसिक ने स्पर्श करना छोड़ दिया। इस से मानिनी के सभी गर्व दूर हो गए।'

मुख का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

साकर सुध दुधे परिपूरल
सानल अमिञक सारे।
सेहे वदन तोर अइसन॥[२]

'हे सखि! शक्कर से मिला हुआ और शुद्ध दूध से परिपूर्ण अमृत के सार में मिश्रित के समान तुम्हारा मुख है।'

एक मुग्धा नायिका स्नान कर दोनों भुजाओं से शरीर को ढाँक रही है, इसे देख कवि उत्प्रेक्षा करता है—

कुच-जुग चारु चकेवा,
निअ कुल आनि मिलाओल कोने देवा।

---

[१] 'विद्यापतिपदावली', सं० ४०५ (नगेंद्रनाथ गुप्त-संस्करण)।
[२] वही सं० ३६१

तेँ संकाञ्रे भुज-पासे
बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे।[1]

नायिका के दोनो स्तन मानो चक्रवाक पक्षी है, किसी ने भाग्यवश इसे ला कर अपने स्थान पर रख दिया है। कही ये फिर उड कर आकाश में न भाग जायँ इस भय से उन्हे नायिका ने अपने भुजाओ से बाँध रक्खा है।

ऊपर कहा हुआ उदाहरण सद्य स्नाता के संबध मे है। शृगारिक विकास उत्पन्न होने के पूर्व सद्य स्नाता का होना कवि ने बहुत आवश्यक समझा। इस का कारण यह मालूम होता है कि जब तक स्नान कर के सोने के शीशे की तरह शरीर साफ नहीं रहेगा तब तक नायकोचित भाव हृदय मे उत्पन्न ही नही होगे। और यह वात कवि की उक्ति से भी स्पष्ट मालूम होती है—

चदन पोछल परचूरे,
माँजि धएल जनि कनक मुकूरे।
तेँइ उदसल कुच जोरा
पलटि बइसाओल कनक कटोरा॥[2]
चन्दन चरचु पओधर रे,
ग्रिम गज मुकुता हार।
भसम भरल जनि संकर रे,
सिर सुरसरि जलधार॥[3]

स्तन मे श्रीखड चदन लगा कर नायिका के गले में गजमुक्ता का हार रख दिया, मानो भस्म से लिप्त शिव के ऊपर गंगा जी की स्वच्छ धारा बह रही हो।

धीरे-धीरे नायक और नायिका मे केवल दर्शनजन्य जो परस्पर प्रेम उत्पन्न होता है उसे भी कवि ने कैसे अच्छे भाव मे कहा है—

---

[1] 'विद्यापतिपदावली', पृ० ३३ (गंगानंदसिह-संस्करण)।
[2] वही, पृ० ३४
[3] वही पृ० ४७

ससन[1]-परस खसु अम्बर रे,
देखल धनि देह।
नव जलधर तर संचर रे,
जनि बिजुरी-रेह[2]।
आज देखल धनि जाइत रे,
मोहि उपजल रंग[3]।
कनकलता[4] जनि संचर रे,
महि निरअवलंब॥[5]

वायु के वेग से नायिका का अंचल गिर पड़ा और इसी से नायक ने उस का विद्युत् समान चमकीला शरीर देख लिया। अथवा नायिका ने वस्त्र गिरते ही झट उसे फिर सँभाल लिया। इस बहुत ही सूक्ष्म काल में भी उस के शरीर को नायक ने देख ही लिया जैसे आँख के सामने विद्युत् चमक कर फिर लुप्त हो जाती है उसी प्रकार नायिका का शरीर देख पड़ा और झट लुप्त हो गया। नायिका नीला वस्त्र पहने हुए है, इस लिए इसे कवि ने मेघ के समान माना है और कनकलता के समान उस का शरीर उस मेघ के अंदर छिपी हुई विद्युत् रूप माना गया है।

ऐसे शरीर को देखते ही नायक के मन में प्रेम अंकुरित हो जाता है। इसी भाव की बहुत सी कविताएँ विद्यापति ने की है। इसी प्रकार नायिका के प्रेमांकुर का वर्णन कवि ने किया है—

ए सखि! पेखलि एक अपरूप,
सुनइत मानबि सपन सरूप।
कमल-जुगल पर चाँद क माल,
तापर उपजल तरुन तमाल।

---

[1] श्वसन, वायु। [2] विद्युत्-रेखा—शरीर। [3] प्रेम।
[4] नायिका का शरीर।
[5] 'विद्यापतिपदावली', पृ० ४१ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

तापर बेढ़ल बिजुरिलता,
कालिंदी तट धीरे चल जाता।
साखा-सिखर सुधाकर पाँति,
ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति।
विमल बिंबफल जुगल विकास,
तापर कीर थीर करु वास।
तापर चंचल खंजन जोर,
तापर साँपिनि झाँपल मोर।
ए सखि! रंगिनि कहल निसान,
हेरइत पुनि मोर हरल गिआन।[1]

नायिका नायक को देख अपनी सखी से कहती है—कि 'हे सखि! मैं ने एक अपूर्व रूप देखा है जिसे सुन कर भी तुम स्वप्न के समान समझोगी। दो कमलों (दो पैरों) के ऊपर चंद्रमा की माला (अर्थात् नाखूनों की पंक्ति), और उस के ऊपर तरुण तमाल (अर्थात् तरुण वयस का शरीर) देख पड़ा। उस के ऊपर विद्युत्-रूपी लता (पीतांबर) लिपटी हुई थी। ऐसा एक मनुष्य यमुना नदी के तट की तरफ धीरे-धीरे चला जाता था। फिर शाखा के अग्रभाग (हाथ की अँगुलियों) में चंद्रमाओं की पंक्ति (अर्थात् नख-पंक्ति) थी और उस पर अरुण की शोभा से युक्त नवपल्लव (करतल) विराजमान था। उस के बाद स्वच्छ दो बिंबफल (ओष्ठ) थे जिस के ऊपर तोता (नाक) स्थिर हो कर वास करता था, अर्थात् तोता के चोंच के समान पतली नाक थी। और फिर इस के ऊपर चंचल दो खंजन पक्षी (दो आँखें) थे जिन के ऊपर घूम कर नागिन (अलक राशि) ने ढाँक दिया है। हे रंगिनि सखि! ये सब निशान मैं ने तुम्हें कह सुनाए जिसे देखते ही मेरा ज्ञान लुप्त हो गया।'

कैसा सुंदर नायक का शरीर-वर्णन है! नायक भी पूर्ण युवा हो चला है। इस के प्रत्येक अंग सुंदर और सुडौल बने हुए हैं। इसे देख नायिका के मन में दर्शनजन्य प्रेम उत्पन्न हुआ और इसी से वह अधिक बेसुध हो गई।

---

[1] 'विद्यापतिपदावली' पृ० ५२ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

उपमानोपमेय भाव का चित्रण भी कवि का कैसा सुंदर है—

कर किसलय सयन रचित गगन मंडल पेखी,
जनि सरोरुह अरुन सुतल बिनु बिरोध उपेखी।
नव घन जञ्नो निर बरिसए नयन उजल तारा,
जनि सुधाकर करें कवलित अमिय वम चकोरा।
उतुंग पीन पयोधर ऊपर लखिअ अधरछाया,
कनकगिरि पवार उपजल बापु मनोभव माया।
तौ पुनु से नारि बिरहे झामरि पलटि परल वेनी,
साँस समीरन पिवए धाउलि जनि से कारि नगीनी।[1]

कैसा सुंदर भाव है! नायिका किसलय के समान कोमल अपने करतल पर मुख रख कर स्थिर भाव से आकाश की तरफ देख रही है। नायिका का मुख मानो कमल है और करतल मानो अरुण है। ऐसी स्थिति में अरुणोदय होने पर भी कमल सो रहा है। स्वाभाविक बात तो यह है कि अरुणोदय होते ही कमल खिल जाता है, किंतु इस के विपरीत यहाँ देख पड़ता है।

नायिका को रोते हुए देख फिर कवि कहता है—'हे सखि! तुम्हारी आँख मानो नवीन मेघ की तरह पानी बरसा रही है, या सुधाकर में कवलित चकोर के समान तुम्हारी आँख अमृत ही का उद्गिरण कर रही है।'

नायिका के अधरोष्ठ तथा स्तन का कैसे एक साथ कवि-वर्णन करता है। नायिका का स्तन मानो कोई अति स्वच्छ ऊँची वस्तु है और उस के ऊपर बिंब-सदृश लाल अधरोष्ठ का लाल प्रतिबिंब पड रहा है। इसे देख कवि कहता है कि यथार्थ में स्तन तो सुमेरु पर्वत है और उस के ऊपर कामदेव की माया से लाल प्रवालमानो उत्पन्न हो गया है।

नायिका के विरहखिन्न शरीर का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि विरह के मारे नायिका का शरीर बिल्कुल काला हो गया है और वह केवल उष्ण-श्वास को निकालती हुई पड़ी है। उस की वेणी (गुँथी हुई केशराशि) मानो काली नागिन है, जो श्वास-रूपी वायु को पीने के लिए नायिका के मुख की तरफ लिपट पड़ी है।

---

[1] 'वि[illegible]' सं० ७८ ([illegible] गुप्त-संस्करण)।

सांसारिक व्यवहार की बातें भी कवि ने कैसे सरस और सरल शब्दों में कही हैं—

अपना काज कओन नहि बंध,
के न करए निअ पति अनुबंध।
अपन अपन हित सब केओ चाह,
से सुपुरुष जे कर निरवाह।
साजनि! ताक जिवन थिक सार,
जे मन दए कर पर उपकार।
आरति अरतल आबए पास,
अछइते बथु नहि करिअ उदास।
से पुनु अनतह गेले पाब,
अपना मन पए रह पचताब।[१]

'कौन अपने काम मे नही लगा रहता और कौन अपने लिए चेष्टा नही करता ? अपनी-अपनी भलाई सभी चाहते हैं, और सुपुरुष वह है जो इसे अंत तक निबाह चलते हे। हे सखि! जो मन दे कर दूसरो का उपकार करता है उसी का जीवन सार अर्थात् उसी का जीवन जीवन है। जब कभी तुम्हारे पास कोई आर्त्त (दुखी) स्नेह से आवे तो यदि तुम्हारे पास उसे देने लायक़ वस्तु हो तो कभी उसे निराश न करना। क्योंकि अगर तुम वह वस्तु उसे न दोगी तो वह दूसरी जगह जा कर उसे माँग लेगा और तुम्हे पछताना मात्र फल मिलेगा। पर बाद को पछता कर ही क्या हो सकता है ?'

अपह्नुति अलंकार का कवि ने कैसा सुंदर उदाहरण दिया है—

कत न वेदन मोहि देसि मदना,
हर नहिँ बला मोहि जुवति जना।
बिभुतिभूषन नहिँ चानन क रेनू,
बाघ छाल नहिँ मोरा नेतक वसनू।

---

[१] 'विद्यापतिपदावली' सं० ८५ (खगेन्द्रनाथ गुप्त सम्पादित)

नहिँ मोरा जटाभार चिकुर क बेनी,
सुरसरि नहि मोरा कुसुम क स्रेनी ।
चाँदन क बिंदु मोरा नहिँ इंदु छोटा,
ललाट पावक नहिँ सिंदुर क फोटा ।
नहिँ मोरा कालकूट मृगमद चारु,
फनपति नहिँ मोरा मुकता हारु ।
भनइ 'विद्यापति' सुन देव कामा,
एक पए दूखन नाम मोर वामा ।[१]

कोई विरहिणी नायिका कहती है कि 'हे मदन ! मुझे इतनी वेदना क्यो दे रहा है । मैं महादेव नही हूँ । मैं तो एक युवती स्त्री हूँ । मेरे शरीर मे लगे ये विभूति (भस्म) रूपी आभूषण नहीं है, ये तो चदन के धूल है । मेरे शरीर पर यह व्याघ्रचर्म नही है, यह तो नित्य के पहनने का वस्त्र है । मेरे सिर पर यह जटा का बोझ नही है, यह तो केशराशि की गुँथी हुई बेनी है । यह गगा जी की धारा नही है, यह तो फूलो की कतार है । यह मेरे मस्तक पर चंदन का बिंदु है, न कि बालचद्र । मेरे कपाल पर यह तीसरी आँख की अग्नि नही है, यह तो सिंदूर का टीका है । यह मेरे कंठ मे कालकूट विष नही है, यह तो सुदर कस्तूरी का चिह्न है । और फिर गले मे यह फणिपति नही है, यह तो मुक्ता का हार है । हे कामदेव ! सुनो यदि मुझ में दोष है, तो यह कि मेरा नाम 'वामा' है (और महादेव भी 'वामदेव' कहलाते है । इसी सादृश्य से यदि मुझ पर तुम प्रहार करो तो तुम्हारी इच्छा) ।'

रस मे पागल नायक को सुदर और मधुर शब्दो में नायिका समझा रही है—

हे हरि ! हे हरि ! सुनिए स्रवन भरि,
अब न विलास क बेरा ।
गगन नखत छल से अवेकत भेल,
कोकिल करइछ फेरा ।

---

१ 'विद्यापतिपदावली', पृ० ६० (गंगानंदसिंह-संस्करण)

चकवा मोर सोर कए चुप भेल,

उठिए, मलिन भेल चंदा।

नगर क धेनु डगर कए संचर,

कुमुदिनि बस मकरंदा।

मुख केर पान सेहो रे मलिन भेल,

अवसर भल नहिं मंदा।

'विद्यापति' भन एहो न निक थिक,

जग भरि करइछ निंदा।[१]

प्रातःकाल का वर्णन है। आकाश के तारे सभी अव्यक्त हो गए। कोयल ने अपना गाना आरंभ कर दिया। चक्रवाक (रात बीत जाने पर अपनी स्त्री से मिल गया इस लिए उस) ने कोलाहल बंद कर दिया और मयूर सो कर उठ गया। चाँद मलिन हो गया। नगर की गायें डगर में चरने को बाहर हो गईं और कुमुदिनि में मकरंद ढँक गया। (प्रातःकाल कुमुदिनि संकुचित हो जाती है)। मुख या अधरोष्ठ का पान का राग भी म्लान हो गया। इस लिए हे रमण! यह विलास का समय नहीं है, प्रत्युत इस समय विलास करना अनुचित है। देखो! संसार भर इस काम की निंदा करता है।

प्रेम कैसे लोगों से न करना चाहिए, इस के संबंध में कवि ने कहा है—

कबहुँ रसिक सयँ दरसन होए जनु

दरसन होए, जनु नेहे।

नेह, विछोह जनु काहुक उपजए,

विछोह धरए जनु देहे।[२]

वसंत का वर्णन करते हुए विद्यापति ने उस की उत्पत्ति से ले कर उस की राज्य-प्राप्ति तक का हाल कैसी चतुरता से और कितने मधुर शब्दों में कहा है।[३]

---

[१] 'विद्यापतिपदावली', पृष्ठ ११७ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

[२] वही, पृष्ठ १९

[३] विद्यापतिपदावली पृ० २३१ (गंगानंदसिंह) रागतरंगिणी

माघ मास सिरि पंचमि गँजाइलि,[1]
नवए मास पंचम हरुआइ।
अतिघन पीड़ा दुखबड़ पाओल,
वनसपती भेलि धाइ हे।
सुभखन बेरा सुकलपख हे,
दिनकर उदित समाइ।
सोलह सँपुन बतिस लखने,
जनम लेल रितुराइ हे।
नाचए जुवतिगन हरखित,
जनमल बाल मधाइ हे।
मधुर महारस मंगल गावए,
मानिनि मान उड़ाइ हे।
बह मलयानिल ओत उचित हे,
नव घन भउ उजिआरा।
माधवि फुल भल गजमुकता तूल,
ते देलबंद नेवारा।
पीअरि पाँड़रि महुअरि गावए,
काहरकार धथूरा।
नागेसर कलि संखधुनि पूर,
तकर ताल समतूला।
मधु लए मधुकरें बालक दए हलु,
कमल पखुरिया झुलाइ।
पौञनाल तोरि करि सुत बाँधल,
केसु कइलि बधनाइ।

---

[1] पीड़िता भई—हेमचंद्र प्राकृत व्याकरण ८ ४ ४०९। यह देसी शब्द है।

नव नव पल्लव सेज ओछाओल,
सिर दहु कदनेरि माला।
बैसलि भमरी हर उद गाबए,
चक्का चंद निहारा।
कनए केसुआ सुतिपत्र लिखिए हलु,
रासि नछत्र कए लोला।
कोकिल गणित गुणित भल जानए,
रितु वसंत नाम थोला।
बाल वसंत तरुन भए धाओल,
बेढ़ए सकल संसारा।
दखिन पवन घन आँग उगारए,
किसलए कुसुम परागे।
सुललित हार मजरि घन कज्जल,
आखितओ अञ्जन लागे।
नव वसत रितु अनुसर जौवति,
'विद्यापति' कवि गाबए।
राजा 'सिवसिंह' रूपनराएन,
सकल कला मन भाबए।

माघ मास श्री पचमी तिथि को (प्रकृति) पूर्णगर्भा हुई, और नौ महीना पाँच दिन होने पर (प्रकृति को) बडी वेदना हुई। उस समय वनस्पति धाय हो कर वहाँ उपस्थित हो गई। शुक्लपक्ष मे, शुभ मुहूर्त मे, सूर्य के निकलने पर सोलहो अंगो मे पूर्ण और बत्तीसो लक्षणों से युक्त ऋतुराज वसत का जन्म हुआ। शिशु वसत का जन्म हुआ, इस से हर्षित युवती स्त्रियाँ नाचने लगी और मधुर तथा महारस-युक्त मगलगान गाने लगी। इसी से मानिनी का मान भी उड गया (भग हो गया)। समयोचित सर्वत्र-व्यापी मलयानिल वहने लगा। इस से बालक को बचाने की आवश्यकता हुई। अतएव नवीन मेघ भी आकाश से प्रकाशित हो गए। माधवी फूल गजमुक्ता के समान हो गया और इसी को ले कर ——— बना दिया।

मधुकरी पाटल पुष्प के मध का पान कर गान करने लगी घुघूरा तूयनाद करने लगी। नागेश्वर पुष्प की कली ने शंख बजा कर ताल को समान बनाया। मधुकर ने मधु ला कर बालक को पहले दिया (पहले बालक को मधु चटाया जाता है यह मिथिला का व्यवहार है) और तालाब मे कमल की पँखुरी ला कर बालक को दिया। पद्मनाल को तोड़ कर उस से सूत निकाल करधनी पहनाई गई। केसर का फूल बघनखा बना (यह बालक की रक्षा के लिए दिया जाता है)। नवीन-नवीन पल्लव तो बिछौना हुए और सिरहाने कदंब की माला रक्खी गई। भ्रमरी वहाँ बैठ कर हर (अर्थात् हरनन जटा इत्यादि)[१] गाने लगी और बालक चंद्रमा के गोले को देखने लगा। राशि नक्षत्र को स्थिर कर सुवर्णवर्ण केसरपुष्प पर जन्मपत्र लिखा और कोयल (जो गणितशास्त्र अच्छी तरह जानती है) ने बालक का नाम 'वसंत' रक्खा।

यही वसंत तरुण हो गया और दौड़ कर इस ने समस्त संसार को घेर लिया। दक्षिण पवन ने किसलय और फूलो की धूल (बेसन) ले कर वसंत के शरीर में उबटन लगाया। मंजरी सुंदर हार बन कर गले मे आ गई और नवीन मेघ ने उस की आँखो मे काजल लगाया।

धीरे-धीरे वसंत ने ऋतुओं मे राजा की पदवी पाई। राजा बन कर वह अपने नगर में प्रवेश करता है। सभी उस का सम्मान करते हैं। इसी बात को कवि ने नीचे लिखी कविता में कहा है—

आएल रितुपति राज वसंत,
धाओल अलिकुल माधवि पंथ।
दिनकर किरन भेल पौगंड[२],
केसर कुसुम धएल हेमदंड।
नृप आसन पीठलपात[३]
कांचन कुसुम छत्र धरु माथ।

---

[१] एक प्रकार का गीत होता है जिसे मिथिला की स्त्रियाँ गा कर नवजात शिशु को सुलाती हैं।

[२] प्रौढ़ावस्था।

[३] पाटलीपुष्प का पत्र।

मौलि रसाल मुकुल भेल ताय[1],
समुखहि कोकिल पंचम गाय।
सिखिकुल[2] नाचत अलिकुलयंत्र[3],
आन द्विजकुल[4] पढ़ु आसिषमंत्र।
चंद्रातप[5] उड़े कुसुम पराग,
मलय पवन सह भेल अनुराग।
कुंदवली तरु धएल निसान[6],
पाटल तूण[7] असोकदल वान[8]।
किंसुक लवंगलता एक संग,
हेरि सिसिर रितु आगे देल भंग।
सैन्य साजल मधुमाखिक कूल,
सिसिर क सबहु कएल निरमूल।
उधारल[9] सरसिज पाओल प्रान,
निज नवदले करु आसन दान।
नव वृन्दावन राजबिहार,
'विद्यापति' कह समय क सार।[10]

इसी वसंत की रात में कृष्ण की रासलीला का वर्णन भी बड़ी रोचकता के साथ कवि ने किया है—

रितुपति-राति रसिक रसराज,
रसमय रास रभसरस माझ।

---

[1] उस का।
[2] मयूर।
[3] वाद्ययंत्र।
[4] पक्षी लोग।
[5] चँदोवा।
[6] पताका।
[7] तूणीर।
[8] वाण।
[9] उद्धार किया।
[10] 'विद्यापतिपदावली', पृ० २३४, (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

रसमति रमनिरतन धनि राहि,[१]
रास रसिक सह रस अवगाहि ।
रंगिनिगन सब रँगहि नटइ,
रनरनि कंकन किंकिनि रटइ ।
रहि रहि राग रचय रसवंत
रतिरत रागिनि रमन वसंत ।
रहनि रवाव महनिक[२] पिनास,[३]
राधारमन करु मुरलि विलास ।
रसमय 'विद्यापति' कवि भान,
'रूपनराएन' भूपति जान ।[४]

भाव के साथ-साथ कितना अनुप्रास इस में भरा है!

विरह से खिन्न नायिका घोर तपस्या करने बैठी है। इस भाव को ले कर कवि ने कैसा सुंदर पद कहा है!

लोचन नीर तटिनि[५] निरमाने,
करए कलामुखि तथिहि[६] सनाने ।
सरस मृनाल करइ जयमाली,
अहनिस जप हरि नाम तोहारी ।
वृन्दावन कान्हु धनि तप करइ,
हृदयवेदि मदनानल वरइ ।

---

[१] राही—यद्यपि लेखकों ने इस का अर्थ राधा बतलाया है किंतु मिथिला में प्रसिद्ध है कि 'राही' विष्णु की बड़ी प्रिय एक दासी थी। पूर्व जन्म में यह एक अप्सरा थी। किसी कारणवश इंद्र ने इसे शाप दिया था जिस से यह मर्त्यलोक में आ कर विष्णु भगवान की निरंतर सेवा करती थी। लक्ष्मी इस से बहुत डाह रखती थीं किंतु विष्णु की प्रियपात्री होने के कारण इसे कुछ नहीं कर सकती थीं। राही का जलशयन तथा पोनचोक बहुत ही प्रसिद्ध है। राही का नाम विष्णु के नाम के साथ कहा जाता है जैसे राही दामोदर।

[२] नारद की वीणा। [३] एक वाद्यविशेष।

[४] 'विद्यापतिपदावली', पृ० २४४ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

[५] नदी। [६] उसी में।

जिव कर समिध[१] समर[२] कर आगी,
करति होम अध होएबह भागी।
चिकुर बरहि[३] रे समरि[४] कर लेअइ,
फल उपहार पओधर देअइ।
भनइ 'विद्यापति' सुनह मुरारी,
तुअ पथ हेरइत अछ वरनारी।[५]

इसी से विद्यापति का नैष्ठिक ब्राह्मण होना भी सिद्ध होता है। अन्यथा इन सब बातों को इतने सूक्ष्म तौर पर कैसे जानते?

इन कविताओं को पढ़ कर विद्यापति की सरसता का परिचय लोगो को अनायास हो जाता है। मानुषीय हृदय के भावों का तथा उन के क्रमिक विकास का परिचय कवि को पूर्ण रूप से था। नायिका तथा नायक के प्रेम के प्रत्येक अंग तथा उपांग का सजीव चित्रण करने में कवि सिद्धहस्त मालूम होता है। एक ही भाव का अनेक प्रकार से चित्रण करना उस के लिए बडी आसान बात मालूम होती है। उस की कविताएँ संचारी भावो के समान पढ़ने तथा सुनने वालो के हृदय में रस का संचार कर देती हैं।

कवि के शब्दो में कही भी कठिनता नही है। प्रचलित शब्दो का ही प्रयोग उस ने किया है, किंतु तिस पर भी कितनी रोचकता तथा मधुरता से भरी हुई इस की रचनाएँ हैं। यद्यपि विद्यापति ने मुसलमानी राज्य के दिनों में अपनी कविताएँ लिखी तथापि हिंदी, उर्दू या फारसी के बहुत ही थोडे शब्द इन की कविताओ में पाए जाते हैं।

इन पदो को पढ़ कर पाठक स्वयं विचार सकते है कि कवि के अन्तर्हृदय का यथार्थ स्थायी भाव क्या था। मुझे तो यही प्रतीत होता है कि कवि केवल शृंगारिक था और उस का जीवन भी प्रायः ऐसे ही लोगो के सभ्य राजसभाओ में व्यतीत हुआ। यह पूर्व में भी कहा गया है कि कवि राधा और कृष्ण के सच्चे स्वरूप से अपरिचित नही था; किंतु सच्चा प्रेम (जिसे हम राधाकृष्ण की भक्ति कहते है) कवि ने अपनी इन कविताओ

---

[१] अपने प्राणों को हवन की लकड़ी बनाई।
[२] स्मरण। [३] केशराशि ही तो कुश है। [४] सम्हल कर।
[५] 'विद्यापतिपदावली' पृ० २७३ (गंगानंदसिंह-संस्करण)।

में कहीं नहीं दिखाया। प्राय: उस का उद्देश्य भी यह नहीं था। उन दिनों मिथिला में भक्ति की विशेष चर्चा भी नहीं थी जैसा कि चैतन्यदेव के समय में बंगाल मे थी। विद्यापति न किसी विरक्त भक्तो के संगठन में कभी थे, जिस से उन का भाव नवीन अवस्था मे भक्ति की तरफ उद्बुद्ध होता।

कहा जाता है कि मिथिला में विद्यापति के घर ही मे—विद्वानो ने इन की इन कविताओ का आदर नहीं किया। यह कथन अक्षरश: सत्य है। और इस का कारण ही क्या है ? मिथिला वैदिक काल से ले कर आज तक प्रौढ़-प्रौढ़ विद्वानो से व्याप्त रही है। एक से एक धुरंधर विद्वानो ने इस भूमि को पवित्र किया है, तथा अपने को भी पवित्र किया है। दार्शनिक विचारो का तो जन्मस्थान ही यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। ये लोग लौकिक चतुरता, लौकिक ऐश्वर्य तथा लौकिक सभी बातो का तिरस्कार करते आए है। बाह्याडंबर तो प्राय अभी भी शायद ही किसी योग्य मैथिल मे हो। वे लोग तत्त्वदृष्टि से काम करते थे। बड़े सादे स्वरूप मे रह कर तत्त्व की जिज्ञासा ही मे अपना जीवन बिताना एक मात्र मैथिल विद्वानो का कर्तव्य रहा है। ऐसी स्थिति में विद्यापति की या और इन से भी अधिक उन्नत कवि की लौकिक बातो को सुनन या मनन करने मे वे अपना समय क्यो बिताते ? इसी कारण विद्यापति की शृंगारिक रचनाओ की अपेक्षा शिव की नचारियों का अधिक आदर मिथिला में हुआ है, होता है तथा होगा।

विद्यापति की शृंगारिक कविताएँ केवल शृंगारिक जीवन व्यतीत करने वाली मैथिली स्त्रियो ही में विशेष आदृत होती है। इन लोगो ने इन कविताओ को जितना अपनाया है, उतना और किसी ने नहीं।

मिथिला की स्त्रियो ने, इन कविताओ को अपनी रुचि के अनुसार प्रधान-रूप से चार भागों में विभक्त कर लिया है। प्रेम की प्राय: सभी कविताओ को ये 'तिरहुति' कहती है, तथा इन्हीं मे जो विरह या वियोग के संबंध मे है उन्हे 'बटगमनी' कहती है। इन्हे वैवाहिक अवसर पर ही गाती है। कुछ कविताएँ शृंगारिक होती हुई भी नायिका की विरह-दशा के नाश करने के उपायो से युक्त है, उन्हे 'योग' कहती हैं, तथा जिन मे नायिका के अनुनय तथा विनय भरे हुए है, उन्हे वे 'उचिती' कहती हैं। ऐसी कोई भी मैथिली स्त्री न होगी जिसे विद्यापति की दस-बीस कविताएँ कंठस्थ न हो।

ऊपर जितनी शृंगाररस की कविताएँ दी गई हैं उन में जिन मे नायक या नायिका की विरहदशा का वर्णन है वह तो 'तिरहुति' कहलाती है, बाकी 'बटगमनी'। अवशिष्ट दोनो विभागों के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते है—

योग

डाली कनक पसारल नैना[1] योग बेसाहल।
नैना कोना आइलि सकल योग सँग लाइलि।
हेसल आनल वर पशुपति एकओ ने बाजथि दृढ़मति।
शुभ शुभ कय सभ भाखिअ गौरी वसि हर कएँ राखिअ।
भनहि 'विद्यापति' गाओल योगनिक अंत नहिं पाओल॥[2]

हमरा कएँ जओँ तेजब गुन बूझब,
योगहिँ देव वनिसार अधिन कए राखब।
एको पलक जओँ तेजब गुन बूझब,
एहेन योग मोर तेज सेज नहिँ छोड़ब।
आरसि काजर पारब निसि डारब,
ताहि लय आँजब आँखि योग परचारब।
नयनहिँ नयन रिझाएब प्रेम लाएब
करब मोर गुमहार हृदय बिच राखब।
भनहि 'विद्यापति' गाओल योग लाओल,
दुलहा दुलहिन समधान अधिन कय राखब(ल)॥[3]

---

[1] इस 'नैना' नाम की योगिनी का परिचय विद्यापति ने स्वयं दूसरे पद में दिया है—

सात बहिनि हम योगिनी, माइ
नैना थिकि जेठ बहिनी।
—मिथिलागीतसंग्रह—तृतीय भाग, गीत १०

[2] वही भाग ३, गीत ९ [3] वही गीत १६

उचिती

तोहे प्रभु सुरसरि धार रे,
पतितक करिअ उधार रे।
दुबर सों देखल गांग रे,
पाप ने रहय ऑंग रे।
सुरसरि सेवल जानि रे,
एहृन परसमनि पानि रे।
भनहि 'विद्यापति' भान रे,
सुपुरुष गुण क निधान रे।[१]

मिथिला में विद्यापति को कोई वैष्णव कवि नहीं कहता और न कोई इन्हें भक्त ही कहता है। सभी इन्हे शृंगारिक कहते आए है। हॉं, इन की शिवभक्ति की लोग अवश्य सादर प्रशसा करते हैं। बंगाल मे विद्यापति वैष्णव कवि तथा भक्त कवि कहलाते है। इस का कारण यह है कि विद्यापति की कविता ने वहॉं राधा-कृष्ण की भक्ति की तथा उस तरह की कविता-रचनाओं की जड बोई थी, प्रारंभ में बंगाल के आदिम वैष्णव कवि चंडीदास ने विद्यापति की कविताओ को ही ले कर अपनी कविताओ की रचना आरंभ की थी यह प्रसिद्ध है।[२] इस का एक उदाहरण भी यहॉं दे देना उचित मालूम होता है--

विद्यापति	**चंडीदास**
(क) मलय पवन बहु मंदा।	**(क) मलय पवन बहुक मंद।**
(ख) दय तुलसी तिल देह समर्पण, दया जानि छाड़ब मोय।	**(ख) श्याम अनुरागे एतनु बेचिनु तिल तुलसी दिया।**

(ख) **महेशबानी--शिव की नचारी**--विद्यापति की कविताओ का यह दूसरा विभाग है। पहले यह कहा जा चुका है कि अपने जीवन का अधिकतर भाग विद्यापति ने शृंगारिक कविता बनाने मे व्यतीत किया था। इस लिए अब समय भी थोड़ा था

---

[१] 'मिथिलागीतसंग्रह', भाग १, पृ० ३८-३९

[२] 'चंडीदास की कविता विद्यापति की कविता से ही प्रबुद्ध हुई थी'--रमेशचंद्रदत्त।

तथा उत्साह भी उतना नही था। संसार से विरक्ति हो गई थी किंतु अभी भी भगवान् मे उतनी आसक्ति नही हुई थी, कि उन्ही से प्रोत्साहित हो और भी दूने उत्साह से कवि इस वृद्धावस्था मे भी भक्तिरस की कविनाएँ करता। इन्ही कारणो से महेशवानी के पद उतने अधिक नहीं है, जितने कि शृगार के। परंतु जितने भी पद है, उन्ही से इतना आनद तथा सतोष मिल जाता है, जिस से भक्तों को ससार की सभी वस्तुएँ इस के सामने तुच्छ देख पड़ती है। अभी भी मिथिला के किसी शिव-मदिर में जाइए। देख पड़ेगा, क्या पुरुष क्या स्त्री, सभी महेशबानी गाने में मग्न हो रहे हैं। उन की समस्त इंद्रियाँ विभोर हो कर तन्मय हो रही है। सच है। यह अलौकिक एव चिरस्थायी आनद की महिमा है। महेशबानियों के एक-एक शब्द मे यथार्थ आनद भरा हुआ है। इसी को भक्त लोग गाते है और आनद रसास्वादन कर पागल से हो जाते है। इसी से तन्मयता भी उन लोगो में देख पडती है।

किसी के शब्द मे तथा रचना मे इतनी शक्ति कभी नही हो सकती कि उन के पढनेवाले तथा सुननेवाले विभोर हो जायँ जब तक कि उस का रचयिता भी उतनी ही शक्ति को न रखता हो। इस अनुभव के अनुसार यह मालूम होता है कि अत समय मे विद्यापति पूर्ण भक्त हो गए थे। क्या बिना भक्ति किए ही 'उगना' उन के पास दास बन कर रह सकता था ? क्या भक्ति के बिना ही गगा जी उन की प्रार्थना सुन सकती थी ?

ये महेशबानियाँ मिथिला मे सब प्रकार के लोगो में व्यापक रूप से आदृत होती है। स्त्री तथा पुरुष, कन्या तथा बालक, नवीन या प्राचीन, ब्राह्मण या ब्राह्मणेतर सब इन्हे सीखते है और शुभ कार्यो में गाते है। कोई भी शुभ कार्य ऐसा न होगा जिस मे महेशबानी न गाई जाय। अविवाहित कन्याओं को विशेष रूप से केवल महेशबानी ही सिखलाई जाती है जिस से ये कन्याएँ सांसारिक प्रेम की बाते असमय में न सीखे और साथ ही साथ शिव-गौरी की शुद्ध भक्ति को आदर्श मान स्वय गौरी के समान बने। यदि यही भाव तथा यही शुद्ध आदर्श राधा-कृष्ण की कविताओ मे विद्यापति ने रक्खा होता तो मुझे पूर्ण विश्वास है मिथिला मे उन कविताओं का भी महेशबानी के समान ही आदर होता। परंतु यह असभव है। जो पवित्र भक्ति तथा आदर्श प्रेम हमे शिव और पार्वती मे मिलता है वह बहिरंग स्वरूप राधा और कृष्ण में नहीं।

इस से लोगों को यह न समझना चाहिए कि यथार्थ प्रेम राधा और कृष्ण की

भक्ति मे है ही नही। ऐसा सच्चा प्रेम तो कही नही है; किंतु वह लौकिक दृष्टि वालो के समझने योग्य नही है। राधाकृष्ण के सच्चे स्वरूप को समझने के लिए अंतःकरण को अतर्मुख करना होगा जो कि सभी नही कर सकते। अतएव सासारिक लोग कृष्ण के प्रेम मे यथार्थ पागल नही हो सकते। शिव और पार्वती का प्रेम तो सभी को गम्य है। इस लिए लौकिक दृष्टि वालो के निमित्त शुद्ध प्रेम का आदर्श अनायास शिव-पार्वती में मिलता है, न कि राधाकृष्ण मे।

अब कुछ आदर्श महेशबानियाँ यहाँ उद्धृत की जाती है—

जोगिआ एक हम देखल गे माई,
अदभुत रूप मोहि कहलो ने जाई।
सिर बहु गंग तिलक सोभे चंदा,
देखि सरूप मेटल दुख दंदा।
पाँच वदन तिनि नअन बिसाला,
वसन बिभूति ओढ़न बघछाला।
जाहि जोगिआ लए रहलि भवानी,
सएह जोगिआ माई आबि तुलानी।
भनहि 'विद्यापति' सुनिए भवानी,
इएह जोगिआ थिक त्रिभुवन दानी।

हम सों रुसल महेसे,
गौरि विकल मन करथि उदेसे।
पुछिअ पँथुकजन[1] तोही,
ए पथ देखल कहु बूढ़ बटोही।
अंग में विभूति अनूपे,
कतेक कहब हुनि जोगिक सरूपे।

---

[1] पथिकजन।

'विद्यापति' भन ताही,
गौरी हर लएँ भेलि बताही।[1]

तोंह प्रभु त्रिभुवननाथे, हे हर!
हम निरदोस अनाथे।
करम धरम तपहीने,
पडलहुँ पाप अधीने।
बेंड़[2] भासल मझधारे,
भैरव धरु करुआरे[3]।
सागर सम दुख भारे,
अवहु करिअ प्रतिकारे।
भनहि 'विद्यापति' भाने,
संकट करिअ तराने।

हरजनि बिसरब मोर ममिता,
हम नर अधम परम पतिता।
तुअ सम अधम उधारन दोसर,
हम सन जगत नहि पतिता।
जम कों दुआर जबाब कओन देब,
जखन बुझत निज गुण कर बतिआ।
जब जम किंकर कोपि उठाओत,
तखन के होएत धरहेरिआ[4]।
भन 'विद्यापति' सुकवि पुनित मति,
संकर विपरित बानी।
असरन सरन चरन सिर नाओत,
दआ करु दिअ सुलपानी॥

---

[1] पगली [2] नाव [3] डाँडा [4] बचाने वाला

ए हर! गोसाञोनाथ! तोहर सरन कएलञो।
किछुन धरब सबे बिसरब पछाँ जे जत कएलञो।
कपट मह पडु कलेवर गिड़ल मअन [1] गोहे [2]।
भल मंद सबे किछु न गुनल जनम बहुल मोहे।
कएल उचित भेल अनुचित मने मने पचताबे।
आबे कि करब मिरे पए धुनब गेल दिना नहिं आबे।
अपथ पथ चरन चलाओल भगति मन न देला।
परधनि धन मानस बाढ़ल जनम निफले गेला।
चरित कातर मन बेआकुल मोर ओर अनुबंधा।
पुत कलत्र सहोदर बन्धव अंतकाल सबे धंधा।
भन 'विद्यापति' सुनहु संकर कएल तोहर सेवा।
एतए जे बरु से बरु करब ओतए सरन देवा।

यह भक्तिपद कितना भावों से ओतप्रोत है!

इसी विभाग में विद्यापति के बनाए हुए दुर्गा के पद तथा गंगा के पद भी सम्मिलित किए जाते हैं। उन में से एक-एक नमूने के तौर पर मैं यहाँ दे देता हूँ—

जय जय भैरवि असुर भयाउनि,
पशुपति भाविनि माया।
सहज सुमति वर दिअओ गोसाउनि, [3]
अनुगति गति तुअ पाया।
बासर रैनि सवासन सोभित,
चरन चंद्रमणि चूडा।
कतओक [4] दैत्य मारि मुँह मेलल, [5]
कतओ उगिल कएल कूड़ा।

---

[1] मदन। [2] ग्राह।
[3] कुलदेवी को मिथिला में 'गोसाउनि' कहते हैं।
[4] कितने। [5] खाया।

सामर बरन नयन अनुरंजित,
जलद योग फुल कोका[1] ।
कट कट विकट ओठ फुट पाँडरि[2],
लिधुर फेन उठ फोका[3] ।
घन घन घनय घुघुर कत बाजय,
हन हन कर तुअ काता[3] ।
'विद्यापति' कवि तुअ पद सेवक,
पुत्र बिसरु जनु माता ।

गंगा जी की महिमा गाते हुए कवि ने कहा है—

बड़ सुख सार पाओल तुव तीरे,
छाडइते निकट नयन बह नीरे ।
कर जोड़ि बिनमओं विमल तरंगे,
पुनु दरसन होइह पुनमति गंगे ।
एक अपराध छेमब मोर जानी,
परसल माए पाए तुअ पानी ।
कि करब जप तप जोग धेआने,
जनम कृतारथ एकहि सनाने ।
भनइ 'विद्यापति' समदओं[5] तोही,
अंतकाल जनु बिसरह मोही ।

(ग) विविध-विषयक—यह तीसरा विभाग है। इस में जितनी फुटकर कविताएँ कवि ने की हैं वे सब सम्मिलित की जाती हैं। राज्यारोहण तथा शिवसिंह के युद्ध वाली कविताएँ तो पहले कही जा चुकी हैं। अब कुछ दूसरे प्रकार की कविताओं के नमूने भी यहाँ दे देना उचित है—

---

[1] कोकनद। [2] पाटलवर्ण। [3] बुद्बुद। [4] खड्ग।
[5] संबाद देता हूँ प्रार्थना करता हूँ।

प्रथम[१] एकादश[२] दए[३] पहु गेल,
सेहो रे बितल कते दिन भेल ।
रितु[४] अवतार[५] बयस मोर भेल,
तइओ न पहु मोर दरसन देल ।
चान किरन मोहि सहलो न जाय,
चानन सीतल मोहि न सोहाय ।
भनइ 'विद्यापति' सुनु ब्रजनारि,
धइरज धएरहु मिलत मुरारि ।

हरि सम आनन हरि सम लोचन,
हरि तह हरि वर आगी ।
हरिहि चाहि हरि हरि न सोहावए,
हरि हरि कए उठ जागी ।
माधव हरि रहु जलधर छाइ,
हरि नयनी धनि हरि धरिनी जनि,
हरि हेरइते दिन जाय ।
हरि भेल भार हार भेल हरि सम,
हरिक वचन न सोहावए ।
हरिहि पइसि जे हरिहि नुकाएल,
हरि चढ़ि मोर वुझावए ।
हरिहि वचने पुनु हरि सञो दरसन,
सुकवि 'विद्यापति' भाने ।
राजा 'सिवसिंह' रूपनराएन,
'लखिमा' देवि रमाने ।

---

[१] क । [२] ट । [३] करदए—अवधि दे कर । [४] ६
[५] १० अर्थात १६ वष की मेरी अवस्था हुई

ऐसे भी अनेक पद हैं। इन में अर्थ-गौरव विशेष नहीं मालूम होता है केवल अनेकार्थक एक शब्द या एकार्थक अनेक शब्दों का जालमात्र फैलाने में कवि की चतुरता विद्यमान है।

इस प्रकार प्राय सभी विभाग की कविताओं के नमूने दिए जा चुके हैं। इन्हीं को ले कर मिथिला, मैथिल तथा मैथिली को गौरव है। एक समय था जब कि बँगला तथा हिंदी को भी विद्यापति का अभूतपूर्व गौरव था किंतु अब मैथिल लोग भी जाग उठे। अपने खोए हुए धन को सम्हाला और विद्यापति को तथा उन की भाषा को क्रमशः मैथिल एवं मैथिली जान कर उन्हें सब तरह से अपनाया।

समालोचना

कविता

नूरजहाँ—लेखक, गुरुभक्तसिंह। लेखक द्वारा कालका-सदन, बलिया से प्रकाशित।

ठाकुर गुरुभक्तसिंह हिंदी पाठकों के लिए अपरिचित नहीं है। इन की कविताएँ समय-समय पर हिंदी पत्र-पत्रिकाओं मे निकलती रही हैं। इन की कविताओं के तीन संग्रह 'सरस-सुमन', 'कुसुम-कुंज', तथा 'वंशी-ध्वनि' के नाम से प्रकाशित हो चुके है। भक्त जी एक निर्दिष्ट पथ के पथिक है। प्राकृतिक दृश्यों तथा भावनाओं के चित्रण को आप ने अपना मुख्य विषय बनाया है। 'नूरजहाँ' यद्यपि एक प्रबंध-काव्य है, हमें इस मे बार-बार प्रकृति-पर्यवेक्षण का अवसर मिलता है।

पुस्तक मे अठारह सर्ग है। इस मे गयास और उस की बेगम के दांपत्य-जीवन, उन की भारत-यात्रा के कष्ट, मेहरुन्निसा के जन्म और उस की बालक्रीडा का वर्णन है। सलीम की युवकोचित विलास-प्रियता, अनारकली के प्रति अनुराग, अनार के बंधन, देश-निकाले तथा मृत्यु की कहानी है। मेहरुन्निसा के यौवन, सलीम की उस के साथ कपोत-क्रीड़ा, जमीला की द्वेषाग्नि, मेहरुन्निसा और अली कुली के विवाह तथा बंगाल-यात्रा का उल्लेख है। सलीम के विरह, मेहर और कुली के दांपत्य-जीवन, व कुली अथवा शेर अफगन द्वारा विमलराय की हत्या की चर्चा है। फिर अकबर की मृत्यु होते ही, सलीम के जहाँगीर होने, मेहर के लिए विविध प्रयत्न करने, शेर अफगन के पद पर कुतुब की नियुक्ति, व शेर के वध की कथा है। अंत मे मेहर की विरह-कातरता, शारीरिक कष्ट, उसे अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए जहाँगीर की चेष्टा, प्रणय-निवेदन तथा दोनों का सम्मिलन दिखाया गया है। संक्षेप मे, इस काव्य-ग्रंथ द्वारा कवि ने एक ऐतिहासिक चरित्र के जीवन-घटना-संबंधी अनेक अंशों को, उन की विविध परिस्थितियों के अनुसार विकसित कर शृंखलाबद्ध रूप में प्रदर्शित किया है।

नायिका के जीवन का स्रोत कठिन मार्गों में हो कर निकला दिखाया गया है। अतएव उस के प्रति पाठकों के हृदय में कवि सहानुभूति उगजाने में सफल हुआ है। काव्य में प्रवाह है और कवि ने अधिकांश व्यवहार-सुलभ शब्दों का प्रयोग किया है। प्रकृति-चित्रण में उस ने विशेष पटुता प्रदर्शित की है। हमें आशा है कि यह ग्रंथ पाठकों द्वारा पसंद किया जायगा। पुस्तक का आकार-प्रकार बहुत सुंदर है।

रा०

दर्शन

वेदांत वा आत्मविचार—लेखक, राजा बलदेवदास बिड़ला। प्रकाशक, ज्ञान-मंडल यंत्रालय, बनारस।

राजा बलदेवदास बिड़ला न केवल एक दानशील सज्जन और पंडितों के आदर-कर्ता हैं, वरन् स्वयं हिंदू शास्त्रों के, और विशेष कर दर्शन के अच्छे विद्यार्थी भी हैं। इस बात का पता समालोच्य पुस्तक से चलता है। इस पुस्तक में राजा साहब ने महर्षि व्यास के प्रसिद्ध ब्रह्मसूत्रों पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। पुस्तक के अंत में अनेक प्रसिद्ध धर्मतत्वज्ञों की सम्मतियाँ दी हुई हैं, जिन से इस बात की पुष्टि होती है कि लेखक ने अपनी व्याख्या में सूक्ष्म बुद्धि और पांडित्य का परिचय दिया है। हिंदी पाठकों के लिए एक गहन विषय का सरलता के साथ दिग्दर्शन करा कर लेखक ने उन का उपकार किया है। एक बात विशेष रूप से कथनीय है। वह यह कि योग्य व्याख्याकार ने अपनी व्याख्या में पूर्व टीकाकारों का आश्रय नहीं लिया है, वरन् स्वतंत्र बुद्धि से काम लिया है। ऐसा करने के कारण प्रस्तुत व्याख्या में प्रतिपादित सिद्धांत किंचित् विलक्षण जान पड़ सकते हैं। परंतु इस मौलिकता के कारण ही कदाचित् यह पुस्तक विशेष रूप से ज्ञातव्य है।

रा०

स्फुट

हैहय-क्षत्रिय-मित्र (हीरालाल अंक)—संपादक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०। प्रकाशक, हैहय-क्षत्रिय-सभा, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद। १९३६। मूल्य १)

'हैहय-क्षत्रिय-मित्र' एक जाति-विशेष का पत्र है, परंतु इस विशेषांक की उप-योगिता उस जाति तक सीमित नहीं है यह अंक स्वर्गीय ९ बाबू हीरालाल

के स्मारक रूप में निकाला गया है। स्वर्गीय रायबहादुर न केवल पुरातत्वशास्त्र के पंडित वरन् एक महान सज्जन थे। उन की मृत्यु के कारण इस विषय के विशेषज्ञों ने एक बड़ी क्षति का अनुभव किया है। हिंदी भाषा और साहित्य के भी स्वर्गीय रायबहादुर अनन्य प्रेमी थे। इस अंक में उन के संबंध की अनेक बातों तथा मधुर स्मृतियों का गद्य तथा पद्य में संकलन किया गया है। देश के अनेक विद्वानों—जैसे महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा, डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल, श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन आदि—ने इस अंक में अपने लेख दिए हैं। उन्हें सुचारु ढंग से सजाने और प्रस्तुत करने का श्रेय डाक्टर गोरखप्रसाद जी को है। पुरातत्व तथा हिंदी से प्रेम रखने वाले प्रत्येक पाठक के लिए यह अंक उपादेय होगा।

रा०

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १॥)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १॥)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक पंडित रामनरेश त्रिपाठी मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्जा अबुलफ़ज़्ल। मूल्य १)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य ४॥) सजिल्द, ४) बिना जिल्द।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य बिना जिल्द ६), सजिल्द ६॥)

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० मूल्य ॥)

नोबेल पुरस्कार-प्राप्त

प्रसिद्ध नाट्यकार

जॉन गाल्सवर्दी

की

चार अमूल्य रचनाएँ

१—न्याय—'जस्टिस' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २।)

२—हड़ताल—'स्ट्राइफ़' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २)

३—धोखाधड़ी—'स्किन गेम' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत ललिताप्रसाद शुक्ल, एम्० ए०। मूल्य १॥।)

४—चाँदी की डिबिया—'सिल्वर बॉक्स' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य १॥)

सभी पुस्तकों पर सुंदर सुनहरी कपड़े की मजबूत जिल्दें हैं।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहले पाँच वर्षों की कुछ फ़ाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं। मूल्य पहले वर्ष का ८) तथा अन्य वर्षों का ५)

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

जुलाई, १९३९

हिंदुस्तानी एकेडेमी
संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी जूलाई १९३९

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

वार्षिक मूल्य ५); एक प्रति का १।); डाक-व्यय अलग

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ६ } जुलाई, १९३६ { अंक ३

उर्दू, हिंदी और हिंदुस्तानी

[लेखक—श्रीयुत कृष्णप्रसाद कौल]

उर्दू और हिंदी का झगडा पुराना है। इस झगड़े की नीव राजनैतिक वरन् जातीय है। यह साहित्यिक विवाद नही। यहाँ इन घटनाओं के संक्षिप्त वर्णन का भी अवसर नही, फिर भी मित्रो को यह स्मरण दिलाना अनुपयुक्त न होगा कि इस विवाद का शोर पहले-पहल उस के वाद सुनने में आया कि जब स्वर्गीय सर सैयद ने कांग्रेस का विरोध इस प्रांत में आरंभ किया था। इस झगड़े का क्रम वाद मे मुस्लिम लीग और हिंदू सभा के रूप मे जारी रहा और अब भी जारी है। कहने का आशय यह है कि इस झगड़े की नीव जातीय कट्टरता या राजनैतिक विभेद मे पड़ी, यद्यपि प्रत्येक पक्ष इस बात का दावा करता है कि 'हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता' के विचार को दृढ करने और उसे व्यावहारिक रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि उर्दू या हिंदी सारे देश की भाषा बने। इस झगड़े को समाप्त करने के उद्देश्य से कुछ शांति-प्रेमी और भले लोगों ने अब हिंदुस्तानी भाषा का प्रश्न छेड़ कर या यों कहिए कि निर्णय प्रस्तुत कर के और उलझन उत्पन्न कर दी है। यह निर्णय अधिकांश राजनैतिक उद्देश्यों के आधार पर ही प्रस्तुत किया जाता है—यद्यपि हिंदुस्तानी भाषा के समर्थकों मे ऐसे लोगों की भी पर्याप्त संख्या है जो केवल साहित्यिक भाषा का सुधार चाहते हैं। इस भूमिका से तात्पर्य यह है कि राजनैतिक, जातीय और साहित्यिक

दृष्टिकोणों के मिल-जुल जाने से ऐसी गड़बड़ी उत्पन्न हो गई है, और जातीय जोश की खींच-तान ने ऐसी गुत्थियाँ डाल दी है कि साधारण लोगों के लिए ठंडे दिल से इस विषय पर विचार करना और किसी यथार्थ परिणाम पर पहुँचना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया है। इस झगड़े का निपटारा करना तो किसी एक मनुष्य के बस की बात नहीं, और न लेखक को ही इस का दावा है। परन्तु इस बात का प्रयत्न इस लेख में अवश्य किया जायगा कि इस प्रश्न के विभिन्न पहलुओं पर शांतिपूर्वक विचार किया जा सके और इस प्रश्न के भिन्न पहलुओं के मिश्रण से जो दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो गई है वह दूर की जा सके।

इस प्रश्न के दो पहलू है। एक केवल राजनैतिक और दूसरा साहित्यिक। दोनों का एक दूसरे से कोई संबंध नहीं। यहाँ पहले राजनैतिक पहलू पर विचार किया जायगा और बाद में साहित्यिक पहलू पर। कहा जाता है कि यदि हिंदुस्तानी जातीयता के आदर्श को कल्पना और स्वप्न के क्षेत्र तक न रख कर यथार्थ करना ध्येय है तो आवश्यक है कि सारे देश में एक भाषा हो। उर्दू के समर्थक उर्दू को सारे देश की भाषा बनाना चाहते है और हिंदी के पोषक हिंदी को। एक और दल न्याय और शांति की दृष्टि से 'हिंदुस्तानी' भाषा को सारे देश में प्रचलित करना चाहता है। यदि छोटा मुँह बड़ी बात न समझी जाय तो मैं अत्यंत विनम्रता से निवेदन करूँगा कि हिंदुस्तानी जातीयता या 'नेशनलिज्म' के समर्थन में सारे देश की एक भाषा स्थिर करना ही एक दुराग्रह है। जातीयता के लिए भाषा का तत्व अनिवार्य नहीं। जातीयता के लिए धर्म का तत्व भी अनिवार्य नहीं। वह बीते युग की कथाएँ है जब ऐसा था। वर्तमान सभ्यता और संस्कृति के युग में 'जातीयता' का आधार राजनैतिक उद्देश्यों की एकता कहा जाता है और इस का सूत्र आर्थिक एकता में है। समस्त सभ्य संसार में, ऐसा ही हुआ है और हो रहा है और हिंदुस्तान मे भी यही होगा। इस के लक्षण आज भी दिखाई देते है। ब्रिटेन और अमरीका के लोग एक ही जाति और वंश के है, एक ही धर्म, एक ही भाषा, एक ही प्रकार का रहन-सहन है। परन्तु राजनैतिक और आर्थिक उद्देश्यों की विभिन्नता ने उन्हे दो विभिन्न जातियों में विभक्त कर दिया। बिल्कुल यही स्थिति कैनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यू जीलैंड की है। एक ही धर्म, एक ही भाषा, एक ही जाति, एक ही प्रकार का रहन-सहन, एक ही शासन और साम्राज्य के अंग—लेकिन लक्षण प्रकट हो रहे है कि राजनैतिक और

आर्थिक भेदों के आधार पर वह समय दूर नहीं कि इन में से प्रत्येक अपनी-अपनी डेढ़ ईंट की मसजिद अलग-अलग बनाएगा। स्विट्ज़रलैंड का उदाहरण लीजिए। एक देश में तीन जातियाँ बसती हैं, भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं, परंतु राजनैतिक और आर्थिक उद्देश्यों की एकता ने उन्हें एक सूत्र में बाँध रखा है और वह एक जाति कहलाते हैं। यूरोप के विभिन्न देशों और साम्राज्यों को लीजिए। एक ही धर्म, एक ही वेशभूषा, लगभग एक-सा ही रहन-सहन। एक भाषा नहीं फिर भी हिंदुस्तानी की भाँति फ्रांसीसी कम से कम लगभग सारे यूरोप में समझी और बोली तो अवश्य जाती है, परन्तु राजनैतिक और आर्थिक उद्देश्यों ने भिन्न-भिन्न जातियाँ बना रखी हैं। जो एक दूसरे से लड़ती रहती है। मुझे इस से इन्कार नहीं कि कुछ अंशों में, जातीयता को सुदृढ़ बनाने में भाषा, वेश-भूषा, खान-पान इत्यादि की एकता सहायक होती है, और जहाँ यह बातें प्राप्त हों बहुत अच्छा है। मेरे कहने का तात्पर्य केवल यह है कि यह बातें वर्तमान युग में जातीयता का अनिवार्य अंग या अंश नहीं। जातीयता का सूत्र, इन बातों के बिना भी, केवल राजनैनिक और आर्थिक एकता के आधार पर दृढ़ रह सकता है।

यदि पिछली कुछ शताब्दियों में, हिंदू और मुसलमानों का चोली दामन का साथ न रहा होता, यदि इस्लामी और हिंदू सभ्यता के मिश्रण से वर्तमान हिंदू सभ्यता ने नया रूप न ग्रहण किया होता, तो संभव था कि प्राचीन आर्यावर्त की भाँति आज भी हमारी रीतों और रस्मों, रहन-सहन और भाषा में कुछ एकता का रूप देखने में आता। परन्तु भाग्य के हाथों हिंदुस्तान का इतिहास किसी दूसरे ही शीर्षक से लिखा गया। इन इतिहास के पृष्ठों को अशुद्ध अक्षर की भाँति मिटा देना न आप के वश की बात है और न मेरे वश की बात है। और यदि सच पूछिए तो मुझे इस का खेद भी नहीं। मेरी विनम्र राय में तो हिंदू और इस्लामी सभ्यता, साहित्य, और दर्शन के मिल-जुल जाने से वर्तमान हिंदुस्तानी सभ्यता और संस्कृति का ख़ज़ाना मालामाल हो गया। यह केवल मेरी ही अनोखी राय नहीं वरन् इतिहास पग-पग पर इस का प्रमाण देता है। यदि जो कुछ बीत चुका है उस का खेद नहीं तो आनेवाले भाग्य से भी डर नहीं। मैं मानता हूँ कि आज देश का वातावरण बिगड़ा हुआ है। हर ओर कट्टरता और फूट की आँधियाँ चल रही है। भाई भाई से रूठा हुआ है। हमारी पाठशालाओं और यूनिवर्सिटियों में, कौंसिलों और बोर्डों में अलग-अलग प्रतिनिधित्व में उलझन और

बुराई, हिंदी और उर्दू के झगडे, आरती और नमाज के किस्से, दगे और फसाद के हगामे, बडे से बडे आशावादी देश-भक्त के उत्साह को भग कर रहे है। प्रत्यक्ष हमारे दिन अच्छे नहीं, लेकिन मेरा विश्वास है कि हमारी स्वतन्त्रता या हिंदुस्तानी जातीयता का बीज जो आज से पचास वर्ष हुए बोया गया था वह एक विशाल वृक्ष का रूप ग्रहण कर के फल लाएगा। यह धार्मिक और जातीय झगडे, वर्तमान कट्टरता और विभेद रुकावटें डाल रहे है। निर्दिष्ट स्थल तक पहुँचने मे इन के कारण देर अवश्य लगेगी लेकिन हमारा उद्देश्य पूरा हो कर रहेगा। यदि आप अपनी दृष्टि को नित्य-प्रति की इन लज्जा-जनक बातो से ऊपर और विस्तृत कर के देखे तो आज भी अच्छे लक्षण दिखाई देते हैं। मुसल्मानो में भी जो पीढी आज शिक्षा पा रही है, वह उस से जो आज टर्की, मिश्र और ईरान मे हो रहा है, अज्ञात और अप्रभावित नही। इसी देश मे पिछले दो क्रांतिकारी आदोलनो में सैकडो नही वरन् हजारो मुसल्मानो ने हिंदुओ के साथ-साथ जेल की यातनाएँ झेली। लाठियो, सगीनों और गोलियो के सामने छातियाँ की। जिन्हो ने इस तरह (ठीक या गलत, इस से तात्पर्य नहीं) हिंदुस्तानी जातीयता और स्वतन्त्रता के भवन की नीव को दृढ़ किया है, उन के लिए, अब पग पीछे हटाना सभव नही। किसानों या मजदूरो के वर्ग को लीजिए, जो वास्तविक अर्थ मे जनता कहे जा सकते है। आज आरती व नमाज़ और गोहत्या की चर्चा उन को एक दूसरे से प्रकट रूप में अलग कर रहे है, लेकिन जो शक्तियाँ संसार मे कार्य कर रही है और जिन के प्रभाव से हिंदुस्तान भी अधिक समय तक बच नही सकता वह कल उन्हे विवश करेंगी कि पेट पालने और रोटी के लिए यह मिल कर उन लोगो का सामना करें जो सपत्ति और पूँजी के मालिक हैं। हिंदू और मुसल्मान का भेद एक क्षण में मिट जायगा। ज़मीदारो और ताल्लुकदारो का वर्ग उन की आँखो के सामने आज बिना हिंदू और मुसल्मान के भेद-भाव के एक हो रहा है। कल किसान भी इसी तरह एक करेंगे। यह शक्तियाँ है और यह प्रभाव हैं जो जातीयता को सगठित करेंगे। साराश यह कि हिंदुस्तानी जातीयता के भाव को व्यावहारिक रूप देने की लिए, राजनैतिक और आर्थिक उद्देश्य की एकता का अनुभव उपयोगी होगा न कि एक धर्म या एक भाषा की पूर्ति।

यह तो सिद्धात की बात हुई। अब ज्ञान की आवश्यकताओं की दृष्टि से विचार

कीजिए। इतना बडा देश, विभिन्न जातियो और धर्मो के, विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले लोग, विभिन्न प्रातो मे बसते है। यदि सारे देश की कोई भाषा न हो, तो व्यापार और कारोबार, अदालतो का काम, कौंसिलो, कान्फरेंसो और सभाओ की कार्यवाहियाँ और विचारों का विनिमय आखिर किस तरह हो ? या दूसरे देशो से संपर्क किस प्रकार बढे ? कामकाज किस तरह चले ? इस के लिए सारे देश की एक भाषा होना आवश्यक है। सो उस का भी निर्णय सौ वर्ष हुए है, दूसरो के कलम से हो गया, और निर्णय भी ऐसा जो भाग्य के रूप मे है, जिसे आप मिटा नही सकते। हिंदुस्तान के शिक्षित वर्ग की भाषा अंग्रेजी निश्चित हो गई, और हम मे से हर एक प्रसन्नता से या अप्रसन्नता से उसे सारे देश की भाषा स्वीकार करना है। हमारे सपूर्ण राजनैतिक और सामाजिक जीवन का आधार उस पर है। यह हमारी सपूर्ण आवश्यकताओ को पूरा करती है, और जब तक हिंदुस्तान में अंग्रेजी भाषा के कालेज और यूनिवर्सिटियाँ स्थित है—और मेरे विचार मे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भी यह बने रहेंगे—उस समय तक अंग्रेजी भाषा ही सारे देश की भाषा रहेगी। उर्दू या हिंदी इस की जगह नही ले सकती, केवल इस कारण कि जिन आवश्यकताओ को अंग्रेजी भाषा पूरा करती है उस की योग्यता न हिंदी मे है न उर्दू मे। यदि उर्दू और हिंदी अंग्रेजी का स्थान नही ले सकती, तो क्या सभव है कि यह दोनो या इन मे से एक बगाली, गुजराती, मराठी, तामिल, या तेलगू की जगह ले सके। प्रकट मे तो यह समझ मे नही आता। बगाली भाषा और साहित्य का पद तो आज उर्दू और हिंदी दोनो से कहीं ऊँचा है। गुजराती भी इन दोनो मे से किसी से कम नही। मराठी, तामिल और तेलगू भी इस पद पर पहुँच गई है कि उन को हिंदी या उर्दू से कोई विशेष लाभ नही पहुँचेगा। और जब कि उन के सपूर्ण राजनैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताएँ देशव्यापी अंग्रेजी भाषा द्वारा पूरी हो रही है, तो बंगाल, बबई, और मद्रास के लोग अपनी-अपनी भाषाएँ छोड कर हिंदी और उर्दू क्यो सीखने लगे ? आप को कौन सी आवश्यकता इन भाषाओ को ग्रहण करने पर विवश करेगी ? मुझे मालूम है कि मद्रास में आज इस बात का भगीरथ प्रयत्न हो रहा है कि हिंदी का प्रचार हो और कई वर्ष से वहाँ हिंदी की उन्नति की चर्चा सुनने मे आ रही है। यह भी कहा जाता है कि इस में कामयाबी हो रही है। इसी तरह बंगाल और हैदराबाद मे उर्दू शिक्षा का महत् प्रयत्न हो रहा है। बगाली मुसलमानो की उर्दूदानी का हाल तो उन मित्रो से जिन्हें उन से

संपर्क का अवसर प्राप्त हुआ है छिपा नहीं है हैदराबाद के मुसलमानों की उर्दूदानी के संबंध में 'अल्नाज़िर' पत्र से निम्न उद्धरण देना अनुचित न होगा। मौलवी ज़फ़रुल्मुल्क साहब, संपादक 'अल्नाज़िर' अभी हाल में हैदराबाद गए थे। आप निजी जानकारी के आधार पर लिखते हैं—

"हैदराबाद के लिए निःसंदेह यह विशेषता कुछ कम नहीं कि उस ने देश की भाषा को शिक्षा का माध्यम निश्चित करने में सारे देश के लिए मार्ग-प्रदर्शन किया है, परन्तु उस्मानिया यूनिवर्सिटी यदि इस बात का भी प्रबंध कर सके कि यूनिवर्सिटी से जो विद्यार्थी प्रमाण-पत्र प्राप्त कर के निकले, उस भाषा में जो शिक्षा का माध्यम बनाई गई है शुद्धता और प्रवाह के साथ अपने विचार लिख सकें, तो व्यावहारिक दृष्टि से उन विद्यार्थियों के लिए व देशवासियों के लिए अधिक उपयोगी होगा। अंग्रेजी हमारे नवयुवकों के लिए बिल्कुल विदेशी भाषा है और प्रकट है कि उर्दू के मुकाबले में उसे प्राप्त करने में कितनी कठिनाई होती है, लेकिन ब्रिटिश भारत की यूनिवर्सिटियों से सनद प्राप्त कर के जो सज्जन विभिन्न मुहकमों में जाते हैं वह यदि सीधी सादी परंतु शुद्ध अंग्रेजी लिखना न जानें तो कैसे नक्कू बनाए जाते हैं। उस्मानिया यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी भी जब यूनिवर्सिटी से बाहर निकलेंगे तो इसी कसौटी पर जाँचे जायँगे। .....उस समय उन के लेख साधारण सीधी-सादी परंतु शुद्ध उर्दू में न हों तो लोग किस दर्जा तक उन की और खुद उन की यूनिवर्सिटी की हँसी उड़ाएँगे।"

मद्रास में हिंदी की उन्नति करने का विचार और प्रयत्न निश्चय ही धार्मिक और जातीय नवोत्साह का अच्छा उदाहरण है। एक समय में 'नेशनल एजुकेशन' और 'नेशनल यूनिवर्सिटी' की भी इसी तरह चर्चा हुई थी, परंतु-धृष्टता के लिए क्षमा चाहूँगा—अब तो गांधी कैंप भी कठिनाई से दिखाई देती है। सारांश यह कि जो तर्क यहाँ उपस्थित किए गए हैं, यदि नितांत व्यर्थ नहीं, तो परिणाम यह निकलता है कि सारे देश को न उर्दू की आवश्यकता है न हिंदी की। न केवल यही वरन् उर्दू और हिंदी के लिए सारे देश में कोई स्थान नहीं। इन्हें सारे देश की भाषा बनाने का प्रयत्न व्यर्थ का प्रयास है, और कुछ काल के बाद यह प्रयत्न ठिठर कर रह जायगा। उर्दू और हिंदी का प्रश्न केवल उत्तरी भारत तक सीमित है और सीमित रहना चाहिए। इन का राज्य सीमाप्रांत से लेकर बिहार प्रांत तक है। उचित होता कि उत्तरी भारत में भी दो भाषाओं की अपेक्षा

एक ही भाषा होती। परंतु ऐसा नहीं होना था, नहीं हुआ। पिछले सौ वर्ष से हिंदी और उर्दू का जिस प्रकार अलग-अलग विकास हुआ है, उसे अशुद्ध अक्षर की भाँति मिटाया नहीं जा सकता। एक भाषा निश्चित करने का प्रयत्न न केवल दोनों भाषाओं को अपनी-अपनी जगह अधिक दृढ और एक-दूसरे से पृथक् करता जाता है, वरन् जातीय कट्टरता के विकृत हो जाने के कारण हिंदू और मुसलमानों की एकता में भी भेद पड़ता जाता है। अतएव एक प्रकट परिणाम इस का यह निकला है कि पहले जो हिंदू अधिक संख्या में उर्दू की ओर आकृष्ट थे, वह अब हिंदी पढते हैं। इस के अतिरिक्त प्रश्न यह है कि यदि उत्तरी भारत में दोनों बराबर से उन्नति करती रहीं तो हरज क्या है, और एकमात्र भाषा के प्रचार का उद्देश्य क्या है? यदि एक भाषा के प्रचार का उद्देश्य केवल यह है कि हिंदू-मुसलमानों में एका बढे, दोनों जातियाँ एक-दूसरे से निकट आ जायँ, उन में सांस्कृतिक मिलाप उत्पन्न हो, उन के साहित्य और सभ्यता में भेद शेष न रहे, तो वर्तमान वातावरण को देखते हुए और उस विचार-वृत्ति का ध्यान रखते हुए जो इस समय दुर्भाग्य से दोनों पक्षों में प्रकट हो रही है, यह उद्देश्य, एक भाषा प्रचार पर जोर देने से, पूरा होने की अपेक्षा नष्ट हो कर रहेगा। कम से कम पिछले तीस-चालीस साल का परिणाम तो यही प्रकट करता है। इस विवाद के संबंध में, जो लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं, उन में एक ही उचित प्रस्ताव उस प्रश्न के हल करने के संबंध में प्रस्तुत होता है, जिस से वह उद्देश्य जो प्रकट रूप से एक भाषा के प्रचार के संबध में बताया जाता है पूर्णतया सिद्ध होता है, परंतु इस प्रस्ताव पर खेद है इतना ध्यान नहीं दिया गया जितना कि देना चाहिए। प्रस्ताव यह है कि हमारे स्कूलों में आरंभ से ही दोनों भाषाओं अर्थात् उर्दू और हिंदी की शिक्षा अनिवार्य की जाय। मैं इस प्रस्ताव का हार्दिक समर्थन करता हूँ। यदि कोई ढंग व्यवहार में लाने योग्य ऐसा है कि जिस से हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे की भाषा, साहित्य, परंपरा भावों और अनुभवों से परिचित हो सकें और उन में एक-दूसरे के रहन-सहन से एकता उत्पन्न हो, एक दूसरे की परंपरा और भावों का ध्यान रहे, तो वह यही ढंग है। इसे हिंदू और मुस्लिम एकता की नींव समझना चाहिए। इस प्रकार विचारों के बदलने से दोनों जातियों में राजनैतिक और आर्थिक एकता का सुंदर रूप सहज में पैदा हो सकेगा। यही एक प्रस्ताव ऐसा है कि जिस पर व्यवहार करने से हिंदू और मुसलमानों को कोई आपत्ति न होना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था के मार्ग की कठिनाइयाँ

ऐसी नहीं जो दूर न हो सके। कम से कम यह उन कठिनाइयों की बराबरी में कुछ भी नहीं, जो इस समय एक भाषा के प्रचार के प्रयत्न में सामने आ रही है, और जिन का कोई निराकरण समझ में नहीं आता। मैं तो एक भाषा स्थापित करने की आवश्यकता, या उस की व्यावहारिकता में आस्था नहीं रखता, फिर भी हमारे सामने यदि इस उद्देश्य का रखना उचित है, यदि यह किसी प्रकार व्यावहारिक रूप ग्रहण कर सकता है, यदि इतिहास का पृष्ठ पलटा जा सकता है, और कभी किसी काल में जिस का हम अनुमान भी नहीं कर सकते उत्तरी भारत में हिंदी और उर्दू के स्थान पर एक भाषा प्रचलित हो सकती है, तो इस की नींव इसी तरह डाली जा सकती है कि उर्दू और हिंदी दोनों हमारे स्कूलों में अनिवार्य कर दी जायें।

हिंदी और उर्दू के विवाद से दृष्टि हटा कर अब हिंदुस्तानी भाषा के प्रश्न को लीजिए। कहा जाता है कि यदि उर्दू में से फारसी और अरबी शब्द निकाल दिए जायें और हिंदी में से संस्कृत शब्द तो हिंदुस्तानी भाषा बन कर प्रचलित हो जायगी। इस के पक्ष में यह तर्क भी उपस्थित किया जाता है कि अब हिंदुस्तान के बड़े हिस्से में हिंदुस्तानी भाषा बोली जाती है और लगभग सारे हिंदुस्तान में हिंदुस्तानी समझी जाती है। यह कथन एक हद तक यथार्थ है परंतु केवल एक हद तक। अर्थात् टूटी-फूटी उर्दू और बिगड़ी हुई हिंदी, पंजाब में पंजाबी उच्चारण के साथ और बिहार में बिहारी उच्चारण के साथ बोली जाती है। हमारे प्रांत में पूर्वी जिलों में एक प्रकार की हिंदी और पश्चिमी जिलों में एक प्रकार की उर्दू बोली जाती है। इसी प्रकार देहात में जो भाषा बोली जाती है वह हिंदी से मिलती-जुलती है, और शहरों में जिस भाषा का व्यवहार होता है वह उर्दू से मिलती-जुलती है। फिर भी जहाँ तक बोली का संबंध है आप इस को हिंदुस्तानी बोली कह सकते हैं। इसी प्रकार साहब लोगों और ख़ानसामों और बहराओं की बोली भी हिंदुस्तानी होती है। वह टूटी-फूटी भाषा भी जो बंबई या कलकत्ता के आस-पास यात्री अपना मतलब निकालने के लिए बाज़ारों में बोलते हैं—वह भी हिंदुस्तानी कहलाती है, और इस अर्थ में यह कहना कि हिंदुस्तान के बहुत बड़े भाग में समझी और बोली जाती है ठीक है। लेकिन बोली एक वस्तु है और साहित्य तथा सभाओं की भाषा बिल्कुल दूसरी वस्तु। जिस समय आप यह प्रयत्न करेंगे कि यह हिंदुस्तानी भाषा साहित्यिक और सभा-समाजों की भाषा निश्चित कर दी जाय, तो अवश्य ही वह या तो हिंदी का रूप ग्रहण कर

लेगी या उर्दू का। क्योंकि इस हिंदुस्तानी बोली की—जिस को सारे देश की भाषा निश्चित करने का विचार है—स्थिति और प्रतिष्ठा ही भाषा की नही है और न इस मे भाषा बनने की योग्यता है। पिछले पचास वर्ष मे उर्दू और हिंदी ने जिस वातावरण मे विकास पाया, जिस सभ्यता और संस्कृति के पक्ष में इन्हो ने जबान खोली उस ने इन्हें विवश किया कि नए-नए विचार और सूक्ष्मतर भावो को प्रकट करने के लिए नई-नई विद्याओ और कलाओं के अनुवाद के उद्देश्य से उर्दू, फारसी और अरबी से और हिंदी संस्कृत की सहायता से, नए-नए पारिभाषिक शब्द, शब्द-विन्यास और महावरे रचे और उन्हे प्रचलित करे। अंग्रेजी से भी सहायता मिली। इस प्रकार दोनों भाषाओ का विकास हुआ, और उन का कोष एक हद तक परिपूर्ण हुआ। अब आप का प्रयत्न यह है कि फारसी और संस्कृत के यह पारिभाषिक शब्द, विन्यास और महावरे जो दोनो भाषाओ मे प्रचलित किए गए हैं उन्हे निकाल दिया जाय। तो काम किस तरह चलेगा? आप भाषा को समृद्ध बनाने के स्थान पर कगाल बनाएँगे। इस से भाषा की उन्नति होगी या अवनति? कहा जाता है कि फारसी और संस्कृत के स्थान पर हिंदुस्तानी भाषा मे अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दो और महावरों से काम लिया जाय। विचार करने की परिस्थिति है, कि उर्दू का फारसी-अरबी से और हिंदी का संस्कृत से तो कुछ संबध है भी लेकिन हिंदुस्तानी भाषा से अंग्रेजी का क्या संबध है, और इस प्रकार जो भाषा बनेगी उस की शुद्धता, और माधुर्य का क्या परिणाम होगा? संसार की मान्य भाषाओं के बीच इस का कौन-सा और कहाँ स्थान होगा? जो मित्र हिंदुस्तानी के समर्थन मे लेख लिखते है वह भी हिंदी या उर्दू मे हट कर अभी तक हिंदुस्तानी भाषा का कोई उदाहरण नही प्रस्तुत कर सकते। अधिक से अधिक प्रयत्न यह हुआ है कि "जरूरत ईजाद की माँ है"—सो इस मे भी 'ईजाद' फ़ारसी है। 'मेरी चिट्ठी' और 'खडी कमेटी' भी कुछ अखबार वाले लिखने लगे है। लेकिन यह तो, साहब, भाषा का बनाना नही, उस की हत्या करना है। मुंशी प्रेमचंद साहब ने 'ज़माना' पत्रिका मे अपने एक लेख में लिखा है कि जब अंग्रेज़ी के महावरे और पारिभाषिक शब्द प्रचलित हो जायँगे और हमारे कान उन से परिचित हो जायँगे तो वह अनोखे न मालूम होंगे, जिस तरह कि अब कटे हुए बाल और पायजामा और अचकन के साथ हैट बुरे नही मालूम होते। मैंने भी कुछ नवीनता के प्रेमी नवयुवकों को गरारेदार पायजामा, मलमल का कुरता, ऊपर से अंग्रेज़ी कोट और हैट पहने देखा है, परंतु मुझे वह इतना रुचिकर नहीं जान पडता।

वस्तु यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है परंतु आज तक कम से कम मैंने किसी को गंभीर बातचीत में यह प्रस्ताव प्रस्तुत करते नहीं सुना कि गरारादार पायजामा, कुर्ता, अचकन या कोट और उस के साथ हैट हमारी जातीय वेशभूषा निश्चित की जाय, वरन् ऐसी सभाओं और समाजों में जहाँ शिष्टता का ध्यान रक्खा जाता है, ऐसे व्यवहार पर उँगलियाँ उठती ही देखी हैं। रहे कटे हुए बाल, सो कदाचित् मुंशी प्रेमचंद साहब को मालूम नहीं कि विलायत मे अब फैशन बदल गया। अब तो लंबे बाल और नीचा साया ही पसंद किया जा रहा है। अब तक इस के संबंध मे जो कुछ कहा गया, उस से तात्पर्य यह था कि उर्दू और हिंदी की जगह हिंदुस्तानी भाषा प्रचलित करने का विचार भाषा की उन्नति और विकास की दृष्टि से उचित नहीं। दूसरा प्रश्न यह है कि ऐसा करना या ऐसा होना व्यावहारिक दृष्टि से संभव भी है? क्या हिंदुओं की बड़ी संख्या हिंदी को छोड़ने, और मुसलमानों का बड़ा दल उर्दू को नमस्कार करने के लिए तैयार है? पिछले चालीस वर्ष मे एक भाषा के प्रचार के आंदोलन ने कितनी सफलता प्राप्त की है? क्या इस आंदोलन का यह परिणाम नहीं हुआ कि प्रत्येक पक्ष अपनी ही भाषा के प्रचार करने और उस की उन्नति और प्रचार मे अधिक तुल गया, तो अब किस तरह आशा की जाती है कि हिंदुस्तानी के प्रचार का विचार 'नक्कार खाने मे तूती की आवाज़' से अधिक महत्व रक्खेगा। अगर इसे मान भी लिया जाय कि हिंदुस्तानी के प्रचलित करने पर एक बड़ा दल स्वीकृति भी दे देगा तो इस के लिए लिपि कौन-सी प्रस्तावित की जाती है?—फारसी या नागरी? क्या उर्दू वाले फारसी लिपि को छोड़ कर नागरी के ग्रहण करने पर तैयार हो जायँगे या हिंदी वाले फारसी पर। यदि नहीं तो क्या रोमन या लैटिन लिपि ग्रहण की जायगी? क्या यह उचित या संभव है? मुझे मालूम है कि हाल मे टर्की में मुस्तफा कमाल ने शासन और क़ानून के ज़ोर से पहनावे मे हैट और लिखने के लिए लैटिन लिपि निर्धारित कर के प्रचलित कर दी है। प्रथम तो पता नहीं कि इस क्रांति का आगे चल कर क्या हाल होगा। इस के अतिरिक्त इस शासित जाति मे तो किसी मुस्तफा कमाल के प्रकट होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जहाँ तक मेरी विनम्र मति काम करती है, मेरे विचार मे तो इस देश मे न एक भाषा की आवश्यकता है, न हिंदी और उर्दू के स्थान पर हिंदुस्तानी प्रचलित करना उचित है। न उन तीनों मे से किसी एक का भी सारे देश की भाषा निर्धारित किया जाना, वर्तमान वातावरण को देखते हुए व्यवहार-संभव है।

मैं ने इस लेख के आरंभ में यह निवेदन किया था कि इस प्रश्न के दो पक्ष हैं, एक केवल राजनैतिक और दूसरा साहित्यिक। राजनैतिक पक्ष के संबंध में मुझे जो कुछ निवेदन करना था निवेदन कर चुका। अब संक्षेप में कुछ साहित्यिक पक्ष के विषय में निवेदन करूँगा। नए युग के शिक्षित समाज में, कुछ समय से इस बात का अनुभव किया जा रहा है कि उर्दू और हिंदी दोनो में कठिन अरबी, फारसी और संस्कृत शब्दो की भरमार कर के उन्हें व्यर्थ क्लिष्ट बनाया जा रहा है, यद्यपि आवश्यकता इस बात की है कि दोनो भाषाओं को जन-साधारण के समझने योग्य और सरल बनाया जाय। इस दृष्टि से दोनो भाषाओ में शीघ्र ही सुधार होने की आवश्यकता है। यह विचार ऐसा है कि कदाचित् ही किसी को इस में मतभेद हो। भाषा को जन-प्रिय बनाने के उद्देश्य से यह आंदोलन अत्यंत शुभकर है और मैं इस से पूर्णतया सहमत हूँ। परंतु यह प्रयत्न उसी समय सफल हो सकता है जब कि इस को देश में एक भाषा प्रचार के उद्योग या एक लिपि प्रचलित करने के प्रोपेगैंडा से बिल्कुल अलग रक्खा जाय और इस पर राज-नैतिक उद्देश्य और कट्टरपन का किसी प्रकार का संदेह भी न हो सके। नहीं तो यदि इसे इस जातीय और राजनैतिक झगडे से मिला दिया गया तो इस का भी वही परिणाम होगा जो उर्दू, हिंदी या हिंदुस्तानी के विषय में हो रहा है। इस प्रयत्न में दो ओर से कठिनाइयों का सामना होगा। एक तो मौलवी और शास्त्री साहबो की तरफ से, जो उर्दू और हिंदी में अरबी और संस्कृत शब्दों को व्यर्थ ही ठूँस कर उन्हें क्लिष्ट बनाते हैं। यह लोग भी अपनी मनोवृत्ति और स्थिति से विवश हैं—सारे जीवन की आदतें छुड़ाई नहीं जा सकतीं। दूसरा भय जिस की चर्चा कम होती है अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे नवयुवको की तरफ से है कि जिन की जिह्वा पर अंग्रेजी शब्द, मुहावरे और पारिभाषिक शब्द चढ़ गए हैं और वह उन का व्यवहार न केवल नित्य-प्रति की बोलचाल वरन् गंभीर भाषण और लेखो में भी बुरी तरह करते हैं—एक ही वाक्य में आधे शब्द उर्दू या हिंदी के और आधे अंग्रेज़ी के लिखना उन का अभ्यास हो गया है। यदि हमें अपनी भाषा को सरल और जन-साधारण के लिए सुबोध बनाना है और हम चाहते हैं कि साहित्यिक और सभा-समाजों की दृष्टि से भी हमारी भाषा की प्रतिष्ठा दुनिया की और भाषाओं में अपेक्षाकृत कम न हो तो इन दोनों भयो से हमें बचना चाहिए। उन का विस्तार से वर्णन नीचे किया जाता है। बीसों शब्द अंग्रेज़ी के अब ऐसे व्यवहृत होने लगे हैं और दोनो भाषाओं में खप गए हैं कि प्रत्येक

व्यक्ति उन को समझता है। परन्तु हमारे यहाँ के साहित्यिक उन के लिए व्यर्थ अरबी और संस्कृत शब्द ढूँढ कर निकालते हैं और उन के प्रचार का प्रयत्न करते हैं। 'एडीटर' के लिए 'मदीर'; 'नोटिस' के लिए 'गुजरात' या 'मुलाहजात' ; 'थर्मामीटर' के लिए 'मक़यामुल्हरारत'; 'वायरलेस' के लिए 'लासिल्की तार बर्क़ी' ऐसी उपज की बाते हैं कि जिन से भाषा को लाभ होना तो अलग, हानि होती है। इसी तरह सीधे-सादे उर्दू और हिंदी शब्दों को जो चिरकाल से प्रचलित हैं और जो भाषा में खपे हुए हैं, अब त्याग कर के उन के स्थान पर अब फ़ारसी, अरबी या संस्कृत के नए-नए शब्द गढ़े जा रहे हैं——जैसे 'इन्तेहाल' 'फ़ौत होने' (मरने) के अर्थ है, 'तालिब इल्मों' (विद्यार्थियों) की जगह 'तल्मानीन', 'हवाई जहाज' के स्थान पर 'तय्यारह' इत्यादि। ऐसे आविष्कारों से भाषा को गर्हित करने से क्या लाभ हो सकता है। यह केवल उर्दू के साहित्यिकों का ही दोष नहीं। हिंदी वाले भी यही करते हैं। 'जल्दी' की जगह 'शीघ्र', 'पानी' की जगह 'जल', 'आदमी' के लिए 'मनुष्य'; 'अर्जी' के स्थान पर 'प्रार्थना' इत्यादि अंकित करते हैं। जहाँ किसी नए विचार या परिभाषा के लिए साधारण शब्द न मिले वहाँ तो नया और क्लिष्ट शब्द भी विवश हो कर व्यवहार करना ही पड़ेगा, परन्तु यह बलात्कार जिन की ऊपर चर्चा की गई है ऐसे हैं कि जिन के लिए कोई बहाना नहीं। उर्दू के साधारण बहुवचन बनाने के ढंग को छोड़ कर अरबी या फ़ारसी की रीति से काम लेना भी कम आपत्तिजनक नहीं। इसी प्रकार हमारे पुराने इमला का ढंग भी संशोधनीय है। यह संशोधन कठिनाई से प्रचलित होगा——परंतु मेरी विनीत सम्मति में हमारा पुराना ढंग संशोधनीय है। 'मसाला' مسالا अत्यंत साधारण शब्द है, उस को 'मसाल्ह' مصالح लिखना कम से कम आज कल के ज़माने में तो व्यर्थ है। साधारण आदमी के लिए तो शब्द का समझना ही कठिन हो जायगा। इसी प्रकार زمانہ की जगह زمانا और بالکل के स्थान पर بلکل क्यों न प्रचलित किया जाय ? यदि कुछ प्रतिष्ठित मित्र जो भाषा के सुधार के उचित रूप से समर्थक समझे जायँ एकत्र हो कर इस के लिए नियम बना दें तो इमला के सुधार का रास्ता भी खुल सकता और साफ़ हो सकता है। इस संबंध में मुझे हाल का एक विवाद स्मरण आता है जिस की चर्चा कर देना भी अनुचित न होगा। हिंदुस्तानी एकेडेमी के तिमाही रिसाले के जारी होने पर उस के 'तिमाही' शब्द के प्रयोग पर, उर्दू के साहित्यिकों के दायरे में इस की बड़ी ले-दे, हुई, लेकिन समझ में न आया कि

क्यो 'दरबार-अकबरी' में स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद हुसैन साहब आजाद ने तिवारा का शब्द एक जगह नहीं वरन् दस जगह व्यवहार किया है। किसी को यह कहते नही सुना कि शब्द या उपयोग अशुद्ध है। तो फिर आखिर तिमाही से क्या प्रलय होता है? इस के अतिरिक्त छमाही का शब्द उर्दू मे अविकल रूप से चलता है। मेरी समझ मे इस प्रकार के विवादो से समय नष्ट होने के अतिरिक्त उर्दू का नाम बदनाम होना है। इसी के साथ यह भी कम आपत्तिजनक नहीं कि उर्दू या हिंदी मे शब्दों के होते हुए उन की जगह व्यर्थ अंग्रेजी शब्द ठूँसे जायँ या अंग्रेजी के मुहावरो और पारिभाषिक शब्दो का शाब्दिक अनुवाद किया जाय जो भाषा में किसी प्रकार न खप सके। आदरणीय पंडित मनोहरलाल जुत्शी साहब के उस निबंध का अंतिम भाग जो उन्हों ने हाल ही मे कानपुर की 'जमाना' पत्रिका मे प्रकाशित कराया है, यहाँ पर उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा। पंडित साहब कहते है—"मैं इस बात से सहमत हूँ कि यूरोप के नए-नए आविष्कारो के साथ जो फिरंगी शब्द हमारी भाषा मे आ रहे है उन से भागना नीति के विरुद्ध होगा, और उन की जगह उन मे अधिक क्लिष्ट और अपरिचित अरबी या संस्कृत शब्द ठूँसना भाषा के पक्ष मे अच्छा नही। 'थर्मामीटर' को 'मकयासुल्हरारत' से अधिक लोग समझते है और अधिक सहज मे उच्चारण कर सकते है। कहा जाता है कि हैदराबाद-दकन के अनुवाद-मंडल (दारुल्तरजुमा) में अरबी का बडा जोर है और वहाँ की पुस्तको मे उर्दू को अरबी-गर्भित किया जा रहा है। यदि यह सच है तो यह प्रयास प्रशंसनीय नही है। इस से बचना चाहिए। हाँ, एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है, वह यह कि मनुष्य की भाँति भाषा की मनो-वृत्ति भी होती है। सुरुचि इसे जान लेती है और इस के विरुद्ध नही चलती। 'स्टैंडिंग कांग्रेस कमेटी' का अनुवाद 'खड़ी कांग्रेस कमेटी' या 'डेड लेटर आफिस' को 'मरी चिट्ठी का दफ्तर' कहना भाषा की गर्दन को कुठित छुरी से रेतना है। कुछ शब्द ऐसे है, जो जैसे के तैसे दूसरी भाषा से ले लिए जाते है, जैसे कोट, कुछ ऐसे है जिन मे किंचित् परि-वर्तन की आवश्यकता है जैसे पतलून। जो लोग भाषा के अधिकारी होने का दावा करते है और भाषा की उन्नति तथा सुधार के लिए उद्योग-शील है, उन्हे इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए। भाषा को विस्तार अवश्य दिया जाय, काट-छाँट का द्वार अवश्य खुला रहे, नए शब्द अवश्य ग्रहण किए जायँ, मगर जो कुछ हो सुरुचि के आधीन हो। नासमझी, ज़िद और दलबंदी को इस मे प्रवेश नही पाना चाहिए।"

इस संपूर्ण विवाद का सारांश यह है कि चाहिए तो यह था कि भाषा के प्रश्न पर केवल साहित्यिक दृष्टि से देखा जाता और समय की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर सुधारों को प्रस्तुत कर के भाषा की उन्नति का प्रयत्न किया जाता। लेकिन हो यह रहा हैं कि इस प्रश्न को राजनैतिक झगड़ों में डाल कर दलबंदी का जोश उभारा जाता है जिस से उर्दू और हिंदी का विज्ञापन तो अवश्य हो रहा है लेकिन साहित्यिक भाषा के सुधार और उन्नति में संदेह है। जहाँ तक सम्मिलित जातीयता का प्रश्न है, यह तो यथार्थ है कि जिन देशों में धर्म, भाषा, वेश-भूषा और खान-पान की एकता प्राप्त है वहाँ सम्मिलित जातीयता की आकांक्षाओं की पूर्ति में इन से सहायता मिलती है, लेकिन यह विचार अशुद्ध है कि यह तत्व सम्मिलित जातीयता के विचार की पूर्ति के लिए अनिवार्य और आवश्यक हैं। आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के युग में राजनैतिक व आर्थिक उद्देश्य व आवश्यकताएँ ही वास्तव में जातियों को एक सूत्र में बाँधती है। सारे संसार में यही हुआ है और हो रहा है। यही हिंदुस्तान में भी हो कर रहेगा। इस के लिए उर्दू या हिंदी को सारे देश की भाषा निर्धारित करने का विचार न आवश्यक है न उपयोगी। इस से तो देश की वर्तमान बिगड़ी हुई परिस्थिति में और भी अधिक उलझन उत्पन्न होती है। हिंदू और मुसल्मानों में मेल उत्पन्न करने का इस संबंध में कोई उपाय हो सकता है तो वह यह है कि हमारे स्कूलों में आरंभ से ही उर्दू और हिंदी की शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय, और जहाँ तक साहित्यिक भाषा के सुधार और उन्नति का प्रश्न है, उर्दू और हिंदी दोनों को क्लिष्ट बनाने के स्थान पर सरल और जन-साधारण के समझने के योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाय। मेरे विचार में यह महत्वपूर्ण कार्य हमारे प्रांत की हिंदुस्तानी एकेडेमी उत्तम रीति से पूरा कर सकती है। यही एक संस्था ऐसी है जो साहित्यिक दृष्टि से इस की अधिकारिणी है, और इस में जातीय कट्टरता या दलबंदी के जोश का संदेह भी नहीं हो सकता। मैं आशा करता हूँ कि इस एकेडेमी के उत्तरदायी सज्जन इस ओर ध्यान दें। मैं ने जो कुछ इस विवाद के संबंध में निवेदन किया है, मुझे मालूम है कि कुछ सज्जनों को वह रुचिकर न प्रतीत होगा। मैं इस के लिए क्षमा चाहता हूँ और आशा करता हूँ कि यह समझ कर कि जो कुछ कहा गया है केवल सद्भाव से कहा गया है वह मुझे क्षमा करेंगे।[१]

---

[१] हिंदुस्तानी एकेडेमी के पिछले सम्मेलन में पढ़े गए उर्दू निबंध का अनुवाद।

दिल्ली के सुल्तानों के युग में उमराव वर्ग

[लेखक—डाक्टर बनारसीप्रसाद सक्सेना, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०]

मध्ययुग की राजनैतिक व्यवस्था पर एक साधारण दृष्टि डालने से यह मालूम हो जाता है कि यह तीन वर्गों या श्रेणियों में बँटी हुई थी। प्रथम तो सुल्तान और उस के वंशज, दूसरे अमीरगण या उमराव, तीसरे उच्च और साधारण श्रेणी के अधिकारी। सच तो यह है कि दिल्ली की सल्तनत के इतिहास में सुल्तान, और विशेष कर ऐसे जो इस पदवी के वास्तविक अधिकारी हैं, उन चमकदार सितारों और नक्षत्रों की भाँति हैं जो उदय हो कर, थोड़े काल तक लोगों को आश्चर्य में डाल कर लोप हो जाते हैं। इस में संदेह नहीं कि कुतबुद्दीन ऐबक, शम्शुद्दीन इल्तुतमिश, गयासुद्दीन बल्बन, अलाउद्दीन खिल्जी, मुहम्मद तुगलक, सिकंदर लोदी ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति हैं जिन की कृतियाँ कभी मिटने वाली नहीं। परंतु तीन सौ वर्ष के लंबे काल में यह पाँच या छः मील मार्ग के स्तंभों से अधिक अस्तित्व नहीं रखते। इस के अतिरिक्त यह लोग भी तो अमीरी से ही उन्नति कर के सिंहासन तक पहुँचे थे। अतएव यद्यपि सल्तनत का क्रम बनाए रखने का श्रेय उन्हें है, फिर भी वह इस अर्थ में नहीं कि वह सुल्तान थे वरन् इस दृष्टि से कि वह अमीर थे, और ऐसे अमीर कि जिन्हों ने बड़े-बड़े काम कर दिखाए, यहाँ तक कि सुल्तान की पदवी के योग्य प्रमाणित हुए।

वर्तमान युग के इतिहासकारों का मध्ययुग के ऐतिहासिक ग्रंथों के प्रति यह आरोप है कि यह जनता के हाल से खाली है। जनतावाद की उठती हुई लहर को देखते हुए यह आरोप किसी सीमा तक उचित समझा जा सकता है, परंतु मध्ययुग की परिस्थिति देखते हुए, यह अनावश्यक है, जब कि राजनैतिक बातों में जनता का कोई अधिकार न था, जब कि प्रत्येक प्रकार के कानून की पाबंदी करना उन का कर्तव्य था और अधिकारियों की आज्ञा का पालन उन की वृत्ति थी। फिर भला यदि इतिहासकारों ने उन के हाल को छोड़ दिया तो उस में शिकायत की क्या बात है? आश्चर्य तो यह है कि उमराव

वर्ग के महत्व को समझते हुए भी इतिहासकारों ने इन के वर्णन लिखने में बहुत ही संक्षेप से काम लिया है। वास्तव में मध्ययुग का इतिहास अमीरों की कृतियों से भरा-पूरा होना चाहिए था, न कि सुल्तानों के वर्णन से, क्योंकि वास्तव में अमीर ही वह लोग थे जिन्हों ने सल्तनत की नींव को दृढ़ बनाया। यह सल्तनत के मुख्य लोग कहलाते थे। इन में और सुल्तान में कारण और कार्य का संबंध था।

अतएव उमराव वर्ग के विधान, उस के संगठन, उस के राजनीति पर प्रभाव और उस की आर्थिक व सांस्कृतिक महत्ता के संबंध की चर्चा मनोरंजन से शून्य न होगी। परंतु इस से पूर्व कि इन प्रश्नों पर कोई विशेष प्रकाश डाला जाय, यह बताना आवश्यक जान पड़ता है कि अलग-अलग इस वर्ग के लोग समान प्रतिष्ठा के नहीं थे। बहुतों ने तो अपने जीवन का आरंभ गुलामी या दासता से किया था, और धीरे-धीरे उन्नति कर के उच्च पद तक पहुँच गए थे। परंतु बहुधा ऐसा भी होता कि अन्य देशों के शहजादे गरीबी या हीनावस्था से ऊब कर हिंदुस्तान में शरण लेते। जब सुल्तान को पता चलता, तो वह उन को उमराव वर्ग में ग्रहण कर लेता था। इस के अतिरिक्त जब कभी कोई फौजी सरदार अपनी शक्ति से सिंहासन का मालिक बन बैठता तो अवसर के अनुकूल वह अपने संबंधियों और मित्रों को अमीर बना देता था।

उस काल में सुल्तान की इच्छा बिना कोई अमीर नहीं बन सकता था। कारण यह कि इस प्रतिष्ठा के लिए फौजी पद का होना नितांत आवश्यक था। इस पद को प्रदान करना या न करना केवल सुल्तान के मत पर अवलंबित था। इस के संबंध में एक और मनोरंजक बात है, और वह यह कि कोई व्यक्ति फौजी पद पर नियुक्त हो गया है इस कारण वह फौजी कार्य भी करे, आवश्यक न था। सरकारी कर्मचारी और विशेष कर ऐसा जिस का कि कुछ मान और प्रतिष्ठा भी हो, वही होता था कि जो फौजी नौकरी में प्रवेश कर चुका हो। नियम के अनुसार यह पद निजी होते थे न कि वंश-गत। यह अनिवार्य न था कि किसी अमीर का बेटा अपने पिता के पद या स्थान को पा ही ले। यह दूसरी बात थी कि किसी अमीर की सेवाओं से प्रसन्न हो कर कोई सुल्तान किसी व्यक्ति को उस के पिता के स्थान और पद पर नियुक्त करे। परंतु इसे सुल्तान की कृपा कहते थे, जिस का कि कोई हक या सहज अधिकार उस व्यक्ति को न था। उस काल में 'हक' या अधिकार शब्द कोई अर्थ नहीं रखता था। अतएव सुल्तान को पूरी स्वतन्त्रता थी

कि किसी अमीर को उस के पद से पृथक् कर दे और उस की सपूर्ण सपत्ति, वह चाहे चल हो चाहे अचल, ग्रहण या जप्त कर ले। अमीरो को ऐसी अवस्था मे तनिक भी आपत्ति करने का अवसर न था। इस काल मे अमीर चार क्रमागत श्रेणियो मे विभक्त थे। प्रथम श्रेणी का अमीर 'ख़ान' कहलाता था और उन मे से सब मे उच्च का पद 'उलुग ख़ाने-आज़म' होता था। दूसरी श्रेणी के अमीर 'मलिक' कहलाते थे। और तीसरी श्रेणी के 'अमीर' नाम से पुकारे जाते थे। उन के बाद फ़ौजी अफसरो का नबर आता था, जैसे 'सिपहसालार', 'सरख़ैल' इत्यादि। प्रत्येक श्रेणी पद, उपाधि, और स्थान के अनुकूल निश्चित होती थी। उपाधियो का कोई अंत न था। प्रत्येक सुल्तान अपनी इच्छा के अनुसार आविष्कार कर लेता था, जैसे 'ख़्वाजा-जहाँ', 'ख़ाने-जहाँ', 'ख़ानेख़ाना', 'कद्र ख़ाँ', 'इमादुल्मुल्क', 'क़वामुल्मुल्क', 'निज़ामुल्मुल्क', 'आज़मुल्मुल्क', 'क़तलग ख़ाँ', 'उलुग ख़ाँ', 'सद्र-जहाँ' इत्यादि, इत्यादि।

संगठन की दृष्टि से अमीर तीन प्रकार के होते थे। प्रथम वह जिन को यह पद परपरा से प्राप्त था। दूसरे वह जो तत्कालीन सुल्तान द्वारा बनाए गए होते थे, और तीसरे वह जो नीचे दर्जे से धीरे-धीरे उन्नति कर के इस पद तक पहुँच गए थे। सुल्तानो के शासन-काल के आरभ मे तीसरे प्रकार के अमीरो की सख्या प्रथम दो की अपेक्षा अधिक थी। कारण यह कि शासकों को अपने गुलामो पर पूरा भरोसा था। वह उन की शिक्षा और संस्कृति के लिए उचित प्रबध करते थे और यथासभव उन के आराम का ध्यान रखते थे। उन्ही गुलामों में से जो होनहार होते वह उन्नति कर जाते थे। और स्वामी पर जान निछावर कर देने के लिए सदा कमर कसे रहते थे। मुहम्मद गोरी ने जो आचरण अपने गुलामो के साथ किया वह लोक-प्रसिद्ध है। इन गुलामो ने भी अपनी क़ुर्बानियो से अपने मालिक की प्रतिष्ठा को बनाए रक्खा।

परतु गुलामो को अमीर बनाने का नियम सल्तनत के पहले भाग में ही जोरो पर था। जब सिंहासन पर बैठने के बाद क़ुतुबुद्दीन ऐबक को अपना पद दृढ करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ तो उस ने पहले तो मुहम्मद गोरी के अवशिष्ट अफसरो के साथ सुलह कर के उन्हे अपना विश्वासपात्र अधीन बनाया। फिर उस ने और बहुत से अमीर बनाए जिन मे अधिकतर गुलाम थे। ऐसे अमीरों का एक सजीव उदाहरण इल्तुतमिश है। नियम यह था कि जिस गुलाम को अमीर बनाना होता था उसे स्वतन्त्र

कर के फिर उस के अधिकार में प्रदेश या अधिकार या सिपहसालारी कर देते थे संभव है कि आराम, जिस को कि अंत में सुल्तान का इतना सामीप्य प्राप्त हो गया, आरंभ में गुलाम ही रहा हो। परंतु इस का कोई समुचित प्रमाण नहीं मिलता। जब कुतुबुद्दीन के बिना संतान के मरने पर सिंहासन पर बैठने का और उत्तराधिकार का प्रश्न उठा तो लाहौर में तो कुछ अमीरों ने आराम का साथ दिया परंतु दिल्ली में सिपहसालार इस्माइल अमीरदाद ने इल्तुतमिश को बदाऊँ से बुला कर सिंहासन पर बिठाया। लेकिन क़ुतुबी और मुइज्ज़ी अमीरों ने उस का घोर विरोध किया। यहाँ तक कि विवश हो कर इल्तुतमिश को युद्ध करना पड़ा। कुछ तो दिल्ली के आस-पास मारे गए, शेष जो आराम के पक्ष में लाहौर में बढ़े आ रहे थे, सुल्तान ने उन्हें भी विनष्ट कर दिया।

कुतुबी और मुइज्ज़ी अमीरों के विनाश से इल्तुतमिश की बहुत-सी कठिनाइयाँ सहज हो गईं। अब उस को पूरी स्वतंत्रता थी कि अपने मनमाने अमीर बनाए। अतएव उस ने किया भी ऐसा ही। अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से वह इस विचार से कि बादशाह के ताज की प्रतिष्ठा अमीरों से ही होती है, इल्तुतमिश ने एक नए वर्ग का संगठन किया जिस में कि उस ने चालीस चुने हुए गुलामों को सम्मिलित किया और उन को 'चहलगान' के नाम से प्रसिद्ध किया। हिंदुस्तान के इतिहास में यह पहला अवसर था जब कि किसी शासक ने केवल गुलामों को ही सल्तनत में प्रतिष्ठा दी हो। इस में संदेह नहीं कि इल्तुतमिश का प्रधान वज़ीर निजामुल्मुल्क कमालुद्दीन अबू सईद जुनैदी व अन्य उच्च अधिकारी जैसे मलिक फीरोज शहज़ादा ख्वारज्म व मलिक जलालुद्दीन शहज़ादा तुर्क गुलाम न थे, मगर वास्तव में सुल्तान ने अपनी शक्ति का आधार गुलामों को ही बनाया। उस की मृत्यु के तीस वर्ष बाद तक यही 'चहलगान' सल्तनत के धंधे को चलाते रहे। जो-जो कार्य इन्हों ने किए उन का विस्तृत वर्णन 'तबकाते-नासरी' में अंकित है। परंतु गयासुद्दीन बल्बन के राज-सिंहासन पर बैठने के बाद से 'चहलगान' का प्रभाव कम हो गया। उस ने उन के दल को उलट-पलट दिया और उमराव के संबंध में उस ने एक नई नीति का अवलंबन किया जिस का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि कोई ऐसा व्यक्ति अमीर न बनाया जाय जो अच्छे वंश का न हो। यह नीति इस बात की सूचना देती है कि बलबन के राज-पद पाने से पूर्व उमराव वर्ग में कुछ ऐसे लोग प्रविष्ट हो गए थे जिन के दुष्कार्यों के कारण शाही प्रतिष्ठा में ह्रास हो रहा था। रैहान ने जो कुछ बलबन के साथ उपकार

किया था उस की याद उसे भूली न थी इस के अतिरिक्त 'चहल्गानं' वर्ग में दोष उत्पन्न हो गए थे। उन के बीच ईर्ष्या और द्वेष की आग इतने वेग से भड़क रही थी कि वह स्वयं उस से भस्म हुए जा रहे थे। अब यह सल्तनत का भार सँभालने के योग्य नहीं थे और भय था कि कहीं इन की विरक्तता के कारण राजनैतिक विधान का सूत्र छिन्न-भिन्न न हो जाय। बलबन भला ऐसी स्थिति को कहाँ सहन कर सकता था? अतएव उस ने यह निश्चय कर लिया कि इस वर्ग को कूड़े-करकट में मुक्त कर दे। उस ने इस कार्य को अत्यंत साहस से पूरा किया। उस ने अपने वज़ीरों को ताकीद की कि किसी हालत में भी वह सरकारी नौकरी के लिए किसी नीच श्रेणी के व्यक्ति को न प्रस्तुत करें। एक बार की घटना है कि सुल्तान ने अपने वज़ीरों से कहा कि वह एक ऐसा आदमी ढूँढ लाएँ जो कि अमरोहा के शासन के योग्य हो। उस समय मलिक अल्लाउद्दीन कशली ख़ाँ अमीर हाजिब था और मलिक निज़ामुद्दीन बुज़गाला वकीलदार। इन लोगों ने कमाल महयार को चुना और अमरोहा के शासन के लिए उस को सुल्तान के सामने प्रस्तुत किया। जिस समय कमाल महयार पृथ्वी चूम रहा था, बलबन ने कर्मचारियों से कहा कि उस से महयार शब्द का अर्थ पूछें। उस ने उत्तर दिया कि महयार मेरे पिता का नाम है। वह वास्तव में एक हिंदू गुलाम था। यह सुनना था कि सुल्तान आग बगूला हो गया। उस ने तुरत दरबार समाप्त किया और अपने वज़ीरों को एकांत में बुला भेजा। उन की भर्त्सना करने के उपरांत कहा—"तुम लोगों को मालूम नहीं है, कि मैं अफरासियाब के वंश से हूँ। अल्लाह तआला ने मेरे मन में यह विशेषता उत्पन्न की है कि मैं किसी नीच-कुल के आदमी को सरकारी पद पर नहीं देख सकता हूँ। जिस समय मेरी दृष्टि किसी ऐसे मनुष्य पर पड़ जाती है जिस का वंश ठीक न हो, तो क्रोध से मेरा शरीर काँप जाता है, फिर भला मुझे यह बात कब सह्य हो सकती है कि मैं किसी नीच और कुल-रहित व्यक्ति को सरकारी पद पर प्रतिष्ठित करूँ।" यही सिद्धांत उस ने अपने पुत्र बुगरा ख़ाँ के मन में अंकित करना चाहा परंतु इस में उस को समुचित सफलता न मिली। फिर भी जहाँ तक संभव था, अपने राज्य-काल में उस ने उमराव वर्ग को एक नए साँचे में ढाला। भाग्य को क्या करता कि पोते कैकुबाद ने अपने बाबा की की-कराई मेहनत नष्ट कर दी। इसी कारण न केवल सिंहासन वरन् जान से भी हाथ धोए।

बलबन वंश के पतन के अनंतर एक नए वंश का उदय हुआ जिस का नेता जला-

लुद्दीन फीरोज़ खिलजी या सिंहासन पर बैठने से पूर्व बहुत समय तक वह ग़यासुद्दीन की सेवा में रह चुका था। धीरे-धीरे उस ने अपना एक दल बनाया। सीमा-प्रांतीय सूबों की रक्षा का काम बलबन ने उसे सौंप रक्खा था। बरनी का कथन है कि जलालुद्दीन ने शासन-काल के कर्तव्यों को ऐसी वीरता व साहस से पूरा किया कि मुग़ल उस का लोहा मान गए। चूँकि उस का एक पैर हर समय दूर देशों में रहा करता था, इस लिए उस के पास एक अच्छी सेना भी सदा मौजूद रहती थी। बहुत संभव है कि उस की सेना के अधिकतर सिपाही उस के स्वजातीय हों क्योंकि उस काल में फ़ौजी नौकरी वर्गगत हुआ करती थी। प्रत्येक अमीर अपनी जाति या वर्ग के लोगों को फ़ौज में भरती कर लिया करता था। यह कहना असत्य न होगा कि जलालुद्दीन ने अपने वर्गीयों की सहायता से ही सिंहासन प्राप्त किया। नियमानुसार उस को भी नए उमराव की आवश्यकता हुई। प्रथम तो उसे अपना दल दृढ़ करना था, दूसरे यह कि पुराने अमीरों पर विश्वास करना भय से रहित न था। अतएव पहले तो उस ने अपने बेटों और भतीजों को उच्च उपाधियों से विभूषित किया। जैसे अपने सब से बड़े लड़के को ख़ानख़ाना, दूसरे को अरकली ख़ाँ और तीसरे को क़द्र ख़ाँ की पदवी प्रदान की। अपने भाई युग़रश ख़ाँ और अपने दो भतीजों में से अलाउद्दीन को तो अमीर तुज़ुक बनाया और दूसरे उलुग़ ख़ाँ को आख़ोर बक के पद पर स्थापित किया। जलाली युग के उच्च पदाधिकारियों की सूची के देखने से मालूम होता है कि उन में से कुछ तो पुराने लोग थे, जैसे वज़ीर ख़्वाजा ख़तीर, अहमद चप नायब बारबक इत्यादि, और कुछ नए भी थे। इस के अतिरिक्त एक और बात ध्यान देने योग्य है, वह यह कि इस समय से हिंदी उत्पत्ति के उमराव की संख्या में भी वृद्धि होने लग गई। बहुत प्रयत्न कर के भी बलबन इस प्रगति को न रोक सका, क्योंकि ज़ियाउद्दीन बरनी का नाना सिपहसालार हिसामुद्दीन जो कि संभवतः हिंदी था बलबन का वकीलदार और बारबक था। जलाली काल के आरंभ में भी मलिक नसीरुद्दीन कुहरामी, मलिक कुतुबुद्दीन कैथिली, मलिक ताजुद्दीन कुहरामी, मलिक ताजू, मलिक हिरनमार, जो कि क्रमशः उन्नति कर के इन पदों तक पहुँचे थे, निस्संदेह हिंदी थे। इस सुल्तान के दरबार में हर प्रकार के लोग उपस्थित थे। तुर्की, हिंदी और ख़िलजी। यद्यपि बरनी ने ख़िलजी अमीरों की कोई अलग सूची नहीं दी परंतु जिस प्रकार से वह 'उमराय ख़िल्ज' यह वाक्यांश व्यवहार करता है, उस से यह प्रकट

है कि उन की संख्या पर्याप्त थी। वह लिखता है— "सम्राट् जलालुद्दीन ने राजकीय ठाट-बाट में सरकारी कार्यकर्ताओं, खिलजी अमीरों, जिस समय केवल 'मलिक' था उस समय के मित्रों, राज्य के शुभचिंतकों और सहायकों के साथ शहर में प्रवेश किया।"[1]

वृद्ध बादशाह के काँपते हुए हाथों में राज्यदंड का अधिक समय तक रहना कठिन था। अतएव शीघ्र ही उस के विश्वस्त और प्रिय भतीजे अलाउद्दीन ने छिपे-छिपे षड्यंत्र कर के अपने वृद्ध संरक्षक को इस असार संसार से परलोक भेज दिया, और स्वयं मुकुट और सिंहासन का अधिकारी बन बैठा। सुल्तान अलाउद्दीन की कुटिल दृष्टि पहले-पहल अमीरों के वर्ग पर पड़ी। उस ने विद्रोही लोगों को तलवार के घाट उतार शेष को अपना अधीन बनाया। जिन जलाली अमीरों ने घूस ले कर अपने मालिक के साथ विश्वास-घात किया था, उन के सिर शरीर से अलग कर दिए गए। सुल्तान अलाउद्दीन ने अमीरों के एक बिल्कुल नए वर्ग की रचना की। यदि 'तारीख-फीरोजशाही' में दी हुई सूचियों का आपस में मिलान किया जावे तो यह स्पष्ट प्रकट होगा कि अलाउद्दीन के अमीरों में ऐसों की संख्या बहुत कम है जो कि पिछले शासन-काल में इस पद पर आसीन थे। इस के साथ-साथ इस में भी संदेह नहीं कि इस के शासन-काल में हिंदी उत्पत्ति के अमीरों ने बहुत ज़ोर बाँधा। अलाउद्दीन वाली सूची में कम से कम सात ऐसे नाम हैं जिन की उत्पत्ति के संबंध में कोई दूसरा मत निर्धारित ही नहीं किया जा सकता, जैसे अलाउलमुल्क, क़ाज़ी मुग़ैयसुद्दीन, क़ाज़ी हमीद मुल्तानी, ऐनुलमुल्क मुल्तानी, मलिक काफूर हज़ारदीनार, मलिक नायब, मलिक काफूर मरहूर नायब वकीलदार, मलिक फखुद्दीन खंड। यह भी संभव है कि शेष नामों में बहुत से ऐसे हों जो कि हिंदी लोगों ने अपनी वास्तविकता को छिपाने के उद्देश्य से रख लिए हों। दरबार में हिंदी मुसल्मानों की उन्नति तथा विकास का एक और भी कारण था। वह यह कि प्रथम तो मध्य एशिया में मुग़लों के उत्पात ने पुरानी संस्कृति को नष्ट भ्रष्ट कर दिया था, और चूँकि मुग़ल स्वयं हिंदुस्तान के सीमा-प्रांतों में लूट-मार मचाए हुए थे, इस लिए अन्य प्रदेशों से इस तरफ़ मुँह करते हुए लोग

---

[1] सुल्तान जलालुद्दीन बाकौकबए बादशाही व जमीअते अरकान व आवाने मुल्क व उमराए ख़िल्ज व मुआरिफ़ व हश्म क़दीम अयाम मलकी व मुख़लिसान मोअतमद दौलत दरून शहर रफ़्त—'तारीख़-फ़ीरोज़शाही', (बिब्लियोथिका इंडिका-संस्करण), पृ० १७७

घबराते थे दूसरे यह कि जो लोग आते भी थे वह अधिकतर तुर्की उत्पत्ति के होते थ और तुर्कों का खिलजी दरबार में बहुत कम मान था। जलालुद्दीन के समय से ही तुर्कों और खिलजियों के बीच घोर खिचाव रहने लगा था। तुर्कों का यह विचार था कि खिलजी लोग गासब है। हिंदुस्तान की सल्तनत का अधिकार केवल तुर्कों को प्राप्त है। तीसरे राजनैतिक मतव्यो में कुछ परिवर्तन। यद्यपि प्रकट में उस ने कोई ऐसा कार्य नहीं किया जिस से कि इस्लामी धर्म को धक्का लगता। लेकिन उसकी बात-चीत से तथा आचरण से बाहर के लोगों को सदेह पैदा हो जाता था कि उस ने इस्लाम धर्म का त्याग कर दिया है। मौलाना शम्सुद्दीन तुर्क एक अत्यंत विद्वान् और पवित्र व्यक्ति थे। वह मिश्र से स्थल-मार्ग से पधारे। जब मुल्तान पहुँचे तो वहाँ उन को पता चला कि तत्कालीन बादशाह अलाउद्दीन न तो नमाज पढता है और न जुमे की नमाज मे सम्मिलित होता है। यह सुन कर मौलाना शम्सुद्दीन ने दिल्ली जाने का विचार त्याग दिया और अपने देश को लौट गए। वहाँ से फारसी में एक 'रिसाला' लिख कर अलाउद्दीन के पास भेजा। जिस में कि लिखा था कि मैं दूर देश की यात्रा की कठिनाई सहन कर के मुल्तान तक आया परन्तु जब मैं ने आप के आचरण और रहन-सहन का हाल सुना तो सीधा वापस चला गया। साराश यह कि अलाउद्दीन के शासन-काल के समाप्त होते होते प्रायः सारा दरबार हिंदी उत्पत्ति के अमीरो से भर गया था। इस का उत्तरदायित्व कुछ हद तक तो स्वयं सुल्तान पर था, क्योंकि अतिम समय में उस को योग्य और दुनिया-देखे हुए लोगो से घृणा हो गई थी और चापलूसों से प्रेम। ऐसे लोग हिंदी उत्पत्ति के लोगो में ही मिल सकते थे। इसके अतिरिक्त मलिक काफूर को जो पद प्राप्त हो गया था उस के कारण भी हिंदियों की संख्या में वृद्धि हुई। काफूर नया मुसल्मान था। उसे आवश्यकता थी कि अपनी आकाक्षाओं की पूर्ति के लिए अपने आस-पास अपने ही तरह के लोगो को एकत्र करे। जब सुल्तान ने रियासत की बागडोर उस के हाथ में सौंप दी तो इस कार्य के लिए उसे खूब ही अवसर मिल गया।

मलिक काफूर ने अलाउद्दीन के साथ वही आचरण किया, जो अलाउद्दीन ने अपने चाचा के साथ किया था, परंतु उस की उग्रताओं ने उस के आशा-रूपी वृक्ष को पुष्पित न होने दिया। अतएव वह अपने षड्यन्त्रों का स्वयं ही शिकार हुआ और उस को सिंहासन के स्थान पर मृत्यु प्राप्त हुई। कुतुबुद्दीन मुबारक खिलजी में भला ऐसा बूता कहाँ था कि

इतनी बडी सल्तनत के भार को सँभाल लेता। विवश हो कर उस ने अपनी नौका को आमोद-प्रमोद के अनंत समुद्र में छोड दिया। जिस प्रकार उस के पिता ने एक वर्णसंकर के साथ संबंध जोड लिया था उसी प्रकार इस ने भी एक वर्णसंकर व्यक्ति को अपना विश्वस्त मंत्री बनाया। खुसरो खाँ की तुरंत उन्नति क्या इस बात का प्रमाण नहीं कि हिंदी उत्पत्ति के अमीरों का हिंदुस्तान में बोलबाला था? अवसर प्राप्त करते ही खुसरो खाँ ने अपने पैर निकाले। अपने पुराने भाई-बंदो को दिल्ली बुला लिया और फौज में भरती कर लिया। यही नही वरन् उन के लिए शाही महल में आने-जाने का मार्ग भी खोल दिया। कुतुबुद्दीन अपने वजीर पर इतना आसक्त था कि सल्तनत के हितैषियों के सतर्क करने वाले संदेशों को एक कान से सुन कर दूसरे कान से निकाल देता था। परिणाम यह हुआ कि उस ने भी मुईजुद्दीन कैकुबाद की भाँति अपनी जान व माल से हाथ धोए। पाँच मास तक दिल्ली का सिंहासन नए मुस्लिमों के ही हाथ में रहा। सुल्तान नासिरुद्दीन खुसरो खाँ ने इस्लाम को अप्रतिष्ठित तथा लज्जित करने में कोई कसर उठा न रक्खी। मसजिदों के आलों में मूर्तियाँ रखवा दीं और मूर्तियों के पैरों के पास कुरान शरीफ रखवाए। कदाचित् यह था प्रतिकार उन अत्याचारों और दमनों का जिस से इल्तुतमिश और उस के उत्तराधिकारियों ने हिंदू धर्म को और हिंदुओ को अनादृत किया था। गुजरात के बरादू कदाचित् अभी न भूले थे कि शम्सुद्दीन इल्तुतमिश ने धार में महा-काल के मंदिर को न केवल विध्वंस और अपमानित किया था वरन् मूर्ति को लाकर दिल्ली की जामा मसजिद के द्वार पर टुकडे-टुकडे कर के डाल दिया था, जिस से मुसल्मान लोग उस पर पैर रख कर निकलें। बरादू किसी नीच कुल के न थे, यह बात अमीर खुसरो के 'तुगलक-नामा' से प्रमाणित है। खुसरो लिखता है—"बहुत से हिंदू, जिन को बरादू कहते हैं इस विद्रोह के कारण उस के मित्र बन गए। बरादू लडने वाले हिंदू को कहते हैं—ऐसा जो कि जान पर खेल जावे और जान ले भी लेवे। यह लोग रायों की नौकरी करते; और अपने राजा पर जान निछावर करने के लिए सदा तैयार रहते है।"[1]

---

[1]बसे हिंदू कि गोयंदश बरादू।
शुदह यारश बराए फितनए ऊ॥
बरादू दस्फ़ हिंदूयीस्त सरबाज।
कि हम सरबाज बाशद हम सरंदाज॥

खुसरो शाह के अनाचारो से चारो ओर सनसनी फैल गई। बड-बड़े अमीर भय के कारण काँपने लगे। परतु यह बात सब पर प्रकट थी कि शीघ्र ही कोई क्राति उपस्थित होने वाली है। अतएव गाजी मलिक ने इस बात का बीड़ा उठाया कि वह अलाई वश के बैरियो से बिना बदला लिए चैन न लेगा। दूसरे अमीरो से पत्र व्यवहार करने के बाद, उस को संतोष हो गया कि उस के से ही विचार के लोग बहुत से है तो उस ने एक बड़ी सेना एकत्र की। मार-काट करता हुआ वह दिल्ली की ओर बढा। लेकिन इस भूचाल से खुसरो घबराया नही। उस ने रुपया को पानी की तरह बहाया और अपनी सेना ले कर मैदान मे आ डटा। एक बार तो उस ने गाजी मलिक के छक्के छुड़ा ही दिए, परतु भाग्य का हेठा था। जीती-जिताई बाजी हार गया। भाग कर एक बाग मे छुप रहा। तीन उपवास के बाद बेचारा जब निकला तो शाही अँगूठी ने उस के भेद को प्रकट कर दिया। बदी कर के गाजी मलिक के सामने लाया गया। उस के पापों का दंड उसे भुगतना पडा।

गाजी मलिक ने अलाई अमीरों और शुभचिंतको को इकट्ठा कर के एक अत्यत प्रभावशाली वक्तृता दी। बहुमत से अमीरो ने इसे सिंहासन का उत्तराधिकारी निश्चित किया। गयासुद्दीन को उमराव वर्ग की नई आयोजना में कई बातो का ध्यान रखना पड़ा। प्रथम तो अलाई वश का समर्थक होने की हैसियत से उस को यह आवश्यक जान पड़ा कि पुराने अमीरो मे से भी कुछ को अपने साथ रक्खे, विशेष कर उस समय तक जब तक कि उस का आसन दृढ न हो जाय। दूसरे यह कि हिंदी उत्पत्ति के अमीरो को वह एक दम दमन नही कर सकता था, क्योकि अभी तक उस को यह आशा न थी कि बाहर से योग्य व्यक्ति पर्याप्त सख्या मे आ कर शासन का कार्य चलाएँगे। तीसरे उसे धार्मिक सिद्धांतो को सदा अपने सामने रखना पड़ता था, क्योकि उस ने इस्लाम धर्म की दुहाई दी थी, और सिंहासन पर बैठने से पूर्व यह घोषणा की थी कि वह इस्लाम के बुझते हुए दीपक को पुनः जागृत करेगा। अतएव गाजी मलिक के अमीरों मे वही बात मिलती है, जो कि जलालुद्दीन खिलजी के गुट्ट मे थी। भेद केवल इतना है कि जलालुद्दीन को सीधे

बुवँद ईं तायफ़ा दरपेश रायाँ।
कि आँ बाज़ंद बर फ़रमारवायाँ।।
'तुग़लक़नामा', पृ० १९

और उम्र योग्य और मूर्ख की पहचान न थी इस के प्रत्युत ग़यासुद्दीन तुग़लक़ को अलग अलग प्रत्येक अमीर की योग्यता और उस के विचारों का अनुमान था। यही कारण है कि उस ने अपने अमीरों से कभी भी धोखा नहीं खाया और उसे शासन के कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

मुहम्मद तुगलक ने आते-आते वातावरण बदल दिया। तुगलक वंश का आतंक सारे हिंदुस्तान पर छा गया। और प्रत्यक्ष में सब ओर शांति और संतोष के लक्षण दिखाई देने लगे। अतएव हिंदुस्तान और अन्य देशों के बीच फिर से व्यवहार स्थापित हो गया। अमीर ख़ुसरो के कथनानुसार तुगलक वंश के पूर्वज भी मुग़ल थे। "तेरा नाम प्रभावशाली गाज़ी तुग़लक़ है। मुगल का नाम भी पुरातन काल में तुगलक था।"[1]

इस लिए मुहम्मद तुगलक के दिल में विचार उत्पन्न हुआ कि उस को इसी बात का प्रयत्न करना चाहिए कि इस का उमराव वर्ग अधिकांश विदेशियों से भर जाय। इस बात का ध्यान रखते हुए वह परदेसियों पर अपना खज़ाना लुटाने लगा। तुर्की और फारसी उत्पत्ति के लोगों को जो पुरस्कार मिलते थे उन का अनुमान करना कठिन है। इब्न बतूता लिखता है कि—"बादशाह हिंद मुहम्मद तुगलक शाह परदेसियों की प्रतिष्ठा और आवभगत पूजा के हद तक करता है और उन से प्रेम रखता है। और बड़े-बड़े पद उन्हें प्रदान करता है। उस के बड़े-बड़े खवास और हाजिब और वज़ीर और दामाद अन्य देश के निवासी हैं। उस की आज्ञा है कि परदेसी को सदा 'अज़ीज़' (प्रिय) के नाम से पुकारा करें अतएव बाहर के लोग सब ग़रीब के स्थान पर अज़ीज़ कहलाते हैं।"

बदायूनी लिखता है—'इन वर्षों में सम्राट् की दानवृत्ति से आकर्षित होकर ख़ुरासान, इराक, समरकंद से इतने लोग हिंदुस्तान में आए कि उन के अतिरिक्त कोई और दिखाई ही नहीं पड़ता था।"[2] बरनी भी इस कथन से सहमत है और लिखता है कि—"इस सम्राट् के राज्यकाल में जितने भी सुप्रसिद्ध लोग, कला-कौशल में निपुण या

---

[1] मुअज्जम तुग़लक ग़ाज़ी तुरानाम। मुग़ल हमनाम तुग़लक दाश्त ज़ अयाम॥ 'तुग़लक़नामा', पृ० १३८

[2] दर आँ चंद साल मर्दुम अज़ विलायत ख़ुरासानो इराको समरक़ंद ब उम्मीद बख़्शिश सुल्तान दर हिंद आमदंद कि दर्रो दयार बग़ैर अज़ ईशान तायफ़ए दीगर कम बनज़र मीं आमद। बदायूनी, पृ० २३२, बिबिलयोथिका इंडिका-संस्करण।

मुसीबत के मारे हुए खुरासान इराक ... ६ ख्वारिज्म सीस्तान हरेव दमिश्क इत्यादि देशों से शाही दरबार में आए वह सब इनाम-इकराम से मालामाल हो गए। अन्तिम समय में भी बहुत से प्रसिद्ध मुगल सरदार, और मुगलिस्तान के अमीर व शहजादियाँ मुहम्मद शाह के दरबार में आए और उस के चाकर और शुभचिंतक बन गए।"[१]

इन शब्दों से स्पष्ट प्रकट है कि मुहम्मद तुगलग को परदेसियों का कितना खयाल था। इन लोगों को ऊँचे-ऊँचे पद प्रदान करना नीति से खाली न था। वह चाहता था कि योग्य-योग्य व्यक्ति खुरासान, तुर्किस्तान अरब व शाम इत्यादि से आ कर उस के यहाँ नौकरी करें। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि मुहम्मद तुगलक ने यह प्रथा क्यों चलाई। क्या हिंदुस्तान में योग्य व्यक्ति उसे प्राप्त नहीं होते थे जो उसे परदेसियों के भरती करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ? मालूम यह होता है कि सुल्तान को हिंदी उत्पत्ति के अमीरों पर से विश्वास जाता रहा था। इस के अतिरिक्त उस की यह इच्छा थी कि वह अन्य देशों में अनन्य कीर्ति लाभ करे और अपने शासन को ऐसा बनाए कि उस की मिसाल न रहे। इन आकांक्षाओं की पूर्ति का उसे एक ही उपाय मालूम हुआ कि परदेसियों के साथ रियायत करे। सम्भव है कि परदेसी खून ने भी उस की रगों में जोर मारा हो और उसे इसी प्रकार के व्यवहार के प्रति उद्यत किया हो। बलबन की भाँति यदि यह भी सचेत रहता और समझ से काम लेता तो परिणाम श्रेयस्कर होता परंतु जोर में आकर मुहम्मद तुगलक ने परदेसियों की ऐसी भरमार की कि योग्य और अयोग्य समझदार और मूर्ख, उपयोगी और निकम्मे के भेद को बिल्कुल हटा दिया। दरबार तो परदेसियों से भरा ही था। अस्तु, यहाँ तक भी ठीक था। परन्तु मुहम्मद तुगलक़ ने फौज और अन्य विभागों में भी परदेसियों ही को स्थान दिया। अंत में जब यह लोग अयोग्य प्रमाणित हुए, तब मुहम्मद तुगलक की आँखें खुलीं। विवश हो कर उस ने एक दम अपने व्यवहार

---

[१]व दर तमामी करन बादशाही खुद उलमा व कुबरा व मोतबरान व माहिरान व उस्तादान हर इल्मे व हुनरे व बुजुर्गजादा व हर वाक़ियाजदा किश्ती शिकस्ता कि ब उम्मीद अवातफ व मुराहम मुहम्मद शाही खुरासानो इराक़ो मावरुन्नहरो ख्वारज्मो सीस्तानो हरेव मिस्रो दमिश्क दर दरगाह आस्मान जाह ओमी रसीदंद। बअमवालो असबाब मालामाल मी शुदंद व न दर आखिर अहद सुल्तान चंदीं मुग़लानो अमीरान तमनो अमीरान हजारा मुआरिफ मुग़लानो खातूनान बुजुर्ग व अकाबर मुग़लिस्तान बदरगाह सुल्तान मुहम्मद शाह ब बंदगी व चाकरी व अखलास व हवाखाही मी रसीदंदाँ। पृ० ४६२

को बदल दिया कहाँ तो परदेसियों का इतना आदर-सत्कार या कहाँ अब बड़ा विद्रोहियों की सूची में गिने जाने लगे। लाचार हो कर हिंदी उत्पत्ति के लोगों को सुल्तान ने उमराव वर्ग में प्रविष्ट करना आरंभ कर दिया। लेकिन अब इतना अवसर न था कि वह सोच समझ कर काम कर सकता। वह तो गुस्से के मारे अंधा हो रहा था। दूसरे एक दम इतनी संख्या में योग्य व्यक्तियों का मिलना कठिन काम था। अनुभवहीन और नीची जात के लोगों का जोर बँधा। नए अमीर किस प्रकार के थे इस का अनुमान बरनी के शब्दों में हो सकता है '—

"सम्राट् ने सनाम व समाने प्रांतों पर आक्रमण किया। विद्रोहियों ने वहाँ डेरे डाल रक्खे थे। उन्हों ने कर देना बंद कर दिया था, और वह चारों ओर लूट-मार कर रहे थे। सम्राट् ने उन को बिल्कुल बरबाद कर दिया, उन के मकानों को तोड़-फोड़ डाला और उन की टोलियों को छिन्न-भिन्न कर दिया। उन के मुखियों और सरदारों को बंदी कर के राजधानी में ले आया। इन में से कुछ मुसल्मान हो गए और कुछ उमराव वर्ग में सम्मिलित कर लिए गए।"[1]

संभव है कि बरनी के यह शब्द झूठ से मिश्रित हों, लेकिन आगे की घटनाओं से यह स्पष्ट पता चलता है कि देसी आन्दोलन ने इसी समय से नए सिरे से जोर बाँधा था।

फीरोज तुगलक विद्वानों और मौलवियों की सहायता से सिंहासन पर बैठा। इस के समय में नए मुसलमानों की शक्ति अपनी चरम सीमा को प्राप्त हो गई। इस का वजीर खाँ जहाँ मकबूल हिंदी उत्पत्ति का था। वह तिलंग का निवासी था और उस का असली नाम कनू था। प्रकट है कि उस ने अपने देश के निवासियों की संरक्षता की होगी। दूसरे बहुत से विद्वान् परदेसी उत्पत्ति के होते हुए भी हिंदी ही हो गए थे। उन की प्रतिष्ठा उन की ख्याति, उन की लोक-प्रियता, यहाँ तक कि उन की जीविका का आधार हिंद के निवासियों पर ही था। फिर भला वह कब तक अपनी परदेसी उत्पत्ति को गर्व का कारण

---

[1]सुल्तान दर विलायत सनाम व समानः लश्कर कशीद व मुलर्मरदान व सरताबान आंजाय कि मंजिलहा करदा बूदंद व खिराज नमीदादंद व फ़सादहा मी करदंद व राह मी जदंद सुल्तान मुहम्मद मंजिलहाय ईशान रा नहब व ताराज फ़रमूद व जमीयतहाय ईशान रा मुतफ़र्रिक गर्दानीद व मुक़द्दमान व सरान ईशान रा दर शहर आवर्द व बाज़े अज़ ईशान मुसल्मान शुदंद व गरोह रा दाख़िल उमरा गर्दानीद।

बनाए रहते तीसरे फ़ीरोज़ ने अपने धार्मिक जोश में आकर एक अलग विभाग स्थापित कर दिया जिस का नाम 'दीवान बंदगान' रक्खा। अगर यह 'बंदगान' अल्तमश के 'चेहलगान' के बराबरी के होते तो संभव था कि कदाचित् राज्य को कुछ लाभ पहुँचता। परन्तु इन में सब के सब नए मुसल्मान थे और वह भी ऐसे कि ग़ुलाम के रूप में युद्ध मे गिरफ्तार कर लिए गए थे। ऐसे लोग किस योग्य हो सकते थे? इस के बताने की आवश्यकता नही। यह सच है कि फ़ीरोज़ ने इन गुलामो मे से चुने हुए लोगो के वास्ते उच्च कोटि की शिक्षा और संस्कृति का प्रबंध किया लेकिन—

आक़बत गर्ग ज़ादः गर्ग शवद।

तैमूरी आक्रमण से जो पश्चिमी हिंद की राजनैतिक अवस्था में परिवर्तन हुआ उस मे सब से महत्व की घटना थी सैयद वंश का उदय। इस का नेता ख़िज्र ख़ाँ था जिस के वंश की कुलीनता के पक्ष मे यहिया सरहिंदी ने विभिन्न बाते प्रस्तुत की है। दिल्ली पर अधिकार करने के उपरांत सैयद ख़िज्र ख़ाँ को यह चिंता उत्पन्न हुई कि एक ऐसा दल बनावे कि जिस मे उस के मित्र और समर्थक सम्मिलित हों। सैयद होते हुए भी ख़िज्र ख़ाँ की यह हिम्मत न पडी कि परदेसियो को बुलाता। कदाचित् अवसर भी न था क्योंकि ख़ुरासान और फारस के लिए तैमूर वंश की संरक्षता मे रहना गर्व का कारण था। ख़िज्र ख़ाँ कोई स्वतंत्र सुल्तान न था। उस ने तो सुल्तान की पदवी भी ग्रहण नही की। वह अपने को केवल एक तैमूरी पदाधिकारी समझता था। फिर भला परदेसी क्यो उस के पास आते? अतएव उसे हिंदी उत्पत्ति के लोगो से ही व्यवहार बढ़ाना पडा। बात यह है कि स्वयं भी संभवतः वह हिंदी ही था। दिल्ली आने के बाद जिन लोगों को उस ने गौरवान्वित किया उन में से कुछ नाम ऐसे है कि जिन के हिंदी होने मे कोई संदेह ही नही। जैसे मलिक सरूप, मलिक कालू, मलिक दाऊद, अख़्तियार ख़ाँ इत्यादि। ख़िज्र ख़ाँ की मृत्यु के अनंतर उस का बेटा अबुल्फ़तेह मुबारक शाह गद्दी पर बैठा। 'तारीख़-मुबारकशाही' के लेखक के कथनानुसार—"स्वर्गीय ख़िज्र ख़ाँ के समय में जो वज़ीफ़ा सरदारों, मुल्कों, सैयदो, व काजियो को मिलता था, जैसे का तैसा क़ायम रहा।"[1]

---

[1] उमरा व मुलूक व आइम्मा व सादात व क़ुज़ात व हर चे कसे दर अहद ख़ुदायगान मग़फ़ूर ख़िज्र ख़ाँ अज शुग़ल व अक़ताअ व परगना व देहा व वज़ीफ़ए महदूद तईं उन दाश्त बरहमा मुक़र्रर दाश्तन फ़रमूद। पृ० १९३

मतलब यह कि मुबारक शाह ने उमराव वर्ग के बनाने में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। इस के बाद इस वंश में कोई ऐसा न हुआ, जो किसी नए व्यवहार पर चलने की हिम्मत भी करता।

सैयदों के भाग्य ने जब पलटा खाया तब लोदियों का उदय हुआ। बहलोल ने अपनी नौकरी के काल में ही अपने देश वालों का एक दल इकट्ठा कर लिया था। जिस की सहायता से हमीद खाँ को ऐसा धोखा दिया कि कदाचित् हमीद खाँ को स्वप्न में भी यह ध्यान न हुआ कि निपट अफगान किसी समय उस को बंदी कर लेंगे। सारांश यह कि उत्तराधिकारी को षड्यंत्र से बंदी कर के बहलोल आप सुल्तान बन बैठा। गद्दी पर बैठते ही उस ने अपने देश वालों को यह बार बार संदेश भेजा कि अफ़ग़ानों के लिए हिंद देश में नमक और रोटी की कमी नहीं है। इस समाचार का पहुँचना था कि अफगानों के दल-बादल दर्रे में उठ कर इस देश पर छा गए। लोदी, फ़रमूली, लोहानी, ईसाखेल, कुताखेल इत्यादि फिरकों के लोग आए और सुल्तान बहलोल ने उन्हें आश्रय दिया। उन को बड़े-बड़े पद दिए और संपूर्ण सल्तनत का काम उन्हीं को सौंप दिया। अतएव लोदी काल में उमराव वर्ग की वही दशा दिखाई देती है जो कि शम्सी या बलबनी काल में थी। इन में से प्रत्येक व्यक्ति परदेसी था। प्रत्येक व्यक्ति उग्र और ऊँची आकांक्षाएँ रखने वाला। मरने कटने को तैयार। समय-समय पर मालिक का वफादार परंतु हर दम अपनी निजी शान का भूखा और उस पर जान देने को उद्यत। शम्सी वंश से ले कर लोदी काल तक उमराव वर्ग के बनाने और उस की परिस्थिति में जो परिवर्तन हुए उन के वर्णन करने के अनंतर उचित जान पड़ता है कि समष्टि रूप से इस बात पर भी विचार कर लिया जाय कि इन लोगों का राजनैतिक घटनाओं पर क्या प्रभाव पड़ा। अच्छा या बुरा। सुल्तान और अमीरों की शक्ति में आपस में क्या संबंध था। इस का अर्थ यह है कि जिस समय बादशाह शक्तिशाली होता था, उस काल में अमीर कमजोर होते और जब अमीर शक्तिशाली होते तो बादशाह कमज़ोर होता था। अमीरों की शक्ति का पहला उदाहरण कुतुबुद्दीन ऐबक की मृत्यु के उपरांत दृष्टि के सामने आता है। परन्तु वह लोग इस समय दो दलों में विभक्त थे, इस लिए राजनैतिक बातों पर उन का कोई स्थायी प्रभाव न पड़ सका। परन्तु इल्तुतमिश ने जो उपाय अपनी सल्तनत को दृढ़ करने के लिए निकाला वह अंत में बहुत लाभदायक सिद्ध न हुआ। वही लोग जिन को पस्ती से उठा कर उस ने अमीरी

के दर्जे तक पहुँचाया था सुल्तान की मृत्यु के उपरांत इस बात पर आरूढ़ हो गए कि संपूर्ण शाही शक्ति स्वयं ही प्राप्त कर ले। 'तबकाते-नासिरी' के लेखक के कथनानुसार इल्तुतमिश ने मरते समय अपने उमराव और पदाधिकारियों से यह वचन ले लिया था कि वह उस की बेटी रज़िया को सुल्तान बनावेंगे। परंतु इस्लाम धर्म के अनुयायियों को भला यह कब मान्य हो सकता था कि एक स्त्री के सामने अपना सिर झुकाएँ। मध्य-युग में राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, धर्म की आड़ लेना कोई आश्चर्यजनक बात न थी। सच बात तो यह है कि अमीर लोग योग्य और समझदार शासकों से डरते थे कि कहीं ऐसा न हो कि वह उन की बागडोर हाथ में ले कर उन की स्वतन्त्रता के मार्ग के कंटक बन जायँ। अतएव रज़िया के विरोध का वास्तविक कारण यही था। लेकिन प्रत्यक्ष रूप में उमराव ने अपने विरोध को धर्म का रंग दे दिया। अतएव निज़ामुल्मुल्क जुनैदी के प्रोत्साहन से, जो कि उस समय उमराव वर्ग का सरदार था, स्वर्गीय सुल्तान के सब में बड़े बेटे रुक्नुद्दीन फ़ीरोज़ को उत्तराधिकारी निश्चित किया गया। इस कार्यवाही का राजनैतिक दृष्टि से विशेष महत्व यह है कि अब से यह निश्चित हो गया कि गद्दी के संबंध में अधिकार के निर्णय का पूर्ण अधिकार अमीरों को प्राप्त है। ऐसी परिस्थिति में जब कि बादशाह केवल एक खिलौना बन गया था, यह सिद्धांत वास्तव में बड़ा उपयोगी था। परन्तु कठिनाई यह उपस्थित हुई कि अमीरों के बीच में आपस में बहुत समय तक एकमत बनाए रखना असंभव था। उनमें से प्रत्येक को यह चिंता व्याप्त हो रही थी कि किस प्रकार अपने साथियों को नीचा दिखा कर सारी शक्ति अपने हाथ में कर ले। परिणाम यह हुआ कि उमराव वर्ग में दलबंदी हुई और वह लोग आपस में लड़ने झगड़ने लगे। जो दल शक्तिशाली हो जाता था, सुल्तान उसी के वश में हो कर कठपुतली की भाँति नाचा करता था। लेकिन किसी दल का भी अधिक काल तक शक्तिशाली रहना असंभव था। कारण यह कि दलबंदी की नींव में स्वार्थ और आत्महित था। इस काल में कदाचित् ही कोई ऐसा अमीर हो, जिस में कि त्याग का भाव उपस्थित हो। अस्तु कुछ दिन तक तो निज़ामुद्दीन जुनैदी की धाक बँधी रही, परन्तु बहुत शीघ्र ख्वाजा मुहज्ज़ब के नेतृत्व में एक विरोधी दल स्थापित हो गया जिस ने कि रज़िया का साथ दिया। ख्वाजा मुहज्ज़ब की भी वही आकांक्षाएँ थीं जो कि निज़ामुल्मुल्क की, परंतु उस की अपेक्षा ख्वाजा कदाचित् कुछ अधिक बुद्धिमान था। और उस ने ऐसी चाल चली कि रज़िया को गद्दी से हाथ धोना

पड़ा अब अमीरों ने बहराम को सुल्तान बनाया चूँकि यह केवल एक अनुभवहीन नवयुवक था। इस लिए उसे परामर्श देने के लिए एक प्रबंधक मंडल स्थापित किया गया। इस मंडल का प्रधान तो वज़ीर ख्वाजा मुहज्जब ही था, परंतु वास्तविक अधिकार अख्तियारुद्दीन आनेकीन को प्राप्त थे। अपने अधिकार में वृद्धि करने की इच्छा से आनेकीन ने सुल्तान की एकमात्र बहिन से विवाह कर लिया। वह तीन वक़्त नौबत भी बजवाने लगा और उस ने अपने मकान के द्वार पर एक हाथी बाँध लिया। उस के इस ठाठ से उस के मित्र अप्रसन्न हो गए। बादशाह ने उन के परामर्श से आनेकीन को कत्ल करवा दिया। इस घटना के उपरांत ख्वाजा मुहज्जब की शक्ति फिर बढ़ गई। इस ने धोखे और षड्यंत्र से समस्त अमीरों को सुल्तान बहराम की ओर से विमुख कर दिया। और अंत में अपने स्वामी को तलवार की घाट उतार दिया। बहराम के बाद गद्दी पर किसे बिठलाना चाहिए इस का निर्णय सहज न था। जब कि ख्वाजा मुहज्जब और उस के साथी इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विवाद कर रहे थे, एक साहसी और उच्च आकांक्षाओं वाला अमीर अजालुद्दीन बलबन कुशलू खाँ अवसर को उपयुक्त जान कर शाही महल में जा कर सुल्तान बन बैठा। गद्दी पर उस का अधिकार सुल्तान इल्तुतमिश के दामाद होने के नाते से था। लेकिन इल्तुतमिश के वंशज के मुकाबले में दूसरे अमीर कुशलू खाँ के अधिकारों को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। अतएव उन्हों ने इस बार मसऊद को सुल्तान बनाया। परंतु यह लोग अपनी प्रकृति और आदत से विवश थे। बहुत जल्द मसऊद से भी अप्रसन्न हो गए। उन्हों ने उस के चचा नासिरुद्दीन को बहरायच से बुला भेजा और मसऊद को हटा कर इस बार उसे बादशाह बनाया। सौभाग्य से नासिरुद्दीन को बलबन जैसा स्वामिभक्त और योग्य वज़ीर मिल गया जिस की सहायता से २० वर्ष तक वह राज्य करता रहा। इस के राज्यकाल में भी एक बार अमीरों ने सिर उठाया और सुल्तान के इस प्रकार कान भरे कि उस ने बलबन को पद से हटा दिया, और एमादुद्दीन रेहान को अपना वज़ीर बनाया। लेकिन एमादुद्दीन से इस पद का कार्य चलाए न चला। उस के मित्र उस से विमुख हो गए और उन के कहने से सुल्तान ने बलबन को उस पर पुनः नियुक्त कर दिया। इस के बाद आजन्म उसी की सम्मति से अपने कर्तव्यों का पालन करता रहा। नासिरुद्दीन के बाद बल्बन गद्दी पर बैठा। उस ने पहला सुधार, जिस पर सब से अधिक जोर दिया, वह उमराव वर्ग की बढ़ती शक्ति का कम करना था। इस के लिए उस ने जो उपाय

ग्रहण किए वह वर्णन करने योग्य है। प्रथम तो उस ने 'चहलगान' के दल को नष्ट कर डाला। दूसरे उस ने वृद्ध या कम अवस्था के अमीरों की जो कि सैनिक कार्य का संपादन नहीं कर सकते थे पेंशन नियुक्त कर दी। तीसरे उस ने नवयुवक अमीरों का वेतन उन की योग्यता के अनुसार नियत किया। चौथे उस ने चुन-चुन कर नीची जाति के और अयोग्य अमीरों को उन के पदों से पृथक् कर दिया। इस प्रकार बलबन ने उमराव वर्ग को फिर से उस की वास्तविक प्रतिष्ठा प्रदान की। उस ने यह स्पष्ट रूप में कह दिया कि अमीर केवल इस लिए होते हैं कि सुल्तान को परामर्श दें और उस की आज्ञा का पालन करें। इस के अतिरिक्त उन का और कोई काम नहीं। जब तक वह जीवित रहा किसी अमीर का यह साहस न हुआ कि जीभ से कोई बात निकालता। दलबंदी का ध्यान तो स्वप्न में भी उठना कठिन था। परंतु बलबन के मरते ही अमीरों ने फिर शाही शक्ति को अपने वश में कर लिया। अब मलिकुलुमरा फखुद्दीन के दामाद निज़ामुद्दीन का ऐसा ज़ोर बँधा कि सुल्तान को उस ने बिल्कुल वश में कर लिया। इस को देख कर दूसरे अमीर बहुत असंतुष्ट हुए। विशेष कर सल्तनत वज़ीर ख्वाजा ख़तीर के असंतोष का तो कोई ठिकाना न था। विवशता के कारण उस ने सल्तनत और सुल्तान दोनों से संबंध-विच्छेद कर दिया। अब सब ओर निज़ामुद्दीन ही की धूम थी। लेकिन कुछ ही काल के उपरांत उसे अपने स्थान को छोड़ना पड़ा। निज़ामुद्दीन के बाद सल्तनत के काम में ऐसी बुरी स्थिति आ पड़ी कि जिस का कुछ हिसाब नहीं। बिगड़ी हुई स्थिति को सँभालने के उद्देश्य से सुल्तान ने जलालुद्दीन सरजामदार को समाना से बुलाया और 'अर्ज़ मुमालिक' का पद उसे प्रदान किया। अभी तक तो तुर्की अमीर आपस में कलह कर रहे थे, परंतु जलालुद्दीन के आगमन से उन्हें यह संदेह उत्पन्न हुआ कि कहीं ऐसा न हो कि 'अर्ज़ मुमालिक' उन के अस्तित्व को मिटा दे। अतएव आपस में मेल कर के तुर्की अमीरों ने यह निश्चय किया कि धूर्तता से जलालुद्दीन और उस के ख़िलजी साथियों को नष्ट कर डालें। लेकिन षड्यंत्रियों का भेद खुल गया। बहुत से तो इस दल से भाग निकले और उन्हों ने जा कर जलालुद्दीन से संबंध जोड़ा। शेष ने साहस के कारण अपने प्राण गँवाए।

जलालुद्दीन फीरोज़ ख़िलजी एक बहुत ही सीधा-सादा बादशाह था। फिर भी चूँकि उस ने शाही गद्दी को धूर्तता से प्राप्त किया था, इस लिए दिल्ली के निवासी उसे धूर्त ही समझते थे। कुछ दिनों तक उस की आज्ञापालन से मुँह मोड़े रहे। परंतु

मलिकुलुमरा के कहन-सुनन से उन्हों ने अपने विचारों को बदल दिया जब तक कि राजधानी में शांति न स्थापित हो सकी तब तक सुलतान जलालुद्दीन ने नए शहर अर्थात् कीलोखरी से पग बाहर न निकाला। दिल्ली पहुँचने पर पहले दौलतखाने में गया और वहाँ दो रकत नमाज पढने के बाद वह पूर्व के सुल्तानों की गद्दी पर बैठा। बाद को उस ने कोशक लाल की तरफ़ प्रस्थान किया। जब फाटक पर पहुँचा तो पुराने रस्म के अनुसार घोडे पर से उतर पडा। इस पर अहमद चप नायब बारबक ने प्रश्न किया। 'खुदावन्द आलम, महल तो आप ही का है, फिर फाटक ही पर आप क्यो उतर पडे?' जलालुद्दीन ने जवाब दिया। 'ऐ अहमद, जो महल कि मेरे पूर्वजो का बनवाया हुआ हो वही मेरा हो सकता है। यह महल तो बलबन का बनवाया हुआ है। मैं ने तो इस पर बलात् अधिकार कर लिया है; वास्तव मे इस के अधिकारी बलबन के वशज है।' क्या ऐसा बादशाह जो अपने को हरदम गुलाम और सेवक समझा करता हो उमराव वर्ग को वश में रख सकता था? अतएव बहुत जल्द यह समाचार फैल गया कि जलालुद्दीन बादशाही के योग्य नही। मलिक छज्जू ने विद्रोह का झडा ऊँचा किया। परतु अत मे उस की हार हुई। विद्रोही बदी कर के सुल्तान के सामने प्रस्तुत किए गए। परंतु उस ने उन सब को मुक्त कर दिया। इस व्यवहार को देख कर अमीरो के हृदयों मे उस की रही-सही प्रतिष्ठा भी लोप हो गई और वह स्पष्टत कहने लगे कि जलालुद्दीन निकम्मा आदमी है। एक दिन बहुत से अमीर मलिक ताजुद्दीन कोची के मकान पर एकत्र हुए। शराब और कबाब के दौर के बाद मस्ती की अवस्था मे बात छिड़ी। एक बोला—'ऐ ताजुद्दीन, शाही ताज के उपयुक्त तू ही है, न कि सुल्तान जलालुद्दीन।' दूसरे ने कहा कि 'खिलजी लोग सल्तनत के कार्य के योग्य नही। यदि उन मे कोई योग्य और होशियार है तो वह अहमद चप है, न कि जलालुद्दीन।' सब के सब नशे में चूर थे और हवा में किले बाँध रहे थे। इसी दशा मे सब अमीरो ने मिल कर ताजुद्दीन कोची को सुल्तान चुना और उस की अधीनता स्वीकार कर ली। इस के बाद एक अदूरदर्शी ने कहा कि मै जलालुद्दीन को एक ही बार में कत्ल कर दूँगा। भेदिए उपस्थित ही थे। उन्हों ने जा कर सुल्तान से सारी कथा विस्तार से कह सुनाई। जलालुद्दीन ने सब अमीरो को बुलाया और उन्हे बुरा-भला कहना आरभ किया। अत में वह इतना क्रुद्ध हुआ कि उस ने अपनी कमर से तलवार खोल कर अमीरो के सामने फेक दी और कहा—'ऐ बदमस्तो, आपस में तो खूब शेखी मारते थे, अब तुम में

मे कौन ऐसा वीर है जो इस तलवार को उठा कर वार करने की हिम्मत करे और कहाँ है वह आदमी जो मुझ से लडाई करेगा? मैं यहाँ बैठता हूँ, वह आए तो मेरे सामने।' बादशाह के इन शब्दो को सुन कर सब अमीर चुप रह गए। लेकिन मलिक नसरत सबाह ने हिम्मत कर के मुँह खोला और कहा—'खुदावद आलम, आप को मालूम है कि बेखुदी की हालत मे लोग कैसी डून की हाँकते है। नहीं तो हम लोग आप के वास्ते वैसे ही है जैसे आप हम लोगो के वास्ते। आप ने तो हमारी परवरिश अपनी औलाद जैसी की है। फिर भला यह हो सकता है कि आप हमारी जान ले लेगे? हम लोगो को आप की तरह नेक और दयावान बादशाह कहाँ मिलेगा? और हमारी तरह आप को अमीर मलिक कहाँ मिलेगे?'

इस चापलूसी की वक्तृता सुनते ही बादशाह का सारा क्रोध जाता रहा। उस ने शराब मँगवाई आप पी और नसरत सबाह को पिलाई। अन्य अमीरो को उन के इलाको पर भेज दिया और एक वर्ष तक दिल्ली आने से रोक दिया। क्या इस प्रकार के व्यवहार से अमीर सुल्तान के अधीन हो सकते थे? अतएव उन में से बहुतो ने अलाउद्दीन का साथ दिया।

परिस्थिति को देखते हुए पहले तो अलाउद्दीन ने जलाली अमीरो को पुरस्कार से मालामाल कर दिया। परन्तु जैसे ही उस की कठिनाइयाँ कम हुई उस ने तलवार से उन अभागो की लीला समाप्त की। बाद मे कुछ दिनों तक तो वह पुराने अमीरो का विश्वास करता रहा। लेकिन अकत खाँ, मलिक उमर, मंगू खाँ और हाजी मौला के विद्रोहों के बाद अलाउद्दीन को यह खोज हुई कि अन्त इन विद्रोहो का कारण क्या है? इस प्रश्न पर विवाद करने के लिए, उस ने अनरंग बैठक मे मलिक हमीदुद्दीन, मलिक एज्राजुद्दीन, मलिक ऐनुद्दीन मुल्तानी इत्यादि अनुभवी उमराव को एकत्र किया। बहुत सोच विचार के बाद यह राय निश्चित हुई कि विद्रोह और कुटिलता के चार कारण है। एक तो अच्छे-बुरे मामलो से उन की लापरवाही; दूसरे शराब, तीसरे उमराव के बीच वैवाहिक सबध और मेल-मिलाप, चौथे धन अर्थात् अर्थ की चिंता का अभाव। साराश यह कि अलाउद्दीन के मन मे यह बात पैठ गई कि उमराव वर्ग की रचना में सुधार की नितात आवश्यकता है। अतएव उस ने इस बात की पूरी कोशिश की कि अमीरो को इलाक़ा देने की प्रथा को एकदम हटा दे और इस प्रकार उमराव की शक्ति की जड ही

काट दे। इस के अतिरिक्त उस ने कई आज्ञाएँ भी नचालित कीं जिन के अनुसार न तो अमीरों को एक-दूसरे के यहाँ आने-जाने की स्वतन्त्रता थी और न बिना सुल्तान की आज्ञा के आपस में शादी-ब्याह का संबंध स्थापित करने की आज्ञा थी। खुफिया विभाग के निरीक्षण के कारण वह इतने भयभीत रहते थे कि अपने घरों में भी ऊँची आवाज़ से बात-चीत करने में घबराते थे। अलाउद्दीन ने उन पर वह रोब जमाया कि वर्णनातीत है। कुछ काल के लिए विद्रोह का नाम राजनीति के इतिहास से उठ गया। और देश में चारों ओर शांति ही शांति दिखाई पड़ने लगी। परन्तु उमराव वर्ग के दमन से सल्तनत को किसी दृढ़ लाभ की आशा करना व्यर्थ था। अनुभवी और सतर्क अमीर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने के उद्देश्य से सुल्तान के निकट फटकते भी न थे। वह सल्तनत के विशिष्ट व्यक्ति बन कर रहना चाहते थे न कि सुल्तान के गुलाम। परिणाम-स्वरूप चापलूसों और नीची उत्पत्ति के लोगों की बन आई। अलाउद्दीन के काल में, उमराव वर्ग की परिस्थिति में जो क्रमिक ह्रास हुआ उस का स्पष्ट पता ज़ियाउद्दीन बरनी के वर्णन से हो जाता है। वह लिखता है कि इस काल में एक के बाद दूसरे, अमीरों के तीन दलों ने सल्तनत का काम सँभाला। पहले दल में थे उलुग़ खाँ, नसरत खाँ, ज़फ़र खाँ, अल्प खाँ, मलिक अलाउलमुल्क, मलिक फखरुद्दीन जूना, मलिक असग़री, मलिक ताजुद्दीन इत्यादि। यह ऐसे लोग थे जो बादशाह की प्रतिष्ठा तो करते थे परन्तु स्पष्ट-वादिता में संकोच न करते थे। दूसरे दल में थे मलिक हमीदुद्दीन, मलिक एज़ाउद्दीन, मलिक ऐनुलमुल्क मुल्तानी, मलिक शरफ़ क़ाईनी, ख्वाजा हाजी इत्यादि। यह लोग भी योग्य थे परन्तु इतने स्पष्टवादी और स्वतन्त्र न थे जितने कि प्रथम दल वाले। तीसरे दल में थे मलिक नायब काफ़ूर, मलिक बहाउद्दीन, मलिक कीरान, मलिक कीराबेग इत्यादि जिन्हें न तो देश की व्यवस्था और धर्म का ज्ञान था और न इन में समझ या योग्यता ही थी। इन का काम था आत्मश्लाघा और सुल्तान की हाँ में हाँ मिलाना। अलाउद्दीन के बीमार पड़ते ही, इन लोगों ने पैर फैलाना आरंभ कर दिया। यहाँ तक नौबत आ पहुँची कि काफ़ूर ने सुल्तान को विष दे कर मार डाला।

कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के राज्यकाल में उमराव की शक्ति में फिर से वृद्धि हुई। लेकिन खुसरो खाँ के गद्दी पर बैठने से पूर्व उन के बीच कोई विशेष मेल या एका न स्थापित हो सका। इस निर्दयी और आतंकवादी बादशाह के अत्याचारों से तंग आकर गाज़ी

मलिक न मुग़ल्ती हाकिम मुल्तान मुहम्मदशाह लुर हाकिम सेविस्तान वहराम अबिया हाकिम उच्छ, अमीर होशंग हाकिम जाजोर और ऐनुल्मुल्क मुल्तानी, मलिक यकलक्खी इत्यादि को पत्र लिखे जिस में उस ने अमीरो को खुसरो शाह के बादशाह हो जाने पर लज्जा दिलाई और उन्हे युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित किया। इन उमराव पर गाजी मलिक के पत्र व सदेश का प्रभाव पडा। इस का विस्तृत हाल अमीर खुसरो ने लिखा है। वहराम अबीया ने तो तुरत उस के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। परंतु मुगलती के पास जब पत्र पहुँचा तो वह बहुत विगडा और उस ने गाजी मलिक को बहुत कुछ बुरा-भला कहा। जब मुगलती के इन विचारो की ग़ाजी मलिक को सूचना हुई तो उस ने मुल्तान के दूसरे सरदारो को गुप्त रीति से सकेत किया कि वह अमीर पर आक्रमण कर दे। इस आदोलन का नेता वहराम सिराज था। मुग़लती अपने अधीन सरदारो के विद्रोह मे जान चुरा कर भागा। परतु एक नहर मे गिर पडा और मर गया। मुहम्मद शाह लुर के पास जब सदेशवाहक पहुँचा तो उस समय सेविस्तान के स्थानीय सरदारो ने उस के विरुद्ध विद्रोह कर रक्खा था, और वह किले मे घिरा हुआ था। लेकिन गाजी मलिक के पत्र के कारण विद्रोहियो ने अमीर से सधि कर ली। ऐनुल्मुल्क मुल्तानी ने छिपे रूप से अनु-नय प्रकट किया परंतु प्रकट रूप से खुसरो खाँ से मिला रहा। यहाँ तक कि ग़ाजी मलिक के पास से आए हुए पत्र को भी खुसरो खाँ को दिखला दिया। परतु समाना के अमीर मलिक यकलक्खी ने विरोध पर कमर बाँधी। कहने का तात्पर्य यह है कि तुगलकी विद्रोह के मूल व्यक्ति अमीर थे और उन्ही की सामूहिक सहायता से गयासुद्दीन को सफलता प्राप्त हुई। खिलजी काल समाप्त और तुगलक काल आरभ हुआ।

मुहम्मद तुगलक ने जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, परदेसियो का एक नया दल बनाया और इन नए अमीरो को सल्तनत का समर्थक तथा आधार बनाने का प्रयत्न किया। बड़े-बड़े इलाके और जागीरे इन लोगो को दी और वह इसी आशा पर कि वह सुल्तान के अधीन और समर्थक रहेगे। परतु अमीरों ने उन का साथ न दिया और चारो ओर विद्रोह का झडा ऊँचा किया। "मुझे खबर है कि जो भी विद्रोह करता है, वह अमीर सदगान की सहायता से करता है। यह लोग लूट-मार के लिए विद्रोहियो के साथ जा

मिलते हैं।[1]

इन लोगों के उत्पात से ऊब कर मुहम्मद तुग़लक ने निश्चय किया कि वह उन के अस्तित्व को ही मिटा दे। अतएव बहुत से नीची उत्पत्ति के लोगों को उस ने अमीर बनाया, जैसे मलिक सरदोअनदार, मलिक मुख़्लिसुल्मुल्क, मलिक यूसुफ़ बुगरा, अज़ीज ख़ुमार इत्यादि और इन लोगों को आज्ञा दी कि सौ अमीरों में से जो दौलताबाद के इलाके में थे किसी का भी अस्तित्व पृथ्वीतल पर शेष न रह जाय। अज़ीज ख़ुमार मालवा प्रान्त का हाकिम नियुक्त किया गया। बादशाह ने उसे यह निर्देश किया कि धार के अमीर 'सदगान' का जिस तरह भी हो वह काम तमाम करे। धार पहुँचने के कुछ काल बाद ही अमीर ख़ुमार ने सौ में से अस्सी अमीरों को बुला कर अकारण ही कत्ल करा दिया। इस की इस कृति ने सुलगती हुई आग को भड़का दिया। दौलताबाद और गुजरात दोनों सूबों में उत्पात और विद्रोह की लहरें उठने लगीं और मुहम्मद तुग़लक का अन्तिम जीवन इसी विद्रोह के दमन में बीता। विद्रोहियों का पीछा करते-करते वह सिंध पहुँचा और वहीं पर बुख़ार से पीड़ित हो कर मर गया।

फ़ीरोज़ तुग़लक के समय में अमीरों की शक्ति में बराबर वृद्धि ही होती रही लेकिन ख़ाँ जहाँ मकबूल के कारण उन की ओर से कोई विशेष बुराई प्रकट न हुई। परंतु जब सुल्तान बुड्ढा हो गया और ख़ाँ जहाँ भी इस असार संसार से कूच कर गया तो बदगान ने अपनी शक्ति को आज़माना आरंभ किया। मृत वज़ीर का लड़का जिस को कि फ़ीरोज़ शाह ने उस के पिता का कार्य तथा पद प्रदान किया था इतना गर्वीला और स्वतंत्र हो गया कि सल्तनत के धंधे बिल्कुल उस के हाथ में आ गए। सभी अमीर व रईस उस का दम भरने लगे। अगर कोई उस का विरोध करता था तो वज़ीर किसी न किसी बहाने से उस की जान ले लेता था। अब उस ने इस बात का प्रयत्न किया कि सुल्तान और उस के लड़के मुहम्मद ख़ाँ के बीच वैर उत्पन्न करा दे। अतएव यह कह कर कि शहज़ादा कुछ अमीरों की सहायता से शीघ्र ही विद्रोह करने वाला है वज़ीर ने फ़ीरोज़ तुग़लक से इस बात की आज्ञा प्राप्त कर ली कि वह मुहम्मद ख़ाँ और उस के साथियों

---

[1] **मन मी शुनवम कि हर कि बुलग़ाक मी कुनद अज़ क़ूवत अमीर सदगान मी कुनद व मीर सदगान अज़ बराय ग़सब व ग़ारत यार ओमी शवंद। बरनी, पृ० ५०३**

को बंदी कर ले। जब शाहजादे पर यह भेद खुला तो वह अत्यंत चिंतित हुआ और उस ने गुप्त रीति से अपने पिता के पास जा कर वजीर के अनाचारों का हाल कह सुनाया। फीरोज ने इस बार मुहम्मद खाँ को आज्ञा दे दी कि जा कर वजीर को बंदी कर ले। यहिया सरहिंदी लिखता है—'मलिक याकूब आखूरबेग राजधानी के तमाम घोड़ों को ले कर और मलिक कुतुबुद्दीन फरामर्ज शहन-ए-पील सब हाथियों को ले कर शाहजादे से आ मिले। फीरोजशाही गुलाम, तथा दूसरे अमीरों व जनता ने भी उसी का साथ दिया।'[1]

यह पहला अवसर था जब कि राजनैतिक विषयों में 'बंदगान फीरोजी' ने भाग लिया। अब इन को अपनी शक्ति का अनुभव हो गया। और वह निरंतर राजनैतिक चालों में भाग लेने और बाजी लगाने लगे। जब मुहम्मद शाह गद्दी पर बैठा तब जा कर कहीं बड़ी कठिनाइयों से 'बंदगान फीरोजी' की शक्ति का अंत हुआ। इस सुल्तान ने इन लोगों के सारे हाथी जप्त कर लिए और उन को बिल्कुल ही बेकार कर दिया। परंतु गुलामों के दमन हो जाने के अनंतर भी अमीरों का जोर कम न हुआ। वह जिस को चाहते थे उसी को सुल्तान बनाते थे। केवल विचार इस बात का रखते थे कि इन की कठपुतली का संबंध फीरोजी वंश से हो। अतएव गयासुद्दीन द्वितीय 'बंदगान फीरोजी' की सहायता से सुल्तान बना। परंतु इन का क्या विश्वास था। कुछ ही काल बाद यह लोग रुक्नुद्दीन खंदा नायब-वजीर से जा मिले। उन्हों ने गयासुद्दीन को कत्ल कर के अबू बक्र को गद्दी पर बिठलाया। फिर बहुत शीघ्र उस से भी विमुख हो गए। और उसे गद्दी से उतार दिया। उस ने भाग कर कोटला बहादुर में शरण ली। मुसलमानों की आपस की फूट का फल यह हुआ कि "हिंद के काफिर शक्तिशाली हो गए। उन्हों ने जजिया तथा अन्य कर देना बंद कर दिया, और मुसलमानों की आबादियों में लूट-खसोट मचा दी।"[2]

---

[1]मलिक याकूब आखोर बेग अस्पान पायगाह रा बतमाम व मलिक क़ुतुबुद्दीन फरामर्ज शहना पील हमा पीलान रा बाआमारी व बर्गस्तवान बर शाहजादः आवर्दंद। बंदगान फ़ीरोजशाही व उमराय दीगर व खल्क शहर नीज बेशतरे ब ऊ यार शुदंद। पृ० १३६

[2]कुफ़्फ़ार हिंदुस्तान कूवत गिरफ्तंद व दस्त अज अदाए जज़िया व ख़िराज बाज कशीदंद व क़स्बात मुसल्मानान रा नहब मी करदंद। पृ० १४७

कुछ दिनों तक बहादुर नाहर अबू बक्र की ओर से युद्ध करता रहा परंतु घोर रूप से परास्त हो कर उस ने मुहम्मद शाह की अधीनता स्वीकार कर ली। मुहम्मदशाह की मृत्यु के उपरांत उस का दूसरा बेटा अलाउद्दीन सिकंदर शाह गद्दी पर बैठा, परन्तु दो मास के भीतर-भीतर वह मर गया। इस के मरने पर नासिरुद्दीन महमूद शाह गद्दी पर सुशोभित हुआ। अब तुगलकों की सल्तनत का क्षेत्र बहुत छोटा हो गया था। परन्तु महमूद शाह सुल्तान हिंद ही कहलाता था। इस की सारी आयु अपने अमीरों से ही लड़ने बीती। प्रत्येक अमीर अपने अपने इलाके में स्वतंत्र हो गया था। इसी लिए इस काल को नवायफुलमलूकी का काल कहते हैं। मुकर्रिब खाँ, मल्लू इकबाल खाँ, इत्यादि ऐसे लोग थे जिन्हों ने उत्पात मचा रक्खा था।

रायात आला खिज्र खाँ ने पंजाब और दिल्ली दोनों को अपने अधीन कर लिया। परंतु दोआब इत्यादि के लोगों ने उस से विद्रोह किया। सरहिंद में भी स्वर्गीय बैरम खाँ के बंधु-बांधवों ने उत्पात किया। अब उन का नेता मलिक तगान था। उस ने बहुत काल तक सरकारी अफसरों को तंग किया। बदायूँ के इलाकेदार महाबत खाँ ने भी रायात आला के विरुद्ध षड्यंत्र किया। और उस ने अपने दूसरे साथियों को भी उत्तेजित किया। इस प्रकार समय-समय पर अमीर व कबीर खिज्र खाँ को कष्ट पहुँचाते रहे। जब सैय्यद माजालुद्दीन मुबारक शाह के गद्दी पर बैठने की बारी आई तो उस को भी वैसे ही समय का सामना करना पड़ा जो कि उस के पिता को करना पड़ा था। सरवरुल्मुल्क के कहने से उस ने बहुत से हाकिमों की एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदली की। उदाहरण के लिए सिक्दर तुहफा को वज़ीर के पद से गिरा कर वह जगह सरवरुल्मुल्क को दी और उस के बेटे को दिल्ली का हाकिम बनाया। सिकंदर तुहफ़ा को लाहौर भेजा और महमूद हसन को जलंधर। इन बदलियों से उमराव के बीच एक जागृति उत्पन्न हुई। अंत में उन्हों ने मिल कर सुल्तान को कत्ल कर डाला। इस काम में सब से प्रकट भाग सरवरुल्मुल्क ने लिया। सुल्तान मुबारक के क़त्ल के बाद अमीरों ने उस के भतीजे को गद्दी पर बिठलाया। अब उन्हें यह चिंता हुई कि किसी प्रकार सरवरुल्मुल्क की शक्ति को उलट-पलट दें। अतएव एक दीर्घ काल तक गृहयुद्ध होता रहा। मुहम्मद शाह प्रकट में सरवरुल्मुल्क के साथ था लेकिन गुप्त रीति से उस के बैरियों से मिला हुआ था। जब सरवरुल्मुल्क को यह पता चला तो उस ने सुल्तान को तलवार के घाट उतारने का प्रयत्न किया, परंतु वह असफल

रहा और स्वय मारा गया। मुहम्मद शाह न कमालुद्दीन को वजीर बनाया मलिक चमन को गाजीउलमुल्क का खिताब द कर अमरोहा और बदायू उसे प्रदान किया। इलहादाद लोदी के भाई को दरया खाँ का खिताब दिया और हिसार का इलाका मलिक खबीराज को दिया और हिसाम खाँ को राजधानी के हाकिम के पद पर नियुक्त किया। यह प्रबध कर के सुल्तान आमोद-प्रमोद मे पड गया। उधर तो सरहिंद के नए हाकिम बहलोल लोदी ने पजाब मे अपना सिक्का जमाना आरभ किया, दूसरी तरफ दिल्ली के अमीरो ने यह देख कर कि बादशाह तो शासन-संबधी कार्यों मे कोई दिलचस्पी ही नही लेता है, मालवा के शासक महमूद खिलजी को निमत्रण दिया कि वह आ कर दिल्ली की गद्दी पर सुशोभित हो। महमूद को भला क्या आपत्ति हो सकती थी ? एक बड़ी सेना ले कर दिल्ली पर चढ आया। सैयद मुहम्मद शाह ने इस आपत्ति से छुटकारा पाने के लिए बहलोल लोदी से सहायता माँगी। बहलोल ने इस शर्त पर सहायता देना स्वीकार किया कि सुल्तान हिसाम खाँ को क़त्ल करा दे। महमूद खिलजी की वापसी के अनतर महमूद शाह ने बहलोल को बहुत कुछ माल पुरस्कार रूप मे दिया। मुहम्मद शाह के बाद जब आलम शाह गद्दी पर बैठा तब उमराव सारे देश पर अधिकार कर चुके थे। लाहौर और पंजाब बहलोल के अधीन थे। संभल दरया खाँ लोदी के अधिकार मे था और इसी प्रकार और प्रदेश भी अमीरों ने वश मे कर लिए थे। यहाँ तक कि आलम शाह ने जब देखा कि दिल्ली मे भी रहना कठिन है तो वह भाग कर बदायूँ में जा बसा। दिल्ली मे हिसाम खाँ और हमीद खाँ अपनी मनमानी करने लगे।

(अपूर्ण)

उत्तर लोकभाषा

(पुरानी हिंदी अथवा प्राचीन राजस्थानी)

[लेखक—श्रीयुत सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०]

राजस्थान प्रदेश की भाषा का नाम राजस्थानी है। राजस्थान से अभिप्राय केवल राजपूताना प्रांत का ही नही, परंतु भाषा की एकता की दृष्टि से मालवा और हिसार का अधिकांश भाग भी इस मे सम्मिलित है। यो तो राजस्थानी की अनेक उपभाषाएँ है, परंतु मुख्य भेद पॉच है—

राजस्थानी

१—मारवाडी।

२—ढूँढाडी।

३—मेवाती।

४—मालवी।

५—भीली।

थोडे-थोडे भेदो के साथ ये सब एक ही भाषा के अंग है। राजस्थानी के पूर्व मे बुंदेली और ब्रजभाषा, पूर्वोत्तर मे ब्रज और बॉगडू, उत्तर में पंजाबी, पश्चिमोत्तर में पश्चिमी पंजाबी अथवा लँहदा, पश्चिम मे सिंधी, दक्षिण-पश्चिम मे गुजराती और दक्षिण मे मराठी आदि भाषाएँ बोली जाती हैं। इन मे से लँहदा (पश्चिमी पंजाबी) सिंधी और मराठी बाह्यशाखा की (संश्लेषात्मक) भाषाएँ है और बाकी सब आंतरिक शाखा की (विश्लेषात्मक) भाषाएँ हैं।[1] राजस्थानी विश्लेषात्मक वर्ग की भाषाओ मे से

---

[1] भारतवर्ष की आर्यभाषाओं का द्विविध विभाग। १—बाह्यशाखा (संश्लेषात्मक अथवा 'सिंथेटिक'), २—आंतरिक शाखा (विश्लेषात्मक अथवा 'एनालिटिक') डा० सर जॉर्ज ग्रियर्सन के अनुसार है। देखिए—'लिंग्विस्टिक सर्वे अव् इंडिया', जिल्द १, भाग १, भूमिका।

एक भाषा है राजस्थानी बोलने वालों की संख्या लगभग दो करोड़ है व्यापार प्रिय होने से राजस्थानी लोग भारत के कोने-कोने में फैले हुए मिलते है और मुगलकाल में जिस प्रकार मुसल्मान जहाँ-जहाँ गए अपने खेमे की बोली 'उर्दू' को अपने साथ ले गए और उस का प्रचार किया, उसी प्रकार राजस्थानी भी राजस्थानियो के साथ भारत के सब प्रांतो मे मिलती है।

भाषाविज्ञान के विद्वानो ने राजस्थानी को हिंदी से स्वतंत्र एक भिन्न भाषा माना है, परंतु जब ब्रज, अवधी, खडी बोली और बिहारी जैसी विभाषाएँ हिंदी के अतर्गत समझी जा सकती है, तो राजस्थानी को हिंदी से भिन्न मानना युक्तिसगत नही जँचता। राजस्थानी को हिंदी का एक अभिन्न अग मानने का दूसरा कारण यह भी है कि राजस्थान देश और उस की भाषा का उत्तरी भारतवर्ष और उस की भाषा और साहित्य से बड़ा महत्वपूर्ण सबध प्राचीन काल से अब तक रहा है। आधुनिक काल मे, जब खड़ी बोली देशभाषा होने जा रही है, तब वह सबध कुछ निर्बल हुआ जान पडता है, परन्तु तो भी हिंदी के प्राचीन इतिहास को देखते हुए राजस्थानी की हिंदी सेवाओ को[1] भुलाया नही जा सकता।

राजस्थानी हिंदी का अभिन्न अंग

हिंदी के कुछ नए अदूरदर्शी शुभचिनक राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा के लिए बढते हुए अपने उत्साह के आवेग मे, हिंदी के निर्माण मे राजस्थानी के महत्वपूर्ण हाथ को भूल जाते है और राजस्थान के पुनरुद्धार की कल्पना और प्रयास मे प्रातीय स्पर्धा की गंदी बू सूँघने लगते है। ऐसे लोग राजस्थानी की प्राचीन सेवाओ का विस्मरण कर देते है और यह ध्यान नही रखते कि इसी भाषा ने अतीत काल मे अपना सर्वस्व खो कर हिंदी के स्वत्व की रक्षा की है, और उस का स्वरूप-निर्माण किया है। इस बीज ने अपने आप को खो कर हरे-भरे हिंदी-वृक्ष को जन्म दिया है। सच तो यह है कि राजस्थानी ने हिंदी के प्रारभिक काल में उस का रूप-निर्माण किया है, मध्यकाल में उस की महत्वपूर्ण सेवाएँ की है और अब तक करती जा रही है। हिंदी के गद्य और पद्य साहित्य का विक्रम की १०वी शताब्दी से अब तक का अन-

राजस्थानी की हिंदी सेवाएँ

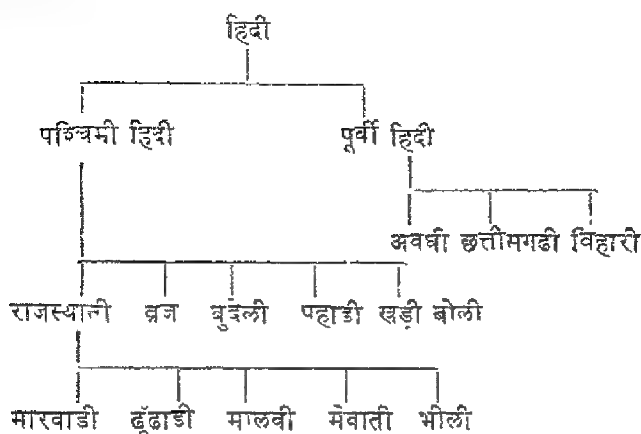
---

[1] इस के लिए देखिए—इसी लेखक का निबंध, 'राजस्थान की हिंदी सेवाएँ' जो गतवर्ष (सन् १९३५) के हिंदी साहित्य-सम्मेलन, इंदौर की लेखमाला में प्रकाशित हुआ है।

विच्छिन्न विकाससूत्र यदि कहीं पाया जाता है तो राजस्थानी में ही।

हिंदी का परिवार

आधुनिक हिंदी भाषा के दो मोटे विभाग किए जा सकते हैं, जिन के अंतर्गत उस की विभाषाएँ इस प्रकार विभक्त होंगी—



राजस्थानी का विकास अपभ्रंश से हुआ है, हिंदी की और विभाषाओं का विकास भी अपभ्रंश से हुआ है। परंतु राजस्थानी उत्तर भारत की वर्तमान देशभाषाओं में सब से प्राचीन है। वह अपभ्रंश की बड़ी बेटी है। अपभ्रंश से विकसित प्राचीन राजस्थानी से ही वर्तमान काल की राजस्थानी, ब्रजभाषा, और गुजराती का जन्म हुआ है। अपभ्रंश काल के पश्चात् एक ज़माने में सारे उत्तर भारत की, विशेषतः उस भूखंड की जिसे प्राचीन आर्यों ने 'मध्यदेश' की संज्ञा दी है, और जो आज-कल पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, और गुजराती का अधिकार क्षेत्र है, बोलचाल और साहित्य की भाषा रही है। इस नाते से राजस्थानी और हिंदी का घनिष्ट संबंध है और उसी संबंध के क्रमविकास को निर्दर्शित करना इस निबंध का लक्ष्य है।

अपभ्रंश काल में साहित्यिक क्रियाशीलता का मुख्य केंद्र पश्चिम भारत था। अपभ्रंश की अधिकांश साहित्यरचना इसी प्रदेश में हुई। जैन-धर्मावलंबी विद्वानों का

अपभ्रंश से उत्पत्ति

इस साहित्यनिर्माण में विशेष हाथ था। इसी कारण यहाँ की अपभ्रंश और उस का प्रमुख भेद—नागर अपभ्रंश—देश की साहित्यिक भाषा बना। भाषाशास्त्र के आचार्य डाक्टर ग्रियर्सन लिखते हैं—

"शैली की एक विशेष परंपरा विकसित हुई और नागर अपभ्रंश कहलाने वाली

अपभ्रंश ने प्राकृत की भाँति एक सुनिश्चित साहित्यिक रूप ग्रहण कर लिया जिस से कि पश्चिमी भारत मे अपभ्रंश की रचनाएँ होने लगी। साधारणत ग्राह्य होने के कारण यह अधिकाश भारत मे साहित्यिक कृतियों का माध्यम कर के स्वीकार कर ली गई।"[१]

जिस प्रकार आजकल ब्रज, अवधी, बिहारी, राजस्थानी आदि विभाषाओ के बोलने वाले भी खड़ी बोली मे ही साहित्य रचना करते है, उसी प्रकार उस काल में अपभ्रंश के भिन्न-भिन्न भेदो का बोलचाल में प्रयोग करने वाली जनता भी साहित्य-रचना पश्चिमी अपभ्रंश मे ही करती थी। हिंदी भाषा के प्रकाड पडित चद्रधर शर्मा गुलेरी अपनी "प्राचीन हिंदी लेखमाला" मे लिखते है—

"अपभ्रंश कई नही थे, अपभ्रंश एक देश की भाषा नही थी; कही-कही नहरो का पड़ोस होने से उसे नहर के नाम से भले ही पुकारते हों, परन्तु वह देश भर की भाषा थी जो नहरो के समानातर बहती चली जाती थी।"[२]

जिस काल मे उत्तर भारतीय जनसमाज की प्रतिष्ठित साहित्यभाषा प्राकृत थी, उस समय पश्चिम प्रदेशों में रहने वाली कतिपय आभीर आदि निम्न कोटि की जातियाँ उसे उस शुद्ध रूप मे नही बोलती थी, बल्कि अशुद्ध और अपभ्रष्ट रूप मे बोलती थी। भाषा-शास्त्र का यह व्यापक नियम है कि किसी एक समय में किसी प्रदेश मे भाषा के दो रूप प्रचलित होते है—(१) एक तो लिखित साहित्य-रूप, जो विद्वत्-समाज मे साहित्य-रचना के लिए समादृत होता है। (२) दूसरा, जनसाधारण मे प्रचलित उसी भाषा का बोलचाल का रूप जो उस विशुद्ध साहित्य रूप मे बहुत-कुछ मिलता हुआ होने पर भी अशुद्ध और बोलचाल की सहूलियतो के लिए विकृत-रूप होता है। प्राकृत के साहित्य-काल मे यही बोलचाल का अपभ्रष्ट रूप "अपभ्रंश" कहलाने लगा। आगे चल कर यही बोलचाल का विकृत अपभ्रंश साहित्यारूढ हुआ, परतु उस के साथ ही उस का बोलचाल का प्रवाह साहित्यिक रूप के नियमों के बाँध को तोड़ता हुआ स्वच्छद और विकृत रूप मे बहता रहा। उसी बहते हुए स्वच्छद रूप से कालातर मे हमारी देशभाषाओ का जन्म हुआ।

---

[१] 'लिंग्विस्टिक सर्वे अव् इंडिया', जिल्द१, भाग १, भूमिका, अध्याय १२, पृ० १२४

[२] 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग २, (सं० १९७८)

यों तो अपभ्रंश के व्यापक अर्थ में (किसी साहित्यारूढ़ भाषा का तत्कालीन बोलचाल का विकृत एवं स्वच्छंदरूप) उस का प्रचार विक्रम की दूसरी शताब्दी से ११वीं शताब्दी तक उत्तर-भारत में रहा, परंतु अनुमानतः विक्रम की छठी शताब्दी के लगभग प्राकृत, संस्कृत भाषा की तरह, केवल साहित्य की भाषा रह गई थी और उसी समय से अपभ्रंश जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा बनी। अपभ्रंश का युग कब बीता और कब से देशभाषाओं का भिन्न-भिन्न रूप बना, यह निश्चय-पूर्वक कहना कठिन है। भाषाएँ एक-दो वर्ष में बदल नहीं जातीं, उन का परिवर्तन ऐसा नहीं हुआ करता जैसा कि राजगद्दी से एक राजा का जाना और दूसरे का आरूढ़ होना। यह परिवर्तन धीरे-धीरे होता है, और कई वर्षों, कई शताब्दियों, तक फैला होता है। इस बीच के समय को हम परिवर्तनकाल कहते हैं। अपभ्रंश और देशभाषाओं के बीच के परिवर्तन-काल को हिंदी भाषा-शास्त्र के विद्वानों ने बहुमत से विक्रम की १०वीं से १३वीं शताब्दी तक माना है। तेरहवीं शताब्दी में देश-भाषाएँ अपभ्रंश से स्पष्टतः भिन्न होने जा रही थीं, ऐसे उदाहरण मिलते हैं।

अपभ्रंश का प्रचार-काल

इस परिवर्तन-काल की भाषा को हिंदी के विद्वान पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' नाम दिया है।[1] गुजराती भाषा के विद्वान श्रीमोहनलाल दलीचंद देसाई ने उसे 'जूनी गुजराती' संज्ञा दी है। इस काल के दूसरे अन्वेषक, विशेषतः पश्चिमी विद्वानों ने इसे 'प्राचीन राजस्थानी' कहा है। वास्तव में, इन तीनों नामों में 'पुरानी राजस्थानी' नाम उस काल की भाषा का अधिक परिचायक हो सकता है, क्योंकि हिंदी और गुजराती की अपेक्षा राजस्थानी ही उस भाषा के सब से अधिक नजदीक है, और उस की विशेषताएँ उक्त दोनों भाषाओं की अपेक्षा राजस्थानी में अधिकांश सुरक्षित हैं। यद्यपि गुलेरी जी का यह कहना कि—

पुरानी हिंदी, जूनी गुजराती अथवा प्राचीन राजस्थानी

"पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी हिंदी आदि नाम कृत्रिम हैं, और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेल कर बनाए गए हैं",[2] बिल्कुल सत्य है, परन्तु

[1] 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग २, (सं० १९७८)
[2] वही।

उन्ही के कथनानुसार इस उत्तर अपभ्रंश कालीन देशभाषा को 'पुरानी हिंदी' नाम देना भी भेद-बुद्धि को और दृढ करना है। "पुरानी हिंदी" नाम उतना ही अयुक्तिसगत, अयथार्थ है। उक्त भाषा थोडे से स्वाभाविक भेदो के साथ उत्तरी भारत मे गुजरात से अतर्वेद (प्रयाग क्षेत्र) तक प्रचलित थी; उसी के देशभेदो से वर्तमान देश-भाषाओ का विकास हुआ है। उस से केवल हिंदी और गुजराती का ही जन्म नही हुआ बल्कि अन्य आधुनिक भाषाओं का भी, यथा राजस्थानी, ब्रज, खड़ीबोली आदि का।[1] यथार्थ मे उसे उत्तर-कालीन अपभ्रंश अथवा लोकभाषा कहना उचित होगा।

इस प्रकार अपभ्रंग मे हिंदी और इतर आधुनिक भाषाओ तक के विकास-काल को हम तीन विभागो मे बॉट सकते है---

(१) पूर्वकालीन अपभ्रंश काल --- विक्रमी दूसरी से १०वी शताब्दी तक।

(२) उत्तर कालीन अपभ्रंश काल --- विक्रमी १०वी से १३वी शताब्दी तक।

(३) लोकभाषा अथवा प्राचीन राजस्थानी काल---१३वी से १५वी शताब्दी तक।

अपभ्रंश का विकास वि० २री से १०वी शताब्दी तक

(१) **पूर्वकालीन अपभ्रंश**---'अपभ्रंश' शब्द सब से पहले किसी भाषा के लिए प्रयुक्त नही होता था। साहित्य की भाषा जब निरक्षर अथवा साधारण जनसमाज के प्रयोग मे आकर उच्चारण और शिष्टता की श्रेणी से गिर जाती थी, या विकृत हो जाती थी, तब उसे अपभ्रष्ट अथवा अपभ्रंश कहा जाता था। पतंजलि ने, जिन का समय ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी माना जाता है, अपने महाभाष्य मे इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है। जैसे---

---

[1] ब्रजभाषा की रचनाएँ कबीर के बाद की है। खड़ीबोली भाषा मुसल्मान-काल से प्रधान हुई, यद्यपि अमीर खुसरो में उस का सर्व प्रथम रूप १४वीं शताब्दी में मिलता है। परंतु वह प्रचलित रूप न था; देश भाषा की व्यापकता उस में उस काल में न थी। अवधी का रूप भी जायसी और तुलसी से पुराना नहीं है; जायसी में उस का बोल-चाल का रूप है, और तुलसी मे साहित्य-प्रतिष्ठित। परंतु जायसी का रूप अपने स्थानीय प्रांतीय रूप को रखते हुए भी परिवर्तन काल के उत्तर-अपभ्रंश अथवा लोकभाषा की ओर झुकता है। इन सब से पहले उत्तर भारत में बोलचाल और साहित्य दोनों में क्रमशः प्रतिष्ठित एक व्यापक भाषा का रूप प्रचलित था, जिसे लोकभाषा या देशभाषा कहना चाहिए। इस रूप की अंतिम झलक कबीर की भाषा में दिखाई पड़ती है। अपभ्रंश के बाद यह रूप देशभाषाओं का पहला रूप है जिस ने कालांतर में प्रांतीय भेदों को जन्म दिया। राजस्थानी को इस रूप को सब से पहले धारण करने का श्रेय है।

एककस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद् यथा—

गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः॥

इसी प्रकार जैसे आजकल शिष्ट और पठित लोग जिस का शुद्ध उच्चारण 'संस्कृत' करेंगे, निरक्षर, साधारण लोग उसे 'संसकिरत', 'सेमकरन', 'संसकिरित' बोलेंगे।

अब यह देखना है कि प्राचीन रीतिकारों के भाषा-संबंधी साहित्य-ग्रंथों में अपभ्रंश को कब और कैसी प्रतिष्ठा मिली है।

(१) भरत मुनि ने अपना नाट्य-शास्त्र विक्रम की दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी में रचा। उस में अपभ्रंश भाषा को देश-भाषा के नाम से लिखा है।

एवमेतत्तु विज्ञेयं संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषा प्रकल्पनम्॥

संस्कृत और प्राकृत के बाद यह 'देश-भाषा' और कोई नहीं, अपभ्रंश ही हो सकती है। भरत मुनि ने सात भाषाओं, यथा—मागधी, अवंतिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाल्हीका, दाक्षिणात्या—और उतनी ही विभाषाओं का उल्लेख किया है। ये सात भाषाएँ प्रांतीय साहित्यिक प्राकृतें हैं। विभाषाएँ इस प्रकार गिनाई गई हैं—शबर, आभीर, चांडाल, चेर (केरलीय) द्रविड, ओड्र, (उत्कल प्रांतीय), और जंगली जाति की बोलियाँ।

इस से यह सिद्ध हुआ कि भरत मुनि के ज़माने तक प्राकृतें शिष्ट समुदाय की साहित्य-भाषाएँ हो गई होंगी और अपठित साधारण जनता उन्हीं को अपभ्रष्ट रूप में बोलती होगी, और उस बोलचाल के रूप पर आभीर शबरादि जातियों की बोलियों का प्रभाव भी पड़ा होगा। नाट्य-शास्त्र के बत्तीसवें अध्याय में देश-भाषाओं के कुछ उदाहरण दिए गए हैं जो अपभ्रंश से मिलते हैं। एक स्थान पर यह भी कहा है कि सिंधु (सिंध), सौवीर (दक्षिण-पश्चिमी पंजाब) और उस के आस-पास के पहाड़ी प्रदेश में उ-कार बहुला भाषा बोली जाती है। उ-कार बहुलता अपभ्रंश का एक प्रधान लक्षण है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि विक्रम की दूसरी-तीसरी सदी में जिस देश-भाषा का प्रचार था, उस का कोई अलग नाम नहीं पड़ा था। निम्नकोटि की जनता में वह बोली जाती थी, साहित्यरचना उस में नहीं होती थी। यही दशा पाँचवीं शताब्दी तक रही, जिस का दूसरा प्रमाण आगे दिया जाता है।

भरत मुनि के आस-पास के जमाने में वररुचि ने अपने 'प्राकृत प्रकाश' की रचना की, जो प्राकृत का सब से पहला व्याकरण है। उस में अपभ्रंश का उल्लेख नहीं है। संभव है, तब तक अपभ्रंश साहित्य मे इतनी प्रधानता से प्रयुक्त नही होती रही होगी कि व्याकरणो मे उस का नामोल्लेख किया जा सके। अतएव अपभ्रंश-काल के विकास का पहला सिरा भरत मुनि और वररुचि का काल है और दूसरा सिरा हेमचंद्र का समय १२वीं शताब्दी।

(२) पुरातत्व के प्रसिद्ध विद्वान् बाबू काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने लेख 'पुरानी हिंदी का जन्मकाल'[१] में 'नारदस्मृति' का एक प्रमाण उद्धृत करते हुए लिखा है —

संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैः शिष्यमनुरूपतः।
देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरु स्मृतः॥

अर्थात् गुरु अपने शिष्य को संस्कृत, प्राकृत और देश-भाषा में समझावे। यह 'देश-भाषा' प्राचीन अपभ्रंश के सिवाय कौन हो सकती है? नारद-स्मृति का समय ईसा की पाँचवीं सदी माना गया है। ऊपर भरत के नाट्य-शास्त्र में भी 'देश-भाषा' नाम मिलता है। इस से यह सिद्ध होता है कि 'नारदस्मृति' के समय मे देश-भाषा, अपभ्रंश प्रचलित हो गई थी। प्राकृत उस समय पंडितों की किताबी भाषा रह गई थी; बोलचाल की भाषा अपभ्रंश थी।

(३) अपभ्रंश शब्द का भाषा के अर्थ में पहला प्रयोग वलभी के राजा धारसेन (द्वितीय) के शिलालेख में मिलता है, जहाँ वह अपने पिता गुहसेन के विषय मे लिखता है कि वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—तीनो भाषाओ की काव्य-रचना मे दक्ष था—

संस्कृत प्राकृताऽपभ्रंश भाषा त्रय प्रतिबद्धप्रबंधरचनानिपुणतरांतःकरण॥

गुहसेन के शिलालेख वि० स० ६१६ से ६२६ तक के मिलते है जिन से उस का समय विक्रम की सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

(४) इसी शताब्दी का साहित्यकार भामह काव्य के तीन भेद करता हुआ लिखता है—

---

[१] 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग ८

संस्कृत प्राकृत इति त्रिधा।

(५) 'कादंबरी' के रचयिता बाण ने 'हर्षचरित' में लिखा है कि जब राजा भ्रमण करने को निकलते, तो उन के साथ एक प्राकृत कवि और एक भाषा कवि भी रहता था। बाण सातवीं शताब्दी में हुआ है। यह भाषा का कवि अपभ्रंश का कवि रहा होगा; अपभ्रंश तब तक साहित्य की भाषा प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

(६) आठवीं शताब्दी के लगभग दंडी ने अपने 'काव्यादर्श' में अपभ्रंश को काव्य-विभागों में से एक विभाग गिनाया है—

तदेतद् वाङमयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशं च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥

(७) नवीं शताब्दी ईस्वी में रुद्रट भाषा की दृष्टि से काव्य के छः भेद करता है—संस्कृत, प्राकृत, मागध, पैशाच, शौरसेनी और अपभ्रंश। अपभ्रंश के उस ने देशानुसार भी कई भेद किए हैं।

उपर्युक्त आधारों से प्रमाणित होता है कि विक्रम की छठीं-सातवीं शताब्दी से अपभ्रंश साहित्य रचना के लिए प्रयुक्त होती थी और उस की इतनी प्रतिष्ठा हो चुकी थी कि (१) राजा लोग भी उस में काव्यरचना कर के गौरवान्वित होते थे।[१] (२) साहित्यग्रंथों में काव्य-विभाग करते हुए रीतिकार अपभ्रंश की एक स्वतंत्र काव्यशैली मान चुके थे।

अब अपभ्रंश निम्न जाति की बोलचाल की गँवारू भाषा मात्र नहीं रह गई थी। वह जनता की सम्मानित, सजीव, साहित्य-भाषा की तरह प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इस जमाने में प्राकृत केवल मृतप्राय भाषा रही होगी और केवल विद्वान लोग ही आत्मप्रीत्यर्थ उस में साहित्य-रचना करते होंगे।[२]

(८) राजशेखर ने विक्रमीय दसवीं शताब्दी में अपने साहित्य-ग्रंथ 'काव्य-मीमांसा' में अपभ्रंश का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है, जिस से प्रतीत होता है कि

---

[१] वलभी के राजा धारसेन (द्वितीय) के शिलालेख का उल्लेख ऊपर देखिए।

[२] यदा-कदा संस्कृत नाटकों में भी उप-भाषा की तरह प्राकृतों को स्थान मिलता रहा।

उस ज़माने में इस भाषा का साहित्य खूब संपन्न दशा में था। वह प्रामाणिक रूप में कहता है कि अपभ्रंश का प्रचार

सापभ्रंश प्रयोगा सकल मरुभुवष्टक्क भादानकाश्च ।

सारे मरुप्रदेश, टक्क (पूर्वी पंजाब का भाग) और भादानक में था।

(९) बनारस के पुराने किले के एक कुएँ में ईस्वी सन् १०४२ का ताम्र शासन-पत्र मिला है जिस में त्रिकलिंगाधिपति महाराज कर्णदेव द्वारा पंडित विश्वरूप को मुनी गोत्र के दान देने का उल्लेख है। लेख ३७ श्लोकों में समाप्त होता है। उस का १२वाँ छंद देश-भाषा अपभ्रंश में लिखित इस प्रकार है—

होंहिंति एत्थवसे पुरिसा एक्कइय गौरव महग्घा ।
इय हाविऊण जेणं पालीण परिग्गहो गहियो ।।[1]

यह छंद त्रिपुरी के राजा धवल के विषय में है, जो दशवीं शताब्दी के आरंभ में राज्य करता था।

अतएव अपभ्रंश का काल विक्रम की दूसरी शताब्दी से दसवीं अथवा ग्यारहवीं शताब्दी तक माना जा सकता है।

अब यह देखना रह गया कि अपभ्रंश प्रधानतः उत्तर भारत के किन-किन भूभागों में प्रचलित साहित्य भाषा थी, और उस की विस्तार-सीमा कहाँ तक थी ?

अपभ्रंश का प्रचार-क्षेत्र

भरत के नाट्य-शास्त्र में उल्लेख मिलता है कि उ-कार बहुला देशभाषा सिंध, पश्चिम-पंजाब (सौवीर) और उस के आस-पास बोली जाती थी। दंडी इसे मुख्यतः आभीरों की भाषा कहता है—

आभीरादि गिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।।

इतिहास से प्रमाण मिलता है कि आभीर जाति पहले सिंध और पंजाब में बसी, फिर राजस्थान, गुजरात आदि भूभागों में फैल गई। आभीर शबर आदि निम्न जातियाँ शिष्ट भाषा का अशुद्ध और विकृत उच्चारण करती होंगी, इसी लिए उन की भाषा को अपभ्रंश

---

[1] नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग ११, (सं० १९८७) पृष्ठ ४३९-४४३

नाम मिला बाद में वही अपभ्रष्ट भाषा व्यापक हो कर जनसमुदाय की बोलचाल की और क्रमशः साहित्य की भाषा बन गई होगी।

राजशेखर ने अपभ्रंश का प्रचार-क्षेत्र मरु (पश्चिमी राजस्थान) टक्क (पूर्वी पंजाब) और भादानक प्रदेश बताया है।

ईस्वी ११वीं शताब्दी में रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' के टीकाकार नमिसाधु ने लिखा है कि "अपभ्रंश भी प्राकृत है। लोगों ने इस के तीन भेद कहे हैं—उपनागर, आभीर और ग्राम्य। देशानुसार इस के कई भेद हैं जिन के लक्षणों का लोकभाषा से पता चल सकता है।"[१] इस से यह भी प्रकट होता है कि अपभ्रंश 'लोकभाषा' थी। आभीर जाति का इस से घनिष्ट संबंध था। राजशेखर एक जगह 'काव्यमीमांसा' में लिखता है कि सौराष्ट्र और त्रवण (पश्चिमी राजस्थान) के लोग संस्कृत पढते हैं, परंतु अपभ्रंश का मिश्रण कर के पढते हैं।

इन अवतरणों का सारांश यह हुआ कि अपभ्रंश मुख्यतया राजस्थान, मालवा, गुजरात और सिंध की भाषा थी और वहीं से उस का धीरे-धीरे प्रचार बढ़ा। अपभ्रंश में साहित्य की रचना भी इन्हीं देशों में हुई। अपभ्रंश के तीन मुख्य भेद माने गए हैं। वे तीनों इन्हीं प्रांतों में प्रतिष्ठित हुए।[२] नागर गुजरात और पश्चिमी राजपूताना में, उपनागर पंजाब और मालवा में और व्राचड सिंध में प्रचलित था।

प्रायः सब लोग जानते होंगे कि हिंदी का विकास अपभ्रंश से हुआ है। यही नहीं, सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास अपभ्रंश से हुआ है। ऊपर

---

[१] देखिए रुद्रट का 'काव्यालंकार'—काव्यमाला (२—१, १५)

[२] पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी भी इसी निर्णय पर पहुँचते हैं। वे कहते हैं—'अंतर्वेद, ब्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भादानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर और सुराष्ट्र—यहीं की यह भाषा एक ही मुख्य अपभ्रंश थी, जैसे पहले देश-भेद होने पर भी एक ही प्राकृत थी।'—नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग २, (सं० १९७८)।

गुलेरी जी ने अपभ्रंश के साथ-साथ राजस्थान और मध्य भारत में पैशाची (भूत-भाषा) का प्रचार भी सिद्ध किया है। राजशेखर ने पैशाची के प्रचार-क्षेत्र का उल्लेख करते हुए अवंती, पारियात्र (चंबल और बेतवा की भूमि) और दशपुर (मंदसोर) बताया है।

हम कह आए हैं कि विक्रमीय दूसरी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक प्रायः सारे उत्तर भारत की भाषा अपभ्रंश थी। उस में प्रांतीय भेद अवश्य थे जिन के आधार पर कई अपभ्रंशें मानी गई, पर उन भेदों में बहुत कम अंतर था। पहले की भिन्न-भिन्न प्राकृतों जितना कदापि नहीं। अपभ्रंश के बाद जिस लोकभाषा का प्रचार उत्तर भारत में हुआ, वह अपने भेदों को लेकर १३वीं-१४वीं शताब्दी के लगभग भिन्न-भिन्न प्रांतों में पृथक् होने लगी। यद्यपि आरंभ में इतना भेद नहीं था, परंतु देश की राजनैतिक परिस्थिति के अनुसार ये भेद भी धीरे-धीरे बढ़े और देश में एक भाषा के स्थान में अनेक भाषाएँ हो गई।

उत्तरकालीन अपभ्रंश वि० १०वीं से १३वीं शताब्दी तक

सम्राट् हर्षवर्धन (सं० ६६३-७०४) के काल तक उत्तरी भारत एक ही शासन के नीचे रहा। गुप्त-साम्राज्य के नष्ट होने के साथ-साथ भाषा की एकता भी नष्ट हो गई। विभिन्न प्रांतों का पारस्परिक आदान-प्रदान, व्यवहार अवरुद्ध हो गया और यही कारण भाषा की एकता के छिन्न-भिन्न होने का भी हुआ।

अपभ्रंश से वर्तमान देशभाषाओं का जो विकास हुआ उस की गति और क्रम का इतिहास कई शताब्दियों पर फैला हुआ था। अपने शैशव-काल में ये देश-भाषाएँ अपनी जननी अपभ्रंश से बहुत-कुछ प्रभावित रहीं और सँभल जाने पर अपने पैरों पर खड़ी हो कर पृथक् हो गईं। अतएव इस शैशव काल को (अर्थात् जब तक देश-भाषाएँ अपभ्रंश से पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हो गई) हम परिवर्तन काल कहेंगे। इस काल की भाषा को हम लोक-भाषा कहेंगे, जिसे गुलेरी जी ने पुरानी हिंदी, देसाई महोदय ने जूनी गुजराती और पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिकों ने प्राचीन राजस्थानी कहा है। यह लोकभाषा, थोड़े-थोड़े अंतरों के साथ—जो आगे चल कर भाषाओं के स्वतंत्र और भिन्न रूप धारण करने के कारण बने—अब भी समस्त उत्तर भारत की लोकभाषा थी। इस के प्रमाण आगे प्रस्तुत किए जावेंगे।

उत्तरकालीन अपभ्रंश अथवा लोकभाषा का सूत्रपात विक्रम की आठवीं शताब्दी से ही हो चला था। उस समय तक शिष्ट समुदाय की साहित्य-भाषा अपभ्रंश थी, परंतु जैसा कि भाषाओं के संबंध में प्राकृतिक नियम है, साधारण जनता साहित्य-भाषा के विकृत रूप का बोलचाल में प्रयोग करने लगी थी। संभवतः ग्रामीण कविताएँ, लोकगीत और

इसी प्रकार की असंस्कृत रचनाएँ इस विकृत भाषा में होने लगी होंगी। नवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी के बीच में वज्रयानी बौद्ध सिद्धों की रचनाओं[1] का एक संग्रह डाक्टर हरप्रसाद शास्त्री और उन के सुपुत्र डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने प्रकाशित करवाया है। इन रचनाओं में लोकभाषा का अच्छा परिचय मिलता है।

अपभ्रंश साहित्य की रचनाएँ अब तक बहुत कम प्रकाश में आई हैं। लोक-भाषा का रूप तो पहले से ही तरल होता है और लोगों को उस के संरक्षण की इतनी चिन्ता भी नहीं होती, जितनी शिष्ट साहित्य-रचना की। परंतु तो भी जैन आचार्यों और जैन-धर्म-संस्थाओं की कृपा से जो कुछ प्राचीन साहित्य बचा हुआ है, वह भी अपने स्थान में पड़ा-पड़ा ही सड़ रहा है। जब लिखित अपभ्रंश साहित्य की यह दशा है तो लौकिक रचनाओं की तो बात ही क्या है?

आगे हम इन्हीं बिखरी हुई उत्तर-कालीन अपभ्रंश की रचनाओं के कुछ नमूने उद्धृत करेंगे जिन से परिवर्तन काल की लोकभाषा का विकास-सूत्र समझ में आ सकेगा और साथ ही वर्तमान कालीन देशभाषाओं की उत्पत्ति के संबंध में हमारे विचार निश्चित हो सकेंगे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है इस काल की रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं; जो मिलती हैं वे संस्कृत और प्राकृत काव्यों के बीच-बीच में उद्धरणों अथवा संग्रहों के रूप में मिलती हैं। कुछ संबद्ध काव्य भी मिलते हैं। सम्भव है, खोज करने पर और बहुत सा साहित्य हाथ लगे। इस न्यूनता के कई कारण हैं जिन में से मुख्य कारण कवियों का अपभ्रंश के प्रति उपेक्षा-भाव है। पूर्व प्रतिष्ठित संस्कृत और प्राकृत काव्य-भाषाओं के प्रति प्रतिष्ठा के भाव लोगों को अपभ्रंश भाषा में रचना करने से रोकते थे। इस का एक अच्छा उदा-हरण तत्कालीन साहित्य से मिलता है।

(१) माइल्लधवल विक्रम की दसवीं शताब्दी के अंत में एक जैन कवि हो गया है। यह जैन धर्मग्रंथ 'लघुनयचक्र' के रचयिता प्रसिद्ध देवसेन सूरि का शिष्य था। इस

---

[1] देखिए 'गंगा' मासिक पत्रिका (सुलतानगंज, भागलपुर) भाग ३, अंक १, (पुरातत्वांक) में राहुल सांकृत्यायन का मंत्रयाण, वज्रयान, चौरासी सिद्ध तथा हिंदी के प्राचीनतम कवि और उन की कविताएँ नामक निबंध।

न ९ नामक ग्रथ गाथाओ में रचा ग्रथ की दो गाथाओ मे लिखता है कि उस ने पहले 'दोहयबधेन'[१] (दूहाबध) अर्थात् अपभ्रश मे इस ग्रथ को देखा था। उसे उस रूप मे देख कर किसी शुभकर महात्मा ने उपहास करते हुए कहा कि ऐसा सुदर ग्रथ दोहाबध (अशिष्ट लोकभाषा) मे शोभा नही देता, इसे 'गाहाबध' (गाथाबध) में कहो। माइल्लधवल ने ऐसा ही किया। कहते है दोहाबध वाली पहली रचना इस के गुरु देवसेन सूरि की थी।

> दव्वसहावपयासं दोहयबंधेन आसि जं दिट्ठं।
> तं गाहाबंधेण य रइयं माइल्लधवलेण ॥
> सुणिऊण दोहरत्थं सिग्घं हसिऊण सुहंकरो भणइ।
> एत्थण सोहइ अत्थो गाहाबंधेण तं भणह ॥

इस से दो बातें सिद्ध होती है—(१) गाथाबध अर्थात् प्राकृत भाषा (जिस का कि 'गाथा' छद प्रधान छद था) धर्मग्रथो के उपयुक्त साहित्य-भाषा गिनी जाती थी। 'दोहयबध' या 'दोहरत्थ' अर्थात् अपभ्रश भाषा इस महत्वपूर्ण पद के उपयुक्त नहीं समझी जाती थी। (२) बोलचाल में पुराने समय मे चली आती हुई 'दोहयबध' अपभ्रंश रचना का इस काल से भी पुराना अस्तित्व था। जो लोग यह कहते है कि प्राकृत अपभ्रश की बेटी है और उस के बाद मे पैदा हुई है, उन की कल्पना अक्षरश सत्य नही है। बोलचाल के रूप को ही अपभ्रश, हीन भाषा, अथवा बिगडी बोली समझना चाहिए और वह सदा वर्तमान रही होगी, चाहे उस समय मे साहित्य-भाषा कोई भी रही हो। गुलेरी जी के शब्दों मे—"वैदिक भाषा, सच्ची संस्कृत, सच्ची प्राकृत, अपभ्रश, पुरानी हिंदी—देश की एक ही भाषा रही है, पंडितो की संस्कृत, वैयाकरणो या नाटकों की प्राकृत, महाराष्ट्री या ऐसे ही नाम के अपभ्रश, पश्चिमी राजस्थानी या पुरानी गुजरानी या बँगला, गुजराती आदि सब इस की 'साइड शोज' है, नट की न्यारी-न्यारी भूमिकाएँ है।"[२]

---

[१] जिस प्रकार गाथा या गाहा प्राकृत-काल का लोकप्रिय मुख्य छंद था, उसी प्रकार अपभ्रंश-काल और उत्तर-अपभ्रंश-(लोकभाषा) काल का प्रमुख छंद दोहा था। यहाँ तक रूढ़ि चल पड़ी थी कि 'गाहाबंध' से प्राकृत-काव्य और दूहा-बंध से अपभ्रंश-काव्य लक्षित होने लगे थे।

[२] नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, पृष्ठ १३४

शुभकर के उपहास वाली बात का एक दूसरा उदाहरण बौद्ध आख्यानों में भी मिलता है। कहते हैं कि एक ब्राह्मण शिष्य ने भगवान् बुद्ध से आग्रह किया कि तथागत के वाक्य और छंद वेद तथा उपनिषद की भाषा में होने चाहिए—भाषा, अर्थात् पाली या मागधी, में नहीं। परंतु बुद्ध ने इस का यही उत्तर दिया कि मेरे वचन साधारण जनता के लिए हैं अतएव उन ही की भाषा में लिपिबद्ध किए जाने चाहिएँ। काशी के पंडितों ने भी तो तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' को भाषा में रचित देख कर विरोध किया था और शास्त्रार्थ कर लेने पर ही उन का पिंड छोड़ा था। भाषाओं के संबंध में यह तो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इस के लिए कोई एक देश या साहित्य दोषी नहीं है। परंतु इस में गौरव की बात इतनी ही है, कि जहाँ (शिष्य) माइल्लधवल शुभंकर के कहने पर 'दव्व-सहावपयास' को गाथाओं में परिवर्तन करने का कारण हो गया, वहाँ उस के गुरु देवसेन सूरि ने इसी ग्रंथ को तथा 'श्रावकाचार' को देशभाषा के दोहा छंद में ही लिखा।

जायसवाल महोदय पुरानी हिंदी के जन्मकाल के संबंध में लिखते हैं—[१]

"हिंदी भाषा प्राकृत से अलग हो विक्रमीय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही प्रादुर्भूत हो चुकी थी। इस काव्यगत भाषा के लक्षण ये थे—प्राकृत के छंद छोड़ हिंदी के छंदों का प्रयोग, अंत्यानुप्रास, जो प्राकृत में कभी नहीं बर्ता गया, शब्द-कलाप में देशी शब्दों का प्राकृत शब्दों के साथ बाहुल्य—फिर सब से ऊपर यह है कि व्याकरण प्राकृत का एकदम दूर हो कर हिंदी व्याकरण का शासन।"

(२) प्रसिद्ध जैन ग्रंथकार देवसेन सूरि उपर्युक्त माइल्लधवल के गुरु थे। इन का समय विक्रम सं० ९९० है। इन की रचनाओं में (१) 'दर्शनसार' (२) 'भाव-संग्रह' और (३) 'श्रावकाचार' प्रसिद्ध हैं। 'नयचक्र' ग्रंथ की रचना भी इन्होंने ही दोहों में की, जिस को आगे चल कर माइल्लधवल ने 'गाथा' में बदल दिया था। इन्हों ने अपने ग्रंथों में प्राकृत और अपभ्रंश दोनों भाषाओं का प्रयोग किया है। कुछ दोहों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

जय-कारें जिणु पंच गुरु दूरि दलिय दुहकम्मु।
संखेवें पयय उक्खरहिं, अक्खमि सावय धम्मु॥

---

[१] 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग ८

दुज्जणु सुहियउ होउ जगि सुयणु पयासि उजेण ।
अमियउ विसु वासर जमइ, जिम मरगउ कच्चेण ।।
जिह लमिला सायर गयहि दुल्लहु जुव्व-हरंतु ।
तिह जीवह भवजल गयह, मणु वतणु संबंध ।।
जो जिण-सासण भासियउ सो मइ कहियउ सारु ।
जो पाले सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु ।।
एहु धम्म जो आयरइ चउ बण्णह सह कोइ ।
सो णरु णारी भव्व यणु सुरइय पावइ सोइ ।।
इय दोहा बद्ध वय धम्मं देवसेन उपदिट्ठ ।
लहु अक्खर मत्ता हीय मो पय सयण खमंतु ।।

(३) वज्रयानी बौद्ध सिद्धो की रचना के उदाहरण—इन का समय लगभग नवी शताब्दी के आरभ से तेरहवी शताब्दी के प्रारभ तक माना गया है। इस मत के चौरासी सिद्धो का संबध नालद और विक्रमशिला के प्राचीन विद्यापीठो से था। उदाहरण—

(क) सरह-पा—

जह मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाह पवेस ।
तहि बट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेस ।।
घोरंधारे चंदमणि जिमि उज्जोअ करेइ ।
परम महासुह एकु खणे, दुरिआ अशेष हरेइ ।।
पंडिअ सअळ सत्थ बक्खाणइ, देहहि बुद्ध वसंत न जाणइ ।
अमणागमण ण तेन विखंडिअ, तो वि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ ।।

(ख) कण्ह-पा—

आगम वेअ पुराणे पंडित मान वहंति ।
पक्क सिरीफल अलिअ जिम वाहेरि त भमयंति ।।
जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरणी लइ चित्त ।
समरस जाई तक्खणें जइ पुणु ते सम नित्त ।।

(ग) मही-पा—

खर रवि किरण संतापे रे गअणांगण गइ पइठा ।
भणंति महिता मइ एत्थु बुडंते किंपि न दिठा ।।

यानन-सा—

पेक्खु सुअणे अदस जइसा । अंतराले सोह् तइसा ।।
सोह् विमुक्का जइ माणा । तबे टूटइ असणागमणा ।।

(४) महेश्वर सूरि नामक श्वेतांबर जैन साधु ने ग्यारहवीं शताब्दी
बारहवीं के आरंभ में 'संजम-मंजरी' नामक ग्रंथ लिखा। उदाहरण

संजमु सुरसत्थिहिँ थुवउ संजमु मोक्ख-दुवारु ।
जेहि संजमु मणि धरिउ तह दुत्तर संसारु ।।
संजम भार धुरंधरह सद्दुच्छलिउ न जाहु ।
निअ जणणी जुव्वण हरगु जम्मु निरत्थउ ताहु ।।
वरसि सहस्सिहि जे किअउ तवु संजमु उवयारु ।
कोह महानळ संगमिग सो दहि किज्जइ च्छारु ।।

(५) हेमहंस सूरि के किसी विद्वान शिष्य ने 'सजन-मंजरी' की
लगभग की। उदाहरण—

दिट्ठइँ जो नवि आळवइ, कुसल न पुच्छइ वत्त ।
तासु तणइ नवि जाईय, रे हियड़ा नीसत्त ।।
रासहु कंध चड़ावियइ, लब्भइ लत्त सहस्स ।
आपहणे करि कम्मडॉ, हिया विसूरहि कस्स ।।

(६) मालवनरेश प्रसिद्ध मुंजराज और भोज के दरबार में धनप
जिस ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में 'सत्यपुर मंडन महावीरो
गाथाओं का काव्य लिखा। उदाहरण—

रखि सामि पसरंतु मोहु नेहडु य तोडहि ।
तुम्ह दंसणि नाणु चरणु भडु कोहु विहोडहि ।।
करि पसाउ सच्चउरि वीर जइ तुँहु मणि भावइ ।
तइ तुट्टइ धणपाळ जाउ जहि गयउ न आवइ ।।

ने 'श्रुतिपंचमी कथा' दोहा-सोरठा-चौपाई में कही है। उदाहरण—

सोरठा

जिण-सासणे सारु, णिद्धुअपावकलंकमलु ।
सम्मत विसेसु, णिसुणउ सुअंचमि फलु ।।

चौपाई

अहणिद्धणु जणु सोहइ ण कोइ ।
धण संपय बिणु पुणहि ण होइ ॥

(७) इसी ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथमार्ध (वि० सं० १०२९) में पुष्पदंत नामक जैन कवि हुआ जो मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज तीसरे का समकालीन था। इस ने 'तिसट्ठि-महापुरुष-गुणालकार-महापुराण' की रचना की और 'आदिपुराण', 'उत्तर-पुराण' आदि ग्रंथ अपभ्रंश में लिखे। उदाहरण—

बंभणाइ कासव-रिसि गोत्तइ ।
गुरु वयणामय पूरिय सोत्तइ ॥
पुष्फयंत कयणा धुयपंके ।
जइ अहिमाण-मेरु णामंके ॥
मह समयागमे जायहें ललियहें ।
बोल्लइ कोयल अंबय कलियहे ॥
काणणे चंचरीउ रुणुरुंटइ ।
कीरु किएण हरिसेण विसट्टइ ॥

(८) 'जसहरचरिउ'—अपभ्रंश का काव्य भी इसी काल के आस-पास का है। उदाहरण—

विणु धवळेण सयडु कि हल्लइ ।
विणु जीवेण देहु कि चल्लइ ॥
विणु जीवेण मोक्ख को पावइ ।
तुम्हारिसु कि अप्पइ आवइ ॥
माणुस सरीर दुह-पोट्टलउ ।
धोयउ धोयउ अइ विट्टलइ ॥
वारिउ वारिउ वि पाउ करइ ।
पेरिउ-पेरिउ विन धम्म चरइ ॥
चम्मे बद्धु वि कालि सडइ ।
रक्खिउ-रक्खिउ जम-मुह पड़इ ।

(९) 'णायकुमारचरिउ'—उदाहरण—

सो णंदउ जो पढइ-पढावइ।
सो णंदउ जो लिहइ लिहावइ॥
सो णंदउ जो विवंदि विवावइ।
सो णंदउ जो भावे भावइ॥

(१०) श्रीचंद कवि ने वंशस्थ छंद में 'कथाकोष' की रचना की। इस का समय विक्रमी ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। उदाहरण—

तहा मुणि काय-किलेस सोहिए
सरीर-छेसे तवसीर वाहिए।......
पसिद्धि पूया कुसुमोह मोहए
गुणोह संभूय फलोह रोहए॥

कुछ विचित्र छंदों का उपयोग भी इस कवि ने किया है, यथा—

'दुहडउ' छंद

तइ चेय साहु। सीलंबु वाहु॥
सुह-साह णाहे। आराहणाहे॥

(११) योग चंद्रमुनि ने बारहवीं शताब्दी ईस्वी में 'योगसार' नामक ग्रंथ दोहा-सोरठा-चौपई में रचा। उदाहरण—

जीवा जीवह भेउ, जो जाणइ ते जाणियउ।
मोक्खह कारण एउ, भणइ जो इहि भणिउ॥
धम्मु ण पढिया होइ, धम्मु ण पुच्छापिच्छइ।
धम्मु ण मढिय पयेसि, धम्मु ण मुच्छा लुञ्चयइ॥
कासु समाहि करउ को अंचउ।
छोपु अछोपु करिवि को वंचउ॥

(१२) तपागच्छ का संस्थापक प्रसिद्ध जैन वैयाकरण और कवि हेमचंद्राचार्य विक्रम की बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में विद्यमान था। यह गुजरात के इतिहास-प्रसिद्ध सिद्धराज जयसिंह सोलंकी के राज्याश्रय में था और उस के उत्तराधिकारी कुमार-

पाल के राज्य म यह राज्य-गुरु की पदवी पर प्रतिष्ठित रहा हेमचद्र का जन्म वि० स० ११५४ मे हुआ, दीक्षा ११४५ में, सूरिपद ११६६ मे और मृत्यु स० १२२९ मे हुई। प्रसिद्ध द्वयाश्रयकाव्य 'कुमारपालचरित' (जिस के प्राकृत और सस्कृत दो विभाग है) की रचना इस ने वि० सं० १२१८ और १२२९ के बीच की। 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' नामक प्रसिद्ध व्याकरण इस ने सिद्धराज के आदेश से बनाया (स० ११९९ से पहले, क्यो कि यह संवत् सिद्धराज की मृत्यु का है)। इस व्याकरण के अतिम अध्याय के ३२९ से ४४८ अर्थात् १२० नियम-सूत्रो मे अपभ्रश का व्याकरण बनाया और उन नियमो के उदाहरणार्थ १७५ अपने से प्राचीन अपभ्रश के प्रचलित दूहो को उस में उद्धृत कर के सकलित किया। निस्संदेह ये प्रचलित दूहे हेमचद्र के समय में प्रसिद्ध रहे होंगे और कम से कम उस से १००-१५० वर्ष पुराने तो अवश्य होगे अथवा दूसरे शब्दो मे कुछ यथार्थता के साथ यह भी कहा जा सकता है कि हेमचंद्र द्वारा उदाहरणस्वरूप उद्धृत इस दोहा-साहित्य का समय मुज के काल वि० सं० १०२९ से जयसिंह के मृत्युकाल स० ११९९ तक है। अनुमानत सूत्र बनाने के साथ-साथ प्रचलित लोकभाषा के तत्कालीन उदाहरण भी ले लिए गए होंगे। इन के अतिरिक्त हेमचद्र की निज की अपभ्रश रचना भी उपलब्ध होती है, परतु वह उतनी सजीव नही है जिस से प्रतीत होता है कि वह साहित्यिक अपभ्रश का अवसानकाल रहा होगा। हेमचंद्र ने 'देशीयनाममाला' नामक एक कोष भी बनाया जिस मे प्राकृत रचना मे आने वाले देशीय शब्दों की गणना की गई है। यह कोष अकारादि क्रम से रचा गया है। उदाहरण—

(क) हेमचद्र की निज की रचना—

गिरिहें वि आणिउ पाणिउ पिज्जइ, तरुहे वि निवडिउ फलु भक्खिज्जइ।
गिरिहुँ व तरुहुँ व पडिअउ अच्छइ, विसयहिं तहवि विराउ न गच्छइ॥
जो जहाँ होतउ सो तहाँ होतउ, सत्तु वि मित्तु वि किहें वि हु आवहु।
जहिंविहु तहिंविहु मग्गे लोणा, एक्कएँ दिट्ठिहि दोन्निवि जोअहु॥

अम्हे निन्दहु कोवि जणु, अम्हइँ वण्णउ कोवि।
अम्हे निन्दहुँ कंवि नवि, नम्हइँ वण्णहुँ कंवि॥
रे मण करसि कि आलडी, विसया अच्छहु दूरि।
करणइँ अच्छह रुन्धिअइं, कड्ढउं सिवफलु भूरि॥

निअय-विहूणा रत्तिहिवि खाँहि जि कसरक्केहि ।
हुहुरु पडन्ति ति पावँद्रहि भमर्डाँहि भवलक्खेंहि ॥

(ख) 'हैम' व्याकरण से उद्धरण—

जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसंतेण ।
ताण गिणंतिए अंगळिउ जज्जरिआउ नहेण ॥१॥
अग्गिएँ उण्हउ होइ जगु वाएँ सीअळु तेवँ ।
जो पुणि अग्गि सीअळा तसु उण्हत्तणु केवँ ॥२॥
भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु ।
लज्जेज्जंति वयंसिअहु जइ भग्गा घर एंतु ॥३॥
वायसु उड्डावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धा वळया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥४॥[1]
जहिँ कप्पिजइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु ।
तहिँ तेहइ भड़-घड़ निवहि कंतु पयासइ मग्गु ॥५॥
बप्पीहा पिउ-पिउ भणिवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जवि, मुह पुणि बल्लहइ, विहुँ वि न पूरिअ आस ॥६॥[2]
ढोल्ला एह परिहासड़ी अइ भण कवर्णाहि देसि ।
हउँ झिज्जउँ तउ केहि पिअ, तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि ॥७॥

(१३) सोमप्रभाचार्य ने वि० सं० १२४१ में अणहिलवाड़ पट्टन में 'जिनधर्म-प्रतिवोध' अथवा 'कुमारपाल-प्रतिवोध'[3] बनाया जिस में उस समय तक के प्रचलित अनेक देशी भाषा के छंद उद्धृत किए गए हैं। सोमप्रभसूरि महावीर स्वामी से ४३वीं पीढ़ी में वृद्धगच्छ के पट्टाधीश आचार्य थे। उन के शिष्य प्रसिद्ध हेमाचार्य थे। सोमप्रभसूरि ने दो और प्राकृतग्रंथ बनाए थे जिन के नाम 'सुमतिनाथचरित्र' तथा 'सूक्ति-मुक्तावली' हैं।

---

[1] इस दोहे का राजस्थानी रूपांतर मिलता है जो आगे दिया गया है।
[2] यह दोहा कुछ रूपांतर के साथ 'ढोला मारू रा दूहा' ग्रंथ में मिलता है।
[3] यह ग्रंथ 'गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज' की चौदहवीं संख्या में छपा है। संपादक श्री: मुनि जिनविजय सूरि हैं।

सोमप्रभ की निज रचनाएँ मध्यत प्राकृत में कुछ कथाएँ संस्कृत में और एकाध अपभ्रंश में हैं। बीच-बीच में लोक भाषा के दूहे भी आ गए हैं जिन में से कुछ हेमचंद्र के व्याकरण में और कुछ मेरुतुंगाचार्य के 'प्रबंधचिंतामणि' और जिन मंडन के 'कुमारपालप्रबंध' में भी आए हैं। कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं। सोमप्रभ की निजी अपभ्रंश-रचना कुछ-कुछ मध्यकालीन साहित्यिक राजस्थानी के डिंगल रूप से मिलती है—डिंगल का पूर्वाभास सा प्रतीत होती है, यथा—

जसु वयण विणिज्जिउ नं ससंकु, अप्पाण निसिहि दंसइ ससंकु।
जसु नयण कंति जिय लज्ज भरिण वणवासु पवन्नय नाइ हरिण॥

गयण-मग्ग-संलग्ग लोल-कल्लोल परंपरु।
निक्करु णिक्कउ नक्क चक्क चंकमण दुहंकरु॥
उच्छलंत गुरु पुच्छ मच्छ रिंछोलि निरंतरु।
विलसमाण जालाजडाल वड |वानल दुत्तरु॥

सोमप्रभ द्वारा उद्धृत देशभाषा के उदाहरण ('कुमारपाल-प्रतिबोध' से)

पिय हउं थक्किय सयलु दिणु तुह विरहग्गि किलंत।
थोड़इ जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत॥१॥[1]
अज्जु विहाणउ अज्जु दिणु, अज्जु सुवाउ पवत्तु।
अज्जु गलत्थिउ सयलु दुहु, जं तुहु महु घरि पत्तु॥२॥[2]
अम्हे थोड़ा रिउ बहुय, इउ कायर चिंतंति।
मुद्धि, निहालइ गयण अलु, कइ उज्जोउ करंति॥३॥
रिद्धि-विहूणह माणुसह, न कुणइ कुवि सम्माणु।
सउणि हि मुच्चहि फलरहिउ तरुवरु, इत्थु पमाणु॥४॥

तत्कालीन अपभ्रंश गद्य का उदाहरण—(सोमप्रभ की रचना)

भो आयन्नह महु वयणु, तणु-लक्खणिहिं मुणामि। इहु बालक एयह घरह कमिण भविस्सइ सामी॥[3]

---

[1] यह दोहा कुछ रूपांतर के साथ 'ढोला मारू रा दूहा' काव्य में मिलता है।
[2] यह भी कुछ रूपांतर के साथ 'ढोला मारू रा दूहा' में मिलता है।
[3] अर्थ—अरे, मेरे वचन सुनो। शरीर के लक्षणों से कहता हूँ कि यह बालक क्रम से इस घर का स्वामी होगा।

(१४) मेरुतुगाचार्य ने वि० स० १३६१ मे प्रबन्धचिन्तामणि नाम का संग्रह-ग्रंथ संस्कृत भाषा मे, वढवान में, बनाया। इस मे कई ऐतिहासिक किस्से-कहानियाँ हैं। शैली 'भोजप्रबंध' की सी है। जैनधर्म की प्रभावना बढ़ाने के लिए धर्मोपदेश का बाहुल्य है। कथाओं के बीच-बीच मे प्रसंगागत उपयुक्त अपभ्रंश की कविता भी उद्धृत की गई है, जो संग्रहकर्त्ता के समय से अवश्य १००-२०० वर्ष पुरानी है। यद्यपि पुस्तक की भाषा संस्कृत है परंतु वह संस्कृत भी देश-भाषा के प्रचलित शब्दों से ओतप्रोत है। ऐसा प्रतीत होता है मानो जैन लेखकों ने देश भाषा मे सोचा है और संस्कृत मे लिखा है। प्रचलित देशभाषा के मुहावरे, कहावते, देशीय शब्द, संस्कृत व्याकरण का चोला पहन कर जगह-जगह पर काम मे आए हैं। कुछ नमूने उद्धृत किए जाते है—

धर्मवहिका=वही। धाटी-प्रपात=धाडा डालना। न्युञ्छन=न्यौछावर। दवरक=डोरा। पादोवधार्यताम्=पग धारो, पधारो। कंबोलक=कचोली, करोरी। जीर्ण मंचाधिरूढ=टूटी खटिया (माँचा राज०) पर पड़ा। हक्कित=बुलाया हुवा। छिम्पिका=छींपी। निज तनक गृह=निज तणो (राज०) घर। व्याघुन्ती=लौटती हुई-बाहुड़ती (राज०)। वासण=भाण्ड, बर्त्तन। वळित=लौटा। कार्मण=कामण, (राज०) जादू। पट्टकिल=पटैल। सेजवाली=सेझवाळी (राज०) पालकी। तापिका=तई (राज०) कड़ाही, तपेली (राज०) फुल्लावपिष्यसि=फुलावेगा। इस प्रकार और भी प्रयोग है। ऐसे प्रयोग प्रायः शत प्रतिशत प्रचीन राजस्थानी के रूप है; इन में से बहुत से अब तक आधुनिक राजस्थानी में विद्यमान हैं।

कुछ अपभ्रंश के दोहे मुंज के नाम से इस संग्रह में आए हैं। कहते हैं ये दोहे धार के प्रसिद्ध महाराजा मुंजराज की रचना है, जो भाषा का कवि भी था। मुंज का समय विक्रम सं० १०३० से १०५० तक माना गया है। उदाहरण—

मुंज भणइ मुणालवइ, जुव्वण गयउ न झूरि।
जइ सक्कर सय खंड थिय, तोइ स मीठी चूरि ॥१॥
झाली तुट्ठी किं न मुउ, किं न हुयउ छरपुंज।
हिंडइ दोरी-बंधियउ, जिम मक्कड़ तिम मुंज ॥२॥
जा मति पच्छइ संपजइ, सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ, विघन न वेढइ कोइ ॥३॥

बाहु बिछोडवि जाहि तुहुं हउं तेवइं को दोसु।
हिययट्ठिय जइ नीसरइ, जाणउं, मुंज, सरोसु ॥५॥[1]
मुंज खडल्ला दोरड़ी पेक्खेसि न गंमारि।
आसाढिइ घण गज्जीइँ, चिक्खिलि होसे वारि ॥६॥
सायर खाई लंक गढ़, गढवइ दससिरि राउ।
भग्गखय सो भज्जि गय, मुंज म करे विसाउ ॥७॥

'प्रबंधचिंतामणि' के इतर उद्धृत दूहे—

राणा सव्वे वाणिया, जेसळ वड्डउ सेठि।
काहूँ वणिजडु माँडियउ, अम्मीणा गढ हेठि ॥१॥
तइँ गडुआ गिरनार, काहूँ मणि मत्सरु धरिउ।
मारी तां खेंगार एक्कउ सिहरु न ढाळिउँ ॥२॥

(१५) अब महाकवि विद्यापति-रचित 'कीर्त्तिलता' से कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। इन का समय वि० सं० १४३७ के लगभग माना जाता है—

सक्कय वाणी बहुअ न भावइ।
पाउँअ-रस को मम्म न पावइ॥
देसिल बअना सब जन मिठ्ठा।
तं तैसन जपञो अवहट्ठा ॥१॥
जो अपमाने दुक्ख न मानइ।
दान-खग्ग को मम्म न जानइ॥
पर उँअआरे धम्म न जोवइ।
सो घण्णो निच्चित्ते सोवइ ॥२॥

पुव्वे सेना सज्जिअइ, पच्छिम हुअउँ पयान।
आण करइ ते आण भउँ, विहि चरित्त को जान ॥३॥

---

[1] रूपांतर के साथ यह दोहा सूरदास (बिल्वमंगल) की जीवनी के संबंध में प्रचलित है।

गिरि टरइ, महि पडइ, नाग मन कंपिया।
तरणिरथ गगन पथ, धूलि भरे झंपिया॥
तबल सत बाज, कत भेरि भरे फुक्किआ।
प्रलय घण सद्द हुअ, णर-रव लुक्किआ॥४॥

ऊपर कुछ प्रसिद्ध स्तंभों को लेकर उत्तरकालीन अपभ्रंश अथवा परिवर्तनकाल के कुछ उदाहरण दिए गए हैं। इधर कुछ समय से इस काल की रचनाओं की खोज चल रही है। हमारा विश्वास है कि जैन-साहित्य की पूरी खोज की जाय तो हिंदी साहित्य के इस अज्ञात काल में अनेक सुंदर रचनाओं का पता लगे। इधर पिछले २५ वर्षों में हिंदी साहित्य के अनेक गवेषणापूर्ण इतिहास ग्रंथ निकले हैं। उन सब में भक्तिकाल के पीछे के इतिहास में तो रचना की दृष्टि से पर्याप्त पूर्णता दिखाई देती है, परन्तु वीरगाथाकाल और उस से पहले की रचनाओं के संबंध में विद्वान लोग सिर्फ यह कह कर टाल देते हैं कि हिंदी की उत्पत्ति वि० सं० ७०० में पुष्य कवि अथवा भुवाल कवि अथवा अमुक अज्ञात कवि से हुई। हमारे विद्वानों में खोज-वृत्ति का अभाव है। वे यह भी जानने की चेष्टा नहीं करते कि इन प्राचीनतम कवियों ने कब और क्या लिखा। केवल यह कह कर कि इन की रचना मिलती नहीं, अपना महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व पूरा कर के वे आगे चलते हैं। राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए यह उपेक्षा वृत्ति बड़ी ही हानिकारक है। परन्तु इधर कुछ ऐसे अध्यवसायी विद्वान भी हिंदी के सौभाग्य से हुए हैं जो इस अंधकारपूर्ण काल को प्रकाशित करने के प्रयास में सच्चे मन से लगे हुए हैं। कुछ संस्थाएँ भी इस कार्य में अग्रसर हुई हैं। परन्तु इन का प्रयास कार्य के महत्व को देखते अत्यल्प है। विषय से सम्बद्ध होने के कारण हम नीचे कुछ ऐसी खोजों के परिणाम संकलित किए देते हैं। जो लोग इस विषय का विशेष पूर्णता के साथ अध्ययन करना चाहते हों वे पं० नाथूराम प्रेमी[1] द्वारा संपादित 'जैनहितैषी' की पुरानी फाइलें देखें। उन में बहुत सी मूल्यवान सूचनाएँ मिलेंगी। कलकत्ते के प्रसिद्ध अन्वेषक और पुरातत्वमर्मज्ञ बाबू पूर्णचन्द्र जी नाहर ने प्राचीन जैन हिंदी साहित्य संबंधी[2] कुछ सूचनाएँ प्रकाशित की हैं जिन में बारहवीं शताब्दी से अठा-

---

[1] प्रेमी जी ने 'हिंदी जैन-साहित्य का इतिहास' भी लिखा है, जो हिंदी साहित्य-सम्मेलन, सप्तम अधिवेशन की लेखमाला में प्रकाशित हुआ है।

[2] 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग २, सं० १९७८, पृष्ठ १७१-१८८

रहवीं शताब्दी तक की जैन विद्वानो द्वारा रचित मुख्यत जैनधर्म-संबधी हिंदी रचनाओं का विवरण दिया है। सक्षेप मे, उस विवरण की सूचनाएँ (जहाँ तक हमारे विषय के अतर्गत है) नीचे सकलित की जाती है—

बारहवी शताब्दी—

(१) श्वेतांबर जैन पंडित जिन वल्लभसूरि ने सं० ११६७ (सूरि जी का मृत्यु-संवत्) के लगभग 'वृद्ध नवकार' की रचना की। उदाहरण—

किं कप्पत्तरु रे अयाण चितउ मण भितरि।
किं चिंता मणि कामधेनु, आराही बहु परि ॥१॥
चित्रा वेली काज किसै वेसंतर लंघउ।
रयण रासि कारण किसै सायर उल्लंघउ ॥२॥
चवदह पूरब सार युगे एक नवकार।
सयळ काज महियळ सरै दुत्तर तरै संसार ॥

. . . .

गुरु जिन वल्लह सूरि भणै सिव सुर के कारण।
नरय तिरिय गइ रोग सोग बहु दुक्ख निवारण ॥३॥
जळ थळ पव्वय वन गहन समरण हुवै इक चित्त।
पंच परमेष्ट मंत्रह तणी सेवा देज्यो नित्त ॥४॥

तेरहवी शताब्दी—

(२) 'जंबूस्वामी रास'—धर्म सूरि कृत—रचनाकाल सं० १२६६

(३) 'रेवतगिरि रास'—विजयसेनसूरि कृत—रचनाकाल सं० १२८८ के लगभग

(४) { 'नेमिनाथ चउपई'—विनयचंद सूरि कृत; 'उवएस माला कहाणय छप्पय' " " } इसी शताब्दी में।

चौदहवी शताब्दी—

(५) 'सप्तक्षेत्रि रास'—किसी अज्ञात जैन कवि द्वारा—सं० १३२७

(६) 'संघपति समरा रास'

(७) 'थूलिभद्र फागु',

(८) 'कच्छुलि रास'

पंद्रहवीं शताब्दी—

(९) 'गोतम रास'—उपाध्याय विनयप्रभ कृत, सं० १४१२
इस मे महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य गोतम स्वामी का चरित्र है। जैनों मे यह धार्मिक ग्रंथ नित्य पाठ के लिए महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

(१०) 'ज्ञानपंचमी चउपई'—विद्धणु कवि कृत, सं० १४२३

(११) 'धर्मदत्तचरित्र'—दयासागर सूरिकृत, सं० १४८६

(१२) 'हंसवच्छ रास'
'शील रास' } दोनों विनय प्रभ उपाध्याय कृत।

(१३) 'मयणरेहा रास'—हरसेवक मुनि कृत, सं० १४१३

(१४) 'आराधना रास'—सोमसुंदरसूरि कृत, सं० १४५०

(१५) 'शांतरस रास'—मुनि सुंदर कृत, सं० १४५५

(१६) 'शिवदत्त रास'—सिद्धसूरि कृत, सं० १४२३ (इस की एक प्रति पाटण के भंडार में है)

(१७) 'कलिकाल रास'—हीराचंदसूरि कृत—सं० १४२६ (जेसलमेर के भंडार मे है)

(१८) 'विद्याविलास रास'—सं० १४८५ किसी जैनसूरि की रचना (भड़ोच नगर के पुस्तक-भंडार मे है)

(१९) 'कुशलसूरि स्तोत्र'—जयसागर उपाध्याय कृत—सं० १४८१ यह ग्रंथ नाहर जी के निजी संग्रह मे है। इस की कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(आदि भाग)—

रिसह जिणेसर सो जयो, मंगल केलि निवास।
वासव वंदिय पय कमल, जग सहु पूरे आस ॥१॥

. . . .

अतभाग)

सवत चौदह इक्यासी वरसे,
मुलक वाहणपुर में मन हरषै
अजिय जिनेसर वर भवणै।
कीयो कवित्त ए मंगल कारण,
विघन हरण सहु पाप निवारण,
कोई मत संशौ धरो मनै॥
जिम जिम सेवै सुर नर राया,
श्री जिन कुशल मुनीसर पाया,
जय सायर उवझाय थुणै।
इम जो सदगुरु गुण अभिनंदे,
ऋद्धि समृद्धै सो चिर नंदे,
मन वंछित फल मुझ हुवै॥

इस मे आगे सोलहवी, सत्रहवी, और अठारहवी शताब्दियों की जैन-रचनाओं का भी उल्लेख नाहर जी ने किया है, परन्तु वह हमारे विषय से बाहर है। हमारे इस निवध का मतव्य केवल उस विकास सूत्र का दिग्दर्शन कराना है जो हिंदी की जन्मदात्री अपभ्रश भाषा का अविच्छिन्न सबध हिंदी से जोड दे। प्राचीन हिंदी का अन्यतम और पीछे से पीछे का उदाहरण कबीर की भाषा मे मिलता है, जिस के विषय मे हिंदी के विद्वानों को अनेक भ्रम है। इस लेख का उद्देश्य उन भ्रमो को कुछ अश मे दूर करने का है।[1] इसी मतव्य को प्रमाणित करने के लिए हम ने अपभ्रश के प्राचीनतम काल (विक्रमी दूसरी शताब्दी) से लेकर कबीर की भाषा (वि० १५वीं शताब्दी) तक के क्रमागत विकास-सूत्र का परिचय देना अभीप्सित समझा है। हमारे इस कथन में, सभव है, कुछ लोग यह अपवाद देखें कि केवल कबीर की ही भाषा क्या अपभ्रंश से सबध रखती है, अन्य कवियो की नहीं। इस के उत्तर मे हमे यही कहना है कि, जैसा हम ऊपर कह आए है, विक्रम की

[1] देखिए इस लेखक का 'राजस्थानी हिंदी और कबीर' शीर्षक लेख। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग १६, अंक २, सं० १९९२

छठीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश समस्त उत्तर भारत की साहित्य भाषा रही। ग्यारहवी से तेरहवी शताब्दी मे उस मे परिवर्तन हुए—यह परिवर्तन काल अथवा उत्तर अपभ्रंश काल था। इस काल मे भी वह साधारण भेदो सहित (जो भेद नगण्य थे) उत्तर भारत की देशभाषा बनी रही। तेरहवी से पंद्रहवी शताब्दी तक यह प्राकृतिक प्रवाह फिर भी उसी वेग के साथ चलता रहा, परिवर्तन भी हुए। उन परिवर्तनों का रूप हम जैन रचनाओं में देख सकते हैं। परन्तु इस काल मे भी वह उत्तर भारत की एकछत्र प्रधान लोकभाषा रही। वह अंतिम काल उत्तरी भारत के लिए राजनैतिक विप्लव का काल था। यो तो हर्षवर्धन के बाद ही भारत की राजनैतिक एकता छिन्न-भिन्न होने लगी थी, परंतु इस काल मे मुसलमानो के उत्तर-पश्चिमी आक्रमणो से रही-सही एकता भी बिखर गई। हिंदू संस्कृति के लिए बड़ा भयानक आपत्तिकाल आया। इस का एक भयंकर परिणाम यह हुआ कि विक्रमीय दूसरी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी के अंत तक भाषा की जो एकता उत्तर भारत मे थोड़े से भेदो के साथ रही, वह अब न रह सकी। देश टुकड़ो-टुकडो मे बँट गया। छोटे-छोटे हिंदू राज्यो का अस्तित्व संकटापन्न हो गया। प्रबल आक्रमणकारियो ने देश की शांति वैसे ही भंग कर दी थी। रही-सही कमी आपस की फूट ने पूरी कर दी। इन सब कारणो का नतीजा यह हुआ कि पंद्रहवी शताब्दी के बाद उत्तर भारत की कोई एक भाषा नही रह गई। इधर पश्चिमी भारत मे व्रजभाषा की बाढ़ आ गई, उधर पूर्व मे अवधी की। गुजराती और राजस्थानी ने भी अपना पृथक् रूप धारण कर लिया। राजस्थानी मे साहित्य-भाषा के डिंगल और पिंगल दो प्रमुख रूप प्रतिष्ठित हो गए। सारांश, पूर्वकाल मे चली आती हुई उत्तरी भारत की देश भाषा की एकता कबीर के समय मे अपनी क्षीणतम छटा दिखा कर सदा के लिए विलुप्त हो गई।

प्राचीन हिंदी १३वीं से १५वीं शताब्दी

अब यह देखना रह गया कि तेरहवी शताब्दी से पंद्रहवी शताब्दी अर्थात् कबीर के समय तक देशभाषा हिंदी का कौन सा रूप प्रधान और व्यापक रहा। हम पहले ही कह चुके हैं कि यह रूप प्राचीन राजस्थानी का रूप था। इसे पुरानी हिंदी भी कह सकते हैं। इसी बात को प्रमाणित करने के लिए हिंदी के इतिहास से और राजस्थानी के इतिहास से पृथक्-पृथक् कर के तुलनात्मक विवेचन करना है। पीछे से अलग हो कर जो स्वतंत्र राजस्थानी भाषा कह-

लाई उस की विशेषताएँ इस प्राचीन हिंदी के रूप में पीछे की स्वतंत्र गुजराती और पीछे की हिंदी की अपेक्षा अधिक थी।[1]

इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत से प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। यह तो स्वतः सिद्ध तथ्य है। फिर भी प्रमाणों के लिए हमें देखना चाहिए—

(१) इन २–३ शताब्दियों (तेरहवीं से पंद्रहवीं) की रचित जैन कृतियाँ, जिन के उदाहरण ऊपर प्रसंगवश दे दिए गए हैं।

(२) हिंदी साहित्य के वीरगाथा-काल की प्रमुख कृतियाँ—यथा, 'पृथ्वीराज रासो', 'वीसलदेव रासो', शारंगधर का 'हम्मीर काव्य', 'विजयपाल रासो' इत्यादि।

(३) इन्हीं शताब्दियों की राजस्थानी साहित्य की प्रमुख रचनाएँ।

(४) ढोला मारू रा दूहा[2] की भाषा।

(५) कबीर, विद्यापति, जायसी, आदि एतत्कालीन प्रमुख हिंदी कवियों की रचनाएँ।

बारहवीं शताब्दी से पंद्रहवीं शताब्दी के बीच उपलब्ध कुछ जैन रचनाओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उन से सूचित होता है कि वह भाषा अपभ्रंश के रूप को बहुत कुछ छोड़ कर एक नए रूप को पकड़ रही थी, जो हमें आधुनिक भाषाओं में देखने को मिलता है। प्रधानतः इस समय की भाषा का रूप राजस्थानी से बहुत-कुछ मिलता है। इस काल के जैन ग्रंथों में प्रायः यही रूप सर्वत्र उपलब्ध होता है। पश्चिमी भारत और गुजरात के पुस्तक-भंडारों में ये पुस्तकें मिलती हैं इसी प्रांत में, यहीं के कवियों द्वारा इन ग्रंथों का निर्माण भी हुआ है। जैन विद्वान ग्रंथ-रचना करते ही उस की प्रतियाँ नियमतः ग्रंथ भंडारों में सुरक्षित रख देते थे; अतएव उन की लिपि और भाषा के बारे में किसी को संदेह नहीं हो सकता। इस काल की भाषा के रूप को 'ढोला मारू रा दूहा', कबीर की रचना अथवा विद्यापति की रचना[3] से मिला कर देखा जाय तो आश्चर्य्यजनक समता

---

[1] हिंदी से यहाँ अभिप्राय है—ब्रज, अवधी और खड़ी बोली से।

[2] इस काव्य का एक सुसंपादित संस्करण हिंदी अनुवाद, पाठांतर, टिप्पणी, शब्दकोष, ऐतिहासिक, आलोचनात्मक और भाषा वैज्ञानिक प्रस्तावना और कई परिशिष्टों के साथ नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हुआ है।

[3] जिस का उदाहरण ऊपर 'कीर्त्तिलता' से दिया जा चुका है।

मिलेगी; न केवल शब्दों में ही साम्य मिलेगा, वरन् व्याकरण में क्रियापद और कारक-चिन्ह भी समरूप मिलेंगे।

अब वीरगाथा काल की प्रमुख रचनाओं को भाषा की कसौटी पर कस कर देखना है। नीचे, इस काल की रचनाओं के संक्षिप्त उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) 'बीसलदेव रासो'—नरपति नाल्ह कृत (वि० सं० १२१२)[1] उदाहरण—

बारह सै बहोत्तरां मँझारि, जैठ वदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसायण आरंभइ, सारदा तुठी ब्रह्म कुमारि॥
कसमीरां पाटणह मँझारि, सारदा तुठी ब्रह्म कुमारि।
नाल्ह रसायण नर भणइ, हियड़इ हरषि गायण कइ भाइ॥
नाल्ह वषाणइ छइ नगरी जू धार। जिहाँ बसइ राजा भोज पँवार।
असीय सइहस सजे करि मेंमत्ता, पंच क्षोहण जेकइ मिलइ नरिंद॥

'बीसलदेव रासो' की भाषा प्राचीन राजस्थानी है, प्रत्यश वही जो 'ढोला मारू रा दूहा' की भाषा है। उत्तरकालीन अपभ्रंश के सब से नज़दीक की लोकभाषा का यह नमूना है जिस में यह लोकगीत रचा गया। इस रासो के कारक, क्रियापद, संज्ञाओं के ठेठ रूप भी उत्तर अपभ्रंश के हैं यथा—पाटणह, जणह, धण, जपिउ, मुद्धडी, मइमत्ता, चवड, उळगईं, म्हारउ, सूकइ, छइ, पाटणथी, भोज-तणा, खंड-खडरा, पणमिया, मिलिअ, अछइ, राखेइ, जेणे, मेलवि, चितह, इणि, प्रापिजइ, ईणिविधि, ईसउ, नपर, पसाउ आदि। यही प्रयोग आगे चल कर वर्तमान राजस्थानी में रूढ़ हो गए और राजस्थानी कहलाने लगे। उस काल में इन्हें राजस्थानी संज्ञा नहीं मिली थी। मिलती भी कैसे, ये तो उस व्यापक लोकभाषा के साधारण प्रयोग थे, जो गुजरात से प्रयाग तक प्रचलित थी।

(२) महाकवि चंद कृत 'पृथ्वीराज रासो' (वि० सं० १२२५-१२४९) यद्यपि हिंदी का आदि काव्य गिना जाता है और उस का रचयिता आदि कवि, परन्तु उस की

---

[1] पंडित गजराज ओझा, एम० ए०, के लेख। 'डिंगल भाषा' (नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग १४, सं० १९९०) में सूचना छपी है कि बीकानेर के बड़े जैन उपाश्रय में 'बीसलदेव रासो' की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली है जिस में इस रासो का निर्माण-काल 'संवत सहस तिहत्तरो' (सं० १०७३) लिखा मिलता है। यह प्रति हमारे देखने में नहीं आई।

भाषा और इतिहास के संबंध में हमें पूरा संदेह है। महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा के मत[1] से हम सहमत है कि वर्तमान रासो मुसल्मान काल में सं० १६०० के लगभग बना है। अतएव वह प्रामाणिक नहीं है। इस लिए जब तक रासो के संबंध मे कोई मत स्थिर न हो जाय, हम उस की भाषा को प्राचीनता का प्रमाण नही मान सकते और न वह है ही।

(३) सिंढायच दयालदास की 'राठोडाँ री ख्यात' (बीकानेर का राजकीय पुस्तकालय) में उल्लेख मिलता है कि कन्नौज के महाराज जयचंद्र के दरबार मे भट्टकेदार और मधुकर कवि (वि० स० १२२४ से १२४३ तक) ने 'जयचंदप्रकाश' और 'जयमयंकजसचंद्रिका' नामक ग्रंथ बनाए जो उसी काल की देशभाषा मे लिखित है। हिंदी के दुर्भाग्य से ये ग्रंथ मिलते नही। दयालदास ने कन्नौज के राठोडो का इतिहास इन्ही ग्रंथो के आधार पर लिखा था।

(४) जगनिक (सं० १२३०) कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ दरबार कवि था जिस ने परमाल के दो वीर सामंत आल्हा और ऊदल की वीरता का गान 'आल्हा-ऊदल' नामक वीरगीत में किया। परमाल जयचंद का समकालीन था। यह वीरगीत अब नही मिलता। इस के आधार पर उत्तर भारत की प्रांतीय भाषाओ मे अनेक गीत बने है जो सर्वत्र लोकप्रिय है, परंतु वे सब आधुनिक हैं।

(५) सारंगधर (वि० स० १३५३ के आसपास) रणथंभोर के महाराज हम्मीरदेव चहुवाँन (जो सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के पौत्र थे) के यहाँ दरबारी कवि था। इस ने सं० १३५७ में 'हम्मीर काव्य' या 'हम्मीर रासो' बनाया जो अपने मौलिक रूप मे अप्राप्य है। आजकल जो 'हम्मीर रासो' मिलता है, वह बहुत पीछे की रचना है। प्राकृत पिंगलसूत्र में अपभ्रंश के उदाहरणो मे हम्मीररासो का एक छंद उद्धृत मिलता है। संभव है, वह इसी सारंगधर की कृति हो—

---

[1] नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका (भाग १०) में ओझा जी का लेख 'रासो का निर्माण काल'—। रासो की सब से प्राचीन प्रति सं० १६४७ की नागरी-प्रचारिणी सभा के पास है। सत्रहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की दो प्रतियाँ बीकानेर के राज्यकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। ये प्रतियाँ नागरी-प्रचारिणी सभा वाली प्रतियों से बहुत छोटी हैं। इन से पूर्व अब तक रासो की कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई। अतएव ओझा जी के कथन में सत्यांश है।

कोहे चलिअ हम्मीर वीर गअजूह संजुत्ते।
किअउ कट्ठ हा कंद मुच्छि मेच्छिय के पुत्ते।
हम्मीर वीर जब रण चलिआ। तुरअ तुरअहि जुज्झिया।
अप्प णर ठाइ बुज्झिया॥

(६) नल्लसिंह भट्ट (स० १३५५) का 'विजयपाल रासो'[१] नाम का ग्रंथ मिलता है, जिस में सन् १००३ ई० में वर्तमान करौली के विजयपाल नामी राजा के युद्धों का वर्णन है। इस ग्रंथ की भाषा के संबंध मे हमें संदेह है। यह बहुत पीछे बना प्रतीत होता है। इस की भाषा चंद के पृथ्वीराज रासो जैसी है और कृत्रिम डिंगल अथवा डिंगलाभास सी प्रतीत होती है।

राजस्थानी साहित्य वि० १२वीं से १५वीं शताब्दी तक

तुलना के लिए इस काल के राजस्थानी साहित्य का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

राजस्थानी के साहित्य-विकास को विद्वानों[२] ने चार विभागों मे विभक्त किया है।

(१) प्राचीन राजस्थानी—स० १००० से १२०० तक
(२) माध्यमिक राजस्थानी—स० १२०० से १६०० तक
(३) उत्तर-कालीन राजस्थानी स० १६०० से १९५० तक, और
(४) आधुनिक राजस्थानी सं० १९५० से पीछे।

प्रस्तुत विवेचन के लिए हमें केवल पहले दो कालों की रचनाओं से ही मतलब है। उस मे भी पहले विभाग (प्राचीन राजस्थानी) का विवेचन हम उत्तर-कालीन

---

[१] 'विजयपाल रासो' के उदाहरण और नल्लसिंह के परिचय के लिए देखिए 'कविरत्नमाला' मुंशी देवीप्रसाद कृत।

[२] विभाग का यह क्रम मैं ने पंडित नरोत्तमदास स्वामी, एम्० ए० के अनुसार लिया है। विशेष परिचय के लिए देखिए। (१) 'ढोला मारू रा दूहा' (नागरी-प्रचारिणी सभा काशी) ग्रंथ की भूमिका; तथा (२) 'राजस्थान रा दूहा', (पिलाणी राजस्थानी सीरीज) की भूमिका, जहाँ राजस्थानी भाषा के विकास पर विवेचन किया गया है। 'वीणा' (मध्य भारत) के जनवरी १९३६ के अंक में 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' लेख में स्वामी जी ने इसी विषय का क्रमबद्ध विवेचन किया है।

अपभ्रंश के अंतर्गत ऊपर कर आए हैं इस काल में गुजरात और ब्रजमंडल में लोकभाषा का जो प्रचलित रूप था वही प्राचीन राजस्थानी का रूप है। वही राजस्थानी का साहित्य है। इस काल में राजस्थानी अपभ्रंश से अलग होने लगी थी, परंतु उस पर अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक था कि उसे अलग राजस्थानी के नाम से पुकारना युक्ति-संगत नहीं है।

माध्यमिक काल में अर्थात् सं० १२०० से १६०० तक के समय में राजस्थानी अपभ्रंश से स्वतंत्र हो गई। इस काल की अंतिम दो शताब्दियों को छोड़ कर अर्थात् कबीर के जमाने तक राजस्थानी उत्तर भारत की साहित्य भाषा रही और उसे लोकभाषा का पद मिला रहा। मैथिल कवि विद्यापति के समय में लोकभाषा के पूर्वी और पश्चिमी रूपों में भेद होने लगा, जैसा कि ऊपर उद्धृत विद्यापति की रचना के उदाहरण से प्रत्यक्ष होता है। फिर भी साहित्य रचना में पश्चिमी रूप की ही प्रधानता रही। पश्चिमी रूप की लोकप्रियता का सब से बड़ा प्रमाण कबीर की रचनाएँ हैं। कबीर के बाद कृष्ण-भक्ति की प्रबल लहर का आश्रय पा कर ब्रजभाषा ने उत्थान किया और राजस्थानी को लोकभाषा के पद से अपदस्थ कर दिया। तब से राजस्थानी केवल राजस्थान की भाषा रह गई। ब्रजभाषा की तरह देशभाषा के पूर्वीय रूप अवधी ने भी साहित्य में स्वतंत्र रूप से पैर रक्खा और रामोपासना का आधार पाकर तथा जायसी, तुलसी जैसे महाकवियों का आश्रय ले कर उन्नति की। अब राजस्थानी का दौरदौरा जाता रहा। राजस्थानी ने माध्यमिक काल में काव्य शैली के दो मार्ग पकडे—एक डिंगल, दूसरा पिंगल। जिस पर ब्रज का प्रभाव अधिक पड़ा वह पिंगल कहलाया और जिस में राजदरबारों के चारण-भाट आदि आश्रित कवियों ने वीरतापूर्ण कविता की, वह डिंगल कहलाया। इन दो शैलियों से भिन्न एक तीसरी शैली में जैन लेखकों ने जैनधर्म संबंधी रचनाएँ राजस्थानी में कीं; परंतु उस का विशेष प्रचार नहीं हुआ। सब से अधिक प्रचार एक चौथी शैली की रचनाओं का हुआ, जिस में डिंगल और पिंगल के नियमों से स्वतंत्र रह कर साधारण बोलचाल की भाषा में लौकिक रचनाएँ हुईं। दोहा-साहित्य इसी शैली का लोकप्रिय साहित्य था। गद्य भी लिखा जाता था, विशेषतः 'बात'[1] अर्थात्

---

[1] देखिए, इस लेखक द्वारा संपादित 'राजस्थानी बातां' (पिलाणी राजस्थानी

कहानी, और 'ख्यात' अर्थात् ऐतिहासिक विवरण के रूप में। माध्यमिक राजस्थानी की वर्तनी की विशेषता इस बात में रही कि उस में अपभ्रंश के ह्रस्व 'ए' और 'ओ' ज्यों के त्यों बने रहे और वे 'अइ', 'अउ' लिखे जाते थे। उत्तर काल में यह विशेषता लुप्त हो गई इन का स्थान "ऐ" और "औ" ने घेर लिया।

माध्यमिक डिंगल

डिंगल साहित्य की रचना विशेषत सोलहवीं शताब्दी में और उस के पीछे हुई। इस की सर्वोत्तम कृति 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' (सं० १६३७) है। अन्य उत्कृष्ठ कृतियाँ हैं—श्रीधरकृत 'रणमल्ल छंद' (सं० १४५४), 'राउ जइतसी रउ छंद', बीठू सूजो कृत (सं० १५९० के लगभग)। इस के अतिरिक्त ऐतिहासिक वीरो की प्रशस्ति के गीत जितने डिंगल में हैं, उतने शायद ही किसी भाषा में हो। डिंगल के विषय को हम यहाँ छोड़ देते है, कारण, वह हमारे अधिकृत विषय से बाहर है।

माध्यमिक राजस्थानी गद्य

राजस्थानी का गद्य-साहित्य बहुत विस्तृत है। हिंदी में प्राचीन गद्य का प्राय अभाव है, परंतु राजस्थानी में गद्यलेखन की परंपरा अविच्छिन्न रूप में अपभ्रंशकाल से वर्तमान काल तक जारी है। प्राचीन काल में अधिकांश गद्य लेखक जैन थे। ऐतिहासिक, अर्धैतिहासिक और काल्पनिक कथा-साहित्य तो राजस्थानी में इतनी प्रचुरता से मिलता है कि कई बृहत्कथाएँ, और कथासरित्सागर बन सकते हैं।[1]

इस काल के राजस्थानी के पद्य साहित्य का क्रमविकास इस प्रकार है—

माध्यमिक राजस्थानी पद्य

(१) 'बीसलदेव रासो'—तेरहवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध। उदाहरण दिया जा चुका है।

सीरीज) जिस में इस काल की प्रमुख प्रचलित वार्तों का उसी समय की राजस्थानी भाषा में संकलन किया गया है।

[1] इस काल के गद्य के नमूनों के लिए देखिए 'हिंदुस्तानी' पत्रिका का जुलाई सन् १९३५ का अंक, जिस में श्री० नरोत्तमदास स्वामी, एम्० ए० ने 'हिंदी का गद्य-साहित्य' लेख लिखा है। उस लेख के अंत में परिशिष्ट के अंतर्गत राजस्थानी गद्य के क्रम विकास पूर्वक सं० १३३० से अब तक के उदाहरण दिए हैं। लेख के विस्तार भय से उन्हें यहाँ छोड़ दिया गया है।

२ वसंतविलास श्रृंगाररस का एक छोटा सा पंद्रहवीं शताब्दी का काव्य। कवि का नाम अज्ञात। उदाहरण—

सखी दीह कुल अनीठउँ, दीठउँ गमइ न चीर।
भोजन आज उछीठउँ, मीठउँ सदइ न नीर॥

(३) 'रणमल्लछंद'—कवि श्रीधर रचित। रचना काल १४५४। इस में ईडर के राठौर राजा रणमल्ल की वीरता और विजय का वर्णन है, जो उस ने पाटण के सूबेदार जफर खाँ को हरा कर प्राप्त की थी—उदाहरण—

ढमढमइ ढमढमकार ढंकर ढोल ढोली जंगिया।
सुर करहि रणसरणाइ समुहरि सरस रसि समरंगिया॥
कलकलहि काहल कोडि कलरवि कुमळ कारय थरहरइ।
संचरइ शक सुरताण साहण साहसी सवि संगरइ॥

(४) 'प्रबोधचिंतामणि'—(स० १४६२ के लगभग)—उदाहरण—

बहुरउ बयरी बल्लहउ हियइ खट्टकइ तिण्णि।
बीसरतां न बीसरइ, वसतां ऊबसि रन्नि॥

(५) 'ढोला मारू रा दूहा'—जिस का रचना काल अनुमानत: तेरहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक है। यह प्रेमगाथात्मक लोकगीत है जिस की भाषा इस काल की लोकभाषा का ज्वलंत प्रमाण है। कबीर की भाषा से इस की भाषा बहुत कुछ मिलती है। इस में नरवर के राजकुमार ढोला का पूगल की कुमारी मारुवणी से प्रेम वर्णित है। इस में मानव हृदय की कोमल भावनाओ का बड़े हृदयस्पर्शी ढंग से वर्णन हुआ है। यह राजस्थान का जातीय काव्य कहला सकता है। आगे चल कर इस का विस्तृत विवेचन किया जायगा। अतएव यहाँ केवल दो-एक दोहे ही उदाहरण में उद्धृत कर देते हैं—

कूंझड़ियाँ कळरव कियउ धरि पाछिले दरंगि।
सूती साजण संभरया, करवत बही अंगि॥१॥
कूंझड़ियाँ कुरळाइयाँ ओलइ बइसि करीर।
सारहली जिउँ सल्हियाँ सज्जण मंझ सरीर॥२॥

कूँझाँ द्यउ नइ पंखड़ी थांकउ विनउ वहेसि ।
सायर लंघी प्री मिलउँ, प्री मिलि पाछी देसि ॥३॥
ऊँचउ मंदिर अति घणउ आवि सुहावा कंत ।
वीजळि लियइ झूबूकड़ा सिहरौं गळि लागंत ॥४॥
भरइ पलट्टइ भी भरइ भी भरि भी पलटेहि ।
पंथी हाथ संदेसड़ा घण विललती देहि ॥५॥

राजस्थानी का दूहा साहित्य बहुत प्राचीन है और वह अपभ्रंश मे वर्षों तो मे मिला हुआ है। अपभ्रंश-काल के बहुत से दोहे जो लोक मे प्रचलित थे। बराबर आगे तक चले आए। समय के साथ उन का रूप अवश्य बदलता रहा। ऐसे कुछ दोहे नीचे उद्धृत किए जाते हैं और उन के समानरूप राजस्थानी रूपातर भी दिए जाते थे—

हेमचद्र के व्याकरण के दोहे—

वायसु उड्डावंतिअऍं पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥१॥
पुत्ते जाऍं कवणु गुणु, अवगुणु कवण मुऍण ।
जा बप्पी की भुंहड़ी चंपिज्जइ अवरेण ॥२॥
जइ भग्गा पारक्कड़ा तो सहि मुज्झु पिऍण ।
अह भग्गा अम्हहँतणा तो तें मारिअडेण ॥३॥

इन के राजस्थानी रूपांतर—

काग उडावण धण खड़ी, आयो पीव भड़क्क ।
आधी चूड़ी काग गळ, आधी गई तड़क्क ॥१॥
बेटाँ जायाँ कवण गुण, अवगुण कवणु धियेण ।
जाँ ऊभाँ धर आपणी, गंजीजै अवरेण ॥२॥
जो भग्गा पारक्कडा, तो सखि मुज्झ पियेण ।
जो भग्गा अम्हे-तणा, तो तिह मुज्झ मड़ेण ॥३॥

और भी—

बप्पीहा पिउ-पिउ भणिवि किंत्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जळि, मुह पुणि वल्लहइ, बिहुँ बि न पूरिअ आस ॥

गयउ सो केसरि पियउ जळ निच्चिंतइ हरिणाइँ
जसु केरएँ हुंकारडएँ मुहहुँ पडंति तिणाइँ ।।

(हेमचंद्र से)

राजस्थानी रूपांतर—

राति सखी इणि ताल मइँ काइज कुरळी पंखि ।
उवँ सरि हूँ घरि आपणइ, बिहूँ न मेली अंखि ।।५१ ढो०।।
जिण मारग केहरि बुवौ, रज लागी तिरणांह ।
वँ खड़ ऊभा सूकसी, नहुँ चरसी हिरणांह ।।

और भी—

जइ यहु रावणु जाइयउ, दह मुहु इक्कु सरीरु ।
जणणि वियंभी चिंतवइ, कवणु पियावउँ खीरु ।।
नवजळ भरिया मग्गड़ा, गयण धडक्कइ मेहु ।
इत्थंतरि जइ आविसिइ, तइ जाणीसिइ नेहु ।।

('प्रबंधचिंतामणि' से)

राजस्थानी रूपांतर—

राजा रावण जलमियो, दस मुख एक सरीर ।
जननी नें सांसो हुयौ, किण मुख घालूँ खीर ।।
आज धरा दिस ऊनम्यौ, मोटी छाँएँ मेह ।
भीजी पाग पधारस्यौ, जद जाणूली नेह ।।

ढोला मारू रा दूहा

यह लोक-गीत काव्य माध्यमिक राजस्थानी का एक महत्वपूर्ण काव्य है। भाषा की दृष्टि से यह विशेष महत्व रखता है। इस की भाषा तेरहवी से पंद्रहवी शताब्दी के बीच की वह व्यापक लोकभाषा है, जो उत्तर भारत मे गुजरात से अतर्वेद तक साहित्य की प्रतिष्ठित भाषा थी । यह भाषा कबीर की भाषा से बहुत अधिक मिलती है; अगर हम यह कहने का साहस भी करे कि दोनों की भाषा प्राय. एक सी है, तो विशेष अत्युक्ति की संभावना नही है। आगे इस के प्रमाण भी सग्रहीत किए गए हैं। ढोला और कबीर की भाषा के तुलनात्मक

अध्ययन[1] से हमारा यह अनुमान दृढ होता है कि उस काल में यह भाषा साहित्यरचना के लिए उत्तर भारत में सर्वत्र समादृत थी और यही पश्चिम भारत की सर्वप्रमुख साहित्य-भाषा थी। जो पद बाद में व्रजभाषा को व्रजमंडल के सीमित क्षेत्र में मिला, वही पहले इस भाषा को गुजरात से प्रयाग-मंडल तक मिला था। कबीर का पूर्वी हिंदी के क्षेत्र का निवासी कवि होते हुए भी इस भाषा में रचना करना यही सिद्ध करता है। यह आक्षेप किया जा सकता है कि कबीर की भाषा ऐसी नहीं थी, जैसी कि बाद की हस्तलिखित प्रतियों में मिलती है. संभव है, सूर और तुलसी के पदों की तरह वह भी भक्तों द्वारा राजस्थानी बना ली गई हो। परंतु कबीर की रचनाओं की हस्तलिखित प्रति,[2] जिस के आधार पर आचार्य श्यामसुंदरदास ने 'कबीर-ग्रंथावली' का संपादन किया है, प्रामाणिक है और कबीर के बहुत समय बाद की नहीं है। वह प्रति सं० १५६१ की काशी की लिखी हुई है। अतएव उस में और कबीर के समय की भाषा में विशेष अंतर होने की संभावना बहुत कम है।

कबीर की रचना और ढोला मारू के समान स्थल

(क) अब नीचे हम कबीर की रचना और 'ढोला मारू रा दूहा' में आए हुए कतिपय समानता वाले पदों को उद्धृत कर के अपने कथन को स्पष्ट करते हैं—

१—अंबर कुंजाँ कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनि पै गोंविंद बीछुटे तिनके कौण हवाल ॥३॥१॥ कबीर
राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताळ।
जिणकी जोड़ी बीछुड़ी तिणका कवण हवाल ॥५३॥ ढोला

---

[1] देखिए 'कबीर-ग्रंथावली' (काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित) इस का संपादन सं० १५६१ की लिखित प्राचीन हस्तलिखित प्रति के आधार पर राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास ने किया है। इस लेख में लिए हुए उद्धरण इसी ग्रंथ के हैं साखियों में पहला अंक अंग को और दूसरा साखी की संख्या को सूचित करता है। पदों में अंक पद-संख्या का सूचक है। प०=परिशिष्ट।

इस विषय का विवेचन 'ढोला मारू रा दूहा' (नागरी-प्रचारिणी सभा) की भूमिका में संपादकों ने सविस्तार किया है। अन्यत्र इस लेख के लेखक ने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग १६ (सं० १९३५) की लेख-संख्या ८ के अंतर्गत 'राजस्थानी हिंदी और कबीर' लेख में भी इस की चर्चा की है।

[2] वही।

२—यह तन जालौं मसि करौं ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि ॥३॥११॥ कबीर
यहु तन जारी मसि करूँ धूआँ जाहि सरग्गि ।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि बरसि बुझावइ अग्गि ॥१८१॥ ढोला
३—कबीर सुपनै रैनि कै पारस जीय मैं छेक ।
जे सोऊँ तो दोइ जणा, जे जागूँ तौ एक ॥१२॥२३॥ कबीर
सुहिणा, तोहि मराविसूँ हियइ दिराऊँ छेक ।
जद सौऊँ तद दोइ जण, जद जागूँ तद हेक ॥५१४॥ ढोला
४—संसै खाया सकल जुग, संसा किनहूँ न खद्ध ।
जे बेधे गुरु अष्षिरां तिनि संसा चुणि-चुणि खद्ध ॥१॥२२॥ कबीर
चिंता बन्ध्यउ सयळ जग, चिंता किणहि न बद्ध ।
जे नर चिंता वस करइ, ते माणस नहिं सिद्ध ॥२२०॥ ढोला०
५—काटी कूटी मछली, छीकै धरी चहोड़ि ।
कोइ एक अषिर मन वस्या, दह मै पड़ी बहोड़ि ॥१३॥२४॥ कबीर
तालि चरंती कुंझड़ी सर संधियउ गँमारि ।
कोइक आषर मनि वस्यउ, ऊड़ी पंख सँमारि ॥६७॥ ढोला०
६—जाँणौं जे हरि कौं भजौं मो मनि मोटी आस ॥१६॥५॥ कबीर
सुणि ढोला करहउ कहइ, मो मनि मोटी आस ॥४३१॥ ढोला०
७—कबीर गुण की बादली तीतरवांनी छाँहि ।
बाहरि रहे ते ऊबरे, भीगे मंदिर माँहि ॥१६॥ २३॥ कबीर
मंदिर पैसि चहूँ दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूका ॥(पद१७५)॥ कबीर
आज धरा-दस ऊनम्यउ महलाँ ऊपर मेह ।
बाहर था जइ ऊगरइ, भीगा मांझ घरेह ॥२७२॥ ढोला०
८—कमोदनी जलहरि बसै, चंदा बसै अकास ।
जो जाही का भावता, सो ताही के पास ॥४४॥१॥ कबीर
जळ मँहि बसइ कमोदणी, चंदउ बसइ अगासि ।
ज्यउ ज्यांही कइ मनि वसइ, सउ त्यांहीकइ पासि ॥२०१॥ ढोला

-कबीर सुपिनैं हरि मिल्या, सूतों लिया जगाइ ।
आँषि न मींचौं डरपता, मति सुपिनां ह्वै जाइ ॥५०॥६॥ कबीर
सुपनइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ गळि लग्गी धाइ ।
डरपत पलक न छोड़ही, मति सुपिनउ हुइ जाइ ॥५०३॥ ढोला और ॥५

-कबीर हरि का डरपतों ऊन्हाँ धान न खाँउँ ।
हिरदा भीतरि हरि बसै, तायै खरा डराउँ ॥(ख० ५०।७)
गोब्यंद के गुण बहुत है लिखे जु हिरदे माँहि ।
डरता पाँणी नाँ पीऊँ, मति वै धोये जाँहि ॥५०॥७॥ कबीर
प्रीतम, तोरइ कारणइ ताता भात न खाहि ।
हियड़ा भीतर प्री वसइ, दाझणती डरपाहि ॥१६०॥ ढोला०
-ऊँनमि आई बादली, बर्सण लगे अँगार ॥५१।२ कबीर
ऊँनमि आई बद्दळी, ढोलउ आयउ चित्त ॥४१॥ ढोला०
-चुगै चितारै भी चुगै चुगि-चुगि चितारैं ।
जैसे बच रहि कुंज मन माया मम तारे ॥५०॥ कबीर
चुगइ, चितारइ, भी चुगइ चुगि चुगि चित्तारेह ।
कुरझी बच्चा मेल्हिकइ, दूरि थकाँ पाळेह ॥२०२॥ ढोला०
-जे दिन गये भगति बिन ते दिन साले मोंहि । कबीर
जे दिन मारू बिण गया, दई न ग्यांन गिणंत ॥२०८॥ ढोला०
-अकथ कहाणी प्रेम की कह्याँ न को पत्याय ॥४१॥११॥ कबीर
अकथ कहाँणी प्रेम की कछू कही ना जाई ।
गूँगा केरी सरकरा बैठे मुसकाई ॥१५६॥ कबीर
अकथ कहाणी प्रेम की किणसूँ कही न जाइ ।
गूँगा का सुपना हुया, सुमर सुमर पिछताइ ॥१५९॥ ढोला०

इस विभाग में कतिपय राजस्थानी शब्द और मुहावरे उद्धृत किए और ढोला मारू दोनो काव्यों में प्रयुक्त हुए है—

१

कबीर	ढोला मारू काव्य
१—जतन करत पतन है जैहै	१—हियड़इ भीतर तूँ वसइ
भावै जाण म जाणी ॥३९७	भावइँ जाँण म जाँण ॥१७५
२—काया मंजन क्या करै	२—जण जण साथ म बोलही
कप्पड़ धोइ म धोइ ॥१२।५३	मारु बहुत गुणेह ॥४८२
साधैं सिधि ऐसी पाइये	भरम म दाखिस कोइ ॥४६७
किंवा होइ म होइ ॥५॥	
३—रहि रहि, हिया म खीजि ॥५५।७टि०	३—हुइ, हुइ, दइव म मारि ॥४८
	रहि रहि सुंदरि, माठ करि ॥३२१
४—उलट अपूठा आँणि ॥१३।१	४—राज अपूठा वाहुड़उ ॥४०४
५—यहु संसार धार मैं डूबै	५—आडावळ आधोफरै
अधफर थाकि रहे हैं ॥३१०	मारग माहि असन्न ॥४३९
औ जळ अधफर थाकि रहे हैं ॥३१८	
६—दीपक पावक आँणिया	६—मोती आँण्या जेण ॥५७३
तेल भी आण्या संग ॥४।१	कर ग्रह आँणी अंकमइँ ॥५४४
माउर आँणी ऊन कूँ ॥१७।३	
७—कूड़े आखै बैन ॥४३।१०	७—मारू नूँ आखइ सखी ॥२४
८—आइ पहुता कीर ॥४६॥१९ टि०	८—आइ पुहत्तउ कीर ॥४००
९—यहु मन आमन-धूमनाँ ॥३२०	९—अंतरि आमण-दूमणा ॥२१८
१०—यहु संसार इसौ रे प्राँणी ॥३१३	१०—इसइ आरखइ मारुवी ॥१४॥
११—उहाँ ही तै गिरि पड़्या ॥१३।२५	११—हियड़उ उवाँही सूँगयउ ॥३६२॥
१२—माटी खोदर भींत उसारै ॥९२॥	१२—दीहें-दीह उसारिस्याँ ॥५२५
१३—ग्वाड़ा माँहे आनंद उपनौ ॥१५२	१३—मारू-देस उपन्निया ॥४८३-८४॥
सच्चु पाया सुख उपना ॥५।२६	
१४—कहत कबीर मोहि भगति उमाहा ॥२	१४—आज उमाहउ मोघणउ ॥५१८
१५—बिरहिनि ऊभी पंथसिरि ॥३।५	१५—ऊनउ साहइ लाज ॥४४६॥
पंथी ऊभा पंथसिरि ॥४६।२२	

१६—ऊँडा बहै असोस ५७।३
१७—ऑखडियाँ झाँई पड़ी ३।२२
१८—लिणकै ओल्है रॉम्र है ५३।७
१९—लेखणि करूँ करक की ।३।१२
२०—जिहि सिरि मारी काल्हि ३।१७
२१—करँम भए कुहाडि १२।४४
२२—तन सूँ किसा सनेह २६।५
२३—ह्वै थर चढ़ि गयो रांडको करहा।७६।
ऑब कै बौरे चरहल करहल ॥१७७
२४—निर्मल नाँव चवै ॥३४४
२५ जम राँणी गढ लेळिसी १२।७
२६—जगल ढढोल्या वादि ५।३३
सायर माँहि ढढोळता ५।३४
२७—दिवस थकाँ साँई मिलै '७३।१३
२८—कबीर तुरी पलाँणिया १३।१३
२९—दोवड़ कोट अरु तेवड़ खाई ३५९
३०—रात्यूँ रूँनी विरहिनी ३।१
३१—रळि गया आटै लूँण १।१४
३२—फाड़ि पुटोला धज करूँ ३।४१
३३—देवळि देवळि धाहड़ी ३।४४
३४—दाधी देह न पालवै ४।६
३५—मुखि कसतूरी महसही ५।१४
३६—चंद बिहूँडा चाँनिणा ५।१५
३७—डूँगरि बूठा मेह ज्यूँ १३।२२
सूका काठ न जॉणही कबहूँ
वूठा मेह ५५।१

१६—ऊँडा पाणी कोहरइ ॥५२३
१७—ऑखड़याँ डंबर हुई ॥१६५
१८—उर ओलइ प्री राखियइ ॥२८७
१९—मारू तणइ करकड़इ ॥१५७॥
२०—जेहा सज्जण काल्ह था ॥२१६
२१—कंधि कुहाड़उ सिरि घड़उ ॥६१
२२—लाभ किसा कउ लेसि ।१७७।
२३—करहा कहि कासूँ करॉ ॥४४६
काळी जाया करहला ॥४९१
२४—सुणि सुंदरि सच्चउ चवाँ २३८
२५—आय जमराणा लाब करि ६१०
२६—ढोलइ धण ढंढोळियउ ६०२
भसम ढंढोलिसि काइ ११२
२७—दूरि थकाँ ही सज्जणा २१४
२८—ढोलइ करह पलाड़ियाँ ३६२
२९—दूजा दोवड़-चोवड़ा ३०१
३०—रात्यूँ रूँनी निसह भरि १५६
३१—थे विहु सज्जण रळि मिलउ ३
३२—पट्टोळा पहिरेसि २३३
३३—तिणि चढि मूकँ धाहड़ी ३८६
३४—सूका था मू पाल्हव्या ५३३।५६
३५—मारवणी मुखि सनि-नणइ कस्त
महकाइ ६००
३६—जलह विहूणी वेल १६३
३७—दूधे बूठा मेह ५५९
नयणे वूठउ नीर १९

३८—ज्यूँ जळ छूटै मंछली यूँ वेलत बिहाइ २९।५	३८—वेलन थयउ विहॉण १९२
३९—जग सगळा ही जॉण २१।१५	३९—सगळॉ मन ऊछत्र हुयउ ४०
४०—सुख दुख मेल्हे दूर २१।८	४०—तिण रिति मेल्हे माळ विण २६६
४१—जिहि वैसदर जग जळ्या ३१।४	४१—का वासदर सेवियइ २९४
४२—ज्यूँ-ज्यूँ हरिगुण साँभळूँ ४४।६७	४२—रही सँभाळ सभाळ ३८२
४३—साई हंदा सैण ४३।१०	४३—सयणॉ हृदा हस ५०९
४४—बिसराया नहि वीसरै ४४।२	४४—वीसारियॉ न वीसरइ ६१२
४५—सिर साटै हरि सेविए ४५।३१	४५—एकण साटइ मारुवी ४५८
४६—काल सिंचाणा नर चिड़ा ४६।२	४६—मन सीचाणउ जइ हुवइ २११
४७—नीर निंवाणाँ ठाहरै ५५।४	४७—देस निवाणूँ, सजळ जळ ६६८
४८—नखसिख पाखर ज्यॉह ५५।५	४८—प्यारा पाखर प्रेन की ४१२
४९—सदा सदाफळ द.ख बिजौरा २१४	४९—द्राख विजउरा नीरती ४२९
५०—सुति मुकळाई अपनी माई ९६ प०	५०—मारवणी मुकळाइ ५९५
५१—बहु गुणियाळे कंत ११।७	५१—बहु गुणवंता नाह ३४०
५२—परिखण हारे बाहिरा ४८।२	५२—प्रीतम हूंती वाहिरी ३७०
५३—परब्रह्म वूठा मोतियॉ घड़ बाँत्री सिषराँह ५५।३	५३—आज धरा-दस ऊनम्यउ काळी घड़ सषरॉह २७१
इत्यादि	इत्यादि

(ग) इस के अतिरिक्त निम्नलिखित राजस्थानी शब्द भी कबीर की कविता मे आए है जिन का प्रयोग हिंदी में प्राय नही होता—

आवा परधा, आँथवै, आपण, उड़ाणी, उपायौ, ऊखण्या, कुज, कद, कदे, जद, तद, क्रम (कर्म), काण, कालर, काठै, कहसी, कोंइ, कराड़ै, कुँगिलाणी, करसी, खडहडतॉ, खोडि, खूँणै, खाँगौ, खिवै, खूँटी ताँणि (मुहा०), खेड़, खिरि, गहेलड़ी, गुज्झ, घणा, घाल्या, घुरड़ि, चाचरै, चॉनिणो, चच, चहोड, चोळ, चौडै, चात्रिग, चवै, छइ, छाँगि, छानै, छोति, जोइया, जांणिजै, जासी, ज (पादपूर्त्यर्थक), झळ, झाळि, झीण, झबूकतॉ, झंखि, झकोळनहार, ठाहरै, डागळो, डूगरि, तर (तो), त (तो), तलसार, तेणि, त्यांह,

तिरनी, थयॉह्, थैं (=से), थकाँ, थई, थाँहि, थूँणी, थारै, दीवा, दाझण, दाधी, टाधा, दीठा, दह, दिसावराँ, दुहेला, दोहरा, द्रिढ, दहदिसि, ध्रम, घीजिए, नीपजै, नीझर, नचींत, नेडा, निवॉण, नपूर, नाठी, पाळवै, पाँणी, पूरवला, पट्टन, पेखणाँ, पगडा, पछेवडा, परि (भाँति), पन (पर्ण, पत्ते), पसाव, पयंपै, पाँखै (=बिना) पलानि, पणि, पूगी, पाल्हि, पूळा, भोळ, भी (फिर), भेला, भेल्सिी, भुवैं, भाजिसी (भागेगा, चुभेगा, टूटेगा), भावै, मिनकी, मेल्ह्या, माडी, महमही, मैंगल, मैमन, मारिसी, मेल्है इ०, महराण, मंझ, मुक-लाऊँ, माहिली, मोकला, रूड़ौ, रुति, रलिया, रुधहिं, लार, लेसी, लाव्या, लहुरी, लाहौ वाहणौ (चलाना), वाह्या, वागैं, वैसणो, वहोड़ि, वेसास, विडाणा, वाव ववावणा, वावै (बोता है), वदेस, वीद, वागड, बीझ, बिरोलै, बनराइ, वावलिया, वलसी, वानौ, मन्यौ, सूँ, साव, हाथालि, साल्है, सीठ, महनांण, सरूपा, सोहग, सैण, साटै, सैजळा, स्यावज, सुटा, सेती, सलिना, सँगाती, हुना, हूँणा, होसी, हदा, हूँ, हेला इत्यादि[1]।

इन के अतिरिक्त क्रियाओ और कारको के रूप भी यत्र-तत्र राजस्थानी से मिलते हैं।

उपर्युक्त समताओ पर मनन करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कबीर पर राजस्थानी के इतने गहरे प्रभाव का क्या कारण हो सकता है? क्या ये शब्द बाद के प्रक्षिप्त अशो से लिए गए हैं? यदि ऐसा होता तो कबीर का सारा काव्य ही प्रक्षिप्त समझा जाता। कबीर का शायद ही कोई छद होगा जिस मे थोडा-बहुत राजस्थानी भाषा का स्पर्श न हो। अधिकाश स्थलो मे तो क्रियाओ और कारको के रूप भी राजस्थानी मिलते है। यह एक समस्या है, ग्रथि है, जो हिंदी के विद्वानो को उलझन में डाले हुए है। कबीर के विषय मे उन को राजस्थानी का एहसान मानने मे संकोच होता है। हम कहते हैं, मानने की आवश्यकता भी नही है। परतु अपनी चीज को अपनाने मे तो संकोच नहीं होना चाहिए। हमें यह जान लेना चाहिए कि हिंदी का पूर्वरूप ऐसा ही था जैसी कबीर की भाषा। यह रूप व्यापक था, छूआछूत के रोग मे परे था, लोकप्रिय था इस का हाजमा दुरुस्त था। यह वही रूप था जिसे हम हिंदी के वर्तमान रूप-निर्माण के पहले और अपभ्रंश

---

[1] ऊपर दी हुई सूची नागरी-प्रचारिणी सभा काशी, द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली' से बनाई गई है।

के अंत में प्राचीन हिंदी अथवा राजस्थानी हिंदी का व्यापक रूप कह चुके हैं और जो उत्तर भारत में सर्वत्र प्रचलित था।

'वीणा' (इंदौर) के सितंबर १९३३ के अंक में श्री सत्याचरण 'सत्य', एम्० ए० ने 'कबीर की रचना और उस की भाषा' पर अपने विचार प्रकट करते हुए नागरी-प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली' में संग्रहीत कबीर की साखियों की भाषा की प्रामाणिकता में संदेह किया है और उन्हें जाली ठहराया है। उन का अनुमान है कि या तो कबीर के अशिक्षित शिष्यों ने उन की वाणी का मनमाना रूपांतर कर दिया है, अथवा यह लिपिकर्ताओं की मनमानी है। हमारी समझ में, इस प्रकार के संदेहों का तभी तक स्थान रहता है जब तक कवि के समय और उस के ग्रंथ के लिपिबद्ध होने के समय में बहुत अंतर पड़ जाय। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रयुक्त आधार-प्रति सं० १५६१ की होने से कबीर की निकट-कालीन प्रति है। जब तक यह प्रति अप्रामाणिक सिद्ध न कर दी जाय तब तक कबीर की भाषा जाली नहीं ठहराई जा सकती। फिर विद्वान् लेखक का यह भी कहना है कि कबीर की 'रमैणी', 'पदावली' और 'साखी' में उन्हें केवल 'साखी' की भाषा ही जाली प्रतीत होती है। 'पदावली' और 'रमैणी' की भाषा क्यों नहीं? माना कि साखियों में राजस्थानी शब्दों, कारक और क्रिया-प्रयोगों का बाहुल्य है, परंतु 'पदावली' और 'रमैणी' भी इन से अछूती तो नहीं है। लेखक की एक युक्तिसंगत दलील यह भी है कि कबीर के समकालीन (?) और उसी प्रदेश में रहने वाले दूसरे कवि जायसी की भाषा में और कबीर की भाषा में आकाश-पाताल का अंतर क्यों है? यह सभी जानते हैं कि जायसी की भाषा बोलचाल की ठेठ अवधी है, और वह भी राजस्थानी के स्पर्श से सर्वथा खाली नहीं है। परंतु कबीर ने जिस भाषा में रचना की है, वह उस काल की प्रचलित साहित्य-भाषा है, जो किसी प्रांतविशेष की बोलचाल की भाषा नहीं थी, बल्कि साहित्य-रचना के लिए समस्त उत्तर भारत में प्रयुक्त होती थी, जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं। बहुपर्यटनशील होने के कारण और सिद्धांतत संकुचित प्रांतीयता और क्षुद्र-मत-मतांतरों के विरोधी होने के कारण कबीर ने इसी व्यापक देशभाषा को साहित्य-रचना के लिए उपयुक्त समझा, यह युक्ति-संगत भी है। फिर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी जब अनुसंधान करते हैं तो प्राचीन हिंदी के प्राय सभी ग्रंथों में उस व्यापक साहित्य-भाषा का रूप मिलता है। विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' की भाषा का उदाहरण ऊपर दिया ही

जा चुका है। अतएव ग्रंथावली के संपादक का यह लिखना कि " 'कबीर-ग्रंथावली' के दोहो आदि की भाषा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कबीरदास जी के समय के लिए उपयुक्त है और वह हिंदी के सोलहवी तथा सत्रहवी शताब्दी के रूप के ठीक अनुरूप है", हमे तो सत्य से सर्वथा शून्य नही मालूम होता।

यह जान कर आश्चर्य होता है कि 'ढोला मारू रा दूहा' और कबीर की रचना मे न केवल शब्दो का ही साम्य है, वरन् कही-कहीं तो भाव भी ज्यों के त्यो दोनों मे मिलते है। संभव है, कबीर ने उस का कहीं-कही आश्रय लिया हो। परंतु कबीर जैसे प्रतिभा-संपन्न कवि को बाहरी आश्रय लेने की क्या आवश्यकता पड़ी होगी? वास्तव मे बात यह थी कि जिस साहित्य-संपत्ति और भाषा का प्रयोग कबीर करने चले थे, उसी ने 'ढोला मारू रा दूहा' की रचना भी हुई। एक सरोवर मे से दो जल के घडे भरने से पानी मे एक सी मिठास तो होगी ही। इस मे कौन सा आश्चर्य है, यदि कबीर और ढोला मारू की प्रेम-कहानी के लेखक ने उन्ही साधारण शब्दो, मुहावरो, परंपरानुगत काव्योक्तियो का अपने-अपने काव्यो में निस्संकोच प्रयोग किया, जो कि तरल रूप मे समाज मे सर्वत्र प्रचलित थे।

परिशिष्ट

इस विषय का अध्ययन करते हुए अपभ्रंश की प्रमुख रचनाओं (१) हेमचंद्र के व्याकरण (२) मेरुतुंगाचार्य के 'प्रबंध-चिंतामणि' और (३) सोमप्रभसूरि की रचनाओ मे से चुन कर संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद, विभक्ति चिन्ह एव देशीय शब्दों की हम ने एक तालिका बनाई है। वह तालिका इस लेख के परिशिष्ट रूप में जोड दी जाती है। इस तालिका के शब्दों और खास कर क्रियापदो और कारक चिन्हो को प्राचीन और माध्यमिक काल की राजस्थानी कविता से मिलाने पर यही कहा जा सकता है कि वास्तव में प्राचीन राजस्थानी और अपभ्रंश में बहुत कम अंतर है और जो है, वह नही के बराबर है। अपभ्रंश की शब्द-तालिका को कबीर की भाषा से मिलान करने पर आश्चर्यजनक साम्य मिलता है। हमारे अनुमान से कबीर के ७५ प्रतिशत राजस्थानी प्रयोग अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध होते है। 'ढोला मारू रा दूहा' की भाषा तो ९० प्रतिशत अपभ्रंश है। इन तीनों के मिलाने से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'ढोला मारू रा दूहा' की भाषा, कबीर की भाषा

और उत्तर-अपभ्रंशकाल की भाषा एक ही व्यापक देशभाषा अथवा लोकभाषा के रूप हैं। यह निस्सदिग्ध तथ्य प्रतीत होता है।

नीचे अपभ्रंश रचनाओ मे से लिए हुए कुछ संज्ञा, सर्वनाम शब्द, क्रियापद, विभक्ति चिन्ह तथा देशीय शब्द उद्धृत किए जाते हैं, जो प्राचीन तथा माध्यमिक काल की राजस्थानी में और पूर्वकालीन तथा उत्तरकालीन अपभ्रंश मे एक समान स्वतंत्रता और बहुलता के साथ प्रयोग मे आए हैं—

(१) मेरुतुंगाचार्य के 'प्रबंध-चिंतामणि से उद्धृत (वि० सं० १३६१)

अम्मीणा-अम्मणिओ (अम्हीणो डि०), कहिज्ज, मुहिज्ज, सदेसड़उ, ऊयाॅ-गिण्या, दीहडा, लब्भइ, दोरडी (डोरी), चिक्खलि (राज०=कीचड), होसे-हुयइ-हवइ ('होने' के अर्थ मे) अवारि (देर), भणइ, म झूरि, म करि (निषेधात्मक 'म'-देखो डॉ० कबीर). जइ (यदि), डीहियाॅ (डाहया-राज०-गुज०), सीझे (दु खपावे), वीससइ, पतिज्जइ, तुट्ठी, हिंडइ, बंधीयउ, झाली (राज० झाळ=ज्वाला, आग), पायक्कडा (स्वार्थिक, अड्ड, ड) मुधि (मुग्धा, भोली), गयाइ ('गया' क्रिया का बहु०), पच्छइ (पछे-राज०), संपज्जइ, वेढइ, गढवइ (राज० जैसे 'नरवइ'=नरपति), भज्जि गय (राज० भाज गयो), हउँ (राज० हूँ=मैं), विछोड़बि, तेवइँ (जैसे जेवँइ राज०=जैसे-तैसे), आई (राज० माता), चिंतवइ, जाईयउ (जायो-राज० जन्मा हुआ), दह (दस), उड्डाव्यियउ, सहि (सखी), दिट्ठ, मइँ (मै, मैं ने), विलुल्लइ (लुळणो राज०=लटकना, झूलना), गिउ (गियो, ग्यो, गयो राज० बोलचाल का रूप), भड़, माणियाॅ (भोगे), निक्खाँ, मग्गड़ा, गयणि, धउक्कइ, इत्थतरि, जरि, (जरे-करे=यदा कदा-राज०-रूप), आविसइ (आवसी-आसे, आसी-राचज०) जाणीसिइं गळि-उरि, मुहि (इकारांत सप्तमी का प्रयोग राजस्थानी में होता है), कण्ठुलउ, (ओकारांत, उकारात शब्द राज०, गुज० और अपभ्रंश तीनो भाषाओ की समान विशेषता है), केहउ, (केहो-डि), काइ, माणुसड़ा, सुनियइ, लोय (लोग), इक्कज (एकज, हेकज-राज०), अवर, करसण, एकला, आइबो-जाइबो, बे (दो), हाथ पग झाड़ी (राज० मुहा०), तुह (तुम्हार), जाणइ, हालेइ, लकहले (लकाफल जैसे मुताहळ राज०=मुक्ताफल), निहाळई, करणउत्त (करणसुत-जैसे गर्जसिहोत) बसदेरावउत, दशरथरावउत (पृथ्वी-

राज के दोहे), सइ (सती), वइसानरि (वैसानर, वैसन्दर-राज०) राणइ (कर्त्ता और सबंधकारक में शब्दों को इकारांत करने का प्रचलन डिंगल में है—देखो (१) वेलि, (२) राउजइत सीरउ छंद), जैमल (जैसिंह सिद्धराज, इसी प्रकार अ, खेतल, पातल, पीथळ-प्रतिष्ठा और ममता सूचक नाम शब्दों में लकारांत प्रयोग), वगउ (वड़ा), वाणि-जडु माडियउ (विगज माड यो-राज० मुहा०), हेठि, मारीताँ, (जैसे राज० माईताँ, जणीताँ), सिहरु, ढाळिउँ, वळि-वळि-(वारवार), नइ (नदी), विणु, वाढी, तो (तू-तेरा, तुझे), वीसारताँ न वीसरइ (मिलाओ-ढोला०, कबीर) पराण (राज० पिराण = प्राण), बीजउ, आत्थि (अर्थ, जैसे राज० आथ न साथ (मुहा०), आपण (राज० आपणो), कइ (= अथवा, राज० कै), पुट्ठिहि पच्छइ (राज० मुहा० पूठपछे), छाणि (राज० छाने = गुप्त), तुहाला (मिलाओ—तेज तुहाल्ला तुरकड़ा (पीथल) जाँह-ताँह (जिन का- तिन का), चंपह (मि० चंपी जै अवरेणं) माटि (लिये-राज० गुज०), सहु (सब), तिणिसिउँ (राज० तिणस्यूँ (अर्वाचीन रूप), केही, साटी, दिण्हा, अत्थमणु (राज० आथूणों-), तसु, नवि।

(२) सोमप्रभाचार्य की रचना और उद्धरणों से—

तणु (शरीर), देसड़ा, चइज्ज, खणाविय (राज० खिणायो, किण जी खिणाया) नाडा नाडिया (लोकगीत), मुरुक्ख, पक्खालण, चलण (चरण, महिमा चलण मुरारि (पीथल), पियाराइं ('पियारा' का बहु०), तिन्नि, जवाइ (जँवाई राज० दामाद), नरवइ, आण, करिहइ-हरिहइ-लंघिहइ, दिट्ठु, पक्त-पत्तउ-पत्त (डिं० =पहुँचा), सिरि (श्री, संयुक्त रेफ को वियुक्त करना, राज० का साधारण लक्षण है), मोहइ, पाँवरिय (पँवरी राज०, स्त्रियों की विवाह समय की ओढनी), पसरिय, महासइ (महासती), जेण, सुत्ती, ठिताइं (स्थित, बैठे हुए), अग्गि, मह (मेरे), करिवि (कर के), जइ-तइ, रडतु (राज०-गुज०), वारियइ, गत्त (शरीर), हसइ-रोपइ-जाणइ-करइ, त-जं (तैसे-जैसे), करवत्त (करौत, 'करवतबूहो अंग'-), मइँ, जाणियउ, तवइ (तबै-तनैं), दिणयरु (दिनकर), नवरि (नहीं तो), अय्याणु, रंजइ (राज० रंजणो=तृप्त होना), पहु (प्रभु), यन्नह-पियह (षष्ठी विभक्ति का चिन्ह 'ह' संयुक्त होकर राज० के प्राचीन रूप में विद्य-मान है), दिन्निय-दीन्ही, रेह (रेखा), चूड़उ, होइसइ, हउँ, तुह (तुझ पर), बूहा हत्थ

१२

(राज० मुहा० लीह लीक ठीहटी राज० अम्हे रिउ (रिपु) निहाळहि अक्खि यइ, छज्जइ (छाजै, सोभै), ठवड, गहिल्लु, (गहला, गैला राज० =प्रमाद ग्रस्त), विहूणा (देखो, कबीर में), मुणण, मुणवि, मुणेसि (डि० =कहना, विचारना), पयपहि (कहते हैं), लोइ (लोग), पसरइ-पसारइ, जोयणि (योजन में), हत्थु, वाहियइ (राज० हळ वाबै=चलावै), निय (निज), झपियो, सयण, परियणु, कोवि. एकल्लउ, जाळा-वळीओ, दुट्ठ, मयलु, दूहव, संतावइ (राज० संतावै), बभु (ब्रह्मा, ब्राह्मण), पणमइ, विप्फुरिअ, पिट्ठि लग्ग, ववहरय, जमु-तमु, दसइ (दिखता है), कति, धूय (बेटी), मति (मंत्री), हुंत (अपादान कारक चिन्ह), तत्थ, वट्टइ (सं वर्तते), खिवि, तेण, चडहिं, खिज्जिसि (खीझणु), खित्तउ (स० क्षिप्त), बाहुडिय, मुक्कउ (मूकणो-राज० गुज०), खाळि (राज० खाळा, खाळी=नाली), दुल्लहु, निट्ठवणु (समाप्त होना), नभरहिं (स्मरण करते हैं)।

(३) हेमचंद्र की रचना से—

आणिउ (राज० आण्यो), निवड्उि,—निवडिआइं-निवडइ, (राज० नीवड्यो) अच्छइ (राज० छै), अम्हे -अमइं-अम्हारउ-तुम्हारउ, आळडी (राज० आळ=झगडा), कड्ढउ, कसरक्केहिं, द्रह (दे० द्रह भरिया नयणेह—ढोला०) रेसि (सम्प्रदान का चिन्ह), करेसि, जीवयड्उ-भवदोसड़ा (अड़, ड़ स्वार्थिक प्रत्यय), वत्तड़ी, ढोल्ला, धण।

ढोला सामळा धण चम्पावण्णी। णाइ सुवण्णरेह, कसवट्टइ दिण्णी।
ढोला मइँ तुहुँ वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तड़ी, दड़वड़ होइ विहाणु॥
एइ ति घोड़ा एहि थलि, एइ ति निसिआ खग्ग।
एत्थु मुणीसम जाणीअइ, जो नवि वाळइ वग्ग। प्रायः राजस्थानी पद्य है।

जोअण (योजन), वरिस, अहर, दिअहडा, घल्लइ, मारेइ, पयड़ा, (प्रकट० सं०), वलि किज्जउँ, घडावड, पइट्ठ, विमूरइ, पिक्खेवि-करेवि (पूर्वकालिक प्रयोग), जि (ज-जि-पाद पूरक), उण्हउ (राज० ऊन्हो-ऊनो=गरम), केवँ-तेवँ (कैसे-तैसे), दड्ढा (जलाया हुआ), निअय-निअ (निज०, क), संगर (युद्ध), अम्हारा (राज० म्हारा), अंधारइ, माइ (समाता है, दे० हियड़े सास न माइ० ढोला०), मेल्लवि, महति

(दे० वेलि), करवाळ, तुट्टउ, नेहड़ा, सहु, जोइज्ज (राज० जोईजै), कप्पिज्जइ-छिज्जइ, तेहड, भडघड (भट्ट-घटा), मळिअल, गिम्ह (ग्रीष्म), काइ, महारउ, रूसइ, कासु, वल्लहुउ, निव्वहइ, ठाणु (स्थान), पच्छह, विहाणु, जोइ (राज० जोहणो=देखना), तणेण, मोक्कलइ, ससणेहि, विहित्रि, रुणझुणि, जाइ म रोइ (दे० ढोला० कवीर), मच्छे मच्छ गिलिज्जइ (राज० मच्छ गळागळ), मेल्लति (छोड़ने के अर्थ में), जेवड्डउ-जेवडउ (जितना-तितना), जे गया ('गया' क्रिया का वहु० रूप अपभ्रंश से ज्यों का त्यों आगया है), पहिअ (पथिक-दे० पही भमतउ जउ मिलइ० ढोला०), झखहि, देनहो (राज० देवँतो. देंतो), उव्वरिअ, तणा-तणो-तणी (पष्ठी विभक्ति का चिन्ह), बप्पीहा (दे० ढोला०), गय (गज), अब्भिडहि (राज० आभड़ै, छुए, भिड़ै). महमहणु (दे० वेलि), छुडु आघइ (राज० नुह्रा आघो छोड), वघुडा, झडघडहि, छेपउ (राज० छेवा, कमी), एही (ऐना), छोल्लिजंत (छीलना राज० छोलणो), सम्मुह, गय घड़, जति (जाती है), तिराहे, वियरो (राज० वेरो=कुँआ), हल्लोहलेण (राज० हलवळ), कुड्डु (राज० कोड=खुशी), केम (राज० गुज०), लालसउ, वहइ, मणोरह, वद्दळि, लुक्कु, ठिउ (था), जाम-ताम, निवडइ, मयगळह, वज्जइ, पणट्टइ, तेज्जि (राज० तेई ज), होन्ति, मज्झे, जेवडु-तेवडु, जाँह-ताँह, हराविआ, जोअंताँह (राज० जोवँ ताँ), गंजिउ, छइल्ल, दीहर (दीर्घ), लोअण, भतडी-भत (भाँति), वत्त, ऐसी (राज० आसी, आवसी), रूसेसु (राज० रूसस्यू), उट्ठिअउ, झुम्पड़ा वळन्ति, अह (अथ या अथवा), उल्हवइ, रूसिज्जइ, रूसणा, विलिज्जइ, वाळिउ (राज० वाल्या (गाली), किर (डिं० में उत्प्रेक्षा का चिन्ह, मानो), रूअड़उ, जाइज्जइ, आणिअइ, गहीरिम (गंभीरता राज० गहीर), पाडिउ, साव (सर्व, पूरी), गोरड़ी, विगुत्ताइ, वहिल्लउ (जल्दी) सुपुरिस, घवळइ, वळणाइ, घल्लति, विट्टाळु (राज० वीटळणु=नष्ट होना), गही (राधा), लेखडउ, ससहर, दूरठिआ (राज० दूरिट्ठा० दे० ढोला०), जुअंजुअ (राज० जूजुआ=जुदा-जुदा), करगु-उल्लाळिउ (डिं०), दडवड़इ, हुंकारडए, तूणाइ (राज० तिरणाह), आळवणु (ऊपर 'आळड़ी' दूसरा रूप आया है). सहेसीइ, सपड्डिय (राज० सॉपड़णो-स्नान करना), खज्जइ-पिज्जइ (राज०खजै), रावइ, लोअड़ी, गोट्ठड़ा, वईस (वैसणो राज०), सुमुरिज्जइ, वल्लहउ, वीसरइ, कइ नाउ (काई नॉव राज०) विनट्ठइ, सुक्कइ, एक्कसि (राज० एकरसी, एकरस्या, हेकरसी), सामि-पसाउ (यथा लाखपसाउ), मेल्लइ नीसासा

(राज० मुहा०) नासत (राज० न्हासणो) मिलिज्जइ सुइणतरि (दे० ढोला० छिज्जइ, वारि (द्वार), ठाइ, प्रिउ, उव्वारिज्जइ, मजिट्ठ (दे० मज्जीठा जिम रच्चणा ढोला०), सोरावा-जागेवा, ममाणु (साथ), अब्भि-अब्भा (आकाश में), हत्थडा, हत्थडउ, पड़िदिवि, सथळु, लेविणु (लेणो राज०), म० जपि, नावइ (न-आवइ), डुंग-रहि, रडंतउ, धणाइ (राज० धणियाप स्वामित्व), विलग्गी, मोडन्ति इत्यादि।

मैथिलकविकुलचूड़ामणि महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर

[लेखक—श्रीयुत डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०]

(क्रमागत)

विद्यापति की लौकिकोक्तियाँ

विद्यापति की कविताओं मे भाव-संबंधी जो विशिष्टताएँ हैं उन का किञ्चित निदर्शन किया जा चुका है। परन्तु इन के भावो के अतिरिक्त एक और भी अंग है जो विद्यापति की ख्याति का कारण हुआ है। यह अंग है उन की लौकिकोक्तियों का। यह उक्तियाँ इतनी अच्छी तथा व्यापक है कि प्रत्यह उन के प्रयोग होते रहते है और कहावतों की भाँति लोग उन से लाभ उठा सकते है। यहाँ पर नमूने के तौर पर उन की लौकिकोक्तियो के उदाहरण दिए जाते है। पहले अवहट्ट भाषा के कुछ उदाहरण काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कीर्त्तिलता' से दिए गए हं, और बाद में मैथिली के अन्य रचनाओ से।

अवहट्टभाषा की लौकिकोक्तियाँ

१—अवसओ उद्यम लक्षि बस, अवसओ साहस सिद्धि।

लक्ष्मी उद्यम मे निश्चय कर के वास करती है, और साहस मे भी अवश्य ही सफलता है।

२—अवसओ विसहर बिस बमइ अमिअ बिमुक्कइ चन्द।

विषधर सर्प अवश्य ही विष उगलता है, और चंद्रमा अमृत की ही वर्षा करता है।

३—चान्दन क मूल इन्धन बिका।

चंदन के समान भाव में ईंधन बिका।

४—चोर घुमाइअ नाअक[1] हार्थे।

चोर को नाथ के बल घुमाना चाहिए।

५—छोटेओ तुरुक्का भभकी मार।

तुर्कों का छोटा-सा भी बच्चा (हिंदुओं को) डरवाता है।

६—जइ साहसहु न सिद्धि हो झंख कविव्वउँ काह।

यदि साहस करने से भी सिद्धि न मिले तो मनहूस हो कर शोक करने ही से क्या होगा।

७—जनि उजडल लंका।

जैसे लंका उजड़ गई हो।

८—तावे न जीवन नेह रह, जावे न लग्गइ मान।

जब तक जीवन में कोई मान नहीं, तब तक उस में स्नेह नहीं।

९—दुख्खे सिज्झइ राअ घर कज्ज।

बडे कष्ट से राजा के दरबार में कार्य की सिद्धि होती है।

१०—नहु मान धनछिख भिख्ख भावइ।

मानधन को भीख माँगना नहीं शोभा देता है।

११—पुरिस कम्म साहस करिज्जइ।

साहस करना पुरुष का काज है।

१२—फल दैवह आअत।

फल भाग्य के अधीन होता है।

१३—महुअर बुज्झइ कुसुमरस, कव्वकलाउ छइल्ल।
सज्जन पर उअआर मन, दुज्जन नाम मइल्ल॥

भ्रमर ही फूलों के रस को पहचानता है तथा कला में निपुण पुरुष ही काव्य की कला का अनुभव कर सकता है। सज्जनों का मन परोपकार में लगा रहता है किंतु दुर्जनों का मन केवल मलिनता से भरा रहता है।

---

[1] **नाअक=नाथ, या वह डोरी जिस से पशु को उस का स्वामी अपने अधिकार में लाता है।**

१४—वाणिज्ज होइ विअक्खणा धम्म पसारइ हट्ट।

भित्ता मित्ता कंचना विपथ काल कसवट्ट॥

चतुर लोग बनिए के समान हैं। धर्म का प्रसार ही हाट है। भृत्य तथा मित्र सोना हैं, और विपत्ति काल ही उन की कसौटी है।

१५—विपइ न आवइ तासु घर जमु अनुरत्तेओ लोग।

जिस में लोग अनुरक्त होते हैं, उस के घर विपत्ति नहीं आती।

१६—विभ हीन नत्थि वाणिज्ज।

बिना विभव का वाणिज्य नही होता है।

१७—वे भूपाला मेइनी वेण्डा एक्का नारि।

सहहि न पारइ वेवि भर अवस करावए मारि॥

दो राजाओ वाली पृथ्वी, तथा दो पुरुषो की एक ही नारी दोनो का भार नही सह सकती। वह अवश्य ही लड़ाई करवाती है।

१८—सव्वउँ केरा रिज नअन तरुणी हेरहि वंक।

चोरी पेम पिआरिओ अपने दोष सशंक॥

तरुणी स्त्रियाँ सभी की भोली-भाली नज़र को तिरछी समझती है। चोरी मे प्रेम करने वाली प्रेयसियाँ अपने ही दोष से डरी हुई रहती है।

१९—होन्ना होसई।

होनहार ही होता है।

मैथिली की लौकिकोक्तियाँ

१—अति रति हठे[1] नहिँ जीवए नारि[2]।

२—अपदहि[3] गिरि सम गौरव गेल[4]।

३—अपन वेदन[5] तिहि[6] निवेदिअ,

जे पर[7] वेदन जान[8]।

---

[1] हठ करने से। [2] विद्यापति पदावली, संख्या १५९ (नगेंद्रनाथ गुप्त संस्करण)। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि नगेंद्रनाथ गुप्त के संस्करण का उल्लेख करने पर मैं विद्यापति पदावली की संख्या दूँगा और गंगानंद सिंह के संस्करण के लिए पृष्ठ दूँगा। [3] अनुचित स्थान पर अर्थात् व्यर्थ। [4] पर्वत के समान बड़ा मेरा गौरव नष्ट हो गया—विद्यापति पदावली, सं० ४२९। [5] दुःख। [6] उसे। [7] दूसरे का। [8] विद्यापति पदावली, सं० ३४५

४—अपनहु[1] न देखिअ अपनुक देह[2] ।

५—अपने आरति[3] न मिल आन[4] ।

६—अपने साँसे जाइति उड़िआए[5] ।

७—अरथ असम्भव के पतिआए[6] ।

८—अवसर बहला रह पचताव[7] ।

९—अवसर लाख लहए उपकार[8] ।

१०—असमय आस न पूरय काम[9] ।

११—आइति[10] पडले बुझिअ विवेक[11] ।

१२—आँकम[12] नामे रहए हिअ हारि ।
जनि करिवर तर खसल पञोनारि[13] ।

१३—आगि क दहले आगि प्रतिकार[14] ।

१४—आगि जारिअ पुनु आगिहिक काजे[15] ।

१५—आडम्बर आदर हो सब तहु[16] ।

१६—आदरे जानिअ आगिल काज[17] ।

---

[1] आप भी। [2] विद्यापति पदावली, सं० ४७७। [3] आर्त्ति=उत्कट उत्कंठा। [4] अपने में अत्यंत उत्कंठा होने पर भी दूसरा नहीं मिलता है—विद्यापति पदावली, सं० १४०। [5] वह नायिका इतनी दुबली हो गई है कि अपने साँस ही की हवा से उड़ जायगी—विद्यापति पदावली, सं० ७६२। [6] असभव अर्थ का विश्वास कौन करेगा—विद्यापति पदावली, सं० ३०। [7] अवसर चूकने पर केवल पछताना ही पड़ता है—विद्यापति पदावली, सं० ३४८। [8] अवसर आने पर लाखों उपकार होता है—विद्यापति पदावली, सं० २३९। [9] कामदेव असमय में किसी की आशा नहीं पूरी करता—विद्यापति पदावली, सं० १६५। [10] आयत्ति=अधीनता। [11] अधीनता प्राप्त करने पर लोगों की विवेक बुद्धि का पता लगता है—विद्यापति पदावली, सं० १२५। [12] गोद का। [13] गोद का नाम लेते ही इस प्रकार हृदय हताश हो जाता है जैसे एक बड़े हाथी के नीचे गिर जाने से पद्मनाल की दशा हो जाती है—विद्यापति पदावली, सं० १५९। [14] विद्यापति पदावली, सं० १७९। [15] विद्यापति पदावली, सं० २०१। [16] इस संसार में आडंबर से सब जगह आदर होता है—विद्यापति पदावली (महेशवानी), पृ० ५१० (नगेंद्रनाथ गुप्त संस्करण)। [17] किसी के पास जाने पर यदि वह आदर भाव दिखलावे तो समझना चाहिए कि जिस कार्य के लिए वह आया है वह सिद्ध होगा—विद्यापति पदावली, सं० ३४४

१७—आदि अन्त नहिँ महघ[1] पसार[2]।

१८—आन औषध कर आन बेआधी[3]।

१९—आनक वेदन नइ बुझ आन[4]।

२०—आरति अधिक न रह मुख सोभ[5]।

२१—आरति गाहक महग वेसाह[6]।

२२—आसा-भंग दुख मरन समान[7]।

२३—आसा-लुबुधल न तेजए रे,
कृपन क पाछु भिखारि[8]।

२४—एकसरि तारा केअओ नहिं देख[9]।

२५—ए सखि ! राखहिसि अपनुक लाज,
परक दुआरे करह जनु[10] काज।
परक दुआरे करिअ जञो[11] काज,
अनुदिन अनुखने पाइअ लाज[12]॥

२६—कउड़ि पठओले पाव नहिँ घोर[13]।

२७—कउन[14] मुगुधि[15] आलिंगति आगी[16]।

२८—कएले धन्धे[17] धरम दुर जाए[18]।

---

[1]महँगा। [2]महार्घ विक्रय का कोई आदि अंत नहीं है। [3]रोग तो कोई और है, और दवा और ही हो रही है—विद्यापति पदावली, सं० ७९। [4]दूसरे का दुःख दूसरा नहीं समझता—विद्यापति पदावली, सं० १८२। [5]दुःखी आदमी के मुख पर शोभा नहीं रहती—विद्यापति पदावली; सं० २२०। [6]जिस गाहक को चीज़ खरीदने की बड़ी आवश्यकता रहती है वह महँगा ही खरीदता है—विद्यापति पदावली, सं० १२९। [7]विद्यापति पदावली, सं० ३५९। [8]आशा-लुब्ध भिक्षुक जिस प्रकार कृपणों का भी पीछा नहीं छोड़ता है—विद्यापति पदावली, सं० ५२। [9]एक मात्र तारा को देखना अशुभ माना जाता है—विद्यापति पदावली, सं० ५३९। [10]नहीं। [11]अगर। [12]हे सखी ! यदि अपनी लाज रखना चाहती हो, तो दूसरे के घर कोई काम न करो। यदि ऐसा करोगी तो हमेशा लाज में पड़ोगी—विद्यापति पदावली सं० १३१। [13]मट्ठा बहुत महँगा बिकता है, उसे खरीदने के लिए तुच्छ मूल्य बाज़ार नहीं भेजना चाहिए—विद्यापति पदावली, सं० २१७। [14]कौन। [15]मुग्धा स्त्री। [16]विद्यापति पदावली, सं० ३९१। [17]संशय। [18]संशय करने से धर्म नष्ट हो जाता है—विद्यापति पदावली, सं० ९३

२९—कतए भीति जञो दृढ़ अनुरागे[१]।

३०—कतए सुनल अछ जुडि[२] हो आगि[३]।

३१—कत कत लखिमी चरणतल नेउछय[४]।

३२—कर सञो खसल परसमनि रे,
के लेल अपनाई[५]।

३३—कह 'कविसेखर' गरुअ[६] भूख पर,
करु जनु थोर[७] अहार[८]।

३४—कहल न बूझए हृदय क सून[९]।

३५—काच कॉचन न जानय मूल[१०]।

३६—किय बिपवह समय जलदाने[११]।

३७—कुदिना[१२] हितजन अनहित रे,
थिक जगत सोभाव[१३]।

३८—कुम्भी[१४] जल कएँ जेहन पिरीति[१५]।

३९—कुल रखले रह[१६]।

४०—कूप न आवए पथिक क पास[१७]।

---

[१]यदि सच्चा और स्थिर प्रेम है तो कोई भय नहीं—विद्यापति पदावली, सं० २९७। [२]शीतल। [३]आग शीतल होती है, यह कहाँ सुना है—विद्यापति पदावली, सं० ५१२। [४]विद्यापति पदावली, सं० २। [५]हा! पारस-मणि मेरे हाथ से गिर पड़ा, पता नहीं, किस ने उसे चुरा लिया—मिथिला गीतसंग्रह, भाग २, पृ० २९। [६]अधिक। [७]थोड़ा। [८]भोजन—विद्यापति पदावली, सं० १७८। [९]हृदय-शून्य लोग कही हुई भी बात नहीं समझते—विद्यापति पदावली, सं० ४३१। [१०]काँच सोने का मूल्य नहीं समझता है—विद्यापति पदावली, सं० १९८। [११]विष देने के समय में जल देने से क्या लाभ है—विद्यापति पदावली, सं० ८९। [१२]बुरे दिन में। [१३]यह संसार का नियम है कि बुरे दिनों में हित करने वाले भी लोग शत्रु हो जाते हैं—विद्यापति पदावली, सं० ७२०। [१४]सेमार के समान जल में होने वाली लतर। इस के पत्ते बहुत ही छोटे होते हैं। जिस तालाब में यह फैल जाता है उस का जल बहुत खराब हो जाता है। [१५]मिथिला गीतसंग्रह, भाग ४, पृ० ९। [१६]विद्यापति पदावली, सं० २१५। [१७]मार्ग में जाते हुए प्यासे पथिक के पास कुआँ उठ कर नहीं आता, प्रत्युत पथिक ही जल को खोजते हुए कुँए के पास जाता है—विद्यापति पदावली, सं० ४४४

४१—केओ नहिँ वेकत[1] करए निज[2] चोरि[3]।

४२—गुञ्जा[4] रतन करए समतूल[5]।

४३—गेल जउवन पुनु पलटि न आवए,
केवल रह पचतावे[6]।

४४—गेल दिन पुनु पलटि न आव[7]।

४५—गेल दिना नहिँ आवए[8]।

४६—गेल भाव जे पुनु पलटावए,
सेहे कलामति नारी[9]।

४७—गोप भरमे जनु बोलह गमार[10]।

४८—घीउ उधार माँग मति-भोर[11]।

४९—चोरि पिरीत होय लाख गुन रंग[12]।

५०—छिक्कहि नहिँ चली[13]।

५१—छोट पानि चह-चह कर पोठी[14],
के नहिँ जान[15]।

५२—जइओ जकर मुह पेच[16] सन,
दूसए[17] चाहए आन[18]।

---

[1]व्यक्त=प्रगट करना। [2]निज=अपनी। [3]कोई भी अपनी चोरी को प्रगट नहीं करता—विद्यापति पदावली, सं० २५९। [4]एक लाल रंग का बहुत छोटा गोल-मिर्च के समान फल होता है, उस के सर पर काला निशान भी होता है। इस से सोना तौला जाता है। [5]गुँजा और रत्न को बराबर करते हैं—विद्यापति पदावली, सं० १९८। [6]विद्यापति पदावली, सं० ९१। [7]विद्यापति पदावली, स० ३४८। [8]विद्यापति पदावली। [9]नष्ट हुए रस को जो स्त्री फिर से नायक में उत्पन्न करे वही 'कलावती' कहलाती है—विद्यापति पदावली, सं० ५४१। [10]मैं अहीर हूँ, यह जान कर मुझे मूर्ख नहीं समझना—विद्यापति पदावली, सं० ९२। [11]घी बड़ी महँगी चीज है उसे उधार माँगना केवल मूर्खता है। मति-भोर=मूर्ख—विद्यापति पदावली, सं० २१७। [12]छिपे हुए प्रेम में बहुत अधिक आनंद मिलता है—विद्यापति पदावली, सं० १०६। [13]यात्रा के समय कोई छींक दे तो कुछ देर रुक जाना चाहिए—विद्यापति पदावली, सं० ६३। [14]चह-चह करना=फड़फड़ाना। [15]यह कौन नहीं जानता कि थोड़े पानी में पोठी मछली बड़ी प्रसन्न रहती है—विद्यापति पदावली। इसी बात को संस्कृत में किसी ने कहा है—'अंगुष्ठोदकमात्रेण शफरी फर्फरायते'। [16]एक प्रकार की मुँह बनाने वाली पक्षी। [17]मुँह बनाना। [18]जो स्वयं बदसूरत है, वह भी दूसरे को बदसूरत कहना चाहता है—विद्यापति

५३—जइसन परहोक[1] तइसन बीक[2]।

५४—जउवन रूप तावे[3] धरि छाजत,
जावे[4] मदन अधिकारी[5]।

५५—जकरा[6] जासञो[7] रीति[8],
दुरहुक दुर[9] गेले दोगुन पिरीत[10]।

५६—जगत विदित थिक सब काँ सब तहु[11],
मन काँ मन थिक साखी[12]।

५७—जिव जञो, जनि निरधने निधि पाए,
खन हेरए, खने राख झपाए[13]।

५८—जुवति चरित बड विपरीत बुझए केवहु[14] पार,
बुझए चेतन-गुन निकेतन भुलल रह गमार[15]।

५९—जे अनुपम[16] उपभोग न आबए,
की फल ताहि[17] निहारि।[18]

६०—जे अँगिरिअ[19] तॉ[20] न गुनिअ गारि।[21]

६१—जे अँगिरिअ ता[22] न होइअ उदास[23]।

६२—जे कर[24] साहस ता[25] हो सिधि[26]।

६३—जे किछु कभु नहिँ कलारस जान,

पदावली। [1] बोहनी। [2] बोहनी पर बिक्री निर्भर रहती है—विद्यापति पदावली, सं० १२९। [3] तब तक। [4] जब तक। [5] विद्यापति पदावली, सं० ९१। [6] जिसे। [7] जिस के साथ। [8] प्रेम। [9] अत्यंत दूर। [10] विद्यापति पदावली, सं० ५०७। [11] तहु=प्रकार। [12] यह सब प्रकार सब को मालूम है कि मन का साक्षी मन ही होता है—विद्यापति पदावली, सं० ४५३। [13] जैसे दरिद्र कोई धन का ख़जाना पाने पर उसे बार-बार उलट-पुलट कर देखता है, और उसे छिपा लेता है उसी प्रकार मैं अपने प्राण को देखता हूँ और छिपाता हूँ— विद्यापति पदावली, सं० १८५। [14] कोई भी। [15] विद्यापति पदावली, सं० ७७। [16] सुंदर। [17] उसे। [18] ग़ौर से देखने से—विद्यापति पदावली, सं० १५। [19] स्वीकार कर लें। [20] उसे। [21] जो स्वीकार कर लिया जाय उसे कभी अनुचित न समझना चाहिए—विद्यापति पदावली, स० २३७। [22] उस से। [23] विद्यापति पदावली, सं० १२५। [24] करे। [25] उसे। [26] विद्यापति पदावली, सं० २३४

नीर खीर[1] दुहु करए समान[2]।

६४—जे पुनु जानए रतन साँच[3],

रतन तेजि न किनए काँच[4]।

६५—जेहन विरह हो तेहन सिनेह[5]।

६६—जओं जग जीविअ नवओ निधि मोल[6]।

६७—झरक[7] पानि डोभक[8] कोंइ[9],

गरब उपजू जाहि।

भने 'विद्यापति' दहक[10] कमल,

दूसए चाहए ताहि[11]॥

६८—झाकि रहय न अपजस वासि[12]।

६९—तत[13] करिअ जत फावए चोरि[14]।

७०—तह्निकाँ सतत तोहर पर थाव[15],

जनि निरधन मन कतए न धाव[16]।

७१—तर सूते गढ़ि काट कुम्हार[17]।

७२—तिल आध[18] दुख जनम भरि सुख,

इथे [19]लागि[20] धनि कि होइअ विमुख[21]।

---

[1] क्षीर=दूध। [2] विद्यापति पदावली, सं० १९८। [3] सच्चा। [4] विद्यापति पदावली, सं० ५१०। [5] जितना अधिक विरह होगा उतना ही अधिक प्रेम भी होगा—विद्यापति पदावली, सं० ६९८। [6] संसार में जीते रहने पर बहुत धन और आनंद मिलता है—विद्यापति पदावली, सं० ६६६। इसी बात को किसी संस्कृत के कवि ने कहा है—'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्' तथा 'एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्ष शतादपि' (वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकांड)। [7] झरना। [8] छोटे-छोटे तालाब। [9] कुमुदिनी का फूल। [10] झील। [11] विद्यापति पदावली, सं० २१६। [12] दुर्जस को कोई छिपा नहीं सकता—विद्यापति पदावली, १२२। [13] उतना ही। [14] विद्यापति पदावली, सं० २६१। [15] विश्वास। [16] तुम्हारे ऊपर उसे इतना विश्वास है कि उस का मन कहीं दूसरे जगह नहीं जाता. जैसे दरिद्र का मन कहीं नहीं जाता—विद्यापति पदावली, स० १०१। [17] कुम्हार बर्तन गढ़ कर उस के नीचे से अर्थात् चुपके से सूत ले कर उसे काट देता है—विद्यापति पदावली, सं० ४५७। [18] क्षण भर। [19] इस। [20] लिए। [21] विद्यापति पदावली, सं० १३७

७३ घोरि सलिले सुअ न जाव पिआस[1]।

७४—दहइत कनक दिगुन होए मूल[2]।

७५—दिन दिन आगे सखि! अइसनि होएवह,
घोसिनि[3] घोर क मूले[4]।

७६—दूध क मॉछी दूती भेलि[5]।

७७—दूधे पटाइअ सीचिअ नीत,[6]
सहज न तेजए करइला तीत[7]।

७८—दूरहि रहब तें अरथित होए[8]।

७९—देखह लोक हे! अइसनि जोए[9],
मनुस उपरि कइसे माउगि[10] होए[11]।

८०—देहरि न होअए हाथे झपाए[12]।

८१—धएले रतन अधिक मुल होए[13]।

८२—धके[14] कि केओ कुअ डूब विपाक[15]।

८३—धनिक क आदर सब तहँ होअ[16]।

८४—नख छेदन के[17] लाब कुठार[18]।

---

[1]विद्यापति पदावली, सं० १६६। [2]विद्यापति पदावली, सं० ९५। [3]गोप की स्त्री। [4]हे सखी! अहीरनी के घोल के समान रोज तुम्हारा मूल्य घटता ही जायगा—विद्यापति पदावली, सं० ९१। [5]जिस प्रकार दूध में गिर पड़ी हुई मक्खी को लोग निकाल कर बाहर फेंक देते हैं और फिर उस दूध को पी लेते हैं उसी प्रकार इस दूती को दूर ही हटा देंगे और इस से कोई कार्य सिद्ध नहीं होगा। अर्थात् यह दूती दूध की मक्खी की तरह दूर ही हटा देने के योग्य है—विद्यापति पदावली, सं० ५१६। [6]नित्य। [7]विद्यापति पदावली, सं० ४३१। [8]दूर ही रहने से आदर होता है—विद्यापति पदावली, सं० १२९। [9]जबर्दस्ती (?)। [10]स्त्री। [11]स्त्री कहीं पुरुष के ऊपर रह सकती है ऐसी जबर्दस्ती लोगो ने कहीं देखी है!—विद्यापति पदावली (सदेशबानी) पृ० ५१८ (नगेंद्रनाथ गुप्त संस्करण) [12]बड़ी चीज को छोटी सी चीज से कभी छिपा नहीं सकते—विद्यापति पदावली, सं० ४४१। [13]रत्न जितने दिन सुरक्षित रक्खा जाय उतना ही उस का मूल्य अधिक होता है—विद्यापति पदावली, सं० १२९। [14]धकेलने से। [15]सहसा कोई क्या कुएँ में गिर कर विपत्ति में पड़ता है!—विद्यापति पदावली, सं० १३९। [16]विद्यापति पदावली, सं० ६६६। [17]कौन। [18]नख काटने के लिए कौन कुल्हाड़ी लाता है—विद्यापति पदावली, सं० ३८९

८५—न पूरे अलप धन दारिद पिआस[१]।

८६—नागर से जे हिताहित जान[२]।

८७—निरधन कों जञो धन किछु हो,
करए चाहए उछाह[३]।

८८—पर क वेदन पर बाँटि न लेइ[४]।

८९—पर दुखे दुखी नहिं कोइ[५]।

९०—पर धने माँग बेआज[६]।

९१—परबोध न माने जनि बाल भुअङ्ग[७]।

९२—परसल रस लए न रहिअ अगोरि[८]।

९३—पलटल डीठि[९] सून भेल ठाम[१०]।

९४—पंडित गुनि जन दुःख अपार,
अछय परम सुख मूढ़ गमार[११]।

९५—पहुक ने करि अपमान[१२]।

९६—पाइअ ठाम बइसले न निधि[१३]।

९७—पानि तैल नहिं निविड पिरीत[१४]।

९८—पिउत[१५] कुगयाँ[१६] गोमुख लाए[१७]।

---

[१] विद्यापति पदावली, सं० १६८। [२] विद्यापति पदावली, सं० १६२। [३] विद्यापति पदावली, सं० २१६। [४] विद्यापति पदावली, सं० ६३। [५] विद्यापति पदावली, सं० ३५। [६] दूसरे के धन के ऊपर लोग ब्याज माँगते हैं—विद्यापति पदावली, सं० ७४। [७] वह कहना इस प्रकार नहीं मानता जैसे छोटा विषैला साँप—विद्यापति पदावली, सं० १५४। [८] फिर से रस मिलेगा इस की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए—विद्यापति पदावली, सं० २६१। [९] दृष्टि। [१०] दृष्टि से हटते ही कुछ नहीं—विद्यापति पदावली, सं० ७२। [११] ज्ञानी ही को अत्यंत दुःख होता है और मूर्ख को परम सुख होता है—विद्यापति पदावली, सं० ४३३। [१२] मिथिला गीतसंग्रह, भाग ३, पृ० ८। [१३] बैठे ही किसी को खजाना नहीं मिल जाता है—विद्यापति पदावली, सं० २३४, २३७। [१४] पानी और तेल में पूर्ण घनिष्ठ प्रेम नहीं है—विद्यापति पदावली, सं० ३९१। [१५] पीता है। [१६] कुत्सित ग्रामीण लोग। [१७] गाय के समान—विद्यापति पदावली, सं० १३३

९९—पिपिडी कां जञो पाँखि जनमए,
अनल करए झपान[1]।

१००—पीठ आलिङ्गने कत सुख पाब,
पानि क पिआस दुधे किअ जाब[2]।

१०१—पुन फले गुनमति पिअ मन जाग[3]।

१०२—पुरुष क कपटी प्रीति[4]।

१०३—पुरुषक चञ्चल सहज सोभाव[5]।

१०४—पुरुष न जानए नारिदुख सजनी गे!
केवल अपन सुख चाह[6]।

१०५—पुरुष नहिं परमान रे[7]।

१०६—पूव पछिम नहिं जान[8]।

१०७—प्रेम करबि जब सुपुरुष जानि[9]।

१०८—फाब चोरि जञों चेतन चोर[10]।

१०९—बड़ अपराध मौन पए साध[11]।

११०—बड़ क कहिनि बड़ि दुर जाए[12]।

१११—बड़ पुने गुनमति पुनमत पावे[13]।

११२—बड़ पुने रसवति मिलए रसवन्त[14]।

---

[1]चिउँटिओं को जब पंख होते है तब वह आग में कूदती हैं—विद्यापति पदावली, सं० २१९। [2]विद्यापति पदावली, सं० ५६३। [3]पुण्य के फल के कारण ही गुणवती स्त्री स्वामी के मन में रहती है—विद्यापति पदावली, पृ० ८२। [4]मिथिला गीतसंग्रह, भाग १, पृ० ६–७। [5]विद्यापति पदावली, सं० ४४४। [6]मिथिला गीतसंग्रह, भाग १, पृ० १३। [7]पुरुष विश्वसनीय नहीं है—मिथिला गीतसंग्रह, भाग १, पृ० ३९। [8]वह बड़ी भोली-भाली है—विद्यापति पदावली, सं० २२३। [9]वह सत्पुरुष है यह जान कर उस से प्रेम करना—विद्यापति पदावली, सं० ९५। [10]विद्यापति पदावली, सं० २५९। [11]बहुत बड़ा अपराध करने पर अपराधी को चुप रहना चाहिए—विद्यापति पदावली, सं० ३३६। [12]बड़े आदमी जो कहते हैं वह कथन बहुत दूर तक फैल जाता हैं—विद्यापति पदावली, सं० ४८०। [13]विद्यापति पदावली, सं० १२। [14]विद्यापति पदावली, सं० १०६

११३—बड़ेओ भूखन नहिँ दुहु कओरे खाए[1]।

११४—बा(बे?)धल हरिन न छाड़ ठाम[2]।

११५—बोललि बोल पलटि नहिँ आबे[3] (अ)।

११६—भमरा भरे मॉजरि न भॉगे[4]।

११७—भल जन न कर विरस परिणाम[5]।

११८—भल पओलेहि अलपहि कर तोस[6]।

११९—भिन भिन राज भिन बेबहार[7]।

१२०—भुजङ्गिनि डंसि पुनहि यदि डंसय,
तवहि समय विष जाह[8]।

१२१—भेक[9] न पिबए कुसुम मकरन्द[10]।

१२२—भेलि निम सनि तीत[11]।

१२३—मणि कादव[12] लेपटाए रे,
तएँ की हुलक गुन जाए रे[13]।

१२४—मधुक मातल उडए न पारे[14]।

१२४ अ—मन्त्र न सुनए जनि बाल भुजग[15]।

---

[1]बहुत भूख लगने पर भी कोई दोनों हाथ से नहीं खाते—विद्यापति पदावली, सं० १४६। संस्कृत के किसी कवि ने भी ऐसा ही कहा है—'बुभुक्षितः किं द्विकरेण भुंक्ते'। [2]बाण से बिद्ध हरिण अपने स्थान से नहीं हटता—विद्यापति पदावली, सं० ८२। [3]कही हुई बात लौट कर नहीं आती—विद्यापति पदावली, सं० ४६१। [4]भ्रमर के भार से आम की मंजरी कभी नहीं टूटती—विद्यापति पदावली, सं० १४३–१४४। इसी बात को विद्यापति की आश्रयदात्री रानी लखिमा ठकुराइनि ने किसी समय कहा था—'दृष्टा काचित् भ्रमरभरतो मंजरी भज्यमाना'। [5]अच्छे आदमी कभी ऐसा काम नहीं होने देते जिस से नतीजा बुरा हो—विद्यापति पदावली. सं० १६५। [6]अच्छी चीज मिलने पर थोड़े ही में संतोष हो जाता है—विद्यापति पदावली, सं० १३३। [7]विद्यापति पदावली, सं० ५। [8]जिस स्थान पर सॉप ने डँसा हो उसी स्थान पर यदि फिर से वह डँस ले तो उसी समय वह विष दूर हो जाता है—विद्यापति पदावली, सं० ९०। [9]मेढ़क। [10]विद्यापति पदावली, सं० ४३१। [11]विद्यापति पदावली, सं० ६४४। [12]कीचड़। [13]मणि यदि कीचड़ में भी लिपट जाय तब भी उस का गुण नष्ट नहीं होता। [14]मधु पी कर मस्त भ्रमर कहीं और नहीं जा सकता—विद्यापति पदावली, सं० १२। [15]विद्यापति पदावली, सं० २१३

१२५—नँगले कानट[1] के नहिँ पाब[2]।

१२६—माणिक परल कुबनिक हाथ[3]।

१२७—मातल करि नहिँ अंकुस मान[4]।

१२८—मारिअ नागर उबर गमारा[5]।

१२९—मुरुछल जीबय चुरु एक पानी[6]।

१३०—मूर भाँगल सन कएलह सिनेह[7]।

१३१—मूल राख बनिजारा[8]।

१३२—यत बिसरिअ तत बिसर न जाइ[9]।

१३३—रस बुझ रसमन्ता[10]।

१३४—रूसल बओसब बड़ परेआस[11]।

१३५—रोगि करए जइसे औषध पान[12]।

१३६—रोपि न काटिअ बिषहुक गाछ[13]।

१३६ अ—लाभ क लागि मूल डुबि गेल[14]।

१३७—लोभे अधिक मूल न मार[15]।

१३८—बस बथान[16] सालि दुह गाए,
तह्नि की बिलसब नागरि पाए[17]।

---

[1] जीर्ण, टूटे हुए टुकड़े=तुच्छ वस्तु। [2] विद्यापति पदावली, सं० १०१। [3] मणि मूर्ख बनिये के हाथ पड़ गया है—विद्यापति पदावली, सं० १९८। [4] मस्त हाथी महावत के अंकुश से भी नहीं डरता—विद्यापति पदावली, सं० १६८। [5] चतुर तो मारे जाते हैं, लेकिन मूर्ख बच जाते हैं—विद्यापति पदावली, सं० ४८। [6] मूर्च्छित मनुष्य एक चुल्लू भर भी पानी से ज्ञान में आ जाता है—विद्यापति पदावली, सं० ६५०। [7] मूली को तोड़ने से जिस प्रकार वह बेलस टूट जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे प्रेम में भी कुछ सरसता नहीं है, अर्थात् जब चाहे तब यह टूट जायगा और फिर कभी नहीं जुटेगा—विद्यापति पदावली, सं० ४४९। [8] वाणिज्य करने वाला मूलधन की रक्षा करता है—विद्यापति पदावली, सं० १४५, १८०। [9] जितना ही भूलने की कोशिश की जाय उतना ही अधिक वह नहीं भूलता—विद्यापति पदावली, सं० ६७। [10] विद्यापति पदावली, सं० ५२। [11] रूठे हुए को मनाना बड़ा कठिन होता है—विद्यापति पदावली, सं० ४६१। [12] विद्यापति पदावली, सं० १६८। [13] विद्यापति पदावली, सं० ४७६—संस्कृत के किसी कवि ने भी ऐसा ही कहा है—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'। [14] विद्यापति पदावली, सं० ४२३। [15] विद्यापति पदावली, सं० १८०। [16] गोशाला। [17] जो गोशाले में रहते हैं और गाय दुहना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं, ऐसे मनुष्य चतुर स्त्री को पाकर क्या विलास

१३९—वानर कण्ठे की मोतिम[1] हार[2]।

१४०—वानर मुँह की सोभए पान[3]।

१४१—बास[4] न पाबए माँग उपाति[5],
लोभ क रासि पुरुष थिक जाति[6]।

१४२—बासि[7] कुसुम किए गाँथए माल[8]।

१४३—बिनु अवसर हठ रस नहिँ आब,
फुलला फुल मधुकर मधु पाब[9]।

१४४—बिनु दुख सुख ककरहु नहिँ होए[10]।

१४५—बिनु पहु जीवन की थिक सजनी गे!
ई थिक परम अभाग[11]।

१४६—विपति [12]चिन्हिअ भल मन्दा[13]।

१४७—विरह बिसर जञो सुतिअ निन्द[14]।

१४८—विसम कुसुमसर काहु[15] जनु लागु[16]।

१४९—विसरए चाह बिसरि नहिँ होइ[17]।

१५०—सकल काज हम बुझल बुझाएल,
न बुझल अन्तर नारि[18]।

१५१—सकल कंठे नहिँ कोकिल बानि[19]।

१५२—सकल पुरुष नारि नहिँ गुनवन्त[20]।

१५३—सकल समय नहिँ रीतु वसंत[21]।

करेंगे—विद्यापति पदावली, सं० २१८–१९। [1] मोती का। [2] विद्यापति पदावली, सं० १९८। [3] वही। [4] रहने को। [5] भोजन सामग्री। [6] विद्यापति पदावली, सं० २१७। [7] बासी। [8] विद्यापति पदावली, सं० ३९६। [9] खिले हुए ही फूलों में भ्रमर शहद पाता हैं—विद्यापति पदावली सं० २०४। [10] विद्यापति पदावली, सं० १३७। [11] मिथिला गीतसंग्रह, भाग १, पृष्ठ १०। [12] विपत्ति में। [13] विद्यापति पदावली, सं० ७२८। [14] अच्छी तरह सोने पर ही विरहजन्य खेद भूला जा सकता है—विद्यापति पदावली. सं० ७९। [15] किसी को। [16] विद्यापति पदावली, स० ४९। [17] विद्यापति पदावली, सं० ८३। [18] विद्यापति पदावली, सं० ९५। [19] विद्यापति पदावली, सं० ९५। [20] वही। [21] सभी समय वसंतकाल नहीं होता। विद्यापति पदावली, सं० १३७

१२५—भँगले कानट[1] के नहिँ पाब[2]।

१२६—माणिक परल कुबनिक हाथ[3]।

१२७—मातल करि नहिँ अंकुस मान[4]।

१२८—मारिअ नागर उबर गमारा[5]।

१२९—मुरुछल जीबय चुरु एक पानी[6]।

१३०—मूर भाँगल सन कएलह सिनेह[7]।

१३१—मूल राख बनिजारा[8]।

१३२—यत बिसरिअ तत बिसर न जाइ[9]।

१३३—रस बुझ रसमन्ता[10]।

१३४—रूसल बओसब बड़ परेआस[11]।

१३५—रोगि करए जइसे औषध पान[12]।

१३६—रोपि न काटिअ विषहुक गाछ[13]।

१३६ अ—लाभ क लागि मूल डुबि गेल[14]।

१३७—लोभे अधिक मूल न मार[15]।

१३८—बस बथान[16] सालि दुह गाए,
तन्हि की बिलसब नागरि पाए[17]।

---

[1] जीर्ण, टूटे हुए टुकड़े—तुच्छ वस्तु। [2] विद्यापति पदावली, सं० १०१। [3] मणि मूर्ख बनिये के हाथ पड़ गया है—विद्यापति पदावली, सं० १९८। [4] मस्त हाथी महावत के अंकुश से भी नहीं डरता—विद्यापति पदावली, सं० १६८। [5] चतुर तो मारे जाते है, लेकिन मूर्ख बच जाते हैं—विद्यापति पदावली, सं० ४८। [6] मूर्च्छित मनुष्य एक चुल्लू भर भी पानी से ज्ञान में आ जाता है—विद्यापति पदावली, सं० ६५०। [7] मूली को तोडने से जिस प्रकार वह बेलस टूट जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे प्रेम में भी कुछ सरसता नहीं है, अर्थात् जब चाहे तब यह टूट जायगा और फिर कभी नहीं जुटेगा—विद्यापति पदावली, सं० ४४९। [8] वाणिज्य करने वाला मूलधन की रक्षा करता है—विद्यापति पदावली, सं० १४५, १८०। [9] जितना ही भूलने की कोशिश की जाय उतना ही अधिक वह नहीं भूलता—विद्यापति पदावली, सं० ६७। [10] विद्यापति पदावली, सं० ५२। [11] रूठे हुए को मनाना बड़ा कठिन होता है—विद्यापति पदावली, सं० ४६१। [12] विद्यापति पदावली, सं० १६८। [13] विद्यापति पदावली, सं० ४७६—संस्कृत के किसी कवि ने भी ऐसा ही कहा है—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'। [14] विद्यापति पदावली, सं० ४२३। [15] विद्यापति पदावली, सं० १८०। [16] गोशाला। [17] जो गोशाले में रहते हैं और गाय दुहना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं- ऐसे मनुष्य चतुर स्त्री को पाकर क्या विलास

१३९—वानर कण्ठे की मोतिम[1] हार[2]।

१४०—वानर मुँह की सोभए पान[3]।

१४१—वास[4] न पावए माँग उपाति[5],
लोभ क रासि पुरुष थिक जाति[6]।

१४२—बासि[7] कुसुम किए गाँथए माल[8]।

१४३—बिनु अवसर हठ रस नहिँ आव,
फुलला फुल मधुकर मधु पाव[9]।

१४४—बिनु दुख सुख ककरहु नहिँ होए[10]।

१४५—बिनु पहु जीवन की थिक सजनी गे!
ई थिक परम अभाग[11]।

१४६—विपति [12]चिन्हिअ भल मन्दा[13]।

१४७—विरह बिसर जञो सूतिअ निन्द[14]।

१४८—विसम कुसुमसर काहु[15] जनु लागु[16]।

१४९—विसरए चाह विसरि नहिँ होइ[17]।

१५०—सकल काज हम बुझल बुझाएल,
न बुझल अन्तर नारि[18]।

१५१—सकल कंठे नहिँ कोकिल बानि[19]।

१५२—सकल पुरुष नारि नहिँ गुनवन्त[20]।

१५३—सकल समय नहिँ रीतु वसंत[21]।

करेंगे—विद्यापति पदावली, सं० २१८–१९। [1] मोती का। [2] विद्यापति पदावली, सं० १९८। [3] वही। [4] रहने को। [5] भोजन सामग्री। [6] विद्यापति पदावली, सं० २१७। [7] बासी। [8] विद्यापति पदावली, सं० ३९६। [9] खिले हुए ही फूलों में भ्रमर शहद पाता है—विद्यापति पदावली सं० २०४। [10] विद्यापति पदावली, सं० १३७। [11] मिथिला गीतसंग्रह, भाग १, पृष्ठ १०। [12] विपत्ति में। [13] विद्यापति पदावली, सं० ७२८। [14] अच्छी तरह सोने पर ही विरहजन्य खेद भूला जा सकता है—विद्यापति पदावली, सं० ७९। [15] किसी को। [16] विद्यापति पदावली, सं० ४९। [17] विद्यापति पदावली, सं० ८३। [18] विद्यापति पदावली, सं० ९५। [19] विद्यापति पदावली, सं० ९५। [20] वही। [21] सभी समय वसंतकाल नहीं होता विद्यापति पदावली सं० १३७

१५४—समरा जगत सबहुकाँए[1] सुनिअ
घरनि[2] क बोल नहिं टारे[3]।

१५५—सब फुल मधु मधुर नहिं[4]।

१५६—सब सञो बड थिक आँखि क लाज[5]।

१५७—सब तह गनिअ अधिक बेबहार[6]।

१५८—सब परदेसिआ एके सोभाव[7]।

१५९—समय क दोषे आगि बम[8] पानि[9]।

१६०—समय गेले मेघे बरिसब,
कीदहु तें जलधार[10]।

१६१—समय नहिं बुझत अचतुर चोर[11]।

१६२—साँकर[12] खाइते भाँगए दाँत[13]।

१६३—साहस न करिअ संसय ठाम[14]।

१६४—साहसे साहिअ[15] असाधे[16]।

१६५—सिआर काँ जञो सींग जनमए,
गिरि उपारए चाह[17]।

१६६—शिथिल बिलम्बें होएत हास[18]।

१६७—सीत समापले वसन पाइअ,
तेंदहु[19] की[20] उपकार[21]।

---

[1]सब से। [2]गृहिणी=स्त्री। [3]विद्यापति पदावली (महेशवाली) पृ० ५१८ (नगेंद्रनाथ गुप्त संस्करण)। [4]विद्यापति पदावली, सं० ९७। [5]विद्यापति पदावली, सं० १५१। [6]वेद, शास्त्र, पुराण तथा धर्मशास्त्र इन सबों से प्रबल 'व्यवहार' माना जाता है—विद्यापति पदावली, सं० ४४१। [7] स्वभाव—विद्यापति पदावली, सं० ७१२। [8]उद्गिरण करता है। [9] विद्यापति पदावली, सं० ३५०। [10] विद्यापति पदावली, सं० ६४४। [11]विद्यापति पदावली, सं० २६। [12]शक्कर। [13]विद्यापति पदावली, सं० ४८१। [14]विद्यापति पदावली, सं० १६८। [15]साधन करे। [16]विद्यापति पदावली, सं० २४२। [17]विद्यापति पदावली, सं० २१६। [18]बिना किसी कारण यदि किसी कार्य में विलंब किया जाय तो उस से उपहास होता है—विद्यापति पदावली, सं० २४०। [19]उस से। [20]कौन। [21]विद्यापति पदावली, सं० ६४४

१६८—सुखल सारि जञों नीर पटाविअ,
अवसर काल काज किछु आवए[1] ।

१६९—सुजन क प्रेम हेम समतूल,
दहइत कनक दिगुन होए मूल[2] ।

१७०—सुपुरुष कबहु न तेजह नेह[3] ।

१७१—सुपुरुष कबहु न होएत नदाने[4] ।

१७२—सुपुरुष प्रेम कबहु नहिँ छाड[5] ।

१७३—सुपुरुष वचन पखान[6] क रेह[7] ।

१७४—सुपुरुष विलसय से वरनारि[8] ।

१७५—सुहित वचन राखव हिअ आनि[9] ।

१७६—से अति नागर[10] तोञे[11] तस[12] तूल,
एक नले गॉथ दुइ जन फूल[13] ।

१७७—से नहिँ विचल जकर जे जाति[14] ।

१७८—हठ कएले पहु हो रस भंग[15] ।

१७९—हठ नहिँ करबे आइति[16] पाए[17] ।

१८०—हठे कि होइअ समुद पार[18] ।

१८१—हम तह[19] के विषहु आगर[20],
ढोँढहु[21] कॉ थिक भान[22] ।

---

[1]मिथिला गीतसंग्रह, भाग २, पृ० ६। [2]विद्यापति पदावली, सं० ९५। [3]विद्यापति पदावली, सं० ६४७। [4]विद्यापति पदावली, सं० ३७। [5]विद्यापति पदावली, सं० १०६। [6]पाषाण=पत्थर। [7]रेखा—विद्यापति पदावली, सं० २३९। [8]विद्यापति पदावली, सं० ८। [9]विद्यापति पदावली, सं० १२९। [10]चतुर। [11]तुम। [12]उस के। [13]विद्यापति पदावली, सं० ८०। [14]जिस की जो जाति होती है उस से वह कभी नहीं हटता—विद्यापति पदावली, सं० ५१२। [15]विद्यापति पदावली, सं० २६१। [16]आयत्ति। [17]आयत्ति पा कर हठ नहीं करूँगा—विद्यापति पदावली, सं० १४६। [18]विद्यापति पदावली, सं० ३१९। [19]से। [20]अग्र=श्रेष्ठ। [21]एक प्रकार का सर्प। [22]ढोंढ साँप को भी इस का अभिमान रहता है कि मुझ से विष में कौन श्रेष्ठ है—विद्यापति पदावली, सं० २१६

१८२—हम नहिं बुझिअ रस तीत की मीठ[1]।

१८३—हरख सबए सोहाए[2]।

१८४—हाथक कॉगन[3] अरसी[4] काज[5]।

१८५—हाथि महते[6] नव[7] के नहिँ जान[8]।

१८६—हाथे न मेट पखान क रेहा[9]।

१८७—हृदय क कपटी वचने पिआर[10],
अपने रसे उकट (फटए)[11] कुसिआर[12]।

इस लेख के समाप्त करने के पूर्व विद्यापति के धार्मिक संप्रदाय तथा उन की कविताओं की भाषा के संबंध में भी बहुत सक्षेप में कह देना आवश्यक समझता हूँ। सम्प्रदाय के संबंध में मैं महामहोपाध्याय उमापति उपाध्याय के संबंध में पहले कह चुका हूँ और फिर उसे ही दुहराता हूँ कि मैथिल लोग शाक्त, वैष्णव तथा शैव तीनो एक साथ होते है। मैथिल लोग इन तीनों में परस्पर कुछ भी विरोध नही मानते। इन में अभेद बुद्धि रखते हुए वे सब के उपासक हैं। यही बात कविवर विद्यापति के सबंध में भी तथ्य है।

विद्यापति की भाषा

विद्यापति की कविताओं की भाषा के सबध मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि यह बँगला नही है, न यह हिंदी ही है। पूर्वीय भाषाओ की मूल-भाषा मागधी है। इसी के क्रमिक विकास से चार शाखाएँ उत्पन्न हुई—

१—**पूर्व-दक्षिणीय शाखा**—जिस में केवल उड़िया भाषा ली जाय।

२—**उत्तर-पूर्वीय शाखा**—जिस में केवल आसामी ली जाय।

३—**मध्य-शाखा**—जिस में मैथिली, मगही तथा बंगाली ली जाय।

---

[1] रस का स्वाद मैं नहीं जानती हूँ—विद्यापति पदावली, सं० १६५। [2] हर्ष में सभी अच्छे लगते हैं—विद्यापति पदावली, सं० १०४। [3] कँगना। [4] शीशा। [5] विद्यापति पदावली, सं० ४४४। [6] महाउत से। [7] झुकता है। [8] विद्यापति पदावली, सं० २३०। [9] हाथ से पत्थर की रेखा नहीं मिटती है—विद्यापति पदावली, सं० ४५९। [10] प्रिय। [11] फट जाता है। [12] ऊख अपने ही रस से फट जाता है—विद्यापति पदावली, सं० ५१२

४—पश्चिमीय शाखा—जिस मे भोजपुरी ली जाय।

इसी मे मैथिली का भी एक स्वतंत्र स्थान है। इस भाषा की लेखन-प्रणाली तथा उच्चारण मे यह स्पष्ट मालूम होता है कि यह भाषा हिंदी और बँगला की मध्यवर्तिनी भाषा है। इस के शब्दो का उच्चारण न तो बिलकुल चपटा (हिंदी की तरह) न तो बिल्कुल गोलाकार (बँगला की तरह) होता है। इस के क्रियापद भी अत्यत भिन्न होते हैं, तथा कारकों के चिह्न भी हिंदी मे अत्यत भिन्न होते हैं। मैथिली में सानुनासिक अर्ध-चद्र का तथा विशेषकर 'ञ' का प्रयोग अत्यत प्रचलित है। इस के सर्वनाम इत्यादि विशेष कर पाली तथा प्राकृत ही से मिलते-जुलते हैं। इन कारणो से यह स्पष्ट है कि मैथिली एक स्वतंत्र भाषा है। इन्ही बातों को ले कर पाश्चात्य विद्वानो ने भी इस भाषा को स्वतन्त्र स्थान दे रक्खा है। इसी मैथिली भाषा मे कविवर विद्यापति ने 'पदावली' की रचना की है।[1]

विद्यापति का संस्कृत-विषयक पांडित्य

अब यहाँ एक प्रश्न मन में आता है, कि क्या कारण था कि विद्यापति भाषा-कवि होते हुए भी संस्कृत भाषा के इतने बडे विद्वान् हुए? आजकल या पूर्व समय मे भी मिथिला को छोड अन्य प्रातो के भाषा-कवियों ने केवल प्रांतीय भाषा ही में अपनी रचना की। संस्कृत भाषा की तरफ उन की दृष्टि न गई। इस के उत्तर में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

१—मैं ने पहले ही कहा है कि विद्यापति के जीवन का अधिक अंश मैथिल राजाओ के साथ व्यतीत हुआ। राजदरबार मे, विशेष कर मिथिला मे, श्रौत, स्मार्त तथा दैशिक आचार और व्यवहार का विचार सर्वदा होता ही आया है। इस लिए धर्मशास्त्र की चर्चा तथा नाना प्रकार के निबंधो की रचना जितनी मिथिला में हुई है तथा अभी भी होती है उतनी प्राय और किसी भी एक प्रदेश में नही। अतएव जो कोई राज-

---

[1] इस के संबंध में पाठक 'मैथिली साहित्य-परिषद्' के घोघड़रिआ (दरभंगा) वाले अधिवेशन का मेरा भाषण; पुस्तक-भंडार लहेरिया सराय द्वारा प्रकाशित 'कृष्ण-जन्म' की भूमिका, तथा 'हिंदुस्तानी' में प्रकाशित मैथिली साहित्य (१०९७—१४००) वाले लेखों को देखें।

पडित होगा उसे अगत्या धार्मिक विचारो का आलोचन करना ही पडेगा। विद्यापति भी राजपडित की हैसियत से मिथिला के राजाओं के दरबार में रहते थे। इस लिए उन्हे संस्कृत मे ग्रथ लिखने पड़े और उसी भाषा की प्रधानता की उन्हो ने भी रक्षा की।

२—मिथिला मे जितने राजा हुए है प्रायः सभी स्वय संस्कृत के बडे अच्छे विद्वान थे। इस लिए उन के राजपंडितो को और भी संस्कृत भाषा की चर्चा तथा उसी भाषा मे शास्त्रीय विचारो को निबद्ध करने का उत्साह रहता था।

३—वैदिक काल से ले कर मिथिला एक स्वतत्र संस्कृति का केंद्र रहा है। इस के आचार, व्यवहार तथा शास्त्रीय दृष्टि सभी वैदिक काल ही से स्वतन्त्र चले आ रहे हैं। संस्कृत भाषा मे ग्रथो की रचना करने मे भारतीय अपना गौरव समझते आए है। यह गौरव मिथिला मे और भी अधिक बढा हुआ था, इस का कारण यह था कि बौद्ध लोगो के समय मे 'मगह', जो कि मिथिला से मिला हुआ था, बौद्ध संस्कृति का केंद्र हुआ। अपना स्वातन्त्र्य स्थिर रखने के लिए बौद्ध लोगो ने पाली आदि प्राकृत भाषाओं को उन्नत करना ही अपनी संस्कृति का एक अंग समझ रक्खा था। बौद्ध लोगों को नास्तिक तथा वैदिक संस्कृति का शत्रु मानते हुए अपनी प्राचीन संस्कृति के गौरव को अधिक ऊँचा रखने के निमित्त संस्कृत भाषा के विशेष प्रचार को स्थायी रखने तथा उसी भाषा द्वारा अपने कट्टर धार्मिक शत्रुओ के पक्ष को नीचा दिखाने के निमित्त मिथिला के विद्वान् सदा से उद्यत रहे है। इसी कारण संस्कृत-भाषा, मीमांसाशास्त्र तथा न्यायशास्त्र एव धर्मशास्त्र की जितनी प्रधानता मिथिला मे रही है उतनी और किसी अन्य प्रदेश मे नही। ये बौद्धो के विरुद्ध न केवल मिथिला की संस्कृति की रक्षा मे सहायक हुए किंतु समस्त सनातन धर्मानुयायियों की तथा वर्णाश्रम की रक्षा मे भी। वैदिक काल मे मिथिला मे इन की स्थिति थी ही, यह तो वेद तथा उपनिषदो मे प्रमाणित होता है, तथा बाद को बौद्धो के समय में परस्पर ईर्ष्यावश इन की और भी वृद्धि हुई। क्रमशः ये स्वाभाविक रूप में परिणत हो गए और मैथिलो ने संस्कृत भाषा ही को प्रधान बनाना तथा उस की उन्नति करना अपना कर्त्तव्य समझा। इसी लिए अभी भी एक प्रदेश में संस्कृत भाषा के समर्थक मिथिला मे जितने मिलेगे प्रायः उतने अन्यत्र नही।

यही कारण था कि विद्यापति के समय मे भी चारो तरफ मिथिला में अनेक धुरधर विद्वान् थे और सभी ने नाना विषयो के ऊपर संस्कृत भाषा मे ग्रथ लिखे और उन्हे

अपने छात्रों को पढाया कहा जाता है कि महाराज भरवसिंह के समय में (वी० एन्० डब्ल्यू०) रेलवे स्टेशन के समीप 'जरहटिआ' नामक ग्राम मे जब राजा ने पुष्करिणी याग किया था तो उस यज्ञ मे १४०० केवल मीमासको ही को निमत्रण दिया गया था, जिस सभा का वर्णन उसी समय के किसी कवि ने किया था और जिस की एक मात्र पक्ति मुझे स्मरण है—

भादिक भादिक भादिकभा, 'भैरव' भूपति देव सभा।

इस के अतिरिक्त अन्यशास्त्रो के विद्वानों की तो गणना ही क्या हो सकती थी? यह भी यज्ञ विद्यापति के समय मे ही हुआ था। इन सभी विद्वानो के ग्रंथों की खोज तो अभी हुई ही नही है, इस लिए हमे विद्यापति के समकालीन सब पडितो के नाम तक नहीं मालूम है। तथापि कुछ ऐसे भी विद्वान् थे जिन के नाम तथा ग्रथ प्रसिद्ध हैं, उन्हे मैं अति सक्षेप मे यहाँ लिखता हूँ।

महाराज कीर्त्तिसिह (१३७१ ईस्वी) के समय मे 'वाणीभूषण' नामक छदो-ग्रथ के कर्त्ता दीर्घघोष कुलोत्पन्न मैथिल विद्वान् दामोदर मिश्र[1]। 'चिंतामणि-आलोक', 'प्रसन्नराघव' आदि ग्रथो के कर्त्ता जयदेव मिश्र उपनाम पक्षधर मिश्र तो विद्यापति के सहाध्यायी ही थे। इसी पक्षधर मिश्र के भतीजे वासुदेव मिश्र थे जिन्हो ने 'न्याय-सिद्धातसार' नामक ग्रंथ की रचना की थी।[2] 'एकाग्निदानपद्धति' आदि अनेक ग्रथो के रचयिता आवसथिक श्रीदत्त मिश्र[3] तथा इन के भतीजे 'ज्योतिष्प्रदीपांकुर' आदि ग्रथ के रचयिता मधुसूदन मिश्र राजा देवसिंह के समय मे थे।[4] इस के बाद देवसिंह के प्रधान न्यायाध्यक्ष हरिहर मिश्र के पौत्र, तथा रुद्रशर्म्मा के पुत्र 'शुद्धिनिबध' आदि ग्रथ के

---

[1] कीर्त्तिसिहनृपजीवयावदमृतद्युतितरणी—वाणीभूषण, श्लोक ८८। (ख) श्रीतिमैथिलदीर्घघोषकुलोद्भूतदामोदरविरचितं वाणीभूषणम्; 'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० १२५

[2] इतिश्रीन्यायसिद्धान्तसाराभिज्ञमिश्रवर्यपक्षधरमिश्रभ्रातृपुत्रवासुदेवविरचितायां चिन्तामणिटीकायाम्—इडिया आफ़िस् क्यॅटलॅग, सं० ७८६, पृ० ६३१-२

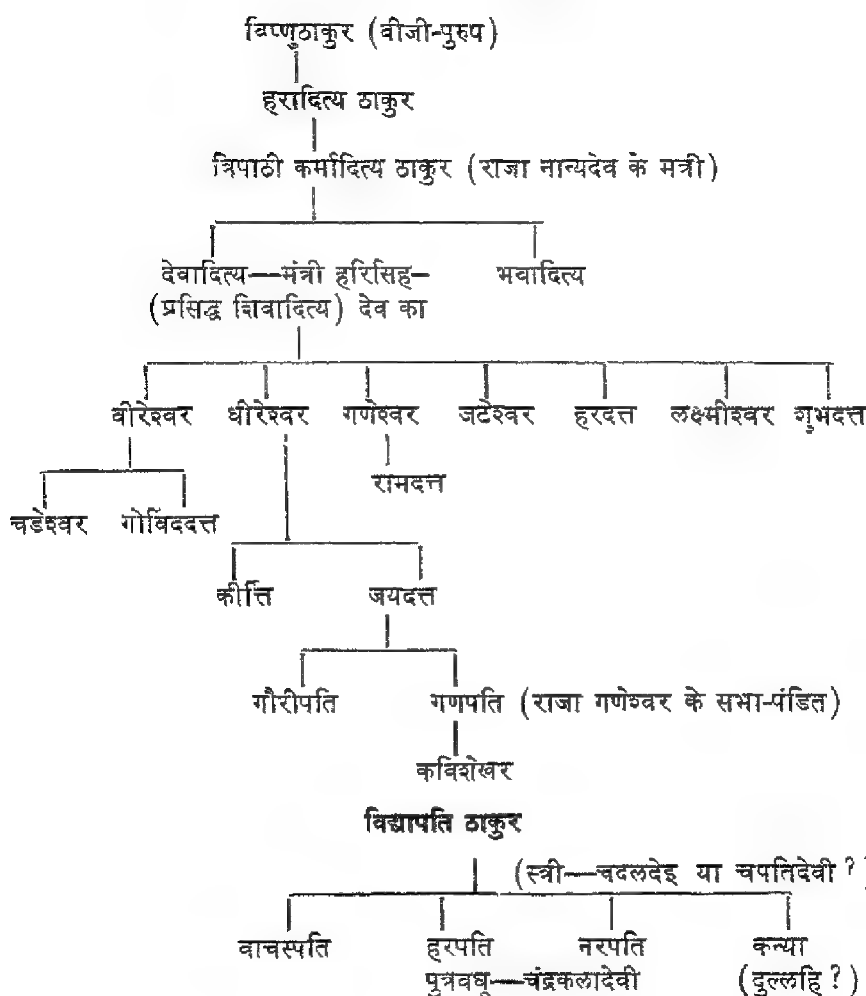
[3] इति महामहोपाध्यायमिश्रश्रीनगेश्वरात्मजावसथिक. . . . . महामहोपाध्याय-श्रीश्रीदत्त—'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० १७१

[4] इडिया आफ़िस् क्यॅटलॅग, सं० ३००४, पृ० १०६६; 'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० १७१

कर्त्ता मुरारि मिश्र हुए। बाद को वाचस्पति मिश्र (द्वितीय), वटेश्वर झा 'मुद्राराक्षस' के टीकाकर्त्ता, मीमांसक भवनाथ मिश्र तथा उन के पुत्र प्रसिद्ध नैयायिक शंकर मिश्र, प्रसिद्ध चंडेश्वर ठक्कुर के वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र महामहोपाध्याय जगद्धर ठाकुर शिव सिंह के मंत्री अच्युत ठाकुर तथा उन के पुत्र 'काव्यदर्पण' कर्त्ता रत्नपाणि तथा 'काव्यप्रकाश' टीकाकर्त्ता रवि ठाकुर थे। महाराज भैरवसिंह के समय में तो कितने प्रसिद्ध विद्वान् मिथिला में हुए इस की गणना नहीं हो सकती है। मीमांसक ही एक समय १४०० गिने गए थे। तथापि ये नाम भी प्रसिद्ध है—'अनर्घराघव' टीकाकर्त्ता छत्रकर, 'विवादचंद्रादि' के कर्त्ता मिसरू मिश्र, पद्मनाभदत्त, रुचिपति, रुद्रधर, वर्धमान, इत्यादि। इन के बाद रुचिपति के पुत्र धनपति तथा इंद्रपति, लक्ष्मीपति, मुरारि मिश्र तथा श्रीराम इत्यादि के नाम आते हैं। इन सबों के ग्रंथ विशेष रूप से अनेक स्थानों में मिलते हैं इस लिए ये प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार जब मिथिला संस्कृत के विद्वानों में व्याप्त थी तभी विद्यापति ठाकुर भी वर्त्तमान थे। इन के ऊपर भी समय तथा देश का प्रभाव पूरे तौर पर पड़ा और यह बुद्धिमान् तथा योग्य विद्वान् तो थे ही इस लिए इन्हों ने भी संस्कृत के अनेक ग्रंथ लिखे जिन का वर्णन ऊपर हो चुका है। देश की ऐसी अवस्था में कौन ऐसा मनुष्य हो सकता था जो कि योग्य होते हुए संस्कृत भाषा में निपुण नहीं हो? अतएव प्रधानतः विद्यापति भी संस्कृत के ही पंडित थे, किंतु राजा तथा सभासदों को प्रसन्न करने के लिए एवं अपने आश्रयदाताओं के मन बहलाने के लिए मैथिली भाषा में भी इन्हों ने कविताएँ रचीं।

विद्यापति का वंशवृक्ष



विद्यापति ठाकुर

(स्त्री—चदलदेइ या चपतिदेवी ?)

वाचस्पति | हरपति पुत्रवधू—चंद्रकलादेवी | नरपति | कन्या (दुल्लहि ?)





चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[लेखक—श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (ऑक्सन) बैरिस्टर-एट्-लॉ]

[३९]

गढ़वाल पर गोर्खाओं का दूसरा आक्रमण

गढवाल पर गोर्खाओ के दो आक्रमण हुए। एक तो सन् १७९१ मे और दूसरा बारह वर्ष बाद सन् १८०३ में। इन आक्रमणो के कारण हम पहले दे चुके हैं।

गोर्खा-आक्रमण के समय सन् १८०३ मे गढ़वाल की आतरिक स्थिति बड़ी शोचनीय थी। प्रद्युम्नशाह जो ७ वर्ष अल्मोड़े में राज्य कर चुका था, परदेशी राज्य से संतुष्ट न होने के कारण अपने देश के राज्य-सिंहासन पर बैठने को श्रीनगर वापिस आने पर अपने भाइयो की ईर्षा और मंत्रियो की लोलुपता का शिकार बना। भाई-भतीजो में आतरिक युद्ध हुआ। गोर्खाओ के दूसरे आक्रमण के समय प्रद्युम्नशाह और राजा जयकृतशाह के १५ वर्ष के पुत्र कुँवर सुदर्शनशाह के बीच युद्ध हो रहा था। इस संग्राम की चर्चा मोलाराम के शब्दो मे अन्यत्र की गई है। प्रजा मन्त्रियो के आतक व घरेलू झगडों और लड़ाइयो के कारण दुखी और दरिद्र हो गई थी। राज-कोष में द्रव्य नही रहा था, भूकप के कारण जन-सख्या बहुत कम हो गई थी। गढ़वाली राजा के पास सेना भी इतनी अच्छी नहीं थी। इस समय (सन् १८०३ मे) राज्य की बागडोर रमापति और धरणीधर दो खडूडी भाइयो के हाथ मे थी। ये दोनो भाई गढ़वाल के इतिहास और गाथा मे रामाधरणी के नाम से प्रख्यात हैं। प्रद्युम्नशाह और पराक्रमशाह इन के हाथ के कठपुतले बने हुए थे। इन के दफ्तर व अमला का खर्च ८ लाख रुपया सालाना था, कुँवर पराक्रमशाह

गोर्खाओं के द्वितीय आक्रमण के समय गढ़वाल की स्थिति

न इन दोनो भाइयो को सन १८०३ के आरंभ में मरवा डाला ये केवल राजमंत्री ही नही थ किंतु बड़ वीर सेना-नायक भी थ इन की मृत्यु से गढवाल सना सेनापति विहीन हो गई थी।

गढवाल की ऐसी विपरीत स्थिति मे एक बहुत बड़ी सेना ३०००० गोर्खो की गढवाल पर टूट पडी। ठीक एक महीने मे 'अगस्त सन् १८०३ (११ गते श्रावण स० १८६१) को प्रद्युम्नसाहि[1] कुँवर पराक्रमसाहि और सब नुसही रानीहाट से भाग कर माल[2] में गुरुद्वारा मे चले गए। पराक्रमसाहि ने अपने खानदानी राजसिंहासन को काट कर टुकड-टुकडे करवा दिया। लडौरा के तालुकदार रामदयाल का लड़का सबैसिह गढ़वाल के राजा की मदद के लिए अपनी सेना लाया। जिस मे गोर्खाओ से गढ़राज्य वापिस ले लिया जाय। प्रद्युम्नसाहि ने १५००० सिपाही और १५ तोपो से गोर्खाओ के ३० हजार सैनिको का सामना किया। अमरसिह व भगवती गोर्खा-सेनापति थे। प्रद्युम्नसाह ने अपनी बाँह पर सालिग्राम की मूर्ति और गीता बाँध कर युद्ध किया। २२ माघ सवत् १८६१ (जनवरी १८०४) को रणक्षेत्र मे एक गोर्खा की गोली छाती पर लगने से प्रद्युम्नशाह रणक्षेत्र मे काम आया.....................कुँवर प्रीतमसाहि रवाई का फौजदार था, गोर्खाओ ने उस को पकड कर नैपाल भेज दिया। वहाँ कैद म उस को १७०० रुपए सालाना खर्च मिलता था, नैपाल के राजा के चाचा बबसाहि (जो कुमाऊँ का गोर्खा गवर्नर था) ने अपनी कन्या कुँवर प्रीतमसाहि को व्याह दी।'[3]

गोर्खा और प्रद्युम्नशाह के बीच युद्ध

[४०]

गढ़वाल में गोर्खा-शासन (१८०४-१५)

देहरादून पर जो पहले से ही गढ़वाल राज्य मे सम्मिलित था, और सारे गढवाल

---

[1] नैपाल में शाह के बदले 'साहि' शब्द का व्यवहार होता है।

[2] माल, पहाड़ के नीचे की सम भूमि को कहते है, यहाँ पर माल देहरादून के लिए प्रयोग किया गया है।

[3] यह वृत्तांत एक हस्तलिखित लेख, जो नैपाल से प्राप्त हुआ है, उस में दिया हुआ है। प्रीतमशाह सन १८१८ मे अपनी नैपाली स्त्री को ले कर श्रीनगर आया।

पर गोर्खा राज्य प्राय १२ वर्ष (१८०४ से १८१५ तक) रहा। मुख्य गोर्खा शासक अमरसिंह थापा और हस्तिदल चौतरिया थे, उन्हों ने गढ़वाल के प्राचीन राज्य-विधान मे इतना ही परिवर्तन किया कि उसे सैनिक शासन बना दिया। गढवाल राज्य को तीन सूबो मे विभक्त कर उसे तीन फ़ौजदारों के अधीन कर दिया। ये फौजदार लोग परगनो को गोर्खा सरकार से ठेको पर लेते थे। अर्थात् सरकार को प्रत्येक परगने के लिए रुपया देते थे। और परगनों से जो लगान आता था और जो जुर्माना वे अपराधियो पर करते थे, वही उन को तनखाह थी। गोर्खा शासको को रुपए से मतलब था। जो रुपया लगान का या और तरह से फौजदार और सूबेदार श्रीनगर (राजधानी) को भेजते थे, उस से अमरसिंह और हस्तिदल सतुष्ट थे। उन को इस बात की परवाह न थी कि कैसे और कितना रुपया वास्तव मे फौजदार और सूबेदार प्रजा से इकट्ठा करते है। फौजदार व सूबेदार ने इस क्रूरता के साथ रुपया बटोरा कि गढवाल की जनसंख्या गोर्खा आतंक के कारण बहुत कम हो गई। कर की अदायगी और सूबेदारों के खजाने में द्रव्य पहुँचाने के लिए १५ वर्ष के गोर्खा राज्य में २,००,००० गढवाली बालक-बालिकाएँ तथा स्त्री-पुरुष गुलामी के लिए बेचे गए। गोर्खा गवर्नरो ने कुछ हास्योत्पादक निषेध प्रचलित किए, यथा औरतों का मकानों की छतो पर चढना निषिद्ध था।

गोर्खाओं की सैनिक राज्य पद्धति

रेपर साहब ने सन् १८१४ मे गोर्खा-शासन के परिणाम के सबंध मे लिखा है—"गाँव में गोर्खाओ के नाशकारक शासन और आतक के निशान मौजूद है। बजर खेत व वीरान झोपड़ियो के खँडहर चारो तरफ नज़र आते है। केवल मदिरो को चढाए हुए खेत आबाद है। दून (देहरादून) तो बिलकुल बरबाद हो गया है। दून से जो आय गढ़वाल के राजाओ को थी वह अब चौथाई रह गई है।"[1] इसी विषय पर मिस्टर फ़ेज़र, जो दिल्ली मे सहायक रेजिडेंट

गढ़वाल में "गोर्ख्याणी"

[1] कैप्टन रेपर ने सन् १८०८ में गढ़वाल में भ्रमण किया था, और अपने भ्रमण-वृत्तांत को लेखबद्ध कर सन् १८१४ में ऐडजुटेंट जनरल के पास भेजा था। उसी से यह उद्धृत किया गया है।

थे और १८१४ में गढवाल आए थे, लिखते है— "गोर्खाओ ने गढवाल पर शासन दंड नीति द्वारा बडी कठोरता के साथ किया। जिला बहुत शोचनीय दशा को प्राप्त हो गया था। गाँवो को छोड कर कृषक लोग भाग कर जंगलो मे चले गए थे। खेत बरबाद हो गए थे। जन-संख्या बहुत कम हो गई थी। गोर्खाओ के बारह वर्ष के राज्य-शासन मे दो लाख स्त्री-पुरुष बालक-बालिका गुलामी मे बेच दिए गए थे।"[1] "गोर्खा लोग अपने को प्रजा के धन और जीवन का मालिक समझते थे। मनुष्य की जान पर उन्हे तनिक भी दया नही थी। वे प्रजा के लोगो को गाय-बैल इत्यादि पशुओं की श्रेणी में गिनते थे। .... बाजार मे दास-दासी बेचना आय का एक विभाग समझा जाता था। गोर्खा अदालत के कानून के अनुसार जब किसी पर जुर्माना होता था और वह मुलजिम से वसूल नही होता था तो उस को अपने कुटंबियो सहित जन्म भर दास रहना पडता था। ... ..हरिद्वार में हरि जी की पौड़ी के पास बृटिश पुलिस चौकी के नजदीक गोर्खा लोगो की चौकी थी। वहाँ पर वह अभागे दास (तीन वर्ष से तीस वर्ष की आयु तक के) प्रति वर्ष लाए जाते थे, और आमतौर पर मेले के दिनो मे बेच दिए जाते थे। प्रत्येक गुलाम का मूल्य १०) से १५०) तक होता था। सहस्रो गढ़वाली स्त्री-पुरुष बच्चे (दास-दासी बना कर) नेपाल भेजे गए।..... धनियो को लूटना, सुंदरी स्त्रियो का पातिव्रत नष्ट करना, गोर्खो के लिए सहज काम था। जिस से उन को देख कर स्त्रियाँ जंगलों में अथवा घरो मे छिप जाया करती थी और धनी लोग धन को भूमि मे गाड़ दिया करते थे।.. . ..... .गोर्खाओ ने बहुत बड़ा अत्याचार प्रजा पर किया जिस से लोग घर-द्वार छोड़ महीनो जंगलो में छिपे रहते थे।"[2] इसी लिए गढ़वाल मे अब भी एक कहावत "क्या तेरे लिए गोर्ख्याणी हो रही है" कही जाती है, जब कोई व्यक्ति किसी पर अत्याचार या अन्य, जबरदस्ती व मारपीट करता है।

मोलाराम ने गोर्खा शासको व उन के शासन की समालोचना नही की। इस से यह पूर्णतया साबित होता है, जैसा कि मोलाराम ने अपने काव्य में स्वयं लिखा है कि 'गढवाल राज्यवंश' काव्य की रचना मोलाराम ने गोर्खा शासकों के आग्रह करने

---

[1] 'गजेटियर अव् गढ़वाल', पृष्ठ १२६-७
[2] हरिकृष्ण रतूड़ी, 'गढ़वाल का इतिहास' पृ० ४४०–४२

पर, उन के मनोरंजन के लिए की। वह गोर्खा शासकों का जागीरदार और उन से वेतन पाने वाला दरबारी था, वह उन के आतंक व अत्याचार के विषय मे उन्ही से कैसे कहता, और कहता तो आज हमे मोलाराम का काव्य नही मिलता। अस्तु मोलाराम के काव्य के आधार पर हम गोर्खा-शासन के विषय में कुछ नही लिख सके। जो कुछ इस विषय मे हमने लिखा है वह ऐतिहासिक लेखो व गढ़वाल मे प्रचलित गाथाओं के आधार पर लिखा है।

मोलाराम गोर्खा-शासन का समालोचक नहीं है

गोर्खाओ के अतिम समय के विषय में भी मोलाराम ने बहुत कम लिखा है। जो कुछ उस ने अपने ऐतिहासिक काव्य मे इस विषय मे लिखा है वह इस योग्य नहीं कि यथावत् उद्धृत किया जाय। यही पर उस का साराश दिया जाता है। और कुछ मोलाराम के वाक्य यथावत् उद्धृत किए जाते हैं।

मोलाराम का गोर्खाओं से संबंध

जब गढ़वाल मे गोर्खा सैनिक व शासन-कर्ताओ का विरोधी कोई नही रहा, और उन्हो ने राज्यशासन शुरू कर लिया तब नैपाल मे—

सिरीनगर बखतावर आये।
हमहूँ अपने पास बुलाये॥
इकसठ साल[1] से बात पुछाई।
कर कवित्त हम ताहि सुनाई॥

बखतावर तब चंद्रिका, लीनी हमहुँ बनाय।
भूत भविष्य वर्तमान सब, दीनी तिन्हे सुनाय॥

काजी सुनि के भयो राजी।
इकसठ दै असरफी बाजी॥
बस्त्र सस्त्र तब पाँचों दीने।
गाँउ जगीर बहालहि कीने॥

---

[1] संवत १८६१ वि०=सन १८०४ ई०।

गोर्खा शासकों (फ़ौजदार और क़ाज़ी) ने जिस तरह मोलाराम को जागीर और पारितोषिक दे कर अपनी ओर कर लिया, उसी तरह उन्हों ने गढ़वाल के नेताओं को भी अपनाया और दंड-नीति का अवलंबन कर शासन करने लगे।

मेजर हरसी को गोर्खाओं ने बंदी किया

मोलाराम के कथनानुसार हरसी साहब श्रीनगर आए। मेजर हरसी का गढ़वाल आना गोर्खाओं को पसंद नहीं आया। हरसी साहब के आगमन का समाचार—

अमरसिंह काजी सुन पाई।
आवत हांसो[1] लियो बधाई॥
हांसी साहब बड़ो फिरंगी।
देश में ताकी पलटन जंगी॥
सो गढ़ आनि के फंद फँसायो।
बम्बशाह नें सुनत छुड़ायो॥

सन् १८११ में गढ़वाल के राजा सुदर्शनशाह ने मेजर हरसी से कहा—कि "अगर हमारे गढ़वाल राज्य को गोर्खाओं से मुझे वापिस दिला दो तो मैं आप को देहरादून व चाँडी दे दूँगा।" न ऐटकिंसन, न 'हिमालयन गज़ेटियर' और न 'गढ़वाल गज़ेटियर' में, न और कहीं और इस बात का वर्णन है कि हरसी साहब को अमरसिंह ने श्रीनगर में क़ैद कर लिया था, और बंबशाह के आग्रह पर छोड़ दिया, और वह कलकत्ते गया। मगर हमारा ख़याल है कि मोलाराम जो उस समय श्रीनगर में मौजूद था उस ने सही लिखा है कि हरसी श्रीनगर आया था, और गोर्खाओं ने उसे क़ैद कर लिया था। ऐटकिंसन ने लिखा है—"सन् १८११ में सुदर्शनशाह ने मेजर हरसी से वादा किया कि मैं तुम को देहरादून और चाँडी ताल्लुका दे दूँगा, यदि तुम मुझे गढ़वाल का वह भाग वापस दिला दो जो इस समय गोर्खाओं के अधिकार में है।"[2] मालूम होता है कि मेजर हरसी श्रीनगर इसी लिए आया था, कि वह गोर्खाओं की स्थिति और उन की शक्ति की जानकारी प्राप्त करे और तब ईस्ट इंडिया कंपनी के संचालकों को गढ़वाल पर आक्रमण करने को तैयार करे।

---

[1] मेजर हरसी।
[2] ऐटकिंसन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', जिल्द २- पृ० ६८०

अमरसिंह गोर्खा गवर्नर को हरसी साहब के श्रीनगर आने के अभिप्राय का पता लगा। इसी से उस ने उसे कैद किया, नहीं तो न करता। क्यों कि तब तक अंग्रेज व गोर्खाओं के बीच लड़ाई नहीं छिडी थी। यही कारण है कि बमशाह ने जो उस समय कुमाऊँ में गोर्खाओं का अधिपति था, यह समाचार सुन कर मेजर हरसी को फौरन छुड़वा दिया। नेपाल पेपर्स में एक लेख 'मेम्वायर्स अव् कुमाऊँ ऐंड गढ़वाल' कैप्टन रेपर लिखित है। उस से पता लगता है कि कैप्टन हरसी और वेब ने सन् १८०८ में गढ़वाल में भ्रमण किया था। मगर उस समय वे श्रीनगर नहीं आए न इन की गोर्खा शासकों से मुठभेड़ हुई।

मोलाराम के काव्यानुसार छूटते ही मेजर हरसी फौरन कलकत्ते पहुँचा और ईस्ट इंडिया कंपनी के शासकों से

हरसी ने कलकत्ते जाकर कंपनी सरकार से गोर्खाओं की शिकायत की

कलकत्ता यह अरज लगाई।
राह चलत हम लियो बँधाई॥

और भी शिकायतें कर के तथा गढ़वाल की स्थिति व उस के सौंदर्य का परिचय करा के मेजर हरसी ने कंपनी को गढ़वाल पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया।

हुकम कंपनी को भयो, फौजें दई पठाय।
धँसि पहाड़ में गोरखा, ताकों वेहु उठाय॥

गोर्खाओं पर गढ़वाल में अंग्रेजों का आक्रमण

चार तरफ सौं फौजें धाई।
पूरब पच्छिम उत्तर आई॥
दक्खिन दिस मजबूती कीनी।
चारों तरफ घेरि के लीनी॥
तब गढ़पति सुन लियो बुलाई।
ताके संग फौज सब धाई॥
सुनी अमरसिंह काजी जब ही।
पाती लिखि के भेजी तब ही॥
लोणीअखतर[1] साहेब पासहि।
गुप्त बात नहिं करि प्रकासहि॥

---

[1] **गोर्खाओं के विरुद्ध ब्रिटिश फ़ौज का कमांडर मेजर आक्टरलोनी।**

अमरसिंह ने मेजर जनरल आकटरलोनी को लिख भेजा कि मैं लड़ना नहीं चाहता। मुझे नैपाल की राजधानी कांतिपुर पहुँचा दो। मैं गढ़वाल छोड़ दूँगा।

लोणोअखतर पाती बाँची।
मानो बात सबै ही साँची॥
प्रत्तिउत्तर काजी को दीन्यो।
तुम सन्देह कहे को कीन्यो॥

तिस पर भी अंग्रेज सेना श्रीनगर पर चढ़ आई। और गोर्खाओं को घेर कर उन को रसद बंद कर दी।

अन्न बिना सब ही अकुलाये।
वन फल घास फूस सब खाये॥
....
तुपक तीर बरछी हि कटारी।
जुटी फौज सौं फौजहि सारी॥
....

मोलाराम के काव्यानुसार जब अंग्रेजी सेना ने गोर्खाओं से घमासान युद्ध की ठान ली, और गोर्खा सेना की कुछ न चली। तब नालागढ़ी (देहरादून) और कुमाऊँ के गोर्खा सेनापति अमरसिंह काजी की सहायता के लिए श्रीनगर आए। इन के आने से फिरंगी सेना बुरी तरह से पिटी, और भागने लगी। इस लिए कुमाऊँ से अंग्रेज सेना गढ़वाल में गोर्खाओं के विरुद्ध लड़ने आई।

इस युद्ध मे हस्तिदल रणक्षेत्र में काम आया। जब यह समाचार कुमाऊँ मे बंबशाह के पास पहुँचा तो उस ने अमरसिंह को लिखा कि यहाँ कुमाऊँ मे हम ने अंग्रेजो से संधि कर ली है, वहाँ (गढवाल में) तुम भी संधि कर लो, हम डोटी चले आयेंगे। बंबशाह ने बखतावर बसन्यात को लिखा—

गोर्खा शासक संधि के प्रार्थी हुए

तहाँ फिरंगी देहु बैठाई।
अपने थाणे लेहु उठाई॥
संग फिरंगी के मिलि आवो।
अपनी चीज बस्तु सब लावो॥

गढ़वाल के गोर्खा शासक व सेनापतियो को पता लग गया कि अब वे अंग्रेजी सेना से पार नही पायेंगे। गढ़वाल की प्रजा बहुत दुःखी थी। गढ़वाल के बड़े आदमी, प्रभावशाली लोग अंग्रेजो से और सुदर्शनशाह से उन के गढ़वाली नौकरो के द्वारा पत्र-व्यवहार कर रहे थे और उन को गोर्खाओ की कमजोरी बता रहे थे। वे अंग्रेज अफसर व सुदर्शनशाह का साथ देने को तैयार थे। उदाहरण के लिए यहाँ पर एक पत्र जो रवाँई के विष्ट प्रेमसिंह और गुरुनलसिंह ने शिवराम को देहरादून १ दिसंबर १८१४ को लिख कर भेजा, हम उद्धृत करते हैं—

गढ़वाल की दुःखी जनता और नेता लोग गोर्खाओं के विरुद्ध थे

'तुम अंग्रेजों से मिल गए हो इस लिए हम को आशा है कि फौज पर्वतो मे आएगी और जुल्म करने वाले (गोर्खा) यहाँ (गढ़वाल) से भगा दिए जायेंगे। और हम इस से फायदा उठायेंगे। अगर इस समय सिपाही आएँ तो हम भी इकट्ठे हो और (गोर्खाओं के) रास्ते व घाटियाँ बंद कर दें। तुम गढ़वाल के राजा के नौकर हो। तुम को चाहिए कि जल्द फौज भिजवाओ। अगर (अंग्रेजी) सेना आती है तो हमारी मदद से फिरंगियो का नाम (इकबाल) सब कुछ कर लेगा। हमारी तरफ से अंग्रेजी सरकार से कहो। अगर कोई फ़ौज जल्दी यहाँ (देहरादून) से आगे बढ़ती है तो हम उस में शामिल हो जायँगे। देर मत करो। अगर अंग्रेज सिर्फ दूण (देहरादून) के लिए ही आए हैं तो हम को (साफ़) लिखो। जल्दी जवाब दो।''[1]

[४१]

सुदर्शनशाह (१८१५-५५)

गढ़वाल की जनता अपने गढ़वाली राजा को गढ़वाल के राजसिंहासन पर आरूढ़ देखने के लिए उत्सुक थी। प्रद्युम्नशाह रणक्षेत्र में स्वतंत्रता के निमित्त अपने प्राण बलिदान कर चुका था। कुँवर सुदर्शनशाह जिस का जन्म सन् १७८८ में श्रीनगर में हुआ था, गढ़वाल पर गोर्खाओं के आक्रमण के समय १५ वर्ष का था। प्रद्युम्नशाह की मृत्यु पर सुदर्शनशाह अंग्रेजी राज्य मे फ़र्रुखाबाद रहने लगा।

---

[1] 'नेपाल पेपर्स' (हस्तलिखित), पृ० २८६

जब अंग्रेजों को विश्वास हो गया कि गढवाली अपने प्राचीन राजा के वंशज का साथ देने को तैयार है, और चाहते है कि गढवाली राजा गढवाल मे राज्य करे तो उन्हो ने गोर्खाओ को गढवाल से हटाने का निश्चय कर, यह तय किया कि गढवाल का राज्य गढवाल के राजा के वंशज कुँवर सुदर्शनशाह को सौंप दिया जाय। मालूम होता है उस समय अंग्रेजों का विचार सारा गढवाल सुदर्शनशाह के हवाले कर देने का था। मिस्टर ऐडम, अंग्रेजी सरकार के सेक्रेटरी, ने कलकत्ते से गवर्नर जनरल के ऐजंट सर एडवर्ड कोलब्रुक को दिल्ली मे २४ नवंबर १८१४ को एक पत्र भेजा, जिस में लिखा था कि—

सुदर्शनशाह को अपने पूर्वजों का राज्य कैसे प्राप्त हुआ

'गवर्नर जनरल को खबरे मिली है जिन से गवर्नर जनरल की राय में यह जरूरी है कि श्रीनगर के राजा के वंशज (सुदर्शनशाह) से जो इस समय फर्रुखाबाद में है, यह कहा जाय कि वह फौरन देहरादून मे बृटिश सेना मे सम्मिलित हो। उस से कह दो कि गवर्नमेंट ने जो बात उस के पक्ष में निश्चय की है वह विस्तार-पूर्वक उस को मिस्टर फ्रेजर बतावेंगे। मिस्टर फ्रेजर इस समय अंग्रेजी सेना के साथ दून (देहरादून) मे है। मिस्टर फ्रेजर को राजा के लिए परिचय-पत्र दे देना। राजा को जो कुछ खर्च की जरूरत हो वह उस के सफर के सामान के लिए दे देना।'[1]

उक्त पत्र के अनुसार सुदर्शनशाह अंग्रेजी सेना के साथ देहरादून वर्तमान टेहरी राज्य हो कर श्रीनगर के लिए रवाना हुआ। सुदर्शनशाह के साथ शिवराम व काशीराम सकल्याणी और असाड़ गुसाई इत्यादि दस गढ़वाली मुसद्दी आए। बृटिश सेना मे एक हजार सिपाही थे। सेना के सेनापति मेजर बाल्डीक और म्यूर थे। पाँच अंग्रेजी अफसर और भी इस सेना में थे।

गढवाल के पुराने मुसद्दी, कारदारी, सयाणे, उमराव, रौतेले और अन्य रैयत अपने राजा, सुदर्शनशाह, के दर्शन को उठूड मुकाम (जो इस समय टेहरी राज्य मे है) पर आए। इस बात का पता गोर्खाओ को भी लग गया कि गढवाली अपने राजा के स्वागत को चले गए है, और सुदर्शनशाह अंग्रेजी सेना के साथ लड़ने आ रहा है। अपने को इस

सुदर्शनशाह का स्वागत और गोर्खाओं का निर्वासन

---

[1] 'नेपाल पेपर्स' से उद्धृत व अनुवादित।

नवीन शक्ति का सामना करने मे असमर्थ समझ कर गोर्खा नैपाल वापस जाने को राजी हो गए। उन्हो ने अपने सामान को ले जाने के लिए कुली (बेगार मे) माँगे। गोर्खाओ ने राजा सुदर्शनशाह के दर्शन करने चाहे। किंतु सुदर्शनशाह दर्शन देने को राजी नही हुआ। गोर्खाओ ने २१ जेठ सवत् १८७२ (सन् १८१५ मई) को श्रीनगर छोड दिया।

मिस्टर विलियम फ़्रेजर सिरमौर, कुलू, सुकेत, बुशेर इत्यादि पहाडी रियासतो के मामले तय कर के जाखणी पर गगा (अलकनंदा) को पार कर श्रीनगर आए। उसी

मिस्टर फ़्रेजर और सुदर्शनशाह श्रीनगर में

दिन[१] श्रावण संवत् १८७२ (जुलाई सन् १८१५) को सुदर्शनशाह ने अपने पूर्वजो की राजधानी श्रीनगर मे पदार्पण किया।

११ श्रावण सवत् १८७२ को मिस्टर फ़्रेजर व राजा सुदर्शनशाह, फ़्रेजर के परामर्श के अनुसार दिल्ली मे गवर्नर-जनरल के ऐजट के पास गए। श्रीनगर का प्रबध

सुदर्शनशाह दिल्ली में

मेजर बाल्डीक व पाँच अन्य अग्रेजों को सौपा गया। शिवराम सकल्याणी का नौकर नदराम सकल्याणी मेजर बाल्डीक का कारबारी नियत हुआ। सुदर्शनशाह पूस (दिसबर, बड़े दिन) तक दिल्ली मे रहा।

कपनी की सुप्रीम कौंसिल ने कलकत्ते से मिस्टर फ़्रेजर के जरिये सुदर्शनशाह को पट्टा व परवाना दिया। जिस के द्वारा रवॉई को छोड कर यमुना व अलकनंदा के

कंपनी की कौंसिल ने आधा गढ़वाल सुदर्शनशाह को दिया

बीच का सारा गढ़वाल राजा सुदर्शनशाह को दे दिया गया। वह दिल्ली से वापस आया और १७ फागुन संवत् १८७२ को टेहरी पहुँचा।[१]

वास्तव में वर्तमान टेहरी (गढवाल) राज्य व ब्रिटिश गढ़वाल की सीमा अब अलकनंदा व मंदाकिनी है। इन नदियों के इस पार का गढ़वाल अंग्रेजों ने अपने लिए रख लिया और उस पार का गढ़वाल सुदर्शनशाह को सौप दिया।

'मेम्वायर्स अव् देहरादून' के अनुसार गोर्खाओ को देहरादून और गढ़वाल से हटाने मे अंग्रेजो का ५ लाख खर्च हुआ था। ब्रिटिश सरकार ने आधा गढ़वाल सुदर्शनशाह से लड़ाई के खर्चे के बदले में रख लिया। क्यो कि सुदर्शनशाह लड़ाई का खर्च देने

---

[१] **हस्तलिखित 'नैपाल पेपर्स' के आधार पर।**

मे असमर्थ था। किस तरह सुदर्शनशाह को आधा गढवाल मिला इस के विषय मे मोला-राम अपने काव्य मे सक्षेप में लिखता है—

बालडीक मेहरगढ़ आये।
गढ़पति राजा कौं संग लाये॥
गंगा पार सब फौजहि आई।
देरो तम्बू दियो तणाई॥
....
....
काजी तहँ बसन्धात बुलायो।
मिलि-जुलि के वह बिदा करायो॥
कुली ताहि को दियो मँगाई।
सबै जिनस ताको पहुँचाई॥
सिरीनगर तब साहब आये।
जगे छाँट बंगलाहि बनाये॥
गंगापार मुलक सब लीन्यो।
मुलक पार गढ़पति को दीन्यो॥

सुदर्शनशाह ने अपने पूर्वजो का आधा राज्य प्राप्त करने पर पुरानी राजधानी श्रीनगर से ३० मील की दूरी पर भागीरथी और भिलगना नदियों के बीच के मैदान पर दो मील लंबा शहर बसाया। वहाँ अपनी राजधानी बना कर राज्य करने लगा। प्रीतमशाह को (जो काठमाडू में कैद था) सुदर्शनशाह ने ब्रिटिश सरकार से कह कर मुक्त करवाया। वह अपनी नैपाली स्त्री को लेकर ८ मई सन् १८१८ को टेहरी में आया।

सुदर्शनशाह ने टहरी में अपनी राजधानी बनाई

सुदर्शनशाह ने पहले सिरमौर की राजकुमारी से विवाह किया, पीछे काँगडा-नरेश ससारचंद की दो कन्याओ से एक ही साथ विवाह किया। फिर राणी खणोटी से शादी की। सुदर्शनशाह की आठ रानियां थी। पुत्राभाव ही इतने विवाह करने का कारण बताया जाता है। सुदर्शन-शाह का पुत्र पहला सुजनशाह तो आठ ही वर्ष की अवस्था मे मर गया था। उस के बाद भवानीशाह हुआ जो कि सुदर्शनशाह के बाद टेहरी का राजा हुआ।

सुदर्शनशाह का विवाह

महाराज सुदर्शनशाह के राज्य में प्रजा में शांति रही। श्री हरिकृष्ण रतूड़ी के कथनानुसार सुदर्शनशाह संस्कृत का विद्वान् था और कवि भी था। वह विद्वानो का गुणग्राहक था। अभिमानी नही था। राजसी ठाठ से नहीं रहता था।

सुदर्शनशाह का शासन

मोलाराम ने सुदर्शनशाह के शासन और उस के विषय मे लिखा है—

गढ़पति शाह सुदर्शन नाम हि।
करैं आप सो सब कुछ काम हि॥
काहू की परतीत न मानै।
अपनी अकल बहोती जानै॥
राग रंग आपहि सब गावै।
कविता दोहा ख्याल बनावै॥
गुनिजन जो कोइ तापै जावै।
वाहि ताहि गुन आप दिखावै॥
रागी पै वह राग हि गावै।
कवि ताको वह कवित सुनावै॥

मोलाराम ने सुदर्शनशाह के दोष भी बताए है। मोलाराम के कथनानुसार सुदर्शनशाह बड़ा कंजूस था।

सुदर्शनशाह की कंजूसी

तहाँ चाकरी मे जो जावै।
कर के कर्ज सीस पै आवै॥
चीलम भंग में राजी रहै।
बात बनाय बहुतेरी कहै॥
जो कोइ जाय सुदर्शन पासा।
पूरन होय न तिनकी आसा॥
बिरता सब जागीर हराई।
रोजीना भी दियो उड़ाई॥

गोर्खाओ के आक्रमण के कारण गढ़वाल छोड़ कर देश चले जाने पर सुदर्शनशाह को अंग्रेजों से मिलने व पत्रव्यवहार करने का बहुत अवकाश मिला। पीछे राज्य

प्राप्त करने पर उन्हों ने अंग्रेजों से अपनी मित्रता व पत्र-व्यवहार कायम रक्खा उस समय के लिए सन् १८०४ से १८४० तक अर्थात् ३६ वर्ष में २८६ अंग्रेजों से अपनी मित्रता व पत्रव्यवहार रखना व मिलना-जुलना साधारण बात नहीं। पहला अंग्रेज जो सुदर्शनशाह को मिला 'घेटली' साहब था। संस्कृत के विख्यात विद्वान् विल्किंसन साहब से भी सुदर्शनशाह की मुलाक़ात थी। सर एडवर्ड कोलब्रुक कमिश्नर बोर्ड अव् रेवेन्यू से सुदर्शनशाह फर्रुखाबाद में मिला था, मिस्टर मूरक्राफ्ट भी सुदर्शनशाह से मिले। एक दफा आठ अंग्रेज साथ ही सुदर्शनशाह से मिलने टेहरी आए, इन में मेजर ह्युएट, कैप्टन बुलौक, व कमिश्नर साहब थे। 'एनल्स अव् राजस्थान' के रचयिता मिस्टर टॉड भी सुदर्शनशाह से मिले, लार्ड मेकाले के बहनोई सर चार्ल्स ट्रेवेलियन और दिल्ली के रेज़िडेंट मिस्टर मेटकाफ भी सुदर्शनशाह से मिले। सुदर्शनशाह स्वयं कई बार दिल्ली अंग्रेजी रेजिडेंट से मिलने गया। और कुछ समय तक वहीं रहा।

सुदर्शनशाह २८६ अंग्रेजों से मिला; उन से पत्र-व्यवहार किया

सुदर्शनशाह ने सन् ५७ की गदर में बृटिश गवर्नमेंट की अपनी शक्ति भर मदद की। सेना के लिए सिपाही दिए। धन दिया। मसूरी पहाड़ पर चढ़ने से बागियों को रोकने के लिए राजपुर में अपने सिपाही रक्खे। मसूरी की रक्षा की। प्राण रक्षा के लिए भाग कर आए हुए अंग्रेजों को टेहरी में शरण दी। उन की खातिर की। पहाड़ के रास्ते जो अंग्रेज नैनीताल पोड़ी से सिमले आते-जाते थे उन की राह में सब तरह की मदद और रक्षा की। नजीबाबाद के नवाब ने जब सुदर्शनशाह से बागियों का साथ देने के लिए कहा और धमकी दी कि वह विद्रोहियों में सम्मिलित नहीं होगा तो नवाब उस के राज्य पर आक्रमण करेगा, तब भी सुदर्शनशाह ने नवाब का कहना नहीं माना। सन् ५७ की गदर के दो वर्ष बाद अर्थात् सन् १८५९ के मई-जून महीने में ४५ वर्ष राज्य कर के ७० वर्ष की अवस्था में सुदर्शनशाह की मृत्यु हुई।

सन् १८५७ के विद्रोह में सुदर्शनशाह ने अंग्रेजों की मदद की

भारतवर्ष में सर्वत्र अब तक भी भूत-प्रेत जादू इत्यादि पर करोड़ों लोगों का विश्वास है। गढ़वाल में अब तक भी भूत व स्थानीय देवी-देवताओं पर विश्वास है। किंतु सुदर्शनशाह का इन पर विश्वास नहीं था। एक समय महल के आँगन में एक आदमी नाच रहा था। राजा के नौकरों ने महाराज के पूछने पर कहा कि उस पर गोरिल देवता

का दोष लग गया है। उस का भूत नाच रहा है। राजा ने दो डंडे से गोरिल देवता के भूत की खबर ली। भूत भाग गया अर्थात् उस आदमी से उतर गया। तब से टेहरी राज्य मे जब किसी पर भूत लगता है तो सुदर्शनशाह महाराज का नाम लेते ही वह भाग जाता है। इसी तरह एक समय महाराज ने अपने राज्य के सब जादूगरो को निमत्रण दे कर बुलाया और उन के हाथ-पैर बाँध कर मय उन के तत्र-मंत्रों की पोथियों के भागीरथी मे डुबो दिया।

[४२]

आधे गढ़वाल में अंग्रेज़ी राज्य (१८१५-   )

अग्रेजी राज्य के विषय मे मोलाराम ने जाने क्या-क्या लिखा था, उस का पता नही लग सकता, क्यो कि जैसे कि मोलाराम के 'गढराज-वश काव्य' के आरभ मे के १९ चौपाई दोहे गायब हो गए है उसी तरह इस काव्य के आखीर के कुछ पृष्ट नही हैं। मोलाराम का हस्तलिखित ऐतिहासिक काव्य हमें जिस कठिनता के साथ मिला उस से हमे यह भी संदेह होता है कि सभव है कि इन पृष्ठो को मोलाराम के वशजों ने गायब कर दिया हो।

अंग्रेजो के शासन के विषय मे मोलाराम ने नहीं लिखा

अग्रेजो के विषय मे जो भविष्यवाणी मोलाराम ने की उसे हम अन्यत्र उद्धृत कर चुके है। सभव हो वही मोलाराम ने अग्रेजी शासन के विषय मे कहना काफी समझा हो। इस लिए अत मे कुछ न कहा हो। या जैसा कि मोलाराम ने गोर्खा-शासन के विषय मे कुछ नही लिखा, वैसा ही अंग्रेजी राज्य के विषय में भी कुछ न लिखा हो। क्योंकि मोलाराम का उद्देश्य तो गढवाल के राजाओ का इतिहास ही लिखना था। यह भी उस ने गोर्खा गवर्नरो के आग्रह पर लिखा। मोलाराम को अपनी चित्रशाला, चित्राकण और दर्शनशास्त्र से अधिक प्रेम था। धार्मिक विषयो पर तथा दर्शनशास्त्र पर मोलाराम ने जो रचनाएँ की है वह ऐतिहासिक काव्य से दशगुनी अधिक है।

अग्रेजो के विषय मे मोलाराम ने सुदर्शनशाह की बाबत लिखते हुए सिर्फ निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी है :—

सिरीनगर माँहि अमल फिरंगी।
रहे हमेशा गोला दंगी॥
थानेदार पै जो कोइ जावै।
वहै कुमाऊँ मैं पहुँचावै॥

ब्रिटिश राज्य कुमाऊँ प्रांत मे अल्मोड़े से शुरू हुआ, वही कुमाऊँ के पहले कमिश्नर मिस्टर गार्डिनर की राजधानी रही, अंग्रेजी राज्य गढ़वाल मे जूलाई १८१५ से आरभ हुआ, मोलाराम की मृत्यु सन् १८३३ में हुई, यह ऐतिहासिक काव्य सन् १८१५ मे समाप्त हो गया। उस वक्त गढ़वाल मे गोलादगी, गड़बड़ी का होना और श्रीनगर के थानेदार का हरेक मामले को कुमाऊँ कमिश्नर के पास राय या फैसले के लिए भेजना नितात स्वाभाविक था।

संभव है मोलाराम आगे चल कर इसी काव्य मे सन् १८१५ के बाद कुछ लिख गया हो।

इसी 'गढ़राज-वंश काव्य' मे मोलाराम ने अत के प्राप्त पृष्ठों में नेपालवार का भी कुछ विवरण दिया है। उसे यहाँ उद्धृत करना असगत प्रतीत होता है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जो कुछ नेपाल से सग्राम के विषय मे मोलाराम ने अपने काव्य मे लिखा है वह इतिहास के अनुसार सही पाया गया है। इस से मोलाराम की ऐतिहासिक धारणा पुष्ट होती है।

नेपालवार का ज़िक्र

इस काव्य के अतिम दोहे-चौपाई जो मौजूद है, उन को हम यहाँ पर देना जरूरी समझते है। गोर्खाओ ने नेपालवार मे जो वीरता दिखाई उस के विषय मे मोलाराम ने लिखा है—

छुटे गोर्खा वीर करारे।
चहुँदिसि घेर फिरंगी मारे॥
. . . .
जेती बार फिरंगी आये।
तेती बारहि मार पठाये॥
भीम सैन जरनैल हि काजी।
रक्खी थाम गोर्खा बाजी॥

गोर्खाओं का अंग्रेजो से युद्ध और उन की वीरता

. . . .

भये फिरंगी थकित जब, कीन्यो तबहि मिलाव ।
अपनी अपनी भूमि कौं, बैठे सबही दाव ।।
डोटी माँहि गोर्खा बैठै ।
कालीवार इंगरैज इकैठै ।।
काली गंगा बीच में चालै ।
चौकी पहरा सभी सँभालै ।।
वार पार सब चैतन रहै ।
खबरदार निसिबासर कहै ।।
बिना हुकम कोइ जान न पावै ।
राह दानी सों आवै जावै ।।
काली सतलजु वार फिरंगी ।
डोटी पूर्व गोर्खा जंगी ।।

यहाँ तक तो मोलाराम ने गोर्खा व अंग्रेजो की जंग और राज्य की सीमा उक्त पद्यो मे दी, और फौरन ही इस के बाद निम्नोद्धृत पद्य काव्य के अत मे है।

उपसंहार

सतलज पार लाहोर सिंहा ।
अटक पार तर करत हैं दंगा ।।
घुरका बल जिन जंग मिचायो ।
जंग जीत हूँ हाजर वैठ्या ।।
कासमीर से . . . .

इस के बाद के पद नष्ट हो गए है 'कासमीर से' पृष्ठ के अत मे है, उस के आगे के पृष्ठ मोलाराम की निज हस्तलिखित पुस्तक मे मौजूद नहीं, न हमे कोई उस की ऐसी नकल मिली, जिस मे बाकी दोहे-चौपाई दिए हो।

उक्त आखिरी चार पदो को पढ़ने से प्रतीत होता है कि गढ़वाल राजवंश का इतिहास और गोर्खा व अग्रेजो के युद्ध के विवरण के बाद मोलाराम ने पंजाब-केशरी रणजीतसिंह, और काशमीर के संबध में कुछ लिखा था।

इस अंश को समाप्त करते हुए हम मोलाराम की ऐतिहासिक धारणा और सत्यता की मुक्तकंठ से प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। यदि मोलाराम के 'गढ़राज-वंश काव्य' में किसी बात की कमी है तो इस बात की कि मोलाराम ने तारीख, सन्-संवत् इत्यादि प्रत्येक राजा, राज्य और घटना के लिए नहीं दिए।

प्राचीन हिंदू कवि, और इतिहास-लेखक समय, संवत् इत्यादि बहुधा नहीं दिया करते थे। संस्कृत साहित्य में, पुराणों में, तथा अन्य संस्कृत के ऐतिहासिक ग्रंथों में अथवा हिंदी के काव्यों में भी तिथि, संवत् इत्यादि कम दिए गए हैं। कारण स्पष्ट है। पद्य-रचना में तारीख, तिथि या संवत् प्रत्येक घटना के लिए नहीं दिए जा सकते। न हमारे कवि लोग इन बातों की परवाह ही करते थे। अस्तु मोलाराम के काव्य में यह त्रुटि हिंदू कवि के लिए स्वाभाविक है। बड़ी-बड़ी घटनाओं के लिए मोलाराम ने संवत् दिए हैं जो इतिहास के अनुसार सही पाए गए हैं।

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू व्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६।)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड्थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १।)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक ठाकुर रामसिंह एम० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्जा अबुलफ़ज़्ल। मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य ४॥) सजिल्द, ४) बिना जिल्द।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य बिना जिल्द ६), सजिल्द ६॥)

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० मूल्य ॥)

नोबेल पुरस्कार-प्राप्त

प्रसिद्ध नाट्यकार

जॉन गाल्सवर्दी

की

चार अमूल्य रचनाएँ

१—न्याय—'जस्टिस' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २।)

२—हड़ताल—'स्ट्राइफ' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २)

३—धोखाधड़ी—'स्किन गेम' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत लालताप्रसाद शुक्ल, एम्० ए०। मूल्य १॥।)

४—चाँदी की डिबिया—'सिल्वर बॉक्स' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य १॥)

सभी पुस्तकों पर सुंदर सुनहरी कपड़े की मजबूत जिल्दें हैं।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।

मुद्रक—महेन्द्रनाथ पाण्डेय, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद

प्रकाशक—डाक्टर ताराचंद, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

अक्तूबर, १९३६

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

वार्षिक मूल्य ५); एक प्रति का १।); डाक-व्यय अलग

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ६ } अक्तूबर, १६३६ { अंक ४

सूबा अवध के सिक्के

[लेखक—रायबहादुर बाबू प्रयागदयाल]

सूबा अवध के सिक्को के सबंध मे कुछ निवेदन करने से पूर्व उस के इतिहास पर एक सरसरी दृष्टि डालना आवश्यक है, जिस मे यह स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाय कि किस-किस अवसर पर और किन-किन कारणों से इस सूबे में सिक्के जारी हुए।

सन् १७२० ई० मे दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह ने अपनी सल्तनत के वजीर सआदत खाँ को अवध का सूबेदार नियुक्त किया। सआदत खाँ का वास्तविक नाम मुहम्मद अमीन था जो कि खुरासान मे नेशापूर के सैयद-वंश से संबंध रखता था। इस पद पर सुशोभित होते ही उस ने अपनी पदवी 'बुरहानुल्मुल्क' धारण कर ली, और दिल्ली छोड़ कर सूबे में चला आया, और लखनऊ तथा अयोध्या को अपने निवास का केंद्र बनाया।

यह पहला नवाब था जिस ने कि मछली के आकार को अपना विशेष चिह्न निश्चित किया। इस के विषय मे यह कथा प्रचलित है कि एक दिन बुरहानुल्मुल्क जमुना नदी के किनारे हाथ उठाए नमाज पढ रहा था, जब कि एक मछली पानी से उछल कर उस के हाथ में आ गई। इस घटना के थोड़े ही समय बाद उसे अवध की सूबेदारी मिल

गई। यह नही कहा जा सकता कि यह घटना कहाँ तक सत्य है, परन्तु यह अवश्य है कि मछली का चिह्न अवध में अत्यत शुभ समझा जाता है, और प्राय सभी पुराने मकानो के मुख्य द्वार पर पाया जाता है। बुरहानुलमुल्क ने लखनऊ के किले लखना का नाम इसी कारण 'मच्छी-भवन' रक्खा था। सन् १७३९ ई० में सआदत खाँ की मृत्यु हुई। उस के स्थान पर उस का दामाद मंसूरअली खाँ सफदरजग अवध का सूबेदार हुआ, और सन् १७४७ ई० में दिल्ली की सल्तनत का वजीर भी नियुक्त किया गया। उस समय से वह और उस के उत्तराधिकारी नवाब वजीर कहलाने लगे—अर्थात् नवाब सूबा अवध के और वजीर मुगल सल्तनत के। सफदर जग ने फैजाबाद शहर की नीव डाली और अधिकाश वही निवास करता रहा। सन् १७५३ ई० मे उस की मृत्यु हुई और शुजाउद्दौला उस की जगह पर गद्दी पर बैठा।

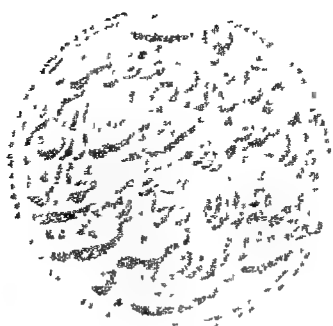
सन् १७५४ ई० मे आलमगीर द्वितीय के राज्यकाल मे बनारस की टकसाल का प्रबध नवाब वजीर के सुपुर्द हुआ और १७७५ ई० अर्थात् शुजाउद्दौला की मृत्यु तक यह टकसाल उसी के प्रबध मे रही और उस मे बादशाह शाह आलम द्वितीय के नाम से सिक्के ढलते रहे।

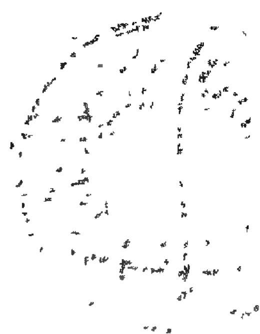
सन् १७७५ ई० में बनारस और जौनपूर के जिले ईस्ट इडिया कंपनी के अधीन हुए, परतु इस के कुछ काल पूर्व बरेली की टकसाल भी जारी हुई थी। नवाब शुजाउद्दौला बहादुर और अंग्रेज़ी फौज के सिपहसालार जनरल चैंपियन साहब ने मिल कर रुहेलो को, जिन का कि सिपहसालार हाफिज रहमत खाँ था, मीराँखेडा नामक स्थल पर, जो कि शाहजहाँपूर जिले मे स्थित है, सन् १७७४ ई० (११८८ हिज्री) में परास्त की और इस विजय की खुशी में एक चाँदी का पदक (तमगा) बरेली टकसाल से जारी किया। यह पदक (प्लेट १, न० १) बहुत ही दुष्प्राप्य है, और इस के केवल दो-तीन नमूने अब तक मिल सके हैं। सौभाग्य से यह पदक लखनऊ के अजायबघर मे मौजूद है। इस की तौल ५८८ ५ ग्रेन और मध्यरेखा पौने दो इच है। इस के एक ओर निम्न-लिखित लेख अकित है—

नवाब

शुजाउद् वजीर आजम हिंद

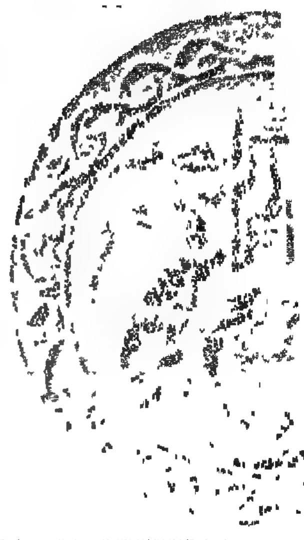
याज़ दहुम सफ़र रोज शंबा सन् ११८८ दर इलाहीखेड़ा





१

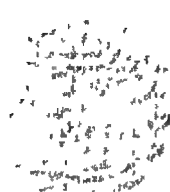


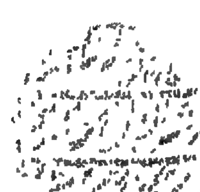


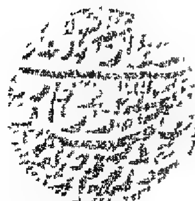
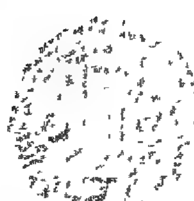
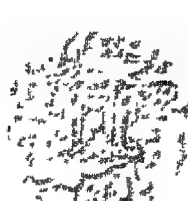
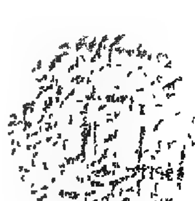
२

प्लेट—२

१    ४

२,५     ६

३,७     ९

१० ११

प्लेट—२

रुहेला हा रा जदः व हाफ़िज रहमत ख़ाँ
सरदार रुहेला कुश्तः शुदः[1]

इस का अर्थ हुआ—

"नवाब शुजाउद् (दौला) हिंद के वजीर आज़म ने शनिवार, ११वीं सफर ११८८ (हि०) को, इलाहीखेडा ने रुहेलों को दंड दिया और हाफिज रहमत खॉ, रुहेलों का सरदार मारा गया।।"

और दूसरी ओर एक बिंदीदार घेरे मे एक दोमुँही तलवार सीधी खड़ी है और उस के मूँठ पर से होती हुई एक साधारण तलवार बेडी रक्खी हुई अंकित है। पदक की गोलाई मे यह लेख लिखा है—

इन्ना फ़तहनाह फ़तहन मुबीना
यफ़्रहून बहिंद अस्कानुलहिंद[2]

जिस का आशय है—

"हम ने उन्हे सफलता दी, पूर्ण सफलता दी। इस से हिंद के निवासी प्रसन्न होंगे।"

नवाब शुजाउद्दौला ने २६ जनवरी १७७५ को मृत्यु पाई। उस का मकबरा गुलाबबाडी फैजाबाद की मुख्य इमारतो मे अब तक मौजूद है।

नवाब आसफुद्दौला अपने पिता नवाब शुजाउद्दौला की गद्दी पर सुशोभित हुआ और फैजाबाद को छोड कर उस ने लखनऊ मे निवास ग्रहण किया और उसे पर्याप्त शोभा प्रदान की। विशाल इमारतें—जैसे दौलतखाना, रूमी दरवाजा, कोठी बिबियापुर, चिनहट

---

१ نواب
شجاالد وزیر اعظم هند
بیا ز دهم صفر روز شنبه سنه ۱۱۸۸ در الهی کهیره
روهیله ها را زده و حافظ رحمت خاں
سردار روهیله کشته شده

२ انا فتحناه فتحاً مبینا
یفرحون بهند اسکان الهند

हाउस और बड़ा इमामबाड़ा—निर्माण की। स्वयं दौलतखान के अंदर अमफी कोठी में निवास किया। यह उदारता, दान और नेकी के लिए विख्यात था। कहावत है, "जिस को न दे मौला, उस को दे आसफुद्दौला।" यह शुभ वाक्य उस की मृत्यु के बहुत दिनों बाद तक दूकानदार अपनी दूकान सबेरे खोलते समय कहते थे। उस ने जार्ज तृतीय, इंग्लिस्तान के बादशाह के बीमारी में अच्छा होने के अवसर पर पचीस हजार रुपया डाक्टर को भेंट किया था और पचीस हजार रुपया उस के नाम से गरीबों और निस्सहायों में बँटवाया था। इस के शासन-काल में मछलीदार रुपए जिन पर सन् जलूस (गद्दी का साल) २६ मिलता है, बादशाह शाह आलम के नाम से बनते रहे।

यह २१ सितंबर, सन् १७९७ को, निस्सतान मरा और मच्छीभवन के इमामबाड़े में दफन किया गया। उस के बाद वजीरअली और सआदतअली खाँ गद्दी पर बैठे। परंतु इन के समय में कोई विशेष सिक्का या पदक नहीं जारी हुआ।

गाजीउद्दीन हैदर, जो अवध का अंतिम नवाब वजीर था, ११ जुलाई १८१४ ई० को इस पद पर आसीन हुआ। इस के शासन-काल की मुख्य घटना यह है कि लॉर्ड हेस्टिंग्ज मार्च १८१८ ई० में लखनऊ आए और उसे यह उत्तेजना दी कि तुम दिल्ली सल्तनत से अपना संबंध-विच्छेद कर के स्वतंत्र हो जाओ, और बादशाह अवध की हैसियत से सिक्का जारी करो। अंत में १८१९ ई० में बादशाह अवध की पदवी उसे प्रदान हुई और उस समय से, दिल्ली के शासन से उस का कोई संबंध न रहा।

गाजीउद्दीन हैदर की ताजपोशी बड़े उत्साह और समारोह के साथ लाल बारादरी नाम की इमारत में जिस में कि इस समय लखनऊ का अजायबघर है हुई। ताजपोशी के दिन तीस हजार रुपए के जवाहरात लुटाए गए और चाँदी के पदक तथा खिलअतें प्रमुख व्यक्तियों, अमीरों और रईसों में बाँटी गईं। पदक की तौल १२६० ग्रेन है, और मध्य-रेखा ढाई इंच है। यह पदक (प्लेट १, नं० २) उच्चकोटि की कारीगरी और कौशल का नमूना है। इस के एक ओर एक घेरे में ताज और हार से अलंकृत बादशाह की आकृति है, और शेष स्थान में फूल और बेल बनी है। किनारे पर गोलाई में निम्न लेख जिस का कि आरंभ बादशाह के बाएँ हाथ के नीचे से है, मौजूद है—

सिक्का जद बर सीमोजर अज़ फ़ज़्ले रब्बे ज़ुल्मनन।
गाजीउद्दीं हैदरे आली नसब शाहे जमन। सन् अहद।[१]

इस का अर्थ है—

"महान् और सर्वशक्तिमान् ईश्वर की कृपा से सोने और चाँदी का सिक्का अंकित किया—संसार के शाह और उच्च वंश के गाजीउद्दीन हैदर ने।"

दूसरी तरफ मार्का है। उस मे दो शेर हाथो मे झडा लिए दिखाए हैं। इन झडो पर मछलियाँ बनी है। दोनो झडो के बीच एक कटार है। कटार के ऊपर ताज और नीचे दो मछलियाँ हैं, जिन की गोलाई मे एक दायरा बन जाता है। सब से नीचे एक लहरदार बारीक झडा है। दाहिने किनारे पर केवल ح अक्षर है और किनारे पर गोलाई में आशीर्वाद का यह शेर है—

ता हज़ार साल शाहा बक़ाय उम्र तो बादा।
हज़ार साल बाशी तू दर ज़मान खुदा।।[२]

इस का अर्थ इस प्रकार है—

"हे शाह, तू हजार वर्ष की अवस्था को प्राप्त हो। तू हज़ार वर्ष तक ईश्वर के ससार मे जीवित रहे।"

इस पदक पर नियम के प्रतिकूल बादशाह की एक आश्चर्यजनक शबीह अंकित है। प्रश्न यह उठता है कि—यकायक लगभग दो सौ वर्ष के बाद शबीह अंकित करने का विचार कैसे उठा? मुगल बादशाहों मे केवल स्वतत्र विचारो के बादशाह जहाँगीर ने, शरीयत अर्थात् धार्मिक आज्ञाओ के विरुद्ध, अपनी शबीह बनवाना पसद किया था। इस प्रकार का अतिम सिक्का हिज्री सन् १०२३ मे अजमेर से जारी हुआ था, और उस पर यह शेर है—

---

१ سکه زد بر سیم و زر از فضل رب ذوالمنن
غازی‌الدین حیدر عالی نسب شاه زمن ـ سنه احد

२ تا هزار سال شاها بقائے عمر تو بادا
هزار سال باشی تو در زمان خدا

क़ज़ा बर सिक्कए ज़र कर्द तस्वीर।
शबीहे हज़रते शाहे जहाँगीर॥[१]

अर्थात्—

"भाग्य ने स्वर्ण के सिक्के पर हज़रत शाह जहाँगीर की शबीह् का चित्र अंकित किया है।"

जहाँगीर के बाद किसी मुगल बादशाह ने अपनी शबीह नहीं बनवाई, यह धारणा अभी तक ठीक थी, परंतु सौभाग्य से अभी हाल में एक पदक बादशाह शाह आलम द्वितीय का प्राप्त हुआ है जिस पर कि शाह आलम की शबीह अंकित है। यह पदक भी जन्म, गद्दी पर बैठने और सल्तनत पर बहाल होने के उपलक्ष्य में जारी हुआ था। उस के एक तरफ़ यह लेख है—

विलादत दर सन् ११४०, जलूस दर सन् ११७३ बहाल शुद सल्तनत १२।[२]

अर्थात्—

"जन्म सन् ११४० (हिज्री), उत्तराधिकार सन् ११७३ (हि०), साम्राज्य-प्राप्ति १२ (वे वर्ष)।"

दूसरी ओर साधारण शेर है—

सिक्का ज़द दर हफ़्त किशवर सायए फ़ज़्ले इलाह।
हामिए दीने मुहम्मद शाह आलम पादशाह।[३]

अतएव यह जान पड़ता है कि ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने जिस तरह यह शेर आरंभ में अपने सिक्कों पर लिखा, संभवतः उसी प्रकार अपनी ताजपोशी के उपलक्ष्य में भी पदक पर अपनी शबीह् अंकित कराई।

---

१ قضا بر سکۂ زر کرد تصویر
شبیہ حضرت شاہ جہانگیر

२ ولادت در سنہ ۱۱۴۰ جلوس در سنہ ۱۱۷۳
بحال شد سلطنت ۱۲

३ سکہ زد در ہفت کشور سایۂ فضل الہ
حامی دین محمد شاہ عالم پادشاہ

ग़ाजीउद्दीन हैदर ने कई प्रकार के सिक्के जारी किए—

(क) पहले प्रकार का सिक्का सन् १२३४ हिज्री में शाह आलम के नाम से जारी किया (प्लेट २, न० १)। इस के पहली तरफ़ यह शेर अंकित है—

सिक्का ज़द दर हफ़्त किशवर सायए फ़ज़्ले इलाह।
हामिए दीने मुहम्मद शाह आलम बादशाह।[1]

अर्थात्—

"सात देशों में और ईश्वर की कृपा की छाया में, मुहम्मद के धर्म की रक्षा करने वाले शाह आलम बादशाह ने सिक्का अंकित किया।"

दूसरी ओर अवध का मार्का है, जिस में दो मछलियों के बीच उस के उत्तराधिकार की तिथि लिखी हुई और टकसाल 'सूबा अवध दारुलमारत लखनऊ' है। मछलियों के ऊपर कटार और ताज है और उन के दाएँ-बाएँ झंडा लिए हुए शेर हैं।

(ख) दूसरे प्रकार का सिक्का भी सन् १२३४ हिज्री में अपने नाम से जारी किया परन्तु उस पर सन् जलूस या उत्तराधिकार की तिथि ५ इस कारण लिखा है कि वह वास्तव में पाँच वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १२२९ हिज्री में अपने पिता के स्थान पर नवाब वज़ीर नियुक्त हो चुका था।

(ग) तीसरे प्रकार का सिक्का भी सन् १२३४ हिज्री में अपने ही नाम से जारी किया, परन्तु इस में सन् जलूस ५ के स्थान पर १ अंकित है क्योंकि उस की बादशाहत का यह पहला वर्ष था, और उसी वर्ष उस की ताजपोशी भी नियमित रूप से हुई थी। इन सिक्कों (प्लेट २, न० २) पर एक तरफ़ यह शेर अंकित है—

सिक्का ज़द बर सीमोज़र अज़ फ़ज़्ले रब्बे ज़ुल्मनन।
ग़ाज़ीउद्दीं हैदरे आली नसब शाहे ज़मन॥[2]

अर्थात्—

---

[1] वही पाठ है जो ऊपर दिया गया है।

[2] سکہ زد بر سیم و زر از فضل رب ذوالمنن
غازی‌الدین حیدر عالی نسب شاہ زمن

'महान्   ईश्वर की कृपा से उच्च वंश के तथा पृथ्वीतल के शाह गाज़ीउद्दीन हैदर ने सोने तथा चाँदी का सिक्का अंकित किया।"

और दूसरी ओर (क) और (ख) की भाँति वही वाक्य तथा चिह्न बने हुए हैं।

(घ) चौथे प्रकार के सिक्के वे हैं जिन पर 'जरब सूबा अवध दारुल्सल्तनत' लखनऊ अंकित है। सन् १२३६ हिज्री में लखनऊ का संबोधन 'दारुलमारत' छोड़ कर 'दारुल्सल्तनत' हो गया था और यह सिक्के उसे सूचित करते हैं। (प्लेट २, नं० ३)

गाज़ीउद्दीन हैदर ने सन् १२४३ हिज्री में मृत्यु पाई और नसीरुद्दीन हैदर दूसरे बादशाह हुए। उन के काल के पहले दो वर्ष के सिक्कों (प्लेट २, नं० ४) पर उन का नाम सुलैमान जाह है और निम्न शेर है—

बर हर सिक्का शाही ज़दह ज़े लुत्फ़े इलाह।
सिपहर मर्तबा शाहे जहाँ सुलैमान जाह॥[1]

अर्थात्—

"संसार में, ईश्वर की कृपा से, दुनिया के शाह कीर्तिशाली सुलैमान जाह के नाम पर शाही सिक्का अंकित हुआ है।"

तीसरे वर्ष यह शेर बदला और सिक्कों पर बादशाह का नाम नसीरुद्दीन हैदर हुआ। (प्लेट २, नं० ५)

सिक्का ज़द बर सीमोज़र अज़ फ़ज़्ल हक़ ज़िल्ले इलाह॥[2]
नायबे मेहदी नसीरुद्दीन हैदर बादशाह॥

अर्थात्—

"ईश्वर की कृपा से, सोने और चाँदी का सिक्का मेहदी के नायब नसीरुद्दीन हैदर ने अंकित कराया।"

---

१ بر هر سکه شاهی زده ز لطف اله
سپهر مرتبه شاه جهان سلیمان جاه

२ سکه زد بر سیم و زر از فضل حق ظل اله
نائب مهدی نصیرالدین حیدر بادشاه

शासन के सातवे वर्ष मे सिक्के की दूसरी तरफ कुछ परिवर्तन हुआ (प्लेट २, नं० ६)। चिह्न और वाक्य वही रहे, केवल वाक्य ऊपर-नीचे लिखने के स्थान पर किनारे की गोलाई मे एक ही पंक्ति मे लिखा गया, और उत्तराधिकार की तिथि सिक्के के मध्य से हटा कर उसी पंक्ति मे रक्खी गई।

नसीरुद्दीन हैदर की मृत्यु पर उस का चचा मुहम्मद अली शाह शाही तख्त पर सन् १२५३ हिज्री में बैठा। उस ने सोने और चाँदी के सिक्को पर एक नए प्रकार का मार्का चलाया। इस मे शेर के स्थान पर दो स्त्रियाँ है जो कि उस के उत्तराधिकार के पहले और दूसरे वर्ष में नंगे सिर हैं, और बाद मे नुकीली छज्जेदार पगड़ी पहने है। (प्लेट २, नं० ७-८) सिक्को पर यह शेर पाया जाता है—

बजूदो करम सिक्का जद दर जहाँ।
मुहम्मद अली बादशाहे जमाँ॥ [१]

अर्थात्—

"विश्व के बादशाह मुहम्मद अली ने उस की कृपा और अनुकपा से ससार में सिक्के अकित किए।"

मुहम्मद अली शाह के प्रथम तीन वर्ष के सिक्को के दूसरी ओर 'ज़रब सूबा अवध बैतुलसल्तनत लखनऊ है,' मगर सन् १२५६ हिज्री से ('मुल्क अवध' 'सूबा अवध' के स्थान पर लिखा है।

सन् १२५८ हिज्री मे मुहम्मद अली शाह के बाद उस का बेटा अमजद अली तख्त पर बैठा। उस के शासनकाल के सिक्को पर (प्लेट २, नं० ९) यह लेख अंकित है—

दर जहाँ जद सिक्कए शाही बताईदे इलाह।
जिल्ले हक़ अमजद अली शाहे जमन आलम पनाह॥ [२]

अर्थात्—

---

१ بجود و کرم سکه زد در جهان
محمد علی بادشاه زمان

२ در جهان زد سکهٔ شاهی بتائید اله
ظل حق امجد علی شاه زمن عالم پناه

ईश्वर की कृपा से ससार म अमजद अली अपन युग के शाह ने ससार के रक्षक तथा ईश्वर की छाया म शाही सिक्का चलाया।

और दूसरी तरफ यह मार्का है—अर्थात् एक घूमी हुई मछली, ऊपर ताज और छत्र हैं और उन के दाएँ और बाएँ किंचित् गोलाई में दो तलवारें हैं और यह लेख है—'ज़रब मुल्क अवध बैतुल्सल्तनत लखनऊ सन् जलूस मैंमनत मानूस।' इस के सिक्को मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। कुछ तनिक से परिवर्तन, जैसे ताज के ऊपर की बिंदी, या मेहराब या पंक्तियों में, अवश्य मिलते हैं।

सन् १२६३ हिज्री में वाजिद अली शाह गद्दी पर बैठा। उस के सिक्के (प्लेट २, न० १०) की पहली तरफ यह शेर है—

सिक्का ज़द बर सीमोज़र अज़ फ़ज़्ले ताईदे इलाह।
ज़िल्ले हक़ वाजिद अली सुल्ताने आलम बादशाह॥[1]

अर्थात्—

"ईश्वर की कृपा से, दुनिया के सुल्तान वाजिद अली शाह ने सोने और चाँदी का सिक्का चलाया।"

और दूसरी तरफ मार्का या निशान शाही है जिस पर पुनः परिवर्तन हुआ है और स्त्रियो के स्थान पर मछलीदार परियाँ बनाई गई है और पूरा निशान इस प्रकार है। दाएँ और बाएँ दो मछलीदार परियाँ जिन के एक हाथ मे झडा और दूसरे हाथ में मुगदर और बीच में ढाल है। उस के ऊपर ताज और ताज के ऊपर छत्र और छत्र के ऊपर तोता है। यह तोता साफ नही दिखाई देता परंतु वाजिद अली शाह के फरमान पर जो मुहर है उस मे बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता है। और नीचे की ओर दो तल्वार और दो तिरछे मुगदर है। सब से नीचे लहरदार झडा या लकीर है। लेख यह है—'जरब मुल्क अवध बैतुल्सल्तनत लखनऊ सन् जलूस मैंमनत मानूस।'

सन् १२६७ हिज्री मे वाजिद अली शाह ने अपने सिक्के की दूसरी तरफ 'ज़रब मुल्क अवध बैतुल्सल्तनत लखनऊ' के स्थान पर 'मुल्क अवध अख्तरनगर' रक्खा,

---

[1] سکه زد بر سیم و زر از فضل تائید اله
ظل حق واجد علی سلطان عالم بادشاه

क्योंकि बादशाह स्वयं कवि था और उस की कविता का उपनाम 'अख्तर' था। इस प्रकार के सिक्के बहुत ही दुष्प्राप्य हैं, संभवत इस लिए कि इसी वर्ष जरब या टकसाल के नाम मे फिर परिवर्तन हुआ और 'मुल्क अवध अख्तरनगर' के स्थान पर 'बैतुल्सल्तनत लखनऊ मुल्क अवध अख्तरनगर' हुआ (प्लेट २, न० ११-१२)।

वाजिद अली शाह के सिक्के बहुत सुदर बनावट के है। रुपए के अतिरिक्त चाँदी की अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, और एकन्नी पाई जाती है। अशरफी और आधी अशरफी भी मिलती है। ऐसे सिक्के और अन्य बादशाहो के भी, जिन का वर्णन ऊपर आ चुका है प्राप्त हुए है।

अशरफी की तौल १६४-१६५ ग्रेन है, और रुपए की तौल १७०-१७२ ग्रेन है। पैसे की तौल १८० से २०० ग्रेन तक है, यद्यपि वाजिद अली शाह ने एक पैसा ४५१ ग्रेन का भी जारी किया था। उस का एक नमूना मिस्टर ब्राउन के संग्रह मे है। अधन्ने भी मुहम्मद अली शाह और अमजद अली शाह के प्राप्त हुए है और जनाब बास्फोर्ड साहब के सग्रह मे है, परंतु यह बहुत दुष्प्राप्य है।

अवध के सिक्को पर विचार करने से मालूम हुआ है कि यह सिक्के मुगल बादशाहों के सिक्के के अनुकरण मे बनाए गए थे। प्रकार तौल और लेख मिलते-जुलते है। इन सिक्को पर बादशाहो की ऊँची-ऊँची पदवियाँ भी पाई जाती है। जैसे ग़ाजीउद्दीन हैदर ने अपनी पदवी 'शाहज़माँ' रक्खी है, अमजद अली ने 'आलम पनाह' और वाजिद अली ने 'सुल्तान आलम' रक्खी है। और इसी प्रकार लखनऊ को भी प्रतिष्ठा प्रदान की है और ऐसे संबोधन जैसे 'दारुलमारत', 'दारुलसल्तनत', 'बैतुल्सल्तनत' और 'अख्तरनगर' प्रदान किए है।

जो कुछ भी हो लखनऊ को यह गर्व प्राप्त है कि तत्कालीन शासको द्वारा उस की प्रतिष्ठा होती आई है, और वर्तमान सरकार का भी उस पर विशेष ध्यान है।

दिल्ली के सुल्तानों के युग में उमराव वर्ग

[लेखक—डाक्टर बनारसीप्रसाद सक्सेना, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (लंदन)]

(क्रमागत)

बहलोल लोदी के राज्यकाल मे अफगानी अमीर सुल्तान के अधीन रहे। कारण यह कि वह उन के साथ भाई-बदो जैसा व्यवहार करता था और कभी भी उन पर शान जमाने का प्रयत्न न करता। उसे अपने अमीरो के सतोप का इतना ध्यान रहता कि भोज आदि के अवसरो पर न वह स्वय तख्त पर बैठता और न अमीरो को खडा ही रहने देता। आम दरबार के अवसर पर भी वह केवल एक कालीन पर बैठ जाता था। 'तारीख-ए-दाऊदी' के लेखक का कथन है कि अपने फरमानो मे वह अमीरों को 'मसनद आला' की उपाधि के साथ संबोधित करता था। यदि किसी समय कोई अमीर सुल्तान से असतुष्ट हो जाता तो बहलोल सब प्रकार मे उसे प्रसन्न करता था। वह उस के घर जाता और कमर से अपनी तलवार खोल कर उस के सामने रख देता। कभी-कभी ऐसा भी करता कि अपनी पगडी उतार कर अमीरो के सामने रख देता और क्षमा माँगता और कहता कि—"यदि आप मुझे इस पद के योग्य नही समझते, तो किसी और को चुन लीजिए और मुझे कोई दूसरा काम दे दीजिए"। इतने विनय और दीनता को देख कर भला किस अमीर का इतना कडा हृदय हो सकता था, जो न पसीजता? ऐसे सीधे सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह की क्या आवश्यकता थी? परतु यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि बहलोल ने इस प्रकार का व्यवहार समय की गति को देख कर निर्धारित किया था। स्वय वह न तो निबल ही था और न मूर्ख। बात यह थी कि उस को उस समय इस बात की आवश्यकता थी कि अपने देशवासियो की सहायता से अपनी स्थिति को सुदृढ बना ले। परतु आगे चल कर यह ढग सल्तनत के लिए हानिकर सिद्ध हुआ। जब बहलोल ग्वालियर से इटावा होता हुआ दिल्ली की ओर वापस आ रहा था तो सकेट स्थल पर वह बहुत

बीमार हो गया उस की बुरी दशा को देख कर अमीरो ने विद्रोह आरंभ कर दिया सुल्तान ने तो यह प्रबंध किया था कि उस की मृत्यु के अनंतर गद्दी का स्वामी उस का दूसरा पुत्र निज़ाम खाँ हो। परंतु अफ़ग़ानी अमीरो ने यह आपत्ति प्रस्तुत की कि निज़ाम खाँ चूंकि एक सुनारिन का जाया है, इस लिए वह राजगद्दी का अधिकारी नही हो सकता। यहाँ तक तो अमीरो मे एक मत था, परंतु इस बात का निर्णय करना कि फिर कौन पदाधिकारी होगा, कठिन था। अतएव अमीरो का वर्ग तीन भागो मे बँट गया। प्रथम तो वह जो निज़ाम खाँ के प्रतिपक्षी थे। दूसरे वह जो जौनपूर के शासक बारबक शाह का पक्ष ले रहे थे। और तीसरे वह जो कि आज़म हुमायूँ के अधिकारो पर जोर दे रहे थे---इस आधार पर कि वह सुल्तान के सब से बड़े लड़के का लड़का है। कहने का तात्पर्य यह है कि अवसर पाते ही अमीरो ने स्वार्थ और स्वतंत्रता का आश्रय लिया। सौभाग्यवश सिकंदर इतना चतुर और समझदार था कि उस ने अत्यंत अच्छे ढंग से अमीरों को अपने हाथ में रक्खा, यद्यपि इस मे संदेह नही कि उस ने उन के अधिकारो मे बहुत कुछ कमी कर दी और यह बात भी उन के मन मे बैठाने का प्रयत्न किया कि सुल्तान का आज्ञा-पालन उन का परम कर्त्तव्य है, और भाई-बंदी के व्यवहार का समय नही रहा। फिर भी जहाँ तक संभव था, उस ने अकारण अमीरो को नाराज नही किया। परंतु अमीर अपनी आदतो से बाज न आए। सुल्तान के विरुद्ध उन्हो ने षड्यंत्र भी रचे, और उसे तलवार की घाट उतारने का भी प्रबंध किया। परंतु सिकंदर हर समय आँख खोल कर काम करता था, यही कारण है कि वह अधिक काल तक सफलता के साथ राज्य करता रहा। यह पता चलता है कि उसी के राज्यकाल में यह प्रथा चली कि कुछ प्रतिष्ठित अमीर बारी-बारी से शाही महल पर रात के समय पहरा दिया करे। अमीरो को होश मे रखने का यह बहुत अच्छा उपाय था। इस से उन को प्रत्येक समय इस बात का अनुभव होता रहता था कि उन का वास्तविक पद क्या है।

सिकंदर की मृत्यु के अनंतर जब इब्राहीम गद्दी पर बैठा तो एक बार फिर अमीरो ने इस बात का प्रयत्न किया कि शाही वंश मे कलह के बीज बो दे। उन्हो ने नए सुल्तान को राय दी कि वह जौनपूर अपने भाई जलाल खाँ के हाथ मे कर दे। इब्राहीम ने इसे स्वीकार भी कर लिया। और जलाल खाँ कुछ अमीरो सहित जौनपूर चला भी गया परंतु रापरी के हाकिम खाँजहाँ नौहानी ने इस कार्यवाही के विरुद्ध स्वर उठाया उस ने

दरबारी अमीरो को बहुत कुछ बुरा-भला कहा और इब्राहीम को राय दी कि जलाल खाँ को वापस बुला ले। परंतु चिड़िया अब पिजड़े से उड़ गई थी। जलाल खाँ भला क्यो वापस आता और कदाचित् आ भी जाता तो अमीर उसे कब आने देते ? अतएव इब्राहीम का बहुत-सा मूल्यवान् समय, इस जौनपूर वाले झगड़े का दमन करने में व्यतीत हुआ। वह अमीरो की ओर से विमुख हो गया और उस ने उन्हे दमन करने के लिए प्रत्येक उचित तथा अनुचित ढंग का प्रयोग किया। दरबार मे वह उन्हे खड़ा रखता था और तरह-तरह से उन्हे अपमानित करता था। बहुतों को उस ने बदी कर लिया और उन्हे कत्ल करवा दिया। परिणाम यह हुआ कि अमीर विद्रोही हो गए और उन्हो ने हर तरफ़ उत्पात आरंभ किया। आज़म हुमायूँ फरमूली, दरिया खाँ नूहानी, मियाँ हसन फरमूली, नासिर खाँ नूहानी इत्यादि ने विद्रोह की आग को भड़काया। उधर पंजाब मे दौलत खाँ लोदी ने सुल्तान के अत्याचार से बचने के लिए बाहरी सहायता प्राप्त करने का प्रबध किया। सल्तनत के समय का यह अतिम राजनैतिक विद्रोह था, जिस के नेता अमीर थे और जिस के बाद हिंदुस्तान के इतिहास का आरभ एक नए शीर्षक के साथ होता है।

इस सक्षिप्त वृत्तात से उमराव वर्ग के राजनैतिक महत्व का स्पष्ट अनुमान हो जाता है। यह प्रकट है कि उन का अस्तित्व देश के मामलों के लिए कितना आवश्यक था। कितना ही चतुर और योग्य बादशाह क्यों न हो परतु बिना परामर्श के उस के लिए सल्तनत का कार्य चलाना असभव था। बलबन, अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक़ ऐसे स्वायत्त शासकों को भी परामर्श की आवश्यकता प्रतीत होती थी। इस के अतिरिक्त एक व्यक्ति के लिए अकेले यह असभव था कि शासन की प्रत्येक बात को ध्यान में रख सके। दूसरे इतनी बडी सल्तनत के प्रबध के लिए अधिकारी और हाकिम चाहिए थे। सुल्तान उन्हीं लोगों का विश्वास कर सकता था जो कि निकट का सबंध रखते थे। इन की गणना अमीर वर्ग मे की जाती थी। अतएव यदि सल्तनत की उपमा एक व्यक्ति से दी जावे तो सुल्तान उस का ताप है और अमीर उस के अन्य अग। जब तक कि शरीर के इन दोनो भागो मे सामजस्य बना रहता था, शासन-कार्य सुगमता से चलता रहता था। परतु इन मे से किसी में भी भेद पड जाता है तो राजनैतिक परिस्थिति में एक आंदोलन उपस्थित हो जाता है। ताप के बढ़ने और घटने दोनों अवस्थाओं में प्रत्येक अंग व्यर्थ हो जाते

थे। अर्थात् यह कि यदि सुल्तान बिल्कुल ही अमीरो की परवा न करता तो भी सल्तनत को हानि पहुँच जाती थी, या यदि सुल्तान अमीरो पर ही सल्तनत का सारा भार डाल देता तो ऐसी अवस्था मे भी लाभ के स्थान पर हानि ही हो जाती थी। अतएव शासन के इन पुरजो को काम के योग्य रखने के लिए सुल्तान को अत्यत दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता से कार्य लेना पडता था।

लेकिन कोई वंश अनन्त समय तक स्थित न रह सकता था। इस लिए ऐसे योग्य लोगो की भी समय-समय पर आवश्यकता पड़ती रहती थी जो तत्कालीन वंश के अनतर एक नए वंश की नीव डाल सके। सुल्तानी शासन-काल के अमीरो ने इस कार्य को बहुत ही अच्छे ढंग से किया। अतएव उन की उपस्थित की हुई क्रांतियो के बुरे पक्ष है तो साथ ही अच्छे पक्ष भी है।

उमराव वर्ग की राजनीतिक अवस्था पर विचार करने के उपरात यह भी आवश्यक जान पडता है कि कुछ प्रकाश उस की सांस्कृतिक और आर्थिक अवस्था पर भी डाला जाय। इस मे सदेह नही कि अमीरो के पास रुपया बाहुल्य से होता था। बाहरी देशो से लोग आते ही इस लिए थे कि हिंदुस्तान मे खूब रुपया इकट्ठा करे। दूसरे सुल्तानी शासन-काल के आरम्भ में शासको ने देश को अधिकार मे लाने की एक विचित्र युक्ति निकाली थी। वह यह कि जब कोई सर्दार अफगानिस्तान आदि से आता था तो उस के अधिकार मे कोई अविजित इलाका कर दिया जाता था। उस को पूरी स्वतंत्रता रहती थी कि किसी प्रकार भी उस पर अधिकार कर ले। जो कुछ धन उस के हाथ लगे वह सब अपने पास रक्खे। कभी-कभी उस मे से थोडा बहुत भेंट के रूप मे सुल्तान के पास भेज दिया जाता था। इख्तयारुद्दीन बिन वख्तियार खिलजी के कारनामे इस ढंग के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते है। ऐसे सर्दारो से केवल इतनी ही आशा की जा सकती थी कि वह सिक्का और खुतबा सुल्तान के ही नाम का विजित देश मे प्रचलित रक्खें। दूसरे, हिंदुओ के विद्रोह को दूर करने के लिए सुल्तानों को निरंतर युद्ध करना पड़ता था। युद्धकाल में वैरियों के धन और संपत्ति को छीन लेना पूर्णतया न्याय-सगत था। उमराव की आमदनी का यह दूसरा स्रोत था। इस के अतिरिक्त उमराव की वास्तविक आमदनी इलाको तथा पदो से होती थी। प्रत्येक बड़े अमीर के हाथ मे किसी न किसी विभाग का प्रबध दे दिया जाता था। उस विभाग की आय का कुछ भाग तो वह केंद्रीय खजाने मे भेज दिया

करता था और शेष या तो अपनी सेना पर व्यय करता था या उसे अपनी जेब मे रखता था।

इस काल मे सरकारी पदाधिकारियो के क्या वेतन थे? इस का सम्यक् रूप से अनुमान करना तो सभव नही है, परन्तु इतिहास-लेखको ने समय-समय पर जो बाते अकित की है, उन से कुछ मोटे परिणाम अवश्य निकाले जा सकते है। उदाहरण के लिए इल्तुतमिश ने मलिक सैफुद्दीन ऐबक को सरजामदारी के पद पर नियुक्त करते समय उस का तीन लाख जीतल वेतन नियुक्त किया था। परंतु सैफुद्दीन को इस से सतोष न हुआ। जब इल्तुतमिश को यह मालूम हुआ तो उस ने सैफुद्दीन से पूछा कि क्या बात है? सैफुद्दीन ने डरते-डरते उत्तर दिया—"जहाँपनाह, आप ने इस दीन को ऐसे ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित किया है कि जहाँ रह कर हिंदू और मुस्लिम प्रजा को धन एकत्र करने के उद्देश्य से सताना असभव है और इस के अतिरिक्त कोई और तदबीर शानशौकत बनाए रखने की है नही।" जलालुद्दीन फ़ीरोज खिलजी ने उदारता के जोश मे आ कर एक मुंडहर के लडके को वकीलदार नियुक्त किया और उस का वेतन एक लाख जीतल कर दिया। जब कि जलालुद्दीन समाना और कैथल प्रदेशो का नायब था उस समय एक बार इस मुंडहर के पिता से उस का सामना हो गया। मुंडहर की तलवार से जलालुद्दीन के मुँह पर ऐसे घाव लगे कि उन के निशान जन्म भर बने रहे। अतएव इस मुँडहर की बहादुरी का खयाल कर के जलालुद्दीन ने उस के लडके को कृपापात्र बनाया।

'मसालकुल्अाबसार' के लेखक ने मुहम्मद तुगलक़ के शासन-काल के पदाधिकारियों के वेतन की चर्चा की है, जैसे उस के चारो वजीर बीस से ले कर चालीस हजार टका वार्षिक वेतन पाते थे। विशेष अधिकारियों के वेतन दस हजार टंका वार्षिक थे। कुछ के वेतन पचास हजार टंका वार्षिक तक थे। सद्र-जहाँ और शैखुल-इस्लाम को साठ हजार टका वार्षिक मिलते थे, और मुहतसिब को एक गाँव मिला हुआ था जिस की आमदनी आठ सौ टंका थी। खान का वेतन दो लाख टका होता था। उस मे से उसे कुछ भी फ़ौज पर नही व्यय करना होता था। मलिक का वेतन पचास-साठ हजार टके के बीच होता था, और अमीर का तीस-चालीस हजार के बीच। सिपहसालार का वेतन लगभग बीस हज़ार टंका, अन्य अधिकारियो का एक हजार से ले कर दस हजार तक। समलूक

पाँच सौ टका वार्षिक पाते थे। यह वेतन उन को नकद दिया जाता था। सभव है कि शहाबुद्दीन के वर्णन मे कुछ अतिशयोक्ति हो, लेकिन इब्न बतूता लिखता है कि जब मुहम्मद तुगलक ने खुदावदजादा जियाउद्दीन को मीरदाद नियुक्त किया तो उस को पचास हज़ार दीनार वार्षिक की जागीर भी प्रदान की। स्वय इब्न बतूता को पहले-पहल पाँच हजार की जागीर मिली। इस के बाद उस का वेतन बारह हजार वार्षिक हो गया। शम्श सिराज अफीफ लिखता है कि फीरोजशाह ने अपने वज़ीर खाँजहाँ का तेरह लाख टका वेतन नियुक्त किया और उस के अमीरो मे से किसी का भी वेतन सात या आठ लाख टका से कम न था। अतएव इस शासन-काल मे जितने खान ओर मलिक थे सभी रुपए से मालामाल थे। जब मलिक शाईान-शहना व नायब अमीर मजलिस खास ने मृत्यु पाई और उस के छोडे हुए माल की जाँच की गई तो पचास लाख टका नकद, अन्य हीरा-जवाहर और मूल्यवान् वस्तुओ के अतिरिक्त मिले। इसी प्रकार से एमादुल्मुल्क वज़ीर सुल्तानी के विषय मे अफीफ ने लिखा है कि उस के पास करोडो रुपया था। एक बार उसे टाट की थैलियाँ बनवाने की आवश्यकता हुई तो ढाई हजार टको का टाट खरीदा गया। जब एमादुल्मुल्क के सामने नित्य का हिसाब पेश हुआ तो उस ने इस रकम पर आपत्ति की और कहा कि जब खज़ाना अधिक हो गया है तो उसे थैलियो मे रखने की आवश्यकता नही। उस को खत्तो मे गल्ले की भाँति भर देना चाहिए। अतएव ऐसा ही किया गया। लोदी शासन-काल मे एक अमीर मियाँ मुहम्मद कालापहाड़ के पास २०० मन सोना था। सुल्तानो के शासन-काल मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते है, जिन से कि अमीरो की अमीरी मे कोई सदेह नही रह जाता।

लेकिन यह अमीर जितने रुपए के अमीर थे उतने ही हृदय के भी उदार थे। इस लिए कि उन की सारी दौलत और संपत्ति निजी होती थी, उन्हे मितव्यय का किंचित् ध्यान नही आता था। दूसरे अपनी मर्यादा बनाए रखने के लिए यह आवश्यक था कि खूब उदारता से वह खर्च करें। बलबनी अमीर मलिक अलाउद्दीन कशली खाँ के विषय मे यह परपरा है कि दान देने मे वह बड़ा ही निपुण था। उस समय ख्वाजा शम्स मुईन जीवित था। उस ने एक कविता अलाउद्दीन की प्रशसा मे लिखी और दरगाह बलबनी के मुतरिबो को याद करा दी। जब वह पढी गई तो अलाउद्दीन ने अपने अस्तबल के सारे

घोडे शम्स मुईन को पुरस्कार रूप मे दे दिए। और मुतरिबो को दस हजार टके दिए। इसी काल मे एक और मलिक था, जिस का नाम था एमादुलमुल्क रावत अर्ज। उस के साथ कचहरी के पचास या साठ कर्मचारी नित्य खाना खाते थे। उस को पान खाने की इतनी बान थी कि पचास या साठ तंबोली हर समय पान लगाने मे लगे रहते थे। तीसरे मलिक फखरूद्दीन, दिल्ली के कोतवाल की यह हालत थी कि उस के यहाँ दस बारह हजार कुरान पढने वाले नौकर थे। वह प्रति दिन एक नया जोडा वस्त्र का पहनता था और उतरे हुए वस्त्र को पुरस्कार मे दे देता था। इतना ही नहीं, वरन् उस की चारपाई और बिछौने भी नित्य नए होते थे। प्रति वर्ष हजारो लडकियो के लिए दहेज प्रदान करता था। इसी प्रकार बल्बनी काल मे एक और अमीर था जिस का नाम अमीर अली सरजाभदार था। अमीर खुसरो उसी के यहाँ नियुक्त था। यह अमीर सौ टका से कम कभी किसी को देता ही न था। जीतल शब्द तो उस की जीभ से निकलता ही न था। उस की उदारता का समाचार सुन कर बलबन को बडी प्रसन्नता होती थी। एक बार बादशाह ने उसे बुला कर कहा—'ऐ अमीर अली, मै ने सुना है कि तू शराब के नशे मे हो कर इतने खुले दिल से धन लुटाता है। मानने की तो तब बात है जब तू अपनी सुध-बुध मे किसी को कुछ दे।'' यह सुनते ही अमीर अली ने शराब से तौबा कर ली, परतु अपनी उदारता मे किंचित् भी कमी न की, वरन् उस मे और भी वृद्धि की। बरनी लिखता है कि बल्बन के काल में उस के अमीरो के बीच द्वेषभाव न था, वरन् यदि एक को मालूम हो जाता कि अमुक के यहाँ पाँच सौ आदमी भोजन करते है तो वह अपने यहाँ एक हजार को खिलाता। इसी प्रकार यदि किसी को पता चलता कि अमुक सवारी के समय दो सौ टका निछावर करता है तो वह चार सौ देता, यद्यपि दान के बाहुल्य के कारण उमरात्र व मलिक लोग सदा ऋण की जंजीर से जकडे रहते थे।

जिस समय कि जलालुद्दीन फीरोज खिलजी अर्ज मुमालक था उसी समय से वह अमीर खुसरो का सरक्षक बन गया था और बारह हजार टका, जो कि अमीर के पिता का वजीफा था उस के लिए भी नियत कर दिया था। इस के काल मे मलिक कुतुबुद्दीन अल्वी था जो कि अपरिमित धन दान दिया करता था। कहा जाता है कि अपने बडे लडके के विवाह के अवसर पर उस ने दो लाख टके व्यय किए और विवाह के दिन नौ घोड़े साज-सामान सहित बख्शीश मे दिए और एक हजार आदमियों को जोडे पहिनाए। उसी का

साथी था मलिक अहमद चप जिस ने एक रोज शाही नौकरो चाकरो को निमंत्रित किया और उन को एक लाख टके इनाम ने दिए और दो या तीन सौ खिलअते दी। मलिक नसरत सब्बाह की ऐसी आदत थी कि वह किसी प्रार्थी को अपने दर से वापस न करता था और किसी न किसी प्रकार उस की आवश्यकताओ की निवृत्ति करता था। अपनी दान-शीलता के कारण वह सदा ऋणी रहता था और महाजन उस का पीछा न छोडते थे। अलाउद्दीन के काल मे तो अमीर प्राय निर्धन ही हो गए। उस की मृत्यु के उपरात अमीरो ने फिर से दौलत जोडना आरभ किया। उस के बेटे के वजीर खुसरो खाँ के भृत्यो की बहुत बडी सख्या थी और जब अवसर आया उस ने दोनो हाथो से धन लुटाया। गयासुद्दीन के काल मे किसी ऐसे अमीर का हाल नही मिलता जो रुपया व्यय करने मे उत्साही हो।। परतु मुहम्मद तुगलक के समय मे इस के कई उदाहरण मिलते है। मीर कबूल एक ऐसा अमीर था जो अपने निजी भृत्यों पर २½ लाख टके वार्षिक व्यय किया करता था। इब्न बतूता यद्यपि साधारण पदाधिकारी था तथापि सदा महाजनो के तकाजो से तग रहता था। अतएव इस सकट से मुक्ति पाने के लिए उस ने सुल्तान की प्रशसा मे एक पद्य लिखा जिस के परिणाम-स्वरूप सरकारी खजाने से उस का ऋण चुका दिया गया। फ़ीरोज तुगलक के शासन-काल मे बशीर मुल्तानी ने चार हजार क्रीत दासो को स्वतत्र कर दिया और उन्हे इनाम भी दिए। वजीर खाँजहाँ ने एक जोडे मोजे पर अस्सी हजार टके व्यय किए। काजी सदरुल्मुल्क के लडके ने एक वेश्या से सबध कर लिया था जिस के लिए नित्य पांच मन फुँके हुए मोतियों का चूना आवश्यक होता था और यह प्राप्त किया जाता था। सैयद और लोदियों के समय मे भी उमराव के यही ढग रहे।

धन के बाहुल्य के कारण यह आवश्यक न था कि अमीर लोग नालायक होते। इस के प्रत्युत चूकि इस युग के बादशाह स्वयं शिक्षित होते थे और विद्या तथा कला का संरक्षण करते थे, इस लिए उमराव का सदा यह प्रयत्न रहता था कि अपने निजी ज्ञान की वृद्धि करते रहे। यह लोग विद्वानों के संपर्क से सदा लाभ उठाते रहते और अपनी योग्यता बढाते रहते थे। उन्हे ऐसा करने की आवश्यकता भी थी, क्योकि बिना ज्ञान के देश के कार्यो मे सफलता तथा उन्नति प्राप्त करना असभव था। मिनहाज सिराज ने लिखा है कि इल्तुतमिश के अमीर हाजिब ने पढने-लिखने मे इतना समय व्यय किया कि वह लोक-प्रिय हो गया। अमीर लोग केवल सैनिक ही न होते थे वरन् विद्वान और

लेखक भी। बलबन के समय मे तो ज्ञान-विज्ञान तथा काव्य की चर्चा इतनी हुई कि सल्तनत के अमीरो के पास कवियो और विद्वानो का एक गिरोह रहने लगा, और जिस प्रकार अमीर लोग दान देने मे एक दूसरे से प्रतिद्वंदिता रखते उसी प्रकार विद्या और ज्ञान मे भी। देसी लोगो के उमराव वर्ग से पृथक करने मे बलबन का कदाचित् एक उद्देश्य यह भी था कि देश मे विद्या का प्रचार हो, क्योकि यह प्रकट है कि नए मुस्लिमों की, जो अधिकाश नीची जातियो के होते थे, विद्या और ज्ञान मे अभिरुचि बढाना संभव नही था। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि साधारणत. अमीर शिक्षित होते थे। उन मे से कई की रचनाओ की चर्चा इतिहास मे आई है। जैसे किवामुद्दीन इलाका जिस ने कि 'फतेहनामा लखनौती" की रचना की; ताजुद्दीन इराकी के पिता कबीरुद्दीन जिस ने 'तारीखे-अलाई' लिखी, तातार खाँ जिसने 'तफसीर-तातारखानी' और 'फतावए-तातारखानी' की रचनाएँ की। इन के अतिरिक्त और भी कई उदाहरण इस प्रकार के मिल सकते है। इस से प्रकट है कि सुल्तानी शासन-काल मे उमराव वर्ग ने अपने परिश्रम, उदारता और दानशीलता से विद्या और कलाओ को प्रफुल्लित रक्खा।

परंतु ऊँची शिक्षा ने उन के रहन-सहन पर कोई स्पष्ट प्रभाव नही डाला, और उन लोगो में वह सभी त्रुटियाँ बनी रही जिन का कि आज तक अमीरो से सबध है। कुछ को छोड कर सभी को शराब पीने की आदत थी। इस के साथ जुआ भी होता था। नुसरत सब्बाह के विषय मे बरनी ने लिखा है कि जिस मजलिस मे वह जाता था जुआ अवश्य खेलता था और वह भी साधारण नही वरन् गहरा। नाच-गाने की महफिल तो नित्य ही किसी न किसी अमीर के यहाँ जमी रहती थी। मतरिबो और साजिदो की अत्यधिक माँग रहती थी। यदि नाच और गाने की उच्चता ही किसी युग की कला का माप हो तो निस्सदेह उमराव और सुल्तानो के सरक्षण में यह कला इस युग मे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। जियाउद्दीन बरनी इस का साक्षी है। इस के अतिरिक्त बादशाहो की भाँति अमीर भी कई विवाह किया करते थे और इन की सतान भी बडी होती थी। अतएव अफीफ ने लिखा है:—'कि खाँजहाँ के औलाद बहुत थी, कारण यह कि उस को अंत.पुर से बहुत प्रेम था। वह सदैव अपने हरम मे स्त्रियाँ इकट्ठा करने का परिश्रम किया करता था। सुदर व सुकुमार लौडियाँ महल में जमा कर रक्खी थीं। कहते है कि

दो हज़ार रूमी व चीनी लौंडिया उस के हरम में थी[१]

अमीर अपनी औरतों को परदे में रखते थे। तातार ख़ाँ अपनी रखैलियों को घोड़ों पर सवार न होने देता था और उन के परदे का उचित प्रबंध रखता था। लेकिन इस काल में भी कुछ अमीर ऐसे होते थे जो अपनी औरतों को घोड़ों पर सवार कर के अपने साथ सैर तथा शिकार में ले जाते थे। लेकिन यह प्रचलित प्रथा न थी। इब्न बतूता लिखता है—'औरतें इस देश में डोलियों में आती-जाती हैं, और इन डोलियों पर रेशम के परदे पड़े रहते हैं।' अमीरों के बीच भोज की क्या परंपरा थी और उस के क्या नियम थे इस का विस्तृत हाल इब्न बतूता के निम्न-लिखित वर्णन से मालूम होता है—"पहले रोटियाँ लाते हैं जो बहुत ही पतली-पतली चपातियाँ होती हैं। बकरी को भून लेते हैं और उस के चार या छः टुकड़े कर के एक-एक आदमी के सामने रक्खे जाते हैं। फिर घी में तली हुई रोटियाँ लाते हैं, जिस के भीतर हलवा साबूनिया भरा होता है और हर एक टिकिया के ऊपर एक मीठी रोटी रखते हैं जिस को ख़स्ती कहते हैं, और इस को आटे, शक्कर और घी से बनाते हैं। और फिर एक चीज लाते हैं जिस को समोसा कहते हैं और वह क़ीमा किया हुआ गोश्त होता है। इस में बादाम और जायफल और पिस्ता और प्याज और गरम मसाला डाल कर पतली चपातियों में लपेट देते हैं और फिर घी में तल लेते हैं। प्रत्येक आदमी के सामने चार या पाँच समोसा रखते हैं, और फिर चावल घी में पके हुए लाते हैं, और उस के ऊपर मुर्ग़ होता है। फिर लक़ीमात अल्क़ाज़ी लाते है, और उस को हाशमी भी कहते हैं। फिर क़ाहिरया लाते हैं। गृही भोजन आरंभ करने से पहले दस्तरख़ान पर खड़ा हो जाता है और सभी उपस्थित लोग बादशाह का सम्मान करते हैं .... और जब यह कर चुकते हैं तो दस्तरख़ान पर बैठते हैं और भोजन आरंभ करने से पहले सोने और काँच की पियालियों में मिश्री और गुलाब का शरबत पीते हैं। जब शरबत पी चुकते हैं तो गृही 'बिस्मिल्लाह' कहता है। उस समय सब खाना आरंभ कर देते हैं। खाना समाप्त होने पर 'फ़िक़ा' के प्याले आते हैं, और जब फ़िक़ा पी

[१] ख़ाँ जहाँ रा पिसरान बिसियार बूदंद ओ रा चे ऊ रग़बत ब हरम बिसियार दाश्त व बराये जमा कर्दन हरम कोशिश बिसियार गुमाश्त। कनीज़कान साहब जमाल बा कमाल दर हरम ख़ुद जमा कर्दानीद चुनांचे गोयंद दो हज़ार कनीज़क अज़ जमी रूमो चीन दर हरम ख़ुद दाश्त।

चुकते है तब पान-सुपारी आती है। जब पान सुपारी ले चुकते है तब गृही 'बिस्मिल्लाह' कहता है। सब उठ खडे होते है और जिस तरह खाने से पूर्व बादशाह का सम्मान किया था फिर करते है, और फिर दस्तरखान से उठ कर चले जाते है।" इस वर्णन से स्पष्ट है कि उस समय भोज के अवसरो पर कैसा आवभगत होता था।

यदि यह लेख लोगो के विचारो को इस ओर आकृष्ट कर सके कि सुल्तानी युग मे बादशाहो के हाल के अतिरिक्त और भी बहुत सी ज्ञातव्य और मनोरजक बाते है जिन के विषय मे अब तक हमारी जानकारी सीमित है तो मै समझूँगा कि मेरा परिश्रम व्यर्थ नही गया। जिस प्रकार कि मुगल-कालीन उमराव का विस्तृत वृत्तान्त 'मुआसिरुल्-उमरा' मे अकित है, उसी प्रकार अगर उतने नही तो उस के आधे विस्तार मे सुल्तानी युग के अमीरो के वर्णन भी लेखनी-बद्ध किए जा सकते है और इस की अत्यत आवश्यकता है।

हिंदी भाषा-संबंधी अशुद्धियाँ

[लेखक—डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)]

यदि भाषा-विज्ञान के उच्चतम सिद्धांत से देखा जाय तो वास्तव में अशुद्धि कोई चीज ही नहीं है। संस्कृत में 'क्षेत्र' रूप शुद्ध था, तो हिंदी में 'खेत' शुद्ध है; यदि ब्रजभाषा में 'बड़ो' शुद्ध है, तो खड़ी बोली में 'बड़ा' शुद्ध है। किसी निश्चित देशकाल में बहुसंख्यक लोगों के प्रयोग से भिन्न प्रयोग को अशुद्ध नाम से पुकारा जाता है। इस तरह किसी भी भाषा का शुद्ध रूप देश, काल तथा बहुमत से सीमित है। इन सीमाओं की मर्यादा को तोड़ने से भाषा में उच्छृंखलता आने का भय होता है, इस लिए इसे कायम रखने की ओर शिष्ट समाज, समालोचक तथा वैयाकरण वर्ग सदा यत्नशील रहता है। किंतु यह सोच कर वास्तव में निराशा होती है कि यह समस्त प्रयत्न अल्पकालीन है। गुरु के हिंदी व्याकरण के लिए सौ दो सौ वर्ष के अंदर ही कात्यायन और वररुचि की आवश्यकता पड़ेगी।

अशुद्धि होने के अनेक कारण होते हैं—

(१) लेखक या बोलने वाले की अपनी बोली भिन्न होने के कारण आदर्श साहित्यिक भाषा में प्रादेशिक प्रयोग।

(२) उच्चारण की असावधानी से लिखावट में भूलों का आ जाना।

(३) लिपिदोष के कारण अशुद्धियाँ।

(४) विद्वत्ता प्रकट करने के मोह के कारण त्रुटियाँ। तथा

(५) उतावली के कारण भूलचूकें।

प्रादेशिक प्रयोग पहली कक्षा के विद्यार्थी की भाषा से ले कर हिंदी के बड़े से बड़े लेखक तक के लेख में पाए जाते हैं। बिहार प्रांत तथा काशी प्रदेश की हिंदी की बोलियों में 'ने' के प्रयोग तथा क्रिया में लिंग-भेद का प्रायः अभाव है। इस कारण इन प्रदेशों के लोग जब हिंदी लिखते या बोलते हैं तो इस तरह की गलतियाँ अक्सर हो जाती हैं। क्रिया में ठीक लिंग प्रयोग की कठिनाई गुणवाचक या जड़ वस्तुओं की द्योतक संज्ञाओं के साथ

विशेष पड़ता है जलराशि चांदी ऐसा सफेद मालूम पड़ता था' पुस्तक बताया है 'तकलीफ मालूम होगा'। 'ने' का या तो प्रयोग छोड़ दिया जाता है, या कभी-कभी गलत प्रयोग हो जाता है। जैसे, 'वह बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया', 'जयसिंह छोड़ दिये', 'दुनिया में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो धोखा न खाये हो' या 'मैं ने ब्राह्मण-कुल में जन्म ले कर ब्रज चला आया'। ब्रज प्रदेश के विद्यार्थी 'करौ' (करो), 'सेना' (सैना), 'एसा' (ऐसा), 'केसी' (कैसी), 'तपाइ के' (तपा के) लिखते अक्सर पाए जाते हैं। मेरठ के तरफ की सरहिंदी बोलने वाले 'नहीं जाने का' (नहीं जायेगा), 'गेर दिया' (गिरा दिया), 'दीखे है' (दिखलाई पड़ता है) जैसे प्रयोग कर बैठते हैं। इसी प्रकार प्रादेशिक प्रभावों के कारण 'पैर' के स्थान पर 'गोड', 'निगलना' के स्थान पर 'लीलना', 'सोना' के स्थान पर 'सूतना' आदि अक्सर मिल जाते हैं।

मेरा ख्याल है कि विद्यार्थी-वर्ग की अधिकांश अशुद्धियों का कारण प्रारम्भ में शुद्ध उच्चारण की ओर ध्यान न दिलाया जाना है। 'ऋ' और 'र' के उच्चारण की गड़-बड़ी के कारण बहुत बड़ी संख्या में स्कूल के विद्यार्थी 'श्रगार' (शृंगार), 'मात्रभाषा' (मातृभाषा), 'अम्रतसर' (अमृतसर) या 'पृथा' (प्रथा), 'बृजभाषा' (ब्रजभाषा), 'बृह्मा' (ब्रह्मा), 'पृकृति' (प्रकृति) लिखते पाए गए हैं। अन्य ह्रस्व 'इ' को दीर्घ की तरह बोलने के कारण नीचे लिखे अशुद्ध रूप अक्सर दिखलाई पड़ते हैं—'लिपी', 'अग्नी', 'ऋषी', 'गाती', 'रात्री', 'प्राप्ती', 'अभिरुची', 'की' (कि)। दूसरी ओर दीर्घ ऊ का उच्चारण ह्रस्व के समान करने का कभी-कभी अभ्यास हो जाता है, और इस के फलस्वरूप 'मालुम', 'मुर्च्छा', 'दुसरे', 'मुल्यवान' ऐसे प्रयोग मिलते हैं। 'ष' और 'श' के ठीक उच्चारण की ओर अब बहुत कम ध्यान दिया जाता है और इस का परिणाम यह हुआ है कि इन वर्णों वाले शब्द बहुत कम विद्यार्थी शुद्ध लिख पाते हैं। 'काव्य' को 'काव्य' और 'शाखा' को 'साखा' लिख देना स्कूली विद्यार्थियों के लिए साधारण बात है। अक्सर तो हिंदी के अध्यापक संस्कृतज्ञ 'पंडित जी' का उच्चारण ही गड़बड़ होता है। फिर बेचारे विद्यार्थियों का क्या दोष? अशुद्धियों की निम्नलिखित सूची पर ध्यान देने से प्रत्येक का कारण अशुद्ध उच्चारण सिद्ध होगा—'छेपक' (क्षेपक), 'छत्री' (क्षत्रिय), 'इक्षा' (इच्छा), 'जोतिष' (ज्योतिष), 'रचैता' (रचयिता), 'दैनीय' (दयनीय), 'कलेश' (क्लेश), 'गुड' (गुण), 'गड़ना' (गणना), 'षणयंत्र' (षड्यंत्र), 'इतहास' (इतिहास),

'प्रियत्न' (प्रयत्न), 'ब्योहार' (व्यवहार), 'इसाई' (ईसाई), 'प्रंमशा' (प्रशंसा), 'अध्यन' (अध्ययन), 'श्रेप्ट' (श्रेष्ट) इत्यादि। उच्चारण-दोष के कारण प्रसिद्ध नाम तक अशुद्ध लिखे मिलते है, जैसे 'उपाध्या जी', 'द्वेदी जी', 'भारतेंदू हरीशच्न्द्र', 'जैसिंह'।

हिंदी की कुछ अशुद्धियो के कारण हमारी लिपि के दोष है। 'ऋ' (रि) और 'र' मे उच्चारण-साम्य है किंतु लिपिभेद है तथा 'ब' और 'व' में उच्चारण-भेद है किंतु लिपिसाम्य है। इस के कारण जो गड़बड़ी होती है उस की ओर ऊपर ध्यान दिलाया जा चुका है। इसी प्रकार 'श' और 'ष' की गड़बड़ी के कारण 'श्लेश' (श्लेष), 'दोश' (दोष) आदि लिख जाना स्वाभाविक है। 'दृष्य' की अशुद्धि का कारण इस शब्द के अन्य रूप 'दृष्टि' इत्यादि है। 'ब' के संयुक्त रूपो मे अक्सर भूल हो जाती है—जैसे 'शताद्वी' 'शद्व' इत्यादि। 'ज्ञ' (ज्+ञ) का उच्चारण हिंदी मे प्राय 'ग्य' हो गया है। इस कारण कभी कभी वास्तविक 'ग्य' के स्थान पर 'ज्ञ' लिखा मिल जाता है जैसे 'योग्य' के लिए 'योज्ञ'। 'ज्ञान' के लिए 'ग्यान' लिखना बहुत बड़ी अशुद्धि नही समझी जानी चाहिए। हिंदी मे अधिकांश स्थलों पर शब्द या शब्दांश के अंत्य 'अ' का उच्चारण नही होता, किंतु यह लिखा जाता है, इस कारण हलंत्य के स्थान पर भी अकारांत रूप लिख देना एक स्वाभाविक गलती है। 'आशचर्य', 'अशलील', 'हरिशचंद्र', 'पशचात्', 'आवशयक', 'सन्धया' जैसे रूप अक्सर लिखे मिल जाते है। दूसरी ओर 'पश्चात' और 'अर्थात' लिखना है। चंद्रबिंदु और अनुस्वार की गड़बड़ी से तो प्रत्येक हिंदी लेखक परिचित है।

लिखने और बोलने की कुछ अशुद्धियो के मूल में विद्वत्ता प्रकट करने का मोह होना है। मध्यप्रांत के विद्यार्थी शीन-काफ दुरुस्त होने का प्रमाण देने के लिये अक्सर 'फौज', 'मकान', 'मौजूद' व 'शरदी' लिख बोल बैठते है। संस्कृतज्ञ होने के लोभ को न रोक सकने के कारण 'माधुर्यता', 'चातुर्यता', 'सौंदर्यताई', जैसे प्रयोग हो जाते है। 'नुकसानप्रद', 'शातपन' और 'बेसमय' तो आदर्श हिंदुस्तानी शब्द माने जाने चाहिए।

परंतु वास्तविक अशुद्धियो की अपेक्षा उतावली के कारण भूल-चूको की संख्या प्राय सदा ही अधिक रहती है। लेख को दुबारा ध्यानपूर्वक देख लेने से इन में से अधिकांश ठीक हो सकती है। अक्षर, मात्रा या बिंदी को छोड़ देना, मात्रा या बिंदी ग़लत जगह पर लगा देना, 'ब' लिखने मे अक्षर के पेट को न काटना विद्यार्थियो के लेखो मे साधारण बात है और यह असावधानी दिन-दिन बढ़ती दिखलाई पड़ रही है। यह भुला दिया जाता

है कि यद्यपि ये बात देखने में छोटी है किंतु इन की गड़बड़ी से 'बाग' (वाटिका) का 'बाग' (बागडोर) और 'बोट' (नाव) का 'वोट' (मत) हो सकता है।

एक अंतिम श्रेणी असाधारण अशुद्धियों की भी बनाई जा सकती है। तद्धित शब्द संस्कृत के सिद्धांत पर बनाए जावें या हिंदी के इस गड़बड़ी के कारण 'पुराणिक', 'समाजिक', 'राजनीतिक' रूपों का प्रयोग हिंदी में सर्वमान्य सा होता जा रहा है। 'जाग्रत' और 'जागृति' के भेद का स्मरण रखना कठिन हो जाता है। 'दुःख' लिखने के बाद 'दुःखित' न लिखने के प्रलोभन को रोकना दुस्तर है। 'हुए' और 'हुये' या 'गए' और 'गये' या 'जायेंगे' और 'जावेंगे' आदि में सर्वसाधारण के अनुसार दोनों ही रूप अभी शुद्ध हैं। नई लिपिसुधार की आयोजना के अनुसार तो 'हुअे' और 'गअे' और 'जाअेंगे' भी भविष्य में अशुद्ध नहीं माने जावेंगे। शब्द को दुबारा लिखने के बजाय उस के आगे २ लिख देने में बहुत सुभीता मालूम होता है, यद्यपि साधारण भाषा में गणित के सिद्धांत का प्रयोग बहुत उचित नहीं है, इस के मानने में किसी को भी आपत्ति न होगी। अध्यापकों के 'प्रगट' को 'प्रकट' और 'उपरोक्त' को 'उपर्युक्त' बनाने के निरंतर उद्योग के रहने पर भी 'प्रगट' और 'उपरोक्त' को शुद्ध रूप मानने में थोड़ा ही विलंब है। 'आप आये हो' तो श्रद्धेय लोगों के मुख तक पहुँच जाने के कारण आर्ष प्रयोग की श्रेणी में रखना पड़ेगा।

मैंने यहाँ शब्दों तथा कुछ वाक्यों की अशुद्धियों की ही ओर ध्यान दिलाने का यत्न किया है। यदि मुहावरे की अशुद्धियों को लिया जावे तब तो 'बिहारी की कविता कितनी सुंदर है—जी चाहता है कि उन का हाथ चाट लें', 'मुक्तक काव्य में एक ही विषय का सतुआ साना जाता है' जैसे रोचक उदाहरणों और बिल्कुल नए प्रयोगों से लेख भर जावेगा। हिंदी की साधारण अशुद्धियों के उपर्युक्त वर्गीकरण से अशुद्धियों के कारण स्पष्ट रीति से समझ में आ जाते हैं। इन कारणों पर ध्यान दे कर इलाज करने से अशुद्धियों से सहज में मुक्ति मिल सकती है।

एक अध्यापक और ऊँची-नीची तरह-तरह की परीक्षाओं के परीक्षक की हैसियत से मेरा ध्यान अशुद्धियों की ओर बराबर जाता रहा है। प्रस्तुत लेख में मैं ने संक्षेप में इस विषय की कुछ रोचक सामग्री पाठकों के सामने रखने का उद्योग किया है। इतना बतला देना आवश्यक है कि यहाँ मेरा उद्देश्य हिंदी भाषा की अशुद्धियों पर प्रकाश डालने का है।

बंगाली-हिंदी (अथवा चालू हिंदी), उर्दू-हिंदी (जिसे हिंदुस्तानी नाम दिया गया है) या राष्ट्रभाषा हिंदी (जो यदि हिंदी से भिन्न है तो मैं अब तक नहीं समझ सका हूँ कि क्या चीज है)—ये सब मेरे परिमित ज्ञान और संकुचित दृष्टिकोण से बाहर की बातें हैं। यह स्मरण दिला देना भी आवश्यक है कि प्रस्तुत लेख में जितने भी उदाहरण हैं, वे सब वास्तविक हैं, एक भी काल्पनिक नहीं है।

महाभारत में साहित्यिक शैलियाँ

[लेखक—श्रीयुत वासुदेवशरण अग्रवाल, एम्० ए०]

महाभारत संस्कृत वाङ्मय का एक धुरंधर ग्रंथ है। प्राचीन इतिहास, धर्म, अध्यात्म, दर्शन, नीति, राजशास्त्र, पुराणोपाख्यान, जीवन-चरित आदि समस्त विषयो के सांगोपांग वर्णन के लिए महाभारत एक अद्भुत खान है। जिन्हों ने आद्यंत महाभारत का सावधान-मन से पारायण किया है, वे जानते है कि इस के संबंध में इस प्रकार की प्रतिज्ञा कि जो कुछ महाभारत के अंतर्गत आ गया है, वही बाहर है, और जो विषय इस मे नही है वह बाहर भी नही मिलता, कुछ मिथ्या कल्पना नही है। आर्य-जाति के पुरावृत्त-विषयक अनुसंधान के सभी राजमार्ग महाभारत में ही पर्यवसान को प्राप्त होते हुए पाए जायँगे।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य एक विशेष दृष्टिकोण को ले कर—अर्थात् महाभारत की साहित्यिक शैलियो की ओर—आप का ध्यान आकर्षित करना है।

महाभारत एक बहुत ही विशाल ग्रंथ है। उस मे अठारह पर्व और लगभग एक लक्ष श्लोक है। इन पर्वों मे से कुछ तो कथा-भाग के विकास के लिए ही प्रधानतया रचे गए है, जिन मे विशेषकर युद्ध-संबंधी भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्यपर्व हैं, परंतु कुछ-एक की रचना का संबंध जय-इतिहास की कथा के सूत्र को अग्रसर करने के साथ नही के बराबर है। उन की रचना का उद्देश्य पुराकालीन भारतीय दर्शन, अध्यात्म, और धर्म के गहनतम तत्त्वो के विवेचन को प्रस्तुत करना था। उद्देश्य-भेद से साहित्यिक शैलियो मे भेद होना भी स्वाभाविक है। इसी लिए शांति और अनुशासन पर्वो मे जो निरूपण-शैली है वह भीष्म और द्रोण पर्वो की केवल वर्णनात्मक शैली मे नितांत भिन्न है।

महाभारतकार की साहित्यिक प्रतिभा एक शब्द मे 'विराट्' कही जा सकती है। विराट् पुरुष सहस्रशीर्षा और सहस्राक्ष कहा गया है। इस रमणीय वैदिक कल्पना का उपयोग महाभारतकार की प्रतिभा के दिग्दर्शन के लिए भी किया जा सकता है। मनुष्य

की विचार-शक्ति महाभारत के गूढ प्रस्तरो को चीरती हुई जितनी अधिक उस के भीतर पैठती है, उतना ही अधिक उस पर भारतकार की विश्वतोमुखी प्रतिभा का प्रभाव पडता है। कितने अधिक उपायो से भारतकार ने अपने वर्णनों की रोचकता और उपादेयता को वढाया है, इस का अध्ययन साहित्यिक दृष्टि से मनोरंजक एव शिक्षाप्रद भी होगा।

पहले तो यह जान लेना चाहिए कि महाभारत के वर्तमान रूप को देखते हुए उस पर पुराण के सब लक्षण घटित होते हैं। यद्यपि महाभारत को प्रारभिक किंवदती के अनुसार अद्यावधि इतिहास ही कहा जाता है, तथापि—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च

वंशानुचरितं च पुराणं पंचलक्षणम्।

इस श्लोक मे कहे गए पुराण के सब प्रसिद्ध लक्षण वर्तमान महाभारत पर पूर्णतया घटित होते है। ज्ञात होता है कि मूल इतिहास-परायण ग्रंथ को पुराण की परिभाषा के अनुसार सुसस्कृत और परिवर्द्धित किया गया। इस का श्रेय भारतवर्ष की विशेष दार्शनिक प्रतिभा को है जिस के कारण यहाँ के सभी प्राचीन ग्रथो मे किसी न किसी अश तक पुराण की पुट देने का आयोजन किया गया। पुराण वन जाने के कारण ही मानो माहाभारत ने प्राचीन काल के समस्त आख्यान, उपाख्यान, गाथा, नाराशंसी और अनुव्याख्यानादिक को आत्मसात् करने के लिए अपना विशाल तोरण-द्वार उन्मुक्त रूप से खोल दिया। यही कारण है कि महाभारत में वैदिक काल के प्रायः सभी प्रधान अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत-परक उपाख्यानों का समावेश हो गया है। उदाहरण के लिए कर्णपर्व (अ० ३३,३४) की त्रिपुरासुर कथा, द्रोणपर्व (अ० २०२) का त्रिपुरवधाख्यान, वनपर्व की (अ० १००-१०१) त्रिपुरवधकथा, वनपर्व की (अ० १२२-१२५) की च्यवनमुनि कथा, शल्यपर्व का (अ० ३६) त्रित-उपाख्यान इसी कोटि के है। विशेष कर आदिपर्व का गरुडोपाख्यान जिस में गरुड के स्वर्ग से अपनी माता विनता या सुपर्णी की मुक्ति के लिए अमृत के घट लाने का वर्णन है, एक अत्यत प्राचीन वैदिक उपाख्यान का नवीन प्रकार से उपवृंहण है। संहिताओ में तथा ऐतरेय और शतपथादि ब्राह्मणो मे महासुपर्ण गायत्री के स्वर्ग से या द्युलोक से अमृत अथवा सोम लाने का बहुत ही तत्त्वगर्भित वर्णन पाया जाता है। 'इतिहास-पुराणाभ्या वेद समुपवृंहयेत्' की आज्ञा का अनुसरण कर के ही मानो महाभारत के प्रणेता ने उस कथा का अत्यंत पल्लवित सस्करण आदि पर्व की

पक्षिराजगरुड़ की कथा मे हमारे सामने रक्खा है। यही महाभारतकार की प्रथम शैली है जिसे हम उपाख्यानशैली के विशिष्ट नाम से पुकार सकते है।

(१) **उपाख्यान-शैली**—इस शैली के अवलबन से व्यास जी ने समस्त प्राचीन उपाख्यानो का अपने ग्रथ मे सन्निवेश कर के मानव-जाति को सदा के लिए ऋणी बना दिया है। प्राचीन गाथाशास्त्र के प्रेमी सदा इस के लिए उन के कृतज्ञ रहेगे। नारवे, आइसलैड आदि उत्तराखड-वर्ती देशो की प्राचीन गाथाओ के विद्वान् आज मुक्तकठ से सीमड और उस के पौत्र स्नोरी की प्रतिभा का गुणगान करते हैं जिन्हो ने आर्यो के वशज ट्यूटन कहलाने वाले लोगो की प्राचीन कथाओ का सग्रह ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी के लगभग किया। सीमड ने 'पोएटिक एड्डा' के नाम से सब उपाख्यानो को एकत्र किया, तदनतर उस के पौत्र स्नोरी स्टर्लेसान ने जिस का जन्म सन् ११७९—११८१ के बीच हुआ और जो पीछे मे आइसलैड का प्रेसीडेंट भी बन गया था, उन सब कथाओं का गद्य-रूप मे एक अत्यत उत्कृष्ट सस्करण तैयार किया। आज यही बात हम व्यास-शुक-रोमहर्षणि के लिए भी कह सकते है जिन्हो ने सीमड और स्नोरी से सहस्रो वर्ष पहले आर्यो के विराट् गाथा-वाङ्मय को अपने काव्य के साथ गूँथ कर उसे सदा के लिए अमर कर दिया। इसी कारण महाभारत वेद और पुराणों के उपाख्यानों का अक्षय्य भडार बना हुआ है। 'एड्डा' और 'सागाओ' के लिए प्रख्यात लेखक कारलाइल ने लिखा है कि यह इतनी महान् कृतियाँ है कि उन्हे किंचित् स्वल्प कर देने पर शेक्सपियर, दाते, गेटे बन जायँगे।

शेक्सपियर, दाते और गेटे के स्थान पर भास, कालिदास, माघ, भारवि और हर्ष का नाम रख देने से ये ही उद्गार ठीक वेद-व्यास जी के लिए घटित होते है। महाभारत के शाकुतलोपाख्यान, पुरूरवाख्यान, इस के उदाहरण हैं। उपाख्यान शैली के ही अवातर भेद-रूप से हम उन उपाख्यानो को ले सकते है जिन का सबंध वैदिक साहित्य से तो न था, पर जिन की परंपरा प्राचीन जनश्रुति मे बहुत पुरानी थी। जैसे सावित्री-सत्यवान्, नल-दमयती, कच-देवयानी और विदुला की (उद्योग० १३३ अ०) कथाएँ जिन के सौंदर्य से मुग्ध हो कर महाभारतकार ने हर्षपूर्वक उन का स्वागत किया। वनपर्व का रामचरित (अ० २७४—२९१) और सगर-चरित (१०६—१०९ अ०) भी इसी कोटि के है।

(२) **गल्प-शैली**—महाभारतकार की गल्प-शैली का अध्ययन भी विशेष उपादेय है। हमारी सम्मति मे महाभारतकार ससार के सब से उत्कृष्ट गल्पकार है। वेद-व्यास की लिखी हुई गल्पो में जितनी प्रणशक्ति और अमरता है उतनी सभवत. अन्य किसी गल्प-लेखक की कृतियो मे नही मिल सकती। 'अत्राप्युदाहरंतीममितिहास पुरातनम्' का उपक्रम कर के सैकड़ो की सख्या मे अत्यत ओजस्वी गल्पो की सृष्टि की गई है। यह निस्सदेह कहा जा सकता है, कि विश्व के गल्प-साहित्य मे नकुलोपाख्यान जैसी उदात्त या प्रथम श्रेणी की गल्पे विरले ही मिल सकती हे। हम कह सकते हं संभवत नही ह। प्रथम तो मानव-हृदय की धर्मिष्ठ और न्याय्य अभिलाषाओ द्वारा वैभव और ऐश्वर्य की अर्चना की गई, फ़िर उस से भी ऊपर उठ कर सर्वस्वदक्षिण यज्ञ द्वारा युधिष्ठिर ने बची-खुची मानवता को छोड़ कर दिव्यभाव की प्राप्ति, अश्वमेध के अवभृथ स्नान से की। परतु वेद-व्यास की प्रतिभा आदर्श की खोज में उस का भी मर्षण नहीं कर सकी। युधिष्ठिर के दान की स्तुति करते हुए ऋषियो और ब्राह्मणो की बुद्धि पर पडे हुए मोह-पाश को पानी की काई की तरह नकुलोपाख्यान द्वारा उन्हों ने ध्वस्त कर दिया। जिस आदर्श की उपासना मे सहस्रो ऋषियों ने अपनी हड्डियां गला दी थीं, उसी की रक्षा कर के वेद-व्यास जी ने अपनी लेखनी को कृतकृत्य समझा। उन्हो ने सोचा कि यदि ब्राह्मण भी धर्म की गरिमा को सुवर्ण के बट्टों से तोलने की भूल करने लगेंगे तो फिर धर्म-प्रतिष्ठा के युगमडित स्तभ चलायमान हो उठेंगे। परतु जब तक ब्राह्म-तेज अक्षुण्ण है तब तक ऐसा नही हो सकता। इस वित्त-मोह वाली कीचड़ से पार उतरने का सेतु ही नकुलोपाख्यान का उपदेश है। महाभारत की अनेकानेक उत्तम गल्पो का रसास्वादन तो उन का पृथक् सग्रह करने से ही प्राप्त हो सकता है। शातिपर्व के १३७ वे अध्याय में अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति और दीर्घ-सूत्री इन तीन मछलियो की कहानी और अध्याय १३८ मे वर्णित विडाल-मूषिक-सवाद की कहानियाँ उस श्रेणी की है जिस मे भारतवर्ष के विशाल कहानी-साहित्य का विकास हुआ है। पाली जातक, पचतत्रादि कथा-ग्रथो के प्रारभिक रूप यही देखने को मिलते हैं। शातिपर्व अध्याय १३९ में पूजनी चिडिया और ब्रह्मदत्त राजा की कहानी राजनीति-शास्त्र के स्थायी दृष्टातो मे से हैं। शातिपर्व अध्याय १७७ मे वर्णित मंकि मुनि और उन के दो बैलो की कथा जितनी छोटी है उतनी ही अधिक मर्मस्पर्शी है। विपरीत भाग्य को बहोरने के लिए अपना सर्वस्व बेच कर मकि ऋषि ने दो बैल मोल लिए, उन को ले कर

जब वे खेती करने चले तब सड़क पर बैठे हुए ऊँट को देख कर बैल बिदक कर भागे। ऊँट भी उन से भड़क कर रस्से मे बँधे हुए उन दोनो को अपनी गर्दन मे टॉग कर उछालता हुआ भागा, तब दुखित और कातर हो कर मंकि ने पुकारा—

मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।

इस उक्ति की करुणा केवल अनुभवगम्य है। यह कहानी एक असाधारण साहित्यिक की असाधारण कृति है। स्वल्पाक्षरों मे ही दैव और पौरुष के बलाबल का मर्मवेधी चित्र खीच दिया गया है। मंकि रो कर पुकार उठते है—

शुद्धंहि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम्। शांति० १७७।१२

अर्थात् यह दैव का खेल है, हठवश किया हुआ पौरुष कुछ काम नही देता।

(३) **दर्शन और अध्यात्म के निरूपण की संवादात्मक शैली**—इस का प्रसिद्ध उदाहरण भगवद्गीता (भीष्मपर्व) है। अश्वमेधपर्व का गुरुशिष्य-संवाद या अनुगीता-पर्व (अश्वमेध० अ० १६ से ५१ तक) भी इस का उत्तम उदाहरण है। भगवद्गीता का सग्राम-भूमि मे उपदेश हुआ। अनुगीता इंद्रप्रस्थ में विहार करते हुए कृष्णार्जुन के सवाद का संग्रह है। पहली का निश्चित लक्ष्य है, वह सुसंग्रथित है। दूसरी का उद्देश्य काल-यापन है, इसी लिए उस की शैली शिथिल है। अर्जुन ने स्वयं कहा कि पहले आप ने मुझ से जो सब कहा था वे सब विषय चित्तभ्रंश होने के कारण मुझे भूल गए, उन्हे फिर सुनाइए। पर फिर वह बात कहाँ! कृष्ण ने अत्यंत शोक प्रकट करते हुए कहा—तुम ने अज्ञान से जो मेरे कहे हुए वचनो को ग्रहण नही किया, वह मुझे बहुत अप्रिय लगा है, क्योकि आज मेरी वह स्मृति फिर प्रकट न हो सकेगी। आज तो पुरातन इतिहास मे तुम को सुनाता हूँ। वह इतिहास ही अनुगीता है। परंतु अध्यात्म-ज्ञान की दृष्टि से यह अनुगीता भी अत्यत महत्वपूर्ण है। इस मे ब्राह्मण अर्थात् मन और ब्राह्मणी अर्थात् बुद्धि के सवाद-रूप मे वाक् और मन का संवाद, पंच-प्राणो का संवाद, दश-प्राणो या इद्रियों का सवाद, सप्त-प्राणो का संवाद आदि अत्यंत रोचक रीति से वैदिक प्राणविद्या का उपबृंहण और अध्यात्म-शास्त्र के अन्य अनेक तत्वो का विवेचन है। इन वर्णनो मे बहुत ही सरस साहित्यिक पुट पाया जाता है।

दार्शनिक विवेचन के लिए विशेष रूप से लिखा हुआ एक प्रकरण सनत्सुजातीय है जो सनत्सुजात ऋषि और धृतराष्ट्र के संवाद-रूप मे है (उद्योग०, अ० ४२ से ४६ तक)

इस प्रकरण की महिमा इसी से जानी जा सकती है कि इस पर भगवद्गीता की तरह ही शंकराचार्य ने भाष्य लिखा है, और महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने भी इस पर स्वतंत्र ग्रंथ की तरह बहुत विस्तृत टीका लिखी है। इस में संदेह नहीं कि सनत्सुजातीय के १९२ श्लोक महाभारतकार ने अत्युच्च अध्यात्म-भूमिका में पहुँच कर लिखे होंगे। उन को समझने के लिए जिन की तैयारी है, उन्हें उन में अद्भुत रस की प्रतीति होगी। इस शैली के अंतर्गत तत्त्ववेत्ताओं के विवाद द्वारा तत्वनिरूपण की शैली है। यह प्रथा प्राचीन भारतवर्ष में बहुत प्रचलित थी कि दो या कई ज्ञानी एक दूसरे के साथ ब्रह्मचर्चा करते हुए अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं। जनक के बहुदक्षिण यज्ञ में याज्ञवल्क्य और आठ विद्वानों का—जिन में गार्गी भी सम्मिलित थी—प्रश्नोत्तर इस का प्रसिद्ध उदाहरण है। महाभारत में जनक और ब्रह्मवादिनी सुलभा का जोरदार विवाद इस का बहुत अच्छा उदाहरण है (शांतिपर्व अ० ३२०)। जनक और सुलभा जैसे दो ऊर्जित मस्तिष्क जब टकराते हैं तब जो चमक होनी चाहिए, वही इस प्रसंग में पाई जाती है।

यह भी स्मरण रखने योग्य है कि कुल शांतिपर्व और अनुशासनपर्व की रचना ही भीष्म और युधिष्ठिर के संवाद का फल है। ज्ञात होता है कि महाभारतकार को संवादपरक शैली सब से अधिक प्रिय थी।

(४) **प्रश्नोत्तर की शैली**—यह भी संवादात्मक शैली का ही एक भेद है पर इस के महत्व के कारण इस की सत्ता स्वतंत्र मानी जा सकती है। संवाद में व्याख्यान की भांति कथनोपकथन रहते हैं। पर प्रश्न और उत्तर की रीति में संक्षेप से ही प्रश्नोत्तर का क्रम चलता है। महाभारत में इस के सर्वोत्तम उदाहरण दो हैं—एक युधिष्ठिर और अजगर का संवाद (वनपर्व, अ० १८०–१८१), और दूसरा युधिष्ठिर और यक्ष के प्रश्नोत्तर (वनपर्व, अ० ३१३)।

(५) **केवल प्रश्नात्मक शैली**—पहली शैली और इस में यह भेद है कि उस में प्रश्न उत्तर-सापेक्ष रहता है, और इसमें प्रश्न उत्तर की अनपेक्षा कर के अपने शुद्ध रूप में रहता है। महाभारत के अतिरिक्त अन्यत्र बहुत ही कम इस के उदाहरण मिलते हैं। महाभारत में सभापर्व में नारद ने युधिष्ठिर से राजनीति का निचोड़ ले कर उन के राज्य की सर्वांगीण कुशल जानने के लिए जो प्रश्न किए हैं वे इस के उदाहरण हैं। उस अध्याय

का नाम 'नारदप्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासन' है (सभापर्व, अ० ५)। इस शैली का साहित्यिक विकास अत्यन्त आवश्यक है।

(६) **नीतिग्रंथ कथन**—संस्कृत साहित्य में चाणक्य-नीति, कामंदकीय-नीति, शुक्रनीति, आदि ग्रंथों द्वारा नीति कहने की एक विशेष परिपाटी रही है। इन सब का प्रारंभ महाभारतांतर्गत उद्योगपर्व के विदुरनीति ग्रंथ (अ० ३३–४०) से माना जा सकता है। वस्तुतः भर्तृहरि आदि के नीतिशतक भी इसी परिपाटी के अंतर्गत हैं। शतक-रचना का भाव भी इसी प्रकार से उत्पन्न हुआ। शतकों में भी श्लोकों का संग्रह ही रहता था, हाँ नीति-विषयक श्लोकों के स्थान पर शृंगारात्मक श्लोकों के शतक भी प्रचलित हुए।

(७) **स्तोत्र या स्तुति द्वारा अभिधेय अर्थ को प्रगट करना**—कालांतर के संस्कृत और भाषा साहित्य में भी स्तोत्रों का यथेष्ट प्रचार पाया जाता है। भागवत तथा रामचरितमानस दोनों में ही स्तुतियों के पारायण की शैली पाई जाती है, पर इस का सब से अधिक साहित्यिक और परिष्कृत रूप महाभारत में ही देखा जाता है। कुछ उदाहरण ये है—नारदकृत महापुरुषस्तव (शांतिपर्व, अ० ३३८), युधिष्ठिरकृत कृष्ण-नामस्तुति (शांति०, अ० ४३), भीष्म-प्रोक्त भगवन्माहात्म्य (अनुशासन० अ० १५८), व्यासोक्त शतरुद्रिय (अनुशासन० अ० १६१); भगवन्नामनिरुक्ति (शांति० अ० ३४१); पर साहित्यिक दृष्टि से इन सब से विशिष्ट स्तोत्र भीष्मकृत कृष्णस्तवराज है (शांतिपर्व, अ० ४७)। यह भीष्म जी का अंत समय का भगवत्स्मरण है, और इस में निस्सन्देह व्यास जी की लेखनी की पूरी चमक देख पड़ती है। इस के कुछ असामान्य श्लोक ये हैं—

महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम्।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः॥
यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे।
यं विप्रसंघाः गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः॥
यः सुपर्णो यजुर्नाम छन्दो गात्रस्त्रिवृच्छिराः।
रथन्तरं बृहत्साम तस्मै स्तोत्रात्मने नमः॥
यः सहस्रसमे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः।
हिरण्यपक्षः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः॥

इसी शैली पर उस मे लगभग पचास श्लोक हैं। ऊपर दिया हुआ सुवर्णपक्ष हंसात्मा वाला श्लोक तो बहुत ही चमत्कार से भरा है। यह प्रसग शुद्ध वैदिक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण और तांड्य महाब्राह्मण के अंत मे विराट् सृष्टि-यज्ञ का वर्णन है जिसे विश्वसृज-यज्ञ भी कहा है। यह यज्ञ सहस्रसंवत्सर अर्थात् अनंत अपरिमित काल तक होता रहता है। उसी का अत्यंत हृदयग्राही सार वेदव्यास जी के श्लोक मे दिया हुआ है।

महाभारत के शिवसहस्रनाम (शांति० अ० २८४) तथा सूर्यसहस्रनाम आदि प्रसंगो को भी हम स्तोत्र-शैली के ही अंतर्गत समझते है। संस्कृत साहित्य के विकास के साथ सहस्रनामों का भी खूब प्रचार हुआ। इन सहस्रनामों को ध्यान से देखने पर मालूम होता है कि इन मे आधे नाम प्राय. वैदिक-कालीन मिलते है। दूसरे इन मे परस्पर के नामों मे समानता भी बहुत है। शिव, विष्णु, गोपाल, सूर्य इन के सहस्रनामो के अनेक नाम एक से ही है। इस से यह प्रगट होता है कि ये सहस्रनामस्तोत्र वैदिक समय के 'एकं सद् विप्रा' बहुधा वदंति (ऋग्वेद अस्य वामीयसूक्त १।१६४) के ही विकास मात्र हैं। अर्थात् 'बहुधावदंति' के व्याख्यान-स्वरूप है।

ऊपर हम ने संक्षेप से ही महाभारत की प्रमुख साहित्यिक शैलियो का निर्देश किया है। जैसा हम कह चुके है महाभारत एक विशाल महासमुद्र है। उस में अनंत विचित्रताएँ है। उस का पारायण करते हुए पद-पद पर विलक्षण साहित्यिक प्रतिभा का परिचय मिलता है। उस सब के विस्तृत ज्ञान के लिए महाभारत से साक्षात् परिचय बढाना चाहिए। पर ऊपर गिनाई हुई साहित्य की परिपाटियाँ ऐसी है जिन को ले कर अब भी किसी साहित्य में बहुत कुछ वैचित्र्य-युक्त तथा रोचक और सरस साहित्य-रचना की जा सकती है। आशा है विद्वज्जन इस पर और अधिक विचार करेंगे।

डिंगळ के गीत और उन का पिंगल

[लेखक—श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी, एम्० ए०]

डिंगळ का अधिकांश साहित्य गीतों में लिखा हुआ है। यह गीत-साहित्य मुख्यतया वीर-रसात्मक है। सहस्रों वीरों, महापुरुषों, और ऐतिहासिक व्यक्तियों के पराक्रमों का वर्णन इस साहित्य मे सुरक्षित है। राजस्थान और राजपूत-जाति के इतिहास के सर्वांगपूर्ण ज्ञान के लिए इन गीतो का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। इन में बहुमूल्य सामग्री भरी पड़ी है, जिस का प्रकाशन नितांत वांछनीय है। पर इस निबंध में हम उस सामग्री के विषय में कुछ न कह कर पिंगल की दृष्टि से गीतो के अनेक भेदो का विवेचन करेंगे।

डिंगळ-साहित्य मे प्रयुक्त इन गीतो के भेदो की संख्या बहुत बडी है। प्रसिद्ध लक्षण-ग्रंथ 'रघुनाथरूपक' मे इन की संख्या ७२ मानी है।[१]

प्रत्येक गीत को आप एक कविता समझ लीजिए। एक कविता मे जैसे कई पद्य होते है वैसे ही एक गीत मे कई दोहले[२] होते हैं। प्रत्येक दोहला एक से अधिक चरणो से बना हुआ होता है। ये चरण[३] ही गीतो की इकाई है। गीत के सब दोहले प्राय एक जैसे ही होते हैं। कुछ गीतो मे जैसे साणोर, पालवणी आदि मे गीत के प्रथम दोहले के चरण के आदि मे दो, तीन या चार मात्राएँ अथवा वर्ण अधिक होते है। ये अधिक मात्राएँ अथवा वर्ण मानो गीत के आरंभ को सूचित करते है।

छंदों की भाँति दोहले भी मात्रिक अथवा वर्णिक होते हैं और उन मे भी सम, अर्धसम और विषम आदि भेद होते है।

अधिकांश गीतो के दोहले सतुकांत होते है, पर अतुकांत दोहलो वाले गीत भी

---

[१] चिहुँ जाल दोहा, चार छपया, जाल बहतर गीत की।

[२] अन्य नाम—दुवालो, द्वालो, दूहो।

[३] अन्य नाम—तुक, कळी, पद, मोहरो, जत।

मिलते हैं हिंदी के लिए मात्रिक छंदों में अतुकांत कविता नई चीज है पर राजस्थानी में वह प्राचीन काल से चली आई है।

'रघुनाथरूपक' आदि लक्षण-ग्रंथों में गीतों का विवेचन किसी वैज्ञानिक क्रम से नहीं है। इस निबंध में हम सब गीतों को पहले मात्रिक और वर्णिक इन दो विभागों में बाँटेंगे और फिर हरेक के सम, अर्धसम और विषम इस प्रकार तीन-तीन उपविभाग करेंगे। सब से छोटे चरणों वाले गीतों को सब से पहले लेंगे और सब से बड़े चरणों वालों को बाद में।

इस क्रम से विवेचन करने पर मालूम होगा कि मात्रिक गीतों की संख्या बहुत अधिक है, जो कि स्वाभाविक है। वर्णिक गीतों की कुल संख्या केवल ७ है, और उन में भी मात्राओं का झंझट लगा हुआ है। एक गीत ऐसा भी है जो मात्रिक और वर्णिक दोनों है। मात्रिक गीतों में सब से अधिक संख्या विषम गीतों की है, उस से कम अर्धसम की और सब से कम सम की। विषम गीतों की अधिकता राजस्थानी की एक विशेषता कही जा सकती है। हिंदी के अधिकांश छंद और पद सम या अर्धसम ही पाए जाते हैं।

इस निबंध में एकाध को छोड़ कर सभी उदाहरण कवि मंछ या मनसाराम कृत 'रघुनाथरूपक' से लिए गए हैं। पाद-टिप्पणियों में जो पद्यबद्ध लक्षण दिए गए हैं, वे भी 'रघुनाथरूपक' के ही हैं। जो उदाहरण या लक्षण 'रघुनाथरूपक' के नहीं हैं उन के मूल-ग्रंथों का या रचयिताओं का उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है।

प्रत्येक छंद के लिए एक उदाहरण दिया गया है। ऐसा करने से छंदों के कुछ गौण भेदों के उदाहरण लेख में नहीं आ सके हैं, परंतु स्थानाभाव से दूसरी सुविधा न थी।

(१) मात्रिक

(क) मात्रिक सम

(१) इकखरो[1]—

१. प्रत्येक दोहले के प्रत्येक चरण में १४ मात्राएँ होती हैं।

---

[1] कळा चतुर्दस सार चरण इक कीजियै।
चरण रचे इम चार दवाले दीजियै॥
उहि ज अंक पद अंत रगण गण आणजै।
जिको गीत कह मंछ इकखरो जाणजै॥

२. प्रत्येक चरण के अंत में एक रगण (ऽ।ऽ) आता है।

३. चारों चरणो की तुक मिलती है।

४. इस की गति हिंदी के मधुमालती छद से अथवा हरिगीतिका की प्रथम १४ मात्राओ से मिलती है।[1]

उदाहरण—

सुण सेस रे, सुण सेस रे।
दिल केकयी-उपदेस रे।।
वनवास जावण वेस रे।
इम आखियो अवधेस रे।।

(२) भाख[2]—

१. प्रत्येक दोहले के प्रत्येक चरण मे १४ मात्राएँ होती है, जिन का गठन इस प्रकार होता है—एक चौकल + दो पँचकल।

२. प्रत्येक चरण के अंत मे एक गुरु और एक लघु (ऽ।) होता है।

३ तुक चारो चरणों की मिलती है।

४. इस की गति हिंदी के सुलक्षण छंद से मिलती है।[3]

उदाहरण—

आयो भरथ अवध अभंग।
मंडे पावड़ी उतमंग।।

---

[1] दो चरणों की गति हरिगीतिका के एक चरण के समान होती है।

[2] चौकळियो एक उभै पँचकळिया।
तव कळ चवदह तिकण तणै।।
ह्वै गुर लघु अंत मिलै चौ मोहरा।
भाख गीत इम मंछ भणै।।

[3] इकखरे की अंतिम दो मात्राएँ अंत से उठा कर आदि में रख दी जायँ तो भाख छंद बन जायगा। कामरूप या बेताल छंद के चरण के आरंभ में दो मात्राएँ जोड़ दी जायँ या हरिगीतिका के चरण की अंतिम दो मात्राएँ उठा कर आदि में रख दी जायँ तो गति भाख के दो चरणों के समान हो जायगी। भाख के एक चरण की पहली चार मात्राएँ निकाल दी जायँ तो पीयूषवर्ष का पूर्वार्ध बन जायगा।

रइयत कीध अत उछरंग।
इमि आवास जाय उमंग॥

(३) अरध-भाख[1]—

इस का दोहला भाख के समान ही होता है। अंतर केवल इतना ही होता है कि भाख मे तुक चारो चरणों की मिलती है, और अरध-भाख मे दो-दो चरणों की, अर्थात् पहले की दूसरे के साथ और तीसरे की चौथे के साथ मिलती है।

उदाहरण—

चित्रह कूट सूँ भुज चंड।
कस भूथाण गह कोवंड॥
पिरभू किता वासर पाय।
अत्री तणे आस्रम आय॥

(४) सुवग (सुभग)[2]—

१ प्रत्येक दोहले के प्रत्येक चरण की मात्राओ की संख्या १४ होती है।

२ अत में एक चौकल होता है।

३. चौथे चरण में वीप्सा लाई जाती है, अर्थात् उस के ७-७ मात्रा के दो भाग कर के पहली ७ मात्राओ मे जो शब्द आते हैं उन्ही को दुबारा लाया जाता है।

---

[1]चौ मोहरा सो भाख चव।
मोहरा दोय मिलंत॥
गुणै मंछ जिण नै गुणी।
भाख अरध भाखंत॥

[2](क)कळ चवदै इक तुक में दीजै।
चौपद द्वालौ एक चवीजै॥
चरणै चौकळ अंत उचारै।
चौथै चरण वीपसा धारै॥
सम मोहरा च्यारूँ सरसावै।
गीत मंछ सूवग इम गावै॥

(ख) इस का नाम 'रघुनाथरूपक' की कुछ प्रतियों में 'उवंग' भी मिलता है।

४. इस गीत की गति हिंदी के मनोरम छंद से या गीतिका के पूर्वार्ध से मिलती है।

उदाहरण—

लंगरी रिम सेन लाडो।
गुमर धारक लाज गाडो॥
इळ झडे कुंभेण आडो।
जूझ जाडो जूझ जाडो॥

(५) सावक-अडळ नंबर २—

१. प्रत्येक दोहले के प्रत्येक चरण की मात्राओ की सख्या १५ होती है।

२. प्रत्येक चरण के अत मे तीन मात्रा का एक शब्द होता है, जो चारो चरणो के अत में आता है, (अर्थात् चारों चरणो के अत मे तीन मात्रा का एक ही शब्द आता है)।

३. तुक चारो चरणो की मिलती है।

४ इस गीत की गति हिंदी के चौबोला छद से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

उदाहरण—

निरखे अवासों भर निजर।
नह देखे दसरथ भ्रप निजर॥
निज देखे नह बंधव निजर।
नर दीठा विलखर सह निजर॥

(६) सावक-अडळ[1]—

१ प्रत्येक दोहले की प्रत्येक चरण की मात्राओ की संख्या १६ होती है।

२ प्रत्येक चरण के अत में चार मात्राओ का एक शब्द होता है और चारो चरणो के अंत में वही शब्द रहता है।

---

[1] लै चिहुँ पद साणोर लख बिखम तिकण मैं वीर।
इक-सबदौ चौकळ अगर सावक-अडळ सधीर॥

३ चारो चरणो की तुक मिलती है

४. इस की गति हिंदी के चौपाई छद से और राजस्थानी पिंगल के 'चौसर गाहा' नामक छद से मिलती है।

५ सावक-अडळ नंबर १ ओर नबर २ मे केवल इतना ही अतर है कि नंबर १ में चरणो के अंतवाला शब्द ४ मात्रा का होता है, और नवर २ में ३ मात्रा का।

उदाहरण—

दासरथी-लिखमण सुत-दसरथ।
दोऊँ सुणे सिधारे दसरथ॥
दीह उचाट करे दिल दसरथ।
दीधा प्राण पिछाड़ी दसरथ॥

(७) उमंग[1]—

१ प्रत्येक दोहले के प्रत्येक चरण मे १६ मात्राएँ होती हैं।

२ चरण के आरभ मे त्रिकल नही आता और अत मे एक गुरु (ऽ) आता है।

३ तुक चारों चरणों की मिलती है।

४. इस की गति हिंदी के पदपादा कुलक छद से मिलती है, जो प्राय. तोटक छद के समान होती है।

उदाहरण—

कटिया श्रुत-नाक लियाँ कर मे।
रचना कहै सूपणखा घर में॥
नारी इक वीर उभै नर में।
निसड़ी न लखी सुपनंतर में॥

---

[1] कळ सोड़स पद पद में कीजै।
मोहरा सम च्यारूँ में ळीज॥
अंत चरण में दीरघ आण।
सो उमंग हुवै गीत सुजाण॥

(८) कवि-इलोळ अथवा घड़-उथळ[1]—

१. इस की मात्राएँ तथा गति आदि सब बातें उपरोक्त उमंग गीत के समान ही होती हैं अंतर इतना ही है कि प्रत्येक दोहले के प्रत्येक चरण के अंत में सगण (॥ऽ) आना आवश्यक है।

२. इस के प्रत्येक दोहले के तीसरे चरण में दूसरे चरण के शब्द ही साधारण हेर-फेर के साथ आते हैं, और इसी प्रकार चौथे चरण के अंत में भी पहले चरण के अंत के कुछ शब्दों की आवृत्ति होती है।

३. तुक चारों चरणों की मिलती है।

उदाहरण—

मन्दोदर भोळै भूल मती।
जळ आसी बारध लाँघ जती॥
जळ आ' यर बारध लाँघ जती।
मुँह मंडे भोळै भूल मती॥

(९) सावझड़ो छोटो[2] अथवा पालवणी नंबर २—

१. प्रत्येक दोहले के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। केवल प्रथम दोहले के प्रथम चरण में १८ मात्राएँ होती हैं अर्थात् आरंभ में दो मात्राएँ अधिक होती हैं।

२. गति हिंदी के चौपाई छंद के समान होती है।

३. तुक चारों चरणों की मिलाई जाती है।

उदाहरण—

रजनीपत चंद छपाकर राजा।
विधू भ-पत म्रग-अंक विराजा॥

---

[1] कळ सोड़स सगणांत करीजै।
धुर तुक उभै प्रबंध धरीजै॥
वै मिल तुकाँ उळथ्थो आवै।
कवि इलोक सो गीत कहावै॥

[2] कळा अंक (९) दूणी कर'र आद विखम झड़ आण।
सोळह-सोळह तुक सकळ, मौहरा च्यार मिलाण॥ —डिंगळ-कोष

सेतकरण दुअपत सस साजा।
सोम चद्रमा नखत विराजा॥

(१०) अरध-सावझड़ो छोटो[1] अथवा दुमेळ अथवा अरध-पालवणी—

१. अरध-सावझडे छोटे मे और उपर्युक्त सावझडे छोटे मे केवल इतना ही अतर है कि सावझडे छोटे मे चारो चरणो की तुक मिलती है ओर अरध साव-झड़े छोटे मे दो- दो चरणो की अर्थात् पहले की दूसरे के साथ ओर तीसरे की चौथे के साथ।

२. इस गीत का नाम पालवणी दुमेळ भी है।

उदाहरण—

भण जोनक्रपीट छागरथ ज्वाळा।
मंगळ आग अगन झळमाळा॥
जातवेध आतस झळजीहा।
अगनी सुक्र पवन घण ईहा॥

(११) पालवणी त्रमेळ अथवा झड़लुपत[2]—

पालवणी (सावझडो छोटो) और इस मे इतना ही अतर है कि पालवणी मे चारो चरणों की तुक मिलती है और इस मे केवल तीन की अर्थात् पहले, दूसरे और चौथे चरणो की।

उदाहरण—

डेरा रोपिया उतर दध डारण।
मन निहचै लंकेसुर मारण॥

---

[1] अरध-सावझड़ में अवस मोहरा द्वै सम मेळ।
पहली जो मात्रा पढी बै ही अठे उजेळ॥—डिंगळकोष

[2] १—प्रथम दुतिय चवथै पदै, मोहरा वहस मिलंत।
रह अमेळ पद तीसरो, सो झड़लुपत झिलंत॥
२—आद अठारह तुक अखौ, सोळह सब संपेख।
पहल-दुवै-चौथे पदे दुरस मोहरा देख॥
तुकां मिळै नह तीसरी मोहरां सूँ इण मांय।
रूपग जो इण रीत सूँ सो झड़लुपत कहाय॥—डिंगळकोष

वळे विचार करै लिखमीवर।

धरे जनम मरजादा धारण॥

(१२) **सेलार**[1]—

१. प्रत्येक दोहले के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती है, केवल प्रथम दोहले के प्रथम चरण में १८ मात्राएँ होती है।

२. गति हिंदी के चौपाई छद के समान होती है। प्रत्येक दोहले के चौथे चरण मे विधि अलकार होता है। अर्थात् किसी पद का पुन: विधान किया जाता है।

३ तुक पहले चरण की दूसरे के साथ और तीसरे की चौथे के साथ मिलती है।

तपसी रो रूप धरे अततायी।

अडर कुटी गह सीत उठायी॥

सिथळ पुकारी साद सुणीजै।

कीजै, हो हरि, आवण कीजै॥

(१३) **त्रबंकड़ो अथवा घोड़ादमो**[2]—

पालवणी और इस मे इतना ही अंतर है कि पालवणी मे चारो चरणों की तुक मिलती है पर त्रबकडे मे केवल दो ही की अर्थात् दूसरे और चौथे चरणो की (पालवणी दुमेळ मे दूसरे और चौथे की तुक के अतिरिक्त पहले और तीसरे चरणो की तुक भी मिलती है)।

उदाहरण—

अंगद मेलियो सद दूत अपंपर।

बळ अकलाँ मजबूत बडाळौ॥

---

[1]द्वाल्लो करै दुमेळ रो, चौथे चरण उचार।
अलंकार विध विध सु इण, समझ गीत सेलार॥

[2]चरण विखम साणोर लघू चा, दुवै चतुर पद मोहरा दाखौ।
कहै मंछ कर गीत त्रबँकड़ो, भला जिकण में प्रभुगुण भाखौ॥—रघुनाथरूपक
मात्त अठारा प्रथम तुक आगे सोळह आण।
सोळह सोळह तुक सकळ गीत त्रबँकड़ै जाण॥— डिंगळकोष

बप सिणगार धूत बळ बठौ।
रचे सभा अद्भुत रढाळौ॥

(१४) पालवाणी[1]—

१ प्रत्येक दोहले के प्रत्येक चरण मे १६ मात्राएँ (४ चौकल) होती है। केवल प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे १९ मात्राएँ होती है, अर्थात् आरंभ मे तीन मात्राएँ अधिक होती है।

२ अंत में एक चौकल आता है।

३ तुक चारो चरणो की मिलती है।

४. गति हिंदी के चौपाई छद से मिलती-जुलती है।

उदाहरण—

पूछियौ नह चाप कंथ तो पाणी।
धाम-जनक मिलिया रजधाणी॥
हलौ कठै पोरस कुळ हाणी।
अब तैं सिया दगो कर आणो॥

(१५) गोख अथवा जंघखोड़ो[2]—

१. प्रत्येक दोहले के प्रत्येक चरण मे २० मात्राएँ होती है। ये मात्राएँ ४ पचकल के हिसाब से होती है। केवल प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे २३ मात्राएँ होती है अर्थात् आरभ मे ३ मात्राएँ अधिक होती हैं।

२ प्रत्येक दोहले के अतिम चरण मे दो वीप्साएँ होती है अर्थात् पाँच मात्रा का एक ही शब्द चार बार आता है।

---

[1]कळी हेक सोड़स कळा, चौकळिया गण च्यार।
धुर पद कळ उगणीस धर, अवर चरण इकसार॥१॥
चार पदां ह्वालो चवौ, मोहरा चार मिलाण।
लघु गुरु नेम न लावियै, पाळवणी परवॉण॥२॥

[2]विखम चरण साणोर वडै रा, समहि ज चारूँ साजै।
अंत गुरू लघु नेम न आवै, मोहरा चार मिलाजै॥
चौथे पद कळ पंच बार चिहुँ, दोय वीपसा दाखो।
कहै मंछ, इम गोख गीत कर भूप-अवध-गुण भाखो॥

३. तुक चारो चरणों की मिलती है।

४. गति हिंदी के द्वितीय झूलने की अथवा कडखे की पहली २० मात्राओ की गति से मिलती-जुलती होती है।

उदाहरण—

अतुळ सरासण भंग लख बधे अत उमँग उर।
गहर दिन महूरत सतानँद पूछ गुर॥
आप निज जनक नृप लिखे कागद अतुर।
अवधपुर अवधपुर अवधपुर अवधपुर॥

(१६) सावझड़ो[1]—

इस मे और उपरोक्त गोखछंद मे इतना ही अंतर है कि गोख की भाँति इस के दोहलो के चौथे चरण मे वीप्सा नही आती।

उदाहरण—

सुणै वैण अंगद कळह सुभड़ सर साविया।
थरक जळ थाळ जूँ त्रकुट जण थाविया॥
चाल बाँधे धुरा दनुज ललचाविया।
अंत वप अकंपन समर सझ आविया॥

(१७) अरध-सावझड़ो[2]—

इस में और उपरोक्त सावझड़े में इतना ही अंतर है कि सावझडे मे चारो चरणो की तुक मिलती है, और इस में दो-दो चरणों की, अर्थात् पहले की दूसरे के साथ और तीसरे की चौथे के साथ।

---

[1] मोहरा चरण एक सा जिण मैं, रीत जिसी कळ राखै।
गिण सावझड़ै गोख गीत मैं, भेद इतो हि ज भाखै॥
चौथे चरण गोख रे चंगा, उभै वीपसा आणै।
सकळ सरीसा पद सावझड़ै, विध इम मंछ वखाणै॥—रघुनाथरूपक।
धुर मात्रा तेवीस धर, बाकी वीस वखाण।
मोहरा सम च्यारूँ मिलै, सावझड़ो सुभियाण॥—डिंगळकोष।

[2] सुध मोहरा चारूँ सावझड़ै, जत चारूँ सम जोपै।
मोहरा दोय-दोय मेळ मिलावै, अरध सावझड़ै ओपै॥

उदाहरण

दनुज आवियौ वळे खटक हिय दोयणां।
लाल मुखद स भटके अगन लोयणां॥
राम सामौ धसै एम रिण रोप नै।
लहर-निध छिलै जाणै हदां लोप नै॥

(१८) धमाल[1]—

१. प्रत्येक दोहले के प्रत्येक चरण मे १४+९=२३ मात्राएँ होती है।

२. बीच मे १४वी मात्रा पर यति पडती है। पूर्वार्ध (१४ मात्रा) के अंत में गुरु-लघु (ऽ।) और उत्तरार्ध (९ मात्रा) के अत मे लघु-गुरु (।ऽ) आता है।

३. तुक चारो चरणो की मिलती है।

४. प्रत्येक चरण का पूवार्ध भाख गीत के एक चरण के बराबर होता है।

५ गति गीतिका छंद के चरण की पिछली २३ मात्राओ की गति के समान। उत्तरार्ध की गति पीयूषवर्ष के उत्तरार्ध के समान।[2]

रावण-ससा दिग्गज रूप, दंडक वन रमै।
निरलज सुपणखा तिण नाम, गरक अनंग मै॥
सीतानाथ आगळ सार, आयी जिण समै।
भाल सु कांति अदभुत भाम, चित रत संभ्रमै॥

(ख) मात्रिक अर्धसम

(१९) प्रौढ[3] नंबर २—

१. विषम चरणो मे मात्राओ की संख्या १४ होती है। ये मात्राएँ १ त्रिकळ + १ चौकळ + १ त्रिकळ + १ चौकळ के हिसाब से रक्खी जाती है।

---

[1] भाख तणी तुक प्रथम भण, नव कळ तिण पर नाळ।
लघु गुरु मोहरो लेखवै, धारो गीत धमाळ॥

[2] आरंभ की चार मात्रा निकाल दें तो इस गीत का एक चरण पीयूषवर्ष के एक चरण के बराबर हो जाता है।

[3] दूजो प्रोढ चवद कळ दीजै, त्रिय-चौ-त्रिय-चौ विषम तणै।
बीजी रचना सरब बराबर भेद इतो हिज मंछ भणै॥

२. सम चरणो मे मात्राओ की संख्या १० होती है। ये मात्राएँ १ त्रिकळ + १ चौकळ + १ त्रिकळ के हिसाव से रक्खी जाती है।

३. सम चरणों के अंत मे गुरु-लघु (ऽ।) आता है।

४. केवल सम चरणो की तुक मिलती है।

५. गति हिंदी के रूपमाला छंद से मिलती है।

उदाहरण—

प्रीत कर पुरहूत ऊपर
उठे रघुवर आप।
सहस भग किय असम सहसौ
सकत मेटे श्राप॥

(२०) कँवार[1]—

उदाहरण—

१. विषम चरण मे मात्राएँ १६ (पंचकळ + चौकळ + त्रिकळ + चौकळ)।

२. सम चरणो मे मात्राएँ ९।

३. सम चरणों के अंत में दो गुरु (ऽऽ) होते है।

४. केवल सम चरणों की तुक मिलती है।

५. विषम चरणो की गति हरिगीतिका के एक चरण के पूर्वार्ध के समान होती है।[2]

उदाहरण—

दिस लंक अंगद आद द्रावस
तहकिया तेखी॥

---

[1]चरण विखम पद प्रोढ चव, सम पद नव कळ सार।
दुय गुर मोहरा अंत दै, करौ गीत कँवार॥

[2](१) कँवार के दो चरणों के अंत में एक मात्रा जोड़ दी जाय तो वेताल का एक चरण बन जायगा और तीन मात्राएँ (।ऽ या ।।।) जोड़ दी जायँ तो हरिगीतिका का एक चरण बन जायगा।

२ सम चरणों में मात्राएँ १२

३ सम चरणो के अंत मे दो गुरु (ऽऽ) होते हैं। नगण का प्रयोग होना चाहिए।

४ तुक केवल सम चरणों की मिलती है।

५. गति सार छंद के समान होती है।

६ इस के दूसरे नाम पुणि साणोर, कुणियो छोटो तथा अरटी है।

उदाहरण—

पड़ियौ मुरछाय सेस इळ ऊपर
सकत राणसुत सोझी।
थरके भाल वनचरौं थाणौं
मुख कुमलाणा मॉझी।।

(२५) अरटियो[1]—

१. विषम चरणों मे मात्राएँ १६ (४ चौकळ)। प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ १९ (१ त्रिकळ + ४ चौकल)।

२ सम चरणो मे मात्राएँ १२ (३ चौकल)।

३ सम चरणो के अंत मे दो गुरु (ऽऽ) होते हैं।

४ केवल सम चरणो की तुक मिलती है।

५. गति सार छंद के समान होती है।

उदाहरण—

एकण दोहड़े मुनिराज अजोध्या
कोसक आवण कीधौ।

अंतर इतौ नगाण अरटियै लेस न कठे लखावै।
जपै मंछ इण गीत जांगड़ै अवस नगण गण आवै।।
[1]चौकळिया कळ च्यार विखम पद आणजै।
त्रि चकल समपद, अंत जुगम गुरु जाणजै।।
धुर पद कळ उगणीस, चतुरदस सर धरै।
कवी अरटियो गीत मंछ इण इम करै।।

राजा हूत मिले रिख-राजा
दो मझ आसण दीधौ॥

(२६) खुड़द या खुड़द[1] साणोर—

१ विषम चरणो मे मात्राएँ १६। प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ१८।

२. सम चरणों मे मात्राएँ १३।

३. सम चरणो के अंत में दो लघु (।।) आते है।

४. केवल सम चरणों की तुक मिलती है।

५. गति विषम चरणों की चौपाई के समान और सम चरणों की सोरठे के सम चरणों के समान होती है।

उदाहरण—

व्याकुळ लख सेस भभीखण बोलै
कमळापत सूं जोड़ कर।
धनुख धरण धीरज उर धरजै
हिव कीजै उपचार॥

(२७) सिंघचळो[2]—

१. विषम चरणों मे मात्राएँ १६। प्रथम दोहले के प्रथम चरण में मात्राएँ १८।

२ सम चरणो में मात्राएँ १३।

३. सम चरणो के अंत में एक रगण (ऽ।ऽ) आता है।

४. तुक सम चरणो की मिलती है।

५. गति विषम चरणों की चौपाई के समान और सम चरणों की सोरठे के सम चरणों के समान होती है।

---

[1]जत सोळह मत विखम जाँगड़ै, समपद कळा तेरहैं सोर।
जुग लघु अंत अठारह धूर जड़, सो कवि मंछ खुड़द सैणोर॥

[2]चरण विखम साणोर लघू त्या असम चरण मैं आवै।
तेरह कळा तणी हुवै सम तुक, मोहरा रगण मिलावै॥

इक अरण सो बिच त्रिखा आतुर
दरी द्रग देखी ॥

(२१) प्रौढ़[1] नंबर १ अथवा सोरठियो—

१. विषम चरणो में १६ मात्राएँ (पंचकळ + चौकळ + त्रिकळ + चौकळ) होती हैं।

२ सम चरणो मे १० मात्राएँ (त्रिकळ + चौकळ + त्रिकळ) होती हैं।

३ सम चरणों के अत में गुरु-लघु (ऽ।) आता है।

४. तुक केवल सम चरणो की मिलती है।

५ गति हिंदी के कामरूप (वेताल) छद के समान होती है।

उदाहरण—

मग के मुकामा करे मिथुला
आविया अवधेस ।
सुण अतुळ साज जलूस सारा
मिले छक मिथलेस ॥

(२२) अरट[2]—

१ विषम चरणो में मात्राएँ १६ (४ चौकळ) प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ १८ (१ दुकळ + ४ चौकळ) होती हैं।

२ सम चरणो मे मात्राएँ ११ (२ चौकळ + १ त्रिकळ) होती हैं।

---

(२) सम चरणों की गति गीतिका या रूपमाला की प्रथम नौ मात्राओं की गति के समान होती है ।

[1] पंच-च्यार-त्रिय-च्यार विखम पद सोळह मत्ता साजै ।
तीन-च्यार-त्रिय दस सम तुक मैं गुरु-लघु मोहरा गाजै ॥
विखम वळे सम, विखम वळे सम, पद चिहुँ द्वालो पुणजै ।
सुध अखरोट, मंछ, सरसावै, गीत प्रोढ सो गुणजै ॥

[2] सोळह कळा विखम पद साजै, चौकळिया गिण च्यार चवै ।
तुक सम चौकळ दोय, अंत में गुरु लघु, मात्रा रुद्र सवै ।
विखम वहस, अरु विखम वहस, इम पद चउ द्वाळै हेक पखै ।
आद चरण की कळा अठारह, अरट गीत कवि मंछ अखै ॥

३. सम चरणों के अंत में गुरु-लघु (ऽ।) होता है।

४ तुक केवल सम चरणो की मिलती है।

५ गति हिंदी के सरसी छंद के समान है।

उदाहरण—

इम राज करै अज-नंद अजोध्या,
नेत वधी नखतैत।
जंगॉ जीत तपोबळ जालम,
ओप वडै अखरैत॥

(२३) सालूर[१]—

१. विषम चरणो में मात्राएँ १६ (४ चौकळ)। प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ १८ (१ दुकळ + ४ चौकळ)।

२. सम चरणों मे मात्राएँ १२।

३. पहले चरण की चौथे के साथ और दूसरे की तीसरे के साथ तुक मिलती है।

४. गति हिंदी के सार छद के समान।

उदाहरण—

जाजुळ दुजराज करण जुध जाडो।
तस कुठार द्रग तायल।
राह वराल ईख अजरायल
आय'र ऊभो आडो॥

(२४) जॉगड़ो[२]—

१. विषम चरणों में मात्राएँ १६, प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ १८।

---

[१]सोड़स कळ विखम, विहस पद बारह, धुर पद कळा अठार धरै।
मेळै तुक प्रथम-चतुर्थी मोहरे ,वळे दुतिय-त्रिय मेळ करै॥
कवि दाखै मंछ तुकी तो चौकळ, विमळ गीत सालूर वणै॥

[२]गीत अरटियो अनै जॉगड़ो दोनूं समवड़ दीसै।
मोहरा विखम सोड़स सम बारह, सारा रूप सरीसै॥

२ सम चरणों म मात्राएँ १२

३ सम चरणो के अंत मे दो गुरु (ऽऽ) होते है। नगण का प्रयोग होना चाहिए।

४. तुक केवल सम चरणो की मिलती है।

५ गति सार छंद के समान होती है।

६ इस के दूसरे नाम पुणि साणोर, कुणियो छोटो तथा अरटी है।

उदाहरण—

पड़ियौ मुरछाय सेल इळ ऊपर
सकत राणसुत साँझी।
थरके भाल वनचरां थाणां
मुख कुमलाणा मॉझी॥

(२५) अरटियो[1]—

१. विषम चरणों में मात्राएँ १६ (४ चौकळ)। प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ १९ (१ त्रिकळ + ४ चौकल)।

२. सम चरणों में मात्राएँ १२ (३ चौकल)।

३ सम चरणो के अत मे दो गुरु (ऽऽ) होते हैं।

४. केवल सम चरणो की तुक मिलती है।

५. गति सार छंद के समान होती है।

उदाहरण—

एकण दीहड़ै मुनिराज अजोध्या
कोसक आवण कीधौ।

अंतर इतौ नगाण अरटियै लेस न कठे लखावै।
जपै मंछ इण गीत जाँगड़ै अवस नगण गण आवै॥

[1]चौकळिया कळ च्यार विख्म पद आणजै।
त्रि चकल समपद, अंत जुगम गुरु जाणजै॥
धुर पद कळ उगणीस, चतुरदस सर धरै।
कवी अरटियो गीत मंछ इण इम करै॥

राजा हूंत मिले रिख-राजा

दो मझ आसण दीधौ ।।

(२६) खुड़द या खुड़द[1] साणोर—

१ विषम चरणो मे मात्राएँ १६ । प्रथम दोहले के प्रथम चरण में मात्राएँ१८।

२ सम चरणों मे मात्राएँ १३।

३ सम चरणो के अंत में दो लघु (।।) आते है।

४. केवल सम चरणों की तुक मिलती है।

५. गति विषम चरणो की चौपाई के समान और सम चरणो की सोरठे के सम चरणों के समान होती है।

उदाहरण—

व्याकुळ लख सेस भभीखण बोलै

कमळापत सूं जोड़ कर ।

धतूख धरण धीरज उर धरजै

हिव कीजै उपचार ।।

(२७) सिंधचळो[2]—

१. विषम चरणों में मात्राएँ १६। प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ १८।

२ सम चरणो मे मात्राएँ १३।

३. सम चरणों के अत मे एक रगण (ऽ।ऽ) आता है।

४. तुक सम चरणो की मिलती है।

५. गति विषम चरणों की चौपाई के समान और सम चरणो की सोरठे के सम चरणों के समान होती है।

---

[1]जत सोळह मत विखम जॉगडै, समपद कळा तेरहं सोर ।
जुग लघु अंत अठारह धुर जड़, सो कवि मंछ खुड़द सैणोर ।।

[2]चरण विखम साणोर लघू चा असम चरण मै आवै ।
तेरह कळा तणी हुवै सम तुक, मोहरा रगण मिलावै ।।

६ सिंघचळ म और खुड्द में केवल इतना ही अंतर है कि सिंघचळ के सम चरणो के अंत म रगण आता है जो खुड़द में नही आता।[1]

उदाहरण—

परगट इम आत चहूँ परणीजै
भाण किता चा मारिया।
डाणों हूँत सजोड़ा डेरों
पाछा बींद पधारिया॥

(२८) झड़मुगट[2]—

१. विषम चरणो में मात्राएँ १६। प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ १८।

२. सम चरणो में मात्राएँ १३।

३ प्रत्येक चरण मे आदि में जो शब्द होता है वही अंत में आता है (प्रायः २ मात्रा का)।

४. तुक चारों चरणो की मिलती है।

५. गति विषम चरणों की चौपाई के समान और सम चरणो की सोरठे के या उल्लाले के सम चरणो के समान।

उदाहरण—

तर-वर वन सिखर जोवतॉ सर तर।
कर सारँग तूणीर कर॥
वर लोहा दीठो अँग रघुवर।
परधर पड़ियो धरण पर॥

(२९) सोहणो[3]—

१. विषम चरणो में मात्राएँ १६ ; प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ १८।

---

[1] सिंघचळे के सम चरणों के अंत के दीर्घ वर्ण की जगह दो लघु वर्ण कर दिए जायँ तो वह खुड़द बन जायगा।

[2] रचै खुड़दसाणोरे, जमक धरै धुर अंत जत।
जिको गीत बुधजोर, मंछ, पयंपै झड़मुगट॥

[3] जत कै विखम वेळियो जेम। सम पद चवदै कळा सु-नेम।
गुरु-लघु मोहरा-अंत लखीजै। कवि इण रीत सोहणो कीजै॥

२. सम चरणो में मात्राएँ १४।

३ सम चरणो के अंत में लघु-गुरु (।ऽ) आता है।

४. तुक सम चरणो की मिलती है।

५ गति हिंदी के ताटंक छंद के समान।

उदाहरण—

राघव आदेस पाय दसरथ रौ
कवसल्या चै आय कनै।
दाखैं राज भरथ नै देसी
मात दियो बनवास मनै॥

(३०) अमेळ—

इस मे और उपरोक्त सोहणे गीत में इतना ही अंतर है कि सोहणे में सम चरणो की तुक मिलती है, पर इस में तुक बिलकुल नही मिलती। इस के दोहले अतुकांत होते हैं।

(३१) वेलियो[१]—

१ विषम चरणो की मात्राएँ १६;
प्रथम दोहले के प्रथम चरण में मात्राएँ १८।

२. सम चरणो मे मात्राएँ १५।

३. सम चरणो के अंत में गुरु-लघु (ऽ।) आता है।

४ तुक सम चरणो की मिलती है।

५ इस की गति वीर या आल्हा छंद के समान होती है।

उदाहरण—

दिल अंतर एह विचारी दसरथ
धर पदवी जुवराज सधीर।

[१] सोळह कळा विखम पद साजै। सम पद पनरह कळा समाजै॥
धुर अठार सोहरा गुर-लघु धर। कहजै मंछ वेळियो इम कर॥

(३६) ल्हैंचाळ[1]

१. विषम चरणो मे १८ मात्राएँ होती है, और १० + ८ पर यति होती है।

२. सम चरणो में १५ मात्राएँ होती हैं।

३. सम चरणो के अंत मे १ रगण (ऽ।ऽ) और रगण के बाद 'जी' शब्द आता है। (यह रगण और 'जी' की दो मात्राएं १५ मात्राओ के अंतर्गत ही होती हैं।)

४ सम चरणो की तुक मिलती है। विषम चरणो में पूर्वार्ध (१० मात्रा) और परार्ध (८ मात्रा) की आतरिक तुक भी मिलती है।

५ गति तोटक के समान होती है।

उदाहरण—

सुत भ्रात कटे सक, धीट वधे धक,
बीसभुजाण विचारियो जी।
निरजीवाँ वानर, नेम गमुन्नर,
धेख इसो मन धारियो जी॥

(३७) पहाड़गत[2]—

१. विषम चरणों की मात्राएँ १९, प्रथम दोहले के प्रथम चरण की मात्राएँ २१।

२ सम चरणो की मात्राएँ १८।

३. सम चरणों के अंत मे गुरु-लघु (ऽ।) आता है। प्रत्येक चरण के आदि में सागडदी, धागडदी आदि 'आगड़दी' वाला ६ मात्रा का शब्द होता है। आगे आने वाले शब्द के आदि मे जो वर्ण होता है उस के साथ

---

[1] पहलै विसराम कळा दस पूरे, फिर अठ मिल तुक विखम फबै।
सम तुक आठ रगण मोहरा सझ, सिर जिण रै जीकार सबै॥

[2] विखम चरण उगणीस विचारै।
आणै समपद कळा अठारै॥
आगे यौ मोहरा सम आवै।
गुणी पाड़गत गीत गिणावै॥

आगड़दी जोड कर चरण के आरभ मे रख देते है। प्रथम दोहले के प्रथम चरण की जो मात्राएँ शुरू मे अधिक होती है वे आगड़दी वाले शब्द के पहले आती है।

४. सम चरणों की तुक मिलती है।

उदाहरण–

गंगागड़दी दहूँ ओडाँ दळ गाजै
तागड़दी तबळ बाजै रिणतूर।
रागड़दी राम-रावण जुध रोपै
सागड़दी समाम अड़े सज सूर ॥

(३८) शुद्ध साणोर[1]––

१ विषम चरणो मे मात्राएँ २० (४ पंचकळ)। पहले दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ २३ (१ त्रिकल + ४ पचकल)।

२. सम चरणो में मात्राएँ १८ (३ पंचकल + १ त्रिकल)।

३. सम चरणो के अत मे गुरु-लघु (ऽ।) होता है।

४ सम चरणो की तुक मिलती है।

५ गति कडखा अथवा द्वितीय झूलना छद से कुछ-कुछ मिलती हुई होती है।[2]

उदाहरण––

नरों-नाथ नरपाळ भोपाळ महपत न्रपत
भूपती धरपती थळापती भूप।
प्रथीपत छत्रधर नरेसुर महीपत
अधपती रसा-पत तेज-आनूप ॥

---

[1] विखम वीस, सम चरण अठारह, धुरपद कळ तेवीस धरो।
संछ कहै गुरु-लघु अँत मोहरै, कवि इम सुध सैणोर करो॥

[2] अंतिम मात्रा हटा देने से इन छंदों के समान गति हो जायगी।

सो देषी विसवा ही वीस
राज जोग दीसै रघुवीर ।।

(३२) **अमेळ (दूसरा प्रकार)**—

इस मे ओर वेळिये गीत मे केवल इतना ही अंतर होता है कि इस में तुक बिलकुल नही मिलती। यह अतुकांत दोहले का गीत है। हिंदी का आल्हा गीत भी जो इसी का प्रतिरूप है, प्राय अतुकांत ही होता है। प्रथम दोहले मे पहला चरण १८ मात्राओं का होगा।

उदाहरण—

जासी त्याग जकाँ रा घर सूँ
जाताँ त्याग न लागै जेज ।
घर रो तोल न बाँधो धणियाँ
त्याग तणो किह बाँधो तोल ।।

(३३) **हंसावळो**[1]—

यह भी वेळियो गीत के समान ही होता है। विशेषता यह होती है कि इस मे 'रा' (का) यह शब्द बहुत बार आता है और इस का प्रयोग 'उल्लेख अलकार' मे किया जाता है।

उदाहरण—

पय-घर रा मथण जगत रा पाळक
सर रा अचळ संग रा साथ ।
वर रा दिपण भगत रा बच्छळ
नर रा रूप नमो रघुनाथ ।।

(३४) **छोटो साणोर**[2]—

इस गीत में एक से दोहले नही आते किंतु उपरोक्त वेळियो, सोहणो, खुडद और

---

[1] वरणै सुघ उल्लेख विध, गुणै वेळियो गीत ।
होवै तिको हंसावळो, रा-रा सबद सरीत ।।

[2] कहुँ गुरु मोहरा लघु कहूँ, वर्णै दवाला वेस ।
सो छोटो साणोर सझ, कहै, सुमंछ कवेस ।।

जाँगड़ो इन गीतों के दोहले मिले हुए आते है अर्थात् कोई दोहला वेळिये का होता है, कोई सोहणे का, कोई खुड्द का और कोई जाँगड़े का।

इस प्रकार इस के—

१. विषम चरणो मे १६ मात्राएँ होती है। प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे १८ मात्राएँ होती हैं।

२. सम चरणो मे १२ से लेकर १५ तक मात्राएँ होती हे।

३. तुक केवल सम चरणो की मिलती है।

उदाहरण—

एकण दिन अमर सकळ मिल आया
करी अरज सँभळ करतार।
राज विना मारै कुण रावण
भू रौ कवण उतारै भार॥

(३५) पंखाळो[1]—

यह साणोर की ही तरह मिश्रित दोहलो का गीत है। इस मे साणोर की भाँति चरणों के अंत मे गुरु लघु का कोई नियम नही होता और गीत भर मे केवल तीन ही दोहले होते है।

उदाहरण—

धरियो पण जनक इसी मन धारे
धनक पिनाक चढ़ाय धरै।
महपत आय सयंबर माँहे
वसुधा-कुमरी तिकौ वरै॥

च्यार भेद तिण रा चवै, कवियण वड ओकूब।
समझ वेळियो, सोहणो, खुड़द, जाँगड़ो खूब॥

[1]ह्रस्व-दीह सैणोर चौ, नेम नही निरनाह।
गुर ह्वालो सो मंछ कह, तवै पँखाळो ताह॥

(३६) ल्हचाळ[1]—

१ विषम चरणो म १८ मात्राए होती ह और १० + ८ पर यत होती ह

२. सम चरणों मे १५ मात्राएँ होती है।

३ सम चरणों के अत मे १ रगण (ऽ।ऽ) और रगण के बाद 'जी' शब्द आता है। (यह रगण और 'जी' की दो मात्राएँ १५ मात्राओ के अंतर्गत ही होती है।)

४ सम चरणो की तुक मिल्ती है। विषम चरणो मे पूर्वार्ध (१० मात्रा) और परार्ध (८ मात्रा) की आंतरिक तुक भी मिल्ती है।

५ गति तोटक के समान होती है।

उदाहरण—

सुत भ्रात कटे सक, धीट वधे धक,
बीसभुजाण विचारियो जी ।
निरजीवाँ वानर, नेम गमुन्नर,
धेख इसो मन धारियो जी ॥

(३७) पहाड़गत[2]—

१ विषम चरणो की मात्राएँ १९, प्रथम दोहले के प्रथम चरण की मात्राएँ २१।

२ सम चरणों की मात्राएँ १८।

३ सम चरणो के अत मे गुरु-लघु (ऽ।) आता है। प्रत्येक चरण के आदि में सागडदी, धागडदी आदि 'आगडदी' वाला ६ मात्रा का शब्द होता है। आगे आने वाले शब्द के आदि मे जो वर्ण होता है उस के साथ

---

[1] पहलै विसराम कळा दस पूरै, फिर अठ मिल तुक विखम फबै ।
सम तुक आठ रगण मोहरा सझ, सिर जिण रै जीकार सबै ॥

[2] विखम चरण उगणीस विचारै ।
आणै समपद कळा अठारै ॥
आगे यौं मोहरा सम आवै ।
गुणी पाड़गत गीत गिणावै ॥

आगडदी जोड़ कर चरण के आरंभ मे रख देते है। प्रथम दोहले के प्रथम चरण की जो मात्राएँ शुरू मे अधिक होती है वे आगड़दी वाले शब्द के पहले आती है।

४. सम चरणों की तुक मिलती है।

उदाहरण—

गंगागड़दी वहूँ ओडॉ दळ गाजै
तागड़दी तबळ बाजै रिणतूर।
रागड़दी राम-रावण जुध रोपै
सागड़दी समाम अड़े सज सूर॥

(३८) शुद्ध साणोर[1]—

१. विषम चरणो मे मात्राएँ २० (४ पंचकळ)। पहले दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ २३ (१ त्रिकल + ४ पचकल)।
२. सम चरणो मे मात्राएँ १८ (३ पंचकल + १ त्रिकल)।
३. सम चरणो के अत में गुरु-लघु (ऽ।) होता है।
४. सम चरणों की तुक मिलती है।
५ गति कडखा अथवा द्वितीय झूलना छंद से कुछ-कुछ मिलती हुई होती है।[2]

उदाहरण—

नरॉ-नाथ नरपाळ भोपाळ महपत न्रपत
भूपती धरपती पळापती भूप।
प्रथीपत छत्रधर नरेसुर महीपत
अधपती रसा-पत तेज-आनूप॥

[1] विखम बीस, सम चरण अठारह, धुरपद कळ तेबीस धरो।
मंछ कहै गुरु-लघु अँत मोहरै, कवि इम सुध सैणोर करो॥
[2] अंतिम मात्रा हटा देने से इन छंदो के समान गति हो जायगी।

(३९) प्रहास साणोर[1] (गरबत)—

१ विषम चरणो मे मात्राएँ २० (४ पचकल)। प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ २३ (१ त्रिकल + ४ पचकल)।

२ सम चरणो मे मात्राएँ १७ (३ पचकल + १ गुरु)।

३ सम चरणो के अत मे एक गुरु (ऽ) होता है।

४ सम चरणो की तुक मिलती है।

५ गति कड़खा अथवा द्वितीय झूलना छद के समान होती है।

उदाहरण—

दुहूँ जोड़ कर पूछियो सगत एकण दिवस।
आखजै जगतपत भेद इण रो॥
आप रो ध्यान नित करै सारी इळा।
करो नित ध्यान सो आप किण रो॥

(४०) मुगताग्रिह अथवा रिणखरो[2]—

प्रहास साणोर और इस मे केवल इतना ही अंतर है कि इस मे प्रथम चरण का अतिम शब्द[3] द्वितीय चरण के आरंभ मे दुबारा आता है, और इसी प्रकार तृतीय चरण का अतिम शब्द[3] चतुर्थ चरण के आरंभ मे आवृत्त होता है अर्थात् दो सिंहावलोकन अलंकार विशेष होते हैं।

उदाहरण—

---

[1] गुरु सम चरण प्रहास गीत गिण, तव कळ सतरै तिकण तणै।
बीजी मात्रा सरब बराबर, भेद इतो हिज संछ भणै॥ —रघुनाथरूपक
कळा प्रथम तेबीस कर, दूजी सतरा दाख।
इण ही झड़ रै अंत गुरु, रीत मेळ री राख॥
बीस कळा, सतरा वळे, सरब गीत इण सोय।
भेद वडा साणोर भन, हद परिहास ज होय॥ —डिंगळकोष

[2] गरबत कीजै गीत, अंत विखम तुक आद सम।
सिंघ-विलोक सरीत, मुगताग्रह जिगनै मुणै॥

[3] प्रायः पाँच मात्राएं (शब्द चाहे एक हो या अधिक)।

पगाँ वंद उतमंग मा कनै थी पधारे ।
पधारे महल को दंडपाणी ।।
विदेही-सुता नै गुणी जेती विगत ।
विगत तेती पुणी तात वाणी ।।

(४१) वडो साणोर[1]—

इस में शुद्ध साणोर और प्रहास साणोर के दोहले मिले-जुले रहते हैं, अर्थात् कोई दोहला शुद्ध साणोर का होता है तो कोई प्रहास साणोर का।

उदाहरण—

धुरा दरस सर पंडु सुन कला तेवीस धर
जुग विसम सपत कळ दुसर जिसरै ।
पंच कळ तणी ह्वै च्यार गण विसम पद
साम् है मेल गण कळा सतरै ।।

(४२) अरध भाखड़ी[2]—

१. प्रथम दो चरणो में २५ मात्राएँ होती है, जिन का विभाग इस प्रकार होता है।—५ मात्रा + ४ मात्रा + (जी शब्द = २ मात्रा) + १४ मात्रा; अर्थात् ९ मात्रा के वाद जी शब्द आता है और फिर १४ मात्राएँ आती है।

२. पिछले दो चरण वेताळ या काम-रूप छंद के होते हैं जिन में प्रत्येक में (१६ + १०) २६-२६ मात्राएँ होती हैं।

३ चरणो के अत मे गुरुलघु (ऽ।) आता है। दूसरे चरण के अत के शब्द

---

[1] राजस्थानी में सब से अधिक प्रसिद्ध गीत सैणोर और उस के विभिन्न भेद हैं। सैणोर को 'रघुनाथरूपक' के कर्त्ता ने 'सिरै गीत' कहा है, और गीतों का विवेचन सैणोर से ही आरंभ किया है।

[2] (क) धुरा अंत धर भाखरी, पद चिहुँ-चिहुँ कर पेम ।
भेद सु दोय-दोय पद भणो अरध-भाखरी एम ।।

(ख) इस का दुगना भाखरी होता है।

तीसरे चरण के आदि में ज्यो के त्या या कुछ हेरफर के साथ आते हैं अर्थात् सिंहावलोकन अलंकार अवश्य आता है।

४. तुक पहले चरण की दूसरे के साथ और तीसरे की चौथे के साथ मिलती है।

उदाहरण—

मिथुला-मुगट रा जी खत लै वाँचिया कर खाँत
जिण विध मुख जवा जी भूपत सुणे सगळी भाँत ॥
सह भाँत विगत विवाह सुणबो अंग प्रफुलत आण
पत-किरण निकसे रसम परसत जळज विकसे जाण ॥

(ग) मात्रिक विषम

[तीन चरणो के दोहले]

(४३) त्रपंखो[१]—

१. प्रथम चरण मे मात्राएँ १६, (अत मे १ चौकल)।
२. दूसरे चरण मे मात्राएँ १६, (अत मे १ चौकल)।
३. तीसरे चरण मे मात्राएँ २०, (४ पचकल)।
४. पहले और दूसरे चरणो की तुक मिलती है।

उदाहरण—

आवण रघुवर सुणी अवाई।
बीस-भुजा-धर सभा बणाई॥
जठै रावण-अनुज बोलियो जोरवर॥

(४४) त्रबंको[२]—

१ प्रथम चरण मे मात्राएँ १६।

---

[१] दोय पद धरै दुमेळ, विखम त्रतिय साणोर वड।
मंछ सुकवि इण मेळ, गीत त्रपंखो गुणियणाँ॥

[२] कळ सोड़स इक पद में करजै। बे पद मोहरो एकहि वरजै॥
दुय धुर खट कळ अंत दिरीजै। चौकळ विखमै चार चवीजै॥
वे दुय चौकळ सो चिहुँ वारां। उळट-पळट कर पढै उदारा॥
मोहरो तीजे मेल मिलावै। गीत त्रबंको ताहि गिणावै॥

२ दूसरे चरण में मात्राएँ १६

३. तीसरे चरण में मात्राएँ ३२। ये मात्राएँ इस प्रकार रक्खी जाती है—
द्विकल + चौकल + चौकल + चौकल + चौकल + चौकल + चौ-कल + षटकल।

४. पहले और दूसरे चरणो के अत मे एक ही शब्द आता है। तीसरे चरण में पहले, चौथे और पाँचवे चौकल मे एक ही शब्द तीन बार आता है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे और छठे चौकल मे भी एक ही शब्द बार बार आता है।

५. तुक तीनों चरणो की मिलती है।

६. गति पदपादाकुलक अथवा तोटक के समान होती है।

उदाहरण—

पूछी मा आगळ आय प्रभा।
पितु बंधु न दीसै रंग प्रभा॥
सज राग न रंग न रंग न राग न राग न रंग न राजसभा॥

(४५) चित इलोळ[१]—

१. पहले चरण में मात्राएँ १६ + १० = २६ (अंत में ऽ।)।

२. दूसरे चरण मे मात्राएँ १६ + १० = २६ (अत मे ऽ।)।

३. तीसरे चरण मे मात्राएँ २६ (अंत मे ऽ।)।

४ तीसरे चरण के आरंभ में तो शब्द जोड दिया जाता है। इस की दो मात्राएँ जोडने से तीसरे चरण मे कुल मात्राएँ २८ होती है। इस 'तो' के बाद ५ मात्रा का शब्द आता है। इस शब्द के बाद 'जी' शब्द आता है। इस 'जी' के बाद वही पाँच मात्रा का शब्द आवृत्त होता है। तीसरे चरण के अंत में पाँच मात्रा के उस शब्द की फिर आवृत्ति की

---

[१]प्रोढ गीत रै ऊपरै तवै उलाळो तोल।
कहै मंछ, तिण नूं सुकवि आखै चित्तइलोळ॥

जाती है। इस प्रकार तीसरे चरण में पाँच मात्रा का यह शब्द तीन बार आता है।

कुल मिला कर तीसरे चरण का गठन इस तरह होगा—द्विकल (तो) + पचकल + द्विकल (जी) + पचकल + चौकल + पंचकल + पचकल = २८ मात्रा।

५. तुक तीनों चरणो की मिलती है।

६. गति कामरूप या वेताल छंद के समान होती है।

उदाहरण—

लें हुकम सीता खबर लेवण, सक ज राघव संत।
लह लंक दिस सज उदध लंघण, हालियो हणमंत॥
तो बलबंत जी बलवंत वारध लाँघवे बलवंत॥

(४६) चोटियो[1]—

१ पहले चरण मे मात्राएँ १६ + १२ = २८ (अंत मे ऽऽ)। प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ २ + १६ + १२ = ३०।

२ दूसरे चरण मे मात्राएँ १६ + १२ = २८ (अंत में ऽऽ)।

३ तीसरे चरण में मात्राएँ १९ (अत मे ऽऽ)।

४. तुक तीनों चरणो की मिलती है।

५. पहले दो चरणो की गति सार छंद के समान होती है।

उदाहरण—

बार आव रे रिण रोपण वंका, बंध सुग्रीव वकारे।
ऊठे सुण भ्रम जघड़ अधायौ, धींग क्रोध उर धारे॥
हूँ हिव आवियो पग माँड हकारे॥

---

[1]जोड़ै दुहो जाँगड़ेवाळो, चरण पंचमो फेर चवीजै।
उण में कळा करै उगणीसूँ, ठीक अंत गुर दोय ठवीजै॥

[चार चरणो के दोहले]

(४७) अमळ[1]

१. पहले चरण मे मात्राएँ १६।

२. दूसरे चरण मे मात्राएँ १४ या १५ (अत मे ऽ।)।

३. तीसरे चरण में मात्राएँ १६।

४ चौथे चरण मे मात्राएँ १५ या १४ (अत मे ।ऽ)। (दूसरे मे १४ हो तो चौथे मे १५, और दूसरे मे १५ हो तो चौथे मे १४ मात्राएँ हो।)

५ तुक बिलकुल नही मिलती।

६ गति नाटंक (१४) या वीर (१५) के समान होती है।

उदाहरण—

सब री वन मॉहि प्रीत सूँ सॉची
उवर जठै दरसण अभिळाख।
आश्रम उभै सहोदर आया
त्रिभुवन-नायक सेस तठै॥

(४८) काछो[2]—

१. प्रथम चरण मे मात्राएँ १४ + १४ + ७ + ५। प्रथम दोहले के प्रथम चरण में मात्राएँ १८ + १४ + ७ + ५।

२. दूसरे चरण मे मात्राएँ ९ + ७ + ७ + ३ (अंत मे ऽ।)।

३. तीसरे चरण मे मात्राएँ ९ + ७ + ७ + ५।

४. चौथे चरण मे मात्राएँ ९ + ७ + ७ + ३ (अंत मे ऽ।)।

---

[1] इण रा मोहरा मिलै नहीं।

[2] चवद चवद दस दोय कळा इम विखम चरण कर।
नवे सात दस निरख विहद पद मोहरे ग-ल वर॥
कदम त्रतिय नव कळा सात बारै साजीजै।
चौथे पद नव सात दसे कळ मोहरा दीजै॥
इक सार सझै सॉकळ अमिट धुर कळ'ठार धरीजियै।
कवि मंछ कहै इण रीत कर काछो गीत करीजियै॥

५ तुक दूसरे और चौथ चरण की मिलती है इस के अतिरिक्त नीचे लिखी मात्राओं पर आतंरिक तुक भी मिलती है—

प्रथम चरण	=	१४ + १४ + ७
दूसरा चरण	=	९ + ७ + ७
तीसरा चरण	=	९ + ७ + ७
चौथा चरण	=	९ + ७ + ७

६ गति १४ मात्रा की गीतिका या रूपमाळा के पूर्वार्ध के समान, १६ (९ + ७) मात्रा की हरिगीतिका या वेताल के पूर्वार्ध के समान, १२ (७ + ५) की गीतिका या हरिगीतिका के उत्तरार्ध के समान, १० (७ + ३) मात्रा की रूपमाळा या वेताल के उत्तरार्ध के समान।

उदाहरण—

रघुपत जगत मिण अपसास राळै
भामणी चहुँ ओर भाळै, वन विचाळै, जोर वर
चित लाग चाळै, गात गाळै, धरस भाळै, धीर।
दूरै दिखाळै, केक काळै, अचल थाळै ऊपरै
दीठा दयाळै, तेण ताळै, वप वडाळै, वीर॥

[पाँच चरणो के दोहले]

(४९) दीपक[1]—

१. प्रथम चरण मे मात्राएँ १६। प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ १८।
२. दूसरे चरण मे मात्राएँ १५ (अंत मे ऽ।)।
३. तीसरे चरण मे मात्राएँ १६।
४ चौथे चरण मे मात्राएँ १६।
५. पाँचवे चरण में मात्राएँ १५ (अंत में ऽ।)।

---

[1]तुकाँ वेळिये गीत री आद दुतिय चतुरंग।
त्रिय पद दोय दुमेळ तुक, दीपक सो दाखंत॥

६ तुक दूसरे और पाँचवें की तथा तीसरे और चौथे चरणों की मिलती है
७. गति १६ मात्रावाले चरणो की चौपाई के समान और १५ मात्रावाले चरणों की चौपई के समान होती है।

उदाहरण—

इसवर सिय सेस चढे रथ ऊपर।
तहक सारथी खड़े तुरंग॥
नगर हलक हाले नर-नारी।
घर धंधो छोडे घरबारी।
मिल तानूं दी सीख उमंग॥

(५०) लघु चितविलास[1]—

१ प्रथम चरण मे १४ मात्राएँ होती है, जिन का गठन इस प्रकार होता है— ६ मात्रा + जी शब्द की दो मात्रा + ६ मात्रा (इन ६ मात्राओ में पहली छः मात्राओं वाले शब्द ही आवृत्त होते हैं)।
२ दूसरे चरण में १४ मात्राएँ होती है। अंत में वही शब्द आता है जो पहले चरण के अंत मे होता है।
३ तीसरे चरण मे १४ मात्राएँ होती है।
४. चौथे चरण में भी १४ मात्राएँ होती है।
५ पाँचवे चरण में ८ मात्राएँ होती है जिन मे पहले चरण की 'जी' शब्द सहित छः मात्राएँ ज्यों की त्यों रहती है।
६ तुक पाँचों चरणो की मिलती है।

उदाहरण—

जुध जूटे जी जुध जूटे।
जो सेल दसाणण जूटे।

---

[1] कळ खट करे चौपसा करणौ। विच-विच गुरु संबोधन वरणौ॥
तुक चवदै कळ फेर जतावै। उही ज मोहरो तिण में आवै॥
इण विध दोय पद वळे उचारै। धर चौकळ सम मोहरा धारै॥
आद सँबोधन धुर तुक अंत। चितविलास सो गीत चवंत॥

त्रिजड़ाँ मुँहड़ै तन तूटे।
वसु पड़ियो प्राण विछूटे।
जी जुध जूटे॥

(५१) चितविलास[1]—

१ प्रथम चरण मे मात्राएँ १४।

२ दूसरे चरण मे मात्राएँ १४।

३ तीसरे चरण में मात्राएँ १८ + १२ = ३० (अंत में SS)। प्रथम दुवाले के तीसरे चरण मे मात्राएँ १९ + १२ = ३१।

४ चौथे चरण में मात्राएँ १६ + १२ = २८ (अत मे SS)।

५. पाँचवे चरण में मात्राएँ ८।

६ प्रथम चरण मे पहले ६ मात्राओ का एक (या अधिक) शब्द होता है; फिर दो मात्रा का एक संबोधन शब्द (जैसे रे, जी आदि) आता है और उस के बाद फिर वही ६ मात्रा का शब्द दुबारा आता है। पाँचवे चरण मे पहले चरण की पहली छ मात्राएँ छोड़ कर बाकी शब्द ज्यो के त्यो रख दिए जाते है।

७ तुक पाँचो चरणो की मिलती है।

८. गति प्रथम दो चरणो की मानव या हाकलि के समान और चौथे को ताटंक के समान होती है।

उदाहरण—

धनु धारे रे धनु धारे।
सर एकण बालि सँघारे॥

---

[1] कळ खट करे वीपसा करणौ। बिच जिण गुर संबोधन धरणौ॥
तुक चवदै कळ वळे जतावै। मोहरा तिण रा मेळ मिलावै॥
उण पर दुहो अरटियो वाळो। फिर तुक आव तिका अँत फाळो॥
धुरे तिके मोहरा सुध धारो। चितविलास सो गीत उचारो॥

महाराजधिराज सुग्रीव मनोंरा, सारा कारज सारे ।
कीधो भूप पुरी केकंधा, दोयण दूर बिदारे ।।
रे धनु धारे ।।

[छ. चरणों के दोहूले]

(५२) हेलो[1]—

१. प्रथम चरण में मात्राएँ १४ (अंत मे १ चौकळ) । प्रथम दोहूले के प्रथम चरण में मात्राएँ १६ (अंत मे १ चौकळ) ।
२. दूसरे चरण मे मात्राएँ १४ (अंत मे १ चौकळ) ।
३. तीसरे चरण मे मात्राएँ १० (अंत मे ऽ।) ।
४ चौथे चरण में मात्राएँ १४ (अंत मे १ चौकळ) ।
५. पाँचवे चरण में मात्राएँ १४ (अंत मे १ चौकळ) ।
६ छठे चरण मे मात्राएँ १० (अंत मे ऽ।) ।
७. तुक पहले और दूसरे की, चौथे और पाँचवे की, तथा तीसरे और छठे की मिलती है।
८. गति चौदह मात्राओ की गीतिका के पूवार्ध के समान और १० मात्राओं की रूपमाला के उत्तरार्ध के समान होती है।

उदाहरण—

उठ आय कवसल मात आगे ।
लुळे सीरख पाय लागे ।।
दखै वायक दीण ।।
केकयी बदनाम कीनो ।
दोख मोटो मनै दीनो ।।
हुवौ सारै हीण ।।

---

[1]कळ चवद-चवदै दुपद सॉकळ अंत चौकळ आणियै ।
पद त्रतिय दसकळ, दोह-लघु पद ठीक सोहरा ठाणियै ।।
इण भाँत फिर पद तीन उचरै पूर ह्वालो पावियै ।
कळ सोळ धुर पद, तीन गुण कर गीत हेलो गावियै ।।

(५३) चोटियाळ[1]—

१. पहले चरण मे मात्राएँ २० (४ पचकळ)। प्रथम दुवाले के प्रथम चरण मे मात्राएँ २३ (१ त्रिकल + ४ पचकळ)

२. दूसरे चरण मे मात्राएँ १७ (३ पंचकळ + १ गुरु)।

३. तीसरे चरण मे मात्राएँ १०।

४. चौथे चरण मे मात्राएँ २० (४ पचकळ)।

५. पॉचवे चरण में मात्राएँ १७ (३ पचकळ + १ गुरु)।

६ छठे चरण मे मात्राएँ १०।

७. तुक दूसरे और पॉचवें की तथा तीसरे और छठे की मिलती है।

८. तीसरे तथा छठे पद की गति चाद्रायणा के उत्तरार्ध के समान होती है।

उदाहरण—

सुणे सुपणखा वैण चढ हाकिया साकुरॉ।
खर दुखण त्रिसिर खळ झाल खागॉ॥
पूर तन पहरियॉ॥
उरस छबता का आविया अड़ाकी।
आखता असुर रघुवीर आगॉ॥
कोप लोयण कियॉ॥

(५४) झमाल[2]—

१ इस गीत का प्रत्येक दोहला एक दोहा और एक चांद्रायणा के मेल से बनता है। कुडळिया की भॉति दोहे के चार च . ो के दो चरण गिने जाते है, और चार चरण चाद्रायणा के होते है। कुल चरण छ. होते है।

२ मात्राएँ इस प्रकार होती है—

---

[1]गरवत कीजै गीत पद दोय-दोय रै ऊपरै।
मोहरा दस कळ, मीत, चोटियाळ जिण नूँ चवै॥

[2]दूहे पर चंद्रायणो धरै उलाळो धार।
गीतॉ रूप झमाल गुण बरणै मंछ विचार॥

पहला चरण, (दोहे का पूर्वार्ध) (१३ + ११) २४ मात्रा।

दूसरा चरण, (दोहे का उत्तरार्ध) (१३ + ११) २४ मात्रा।

तीसरा चरण, (११ + १०) २१ मात्रा।

चौथा चरण, (११ + १०) २१ मात्रा।

पाँचवाँ चरण, (११ + १०) २१ मात्रा।

छठा चरण, (११ + १०) २१ मात्रा।

छहों चरणो मे सब मात्राएँ १३२ होती है।

३. दोहे का चौथा चरण चाद्रायणा के आरभ मे आवृत्त होता है (जैसा कुडलिया मे किया जाता है)।

४ तुक दो-दो चरणो की मिलती है अर्थात् पहले की दूसरे के साथ, तीसरे की चौथे के साथ और पाँचवे की छठे के साथ।

उदाहरण—

न्रिप-मेळे आया नगर, दौड़ वधाईदार।
कही विगत विधविध करे, आणँद भरे अपार॥
आणँद भरे अपार, अँतेवर आय नै।
सुभट सचिव जिणसाथ, सुवैण सुणाय नै॥
परण पधारे राम, जीत दुजराज नै।
तुरत करीजै त्यार, साँभेळो साज नै॥

(५५) **गजगत**[1]—

१ प्रथम चरण मे २० मात्राएँ (अत मे ।ऽ)।

२. दूसरे चरण मे २० मात्राएँ (अत मे ।ऽ)।

३. तीसरे, चौथे, पाँचवे और छठे चरण हरिगीतिका छद के चार चरणो से

---

[1]**चव कळा नव नव तणै चौपद, अंत लघुगुरु कीजियै।**
जीकार दुय दुय पदाँ विच, जप बहस सोहरा वीजियै॥
सीहाविलोकण तेण पर सज छंद गीया छावियै।
कवि मंछ, रघुवर कीत कर कर गीत गजगत गावियै॥

बनते हैं जिस के प्रत्येक चरण में १६+१२ २८ मात्राएं होती हैं

४ पहले और दूसरे चरणों में पहले ९ मात्राएँ रखते हैं फिर 'जी' यह दो मात्रा का शब्द रखते हैं, और फिर ९ मात्राएं रखते हैं।

५ दूसरे चरण के अंत के शब्द ज्यों के त्यों या क्रम बदल कर तीसरे चरण के आरंभ में लाए जाते हैं।

६ तुक दो-दो चरणों की मिलती है। पहले दो चरणों में पूर्वार्ध (९ मात्रा) और उत्तरार्ध (११ मात्रा) की तुक भी मिलनी चाहिए।

उदाहरण—

कुंभज कहकहै जी सियवर सुण सहै।
बदे पग बहै जी गैलो वन गहै॥
वन गहे गैलौ जेण विच में, रहै राखस रोस में।
तन तुंग नाम कवंध तिण रौ, करग जोजन कोस में॥
सो हुतौ गंध्रप श्राप वासव, धिके प्राक्रम धारिया।
विण सीस आप पसार बाहाँ, घणा जीव संघारिया॥

(५६) ललतमुगट[1]—

१ इस का प्रत्येक दोहला एक दोहा और एक त्रिभंगी के मेल से बनता है।

२ पहले दो चरणों में २४-२४ मात्राएं होती हैं।

३ पिछले चार चरणों में ३२-३२ मात्राएँ होती हैं।

४. छहों चरणों में कुल मात्राएँ १७६ होती हैं।

५. दूसरे चरण का उत्तरार्ध कुछ हेरफेर से तीसरे चरण के आरंभ में आवृत्त होता है।

६. प्रत्येक दोहले के अंत का शब्द अगले दोहले के आरंभ में आना चाहिए और अंतिम दोहले के अंत का शब्द प्रथम दोहले के आरंभ में आना चाहिए

---

[1]भण दोहे पर छंद त्रभंगी, सिंघविलोकण सार।
ललतमुगट सो गीत सुलक्षण, वरणै मछ विचार॥

७ दो-दो चरणो की तुक मिलती है त्रिभंगी वाले चरणो में १० + ८ + ८ पर आंतरिक तुक भी मिलनी चाहिए।

उदाहरण—

करे जीत लंका कलह, दे भ्रत राज उदार।
आया राम अजोधिया, कवसळ राजकँवार॥
कवसल्ल कँवारं, लै सिय लारं, जग जोधारं, सेस जती।
बम्भीख वधारं, अवर अपारं, पदम अठारं, कौस-पती॥
अमरॉ असमाणाँ, बैठ विमाणॉ, सुमनस पाणॉ, बरसावै।
धुर नौपत धायी, धवळ वधायी, नवळ वधायी, सरसावै॥

(५७) मनमोद[1]—

१ इस गीत का दोहला दोहे और कड़खे के मेल से बनता है।
२ प्रत्येक दोहले मे प्रथम दो चरणो की मात्राएँ २४-२४ होती हैं।
३ पिछले चार चरणो मे ३७-३७ मात्राएँ होती हैं।
४ छहों चरणो मे १९६ मात्राएँ होती हैं।
५ दूसरे चरण के अंत के शब्द कुछ हेर-फेर के साथ तीसरे चरण के आरंभ में आते हैं।
६ प्रत्येक दोहले के अंत का शब्द अगले दोहले के आरंभ मे आता है। अंतिम दोहले के अंत का शब्द प्रथम दोहले के आरंभ मे आना चाहिए।
७ तुक पहले चरण की दूसरे के साथ मिलती है तथा अंतिम चारों चरणो की परस्पर मिलती है।

उदाहरण—

डेरा थी साजै डवर, पह इम कीध पयाण।
करबा सुरॉ सहाय कज, असुरॉ सूं आराण॥

---

[1] गुण दोहे री भाळगत ऊपर कड़खो आण।
हुवै गीत मनमोद हब यद रघुपत वाखाण॥

राण दिस हालिया, ठाण आराण रुख, कोह असमाण चढ, भाण ढंका।
गोस नेजा हलक, राग सिंधू गहक, डहक डंडाहडाँ, सीस डका॥
जबर जय जीव, सुग्रीव अगद जिसा, वळे पत भाळ सा, बीर बंका।
बाँध चालाँ खड़े, अड़े नभ महाबळ, लड़ण दसकंध सूँ लेण लंका॥

(५८) सतखणो[१]—

१. प्रथम चरण मे मात्राएँ १६; प्रथम दुवाले के प्रथम चरण मे मात्राएँ १८।

२. दूसरे चरण मे मात्राएँ १२ (अंत मे SS)।

३ तीसरे चरण मे मात्राएँ १६।

४. चौथे चरण मे मात्राएँ १२ (अत मे SS)।

५ पाँचवे चरण मे मात्राएँ ८ (अत मे SS)।

६. छठे चरण मे मात्राएँ ८ (अत मे SS)।

७ सातवें चरण में मात्राएँ ९।

८ सातो चरणो मे कुल मात्राएँ ८१।

९ पाँचवे चरण के आदि मे दो मात्रा का एक सबोधन होता है और फिर छ मात्रा का एक या एकाधिक शब्द होना चाहिए।

१० छठे चरण मे पाँचवें चरण के शब्द ही ज्यो के त्यो रक्खे जाते है।

११ सातवाँ चरण गीत के सब दोहलों मे एक सा ही होता है।

१२ तुक दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठे चरणो की मिलती है।

उदाहरण—

आया ऋग मार सेस नूँ आखै।
बंधव सुणौ सबोता॥
दारुण कुटी विडंगी दीसै।

---

[१]आद जाँगड़ो द्वालो आवै। जिण पर अठ कळ मेल सजावै॥
धुर जिण रे संबोधण धारै। उभै वार सो चरण उचारै॥
पद नव कळ फिर ठेर पुणीजै मीत सतखणो मछ गुणीजै

सही गमायो सीता
रे मन मीता
रे मन मीता
किण विध कीजिये ॥

[आठ चरणो के दोहले]

(५९) अठताळो[1]—

१. प्रथम चरण मे मात्राएँ १८; प्रथम दुवाले के प्रथम चरण मे मात्राएँ (४ + १४) १८।
२. दूसरे, तीसरे चरण मे मात्राएं १४-१४।
३ चौथे चरण में मात्राएँ १० (अंत मे ऽ।)।
४ पाँचवे, छठे और सातवे चरणो मे मात्राएँ १४-१४-१४।
५. आठवे चरण मे मात्राएँ १० (अत मे ऽ।)।
६ तुक पहले, दूसरे, तीसरे, पांचवे, छठे और सातवे चरणों की मिलती है। इसी प्रकार चौथे और आठवे चरणो की तुक भी मिलती है।
७ चौदह मात्रा वाले चरणो की गति गीतिका छंद के पूर्वार्ध के समान होती है।

उदाहरण—

काकै कुंभवाळे वैर काजा
सक्र जीत उजेळ साजा
कियण गो खळ कुंभ काजा
जाग ताजा जोस।

---

[1]तुक कळ चवद चवद री तीन। लख चौथी तुक दस कळ लीन ॥
जिण मैं मोहरे गुरु लघु जाण। इम फिर चौतुक द्वालो आण ॥
पिण अठ तुक इण सॉकण पाठ। आद तणी तुक कळ दस आठ ॥
यौं अठताळो गीत उचारै। कहै मंछ प्रभु गुण इधकारै ॥

वाय सोगण चव जाजा
प्रजुष्ठ वहनी कर प्राजा
वहण आवध होमा वाजा
कपद राजा रोस ।।

(६०) भँवरगुंजार [1]नंबर१—

१. पहले और पाँचवें चरणों में १६–१६ मात्राएँ होती हैं।

२. दूसरे, तीसरे, छठे और सातवे चरणो मे से प्रत्येक मे १४-१४ मात्राएँ होती है।

३ चौथे और आठवें चरणों मे ९-९ मात्राएँ होती है।

४ पहले, दूसरे, पाँचवे और छठे चरणो के अंत में दो लघु (।।) होते हैं। चौथे और आठवे चरणो के अत मे दो गुरु (ऽऽ) होते है।

५. तुक पहले की दूसरे के साथ, पाँचवें की छठे के साथ और चौथे की आठवें के साथ मिलती है।

६ गति हरिगीतिका और गीतिका के पूर्वार्ध से वहुत कुछ मिलती हुई सी होती है।

उदाहरण—

हणु मिलत धुर हर दीध सिर हथ
रिधु बजरंग हुवो समरथ
चवे रघुबर वयण वनचर
सीत सुध साजै ।।
तो करूँ अरिमण तेण कण-कण
हरख मारूँ विसख हण हण
विकट पूरूँ मनाँ वंछत
गहर गुण गाजै ।।

---

[1]सोळहै प्रथम पद, दूसरे चवदस ज, साकळी जुगम, लघु अंत साजै ।
चवद कळ त्रतिय, विसराम चवथै चरण, रस कळा दोय गुर मेळ राजै ।।
वळे तुक च्यार इम सार द्वाळो वणै, रीत कवि एण अणुसार राखै ।
चिरत धनुधार रच, मंछ, सुविचार चित भँवरगुंजार सो गीत भाखै ।।

(६१) भँवरगुजार नंबर २

१. भँवर गुजार नबर १ और न० २ मे केवल इतना ही अतर है कि उस मे पहला और पाँचवाँ चरण १६-१६ मात्रा का होता है, और इस मे तीसरा और सातवाँ चरण १६-१६ मात्रा का होता है। इस के पहले और पाँचवे चरणो मे १४-१४ मात्राएँ होती है।

२ पहले, दूसरे, पाँचवे, छठे चरणो मे मात्राएँ १४-१४।

३. तीसरे और सातवे चरणो मे मात्राएँ १६-१६।

४. चौथे और आठवे चरणों मे मात्राएँ ९-९ ।

५. बाक़ी बाते नबर १ के समान ही होती है।

६ चरणो के अत मे गुरु-लघु का नियम भी इन पर लागू नही होता।

उदाहरण—

मिळिया सु राघव लिखमणं
अति कपी पोरस ऊफणं
सुग्रीव अड़ आकास सीरख
थरक गिर थहरं ।
विध हले वीर महाबलं
गह बाल हूत दमंगलं
दिल अभय केकंधा दवारै
गजे सुर गहरं ॥

(६२) डोढो[1]—

१ इस मे और भँवरगुजार नंबर २ मे केवल इतना ही अंतर है कि इस के चौथे और आठवे चरणो मे ९ की जगह १०-१० मात्राएँ होती है।

---

[1] कळ चवदै चवदै तणी दुय तुक मिळै मोहरा ता महीं ।
कळ त्रतिय सोड़स वळे दस कळ चतुरथी तुक में चही ॥
तिण माँहि मोहरे गुरु-लघू लव चार तुक रच चोज सूँ ।
इण भाँत पद फिर च्यार उच्चरै मिळै डोढो मोज सूँ ॥

२. पहले, दूसरे, पाँचवे और छठे चरणों मे मात्राएँ १४-१४।

३ तीसरे और सातवे चरणो में मात्राएँ १६-१६ ।

४. चौथे और आठवे चरणों में मात्राएँ १०-१० (अन मे ऽ।)।

५. तुक पहले की दूसरे के साथ, पाँचवे की छठे के साथ तथा चौथे की आठवे के साथ मिलती है।

६ गति १४ मात्रा की गीतिका या रूपमाला के पूर्वार्ध के समान, १६ मात्रा की हरिगीतिका या वेताल के पूर्वार्ध के समान और १० मात्रा की रूपमाला या वेताल के उत्तरार्ध के समान।

उदाहरण—

पुर अवध सूँ हुय निज पगा।
मुनि वहै आस्रम मारगाँ।
सँग राम लखमण कुँवर दसरथ।
धरम धुज रिणधीर ॥
संपेख अग नग श्राख ली।
रत रोस मारग राखसी।
तिह नाक थाण विछेद ताडे।
बाण इक रघुवीर ॥

(६३) त्राटको[1] —

१. पहले चरण मे मात्राएँ १६। प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे मात्राएँ १८।

२. दूसरे, तीसरे, पाँचवें, छठे और सातवे चरणों में मात्राएँ १६-१६।

३. चौथे और आठवे चरणों मे मात्राएँ ११-११ (अत मे ऽ।)।

---

[1] सोळ-सोळ कळ त्रिय पद साजै। सुध इक साँकळ रीत समाजै ॥
भण चौथे मोहरे इण भंता। एकादस कळ गुरु लघु अंता ॥
वळे च्यार तुक एम वखाणौ। आठ तुकाँ द्वालो इक आणौ ॥
धुर पद कळा अठारै धरजै। कवी त्राटको गीत सु करजै ॥

४ तुक पहले, दूसरे और तीसरे की, तथा पाँचवे, छठे और सातवे की, और चौथे तथा आठवे की मिलती है।

५. गति १६ मात्रा की चौपाई के समान तथा ११ मात्रा की दोहे के सम चरण के समान।

उदाहरण—

रद चंपै ओठ डसै रढ रावण,
अंग खड़ा रोमंच अभावण,
सोक सुजाव प्रनाळाँ सावण,
नीर झरै जिम नैण ॥
नाँखे बारमबार निसासाँ,
हथ्थाँ तेग गही चँद्रहासाँ,
कीधो दारुण कोप प्रकासा,
वोद सिया सिर वैण ॥

(६४) मंदार[1]—

१. प्रथम और पाँचवें चरणो मे मात्राएँ १६ (अत मे ऽ)।

२. दूसरे और छठे चरणो में मात्राएँ १६ (अंत मे ऽ)।

३. तीसरे और सातवे चरणो में मात्राएँ १८।

४ चौथे और आठवे चरणो मे मात्राएँ १३ (अंत मे ऽ।ऽ)।

५ तुक पहले और दूसरे की, पाँचवें और छठे की, तथा चौथे और आठवें की मिलती है।

६. गति तोटक से कुछ-कुछ मिलती है।

उदाहरण—

सुण लेस सियार ची सोधा नूँ
जेले दिस क्यारूँ जोधा नूँ
सुग्रीव कह्यौ दिस प्राची सोधण ॥
वानर नीत वनीत सा ॥

[1]उमँग द्रुपद कर ऊपरै, अरध सीहँचळ आण।
फिर इस रच द्वालो फबै, सो मंदार सुजाण ॥
११

जिण साय पैराकी जंगाँ रा
अत प्राक्रम दीरघ अंगाँ रा
इसड़ा पँचवीस किरोड अढंगा।
झुझ सरु रीता जीतसा ॥

(६५) भाखड़ी[1]—

१. प्रथम चारो चरणो मे मात्राएं २५–२५ होती है जिन का गठन इस प्रकार होता है—१ चौकल + १ पंचकल + 'जी' शब्द=१ द्विकल + १४ मात्रा अत मे गुरु-लघु (ऽ।)।

२. पिछले चार चरण वेताल या कामरूप छद के होते है। जिस के प्रत्येक चरण मे (१६ + १०) २६ मात्राएँ होती है, और अत मे (ऽ।) होता है।

३ तुक चार-चार चरणों की मिलती है। 'जी' के पहले वाले शब्दो की तुक भी मिलती है।

४. २५ मात्रा के अतिम चरण के अन्त के शब्द वेताल के प्रथम चरण के आदि मे ज्यो के त्यो या कुछ हेर-फेर के साथ आते है।

उदाहरण—

मिथला महपती जी अवनी कीध जिग आरंभ।
तेडे़ समगती जी लिख फुरमाण बाहु प्रलंभ॥
कर क्रामती जी खोये जैथ हथ जसखंभ।
निझळै नोबती जी घर-घर घुरत द्वार असंभ॥
घर द्वार नोपत घुरत बाजत, तीस खट अवरेख।
बँध पोळ-पोळ विसाळ तोरण, बणे चित्र विसेख॥
प्रत सदन पीत पताक फरकत,व रण चहुँ सुखवेस।
मध जनकपुर सुर असुर मानव, पड़े संभृत पेख॥

---

[1]कर च्यार पंच जीकार केळ। मत चवदे फिर गुरु-लघु सुमेळ॥
पँचवीस कळा इक पद प्रबंध। सज च्यार सॉकळी एम संध॥
लख पछै फेर सीहावलोक। झड़ जिण पर छंद वेताळ झोक॥
गुण मंछ भाखरी एम गीत। कर जिकण माँहि रघुनाथ-कीत॥

[१४ चरणों का दोहला]

(६६) त्रकूटबंध[1] नंबर २—

१. प्रथम चरण में मात्राएँ १६।

२. दूसरे चरण में मात्राएँ १४।

३ तीसरे चरण मे मात्राएँ १४।

४. चौथे चरण में मात्राएँ १० (अत में ऽ।)।

५. पाँचवें और छठे चरणो मे मात्राएँ १४–१४।

६. सातवें चरण में मात्राएँ १६ (अंत मे ।।)।

७. आठवें, नवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवे और तेरहवे चरणों की मात्राएँ १४–१४ (अंत में ।।)।

८. चौदहवे चरण की मात्राएँ १० (अत मे ऽ।)।

९. तुक पहले की दूसरे के साथ, चौथे की चौदहवें के साथ, पाँचवें की छठे के साथ और सातवे से लेकर तेरहवें तक के सात चरणो की आपस मे, मिलती है। सातवे से तेरहवे तक के चरणो मे बीच मे सातवी मात्रा की तुक भी सोलहवी के साथ मिलनी चाहिए (सातवें चरण में नवी मात्रा की सोलहवी के साथ)। इसी प्रकार चौदहवें चरण की दूसरी मात्रा की तुक भी इन के साथ मिलनी चाहिए।

१०. गति १६ मात्रा की हरिगीतिका के और १४ मात्रा की गीति के पूर्वार्ध के समान तथा १० मात्रा की वेताल के उत्तरार्ध के समान।

---

[1]उभै तुकाँ तौ आद भँवरगुंजार तणी भण।
कळ चवदा, दस कळा वळे, मोहरे गुरु लघु वण ।।
चवद चवद कर चरण दोय साँकळ इक दीजै।
वळ तुक सोळह कळा, विखम सत-सत री कीजै ।।
घुर तिण नवकळ धार सार साँकळ अनुप्रासह।
तुक तुक दुय दुय अंत पछै दस कळा प्रकासह ।।
जिण माँहि अंत मोहरे जुगत रच द्वालो इण रूप रौ।
कवि मंछ प्रभू कीरत करै दखौ त्रकुटबँध दूसरौ ।।

उदाहरण—

रघुनाथ श्रीहथ हते रावण
परम संताँ कोध पावण
जयत अह नर अमर जंपै।
समर करुणा सार ॥

चित खून खण न विचारियौ
धणियाप निज अद धारियौ
उण अडर निसचर साज लसकर
प्रचँड खितधर कियण पाधर
जबर अहनर अवर निरजर
घरण हरहर रखी तिण घर
पहर थिरचर अतर थर-थर
तेण क्रित भर काज दुसतर
हुवर तिण पर महर नरहर
पसर किय भवपार ॥

[१५ चरणों का दोहला]

(६७) त्रकूटबंध[1] नंबर[1]—

१. पहले और दूसरे चरणों में मात्राएँ १४–१४ (अंत में ऽ)।
२. तीसरे चरण में मात्राएँ १६।
३. चौथे चरण में मात्राएँ १०।

---

[1]आद दवाळो अरध गीत डोढे रो गुणजै।
दे मोहरा फिर दोय पाय डोढे रो पुणजै ॥
चवद कळा धरण चरण बिया कळ बारै बारै।
अठ इक साँकळ अंत साज दुय-दुय लघु सारै ॥
तुक वळे दवादस कळ तणी ठिक गुरु लघु मोहरा सुठव।
कवि मंछ, इधक अनुराग सूँ कर त्रकूटबंध इम गीत तव ॥

४ पाँचवें से लेकर चौदहवें तक के ग्यारह चरणो में से प्रत्यक में मात्राएँ १४ पिछले आठ चरणों के अंत में दो लघु (।।) आना चाहिए।

५. अंतिम अर्थात् पंद्रहवें चरण मे मात्राएँ १२।

६. तुक पहले की दूसरे के साथ, चौथे की पंद्रहवे के साथ, पाँचवें की छठे के साथ, और सातवें से चौदहवें तक के आठ चरणो की परस्पर, मिलती है। आंतरिक तुक सातवे से ले कर पद्रहवें तक त्रिकूटबंध नंबर २ के अनुसार मिलती है।

७. गति हरिगीतिका, गीतिका, वेताल से मिलती-जुलती होती है।

उदाहरण—

कुळ भ्रात मंत्री सुत कटे
उर क्रोध रावण ऊपटे
मन समझ नहचै घटे मरणौ
सजे घण घमसाण ।।
वध ओप वाजत्र वाजिया
सझ टोप बगतर साजिया
कस कमर वडकर गहर कर
धर धजर आवध सजर धर
चढ़ चले रथ पर ढुर चमर
भड़ अवनि निसचर रिणभँवर
मिल चहुर मूँछाँ भुहर भर
वच पखर घूघर भड़ जबर
गज चीर फरहर खुल अगर
झुक अतुर लोयण अगन झर
अर आवियौ आराण ।।

(२) वर्णिक

(घ) वर्णिक सम

(६८) अरध गोखो[1]—

१. प्रत्येक चरण मे ८ वर्ण होते है जिन की १२ मात्राएँ होती है ।

२. प्रत्येक चरण के अंत में गुरु-लघु (ऽ।) होता है । अंतिम चरण मे वीप्सा होती है अर्थात् पहले चार वर्ण दुबारा आते है ।

३. चारो चरणो की तुक मिलती है ।

४. गति मल्लिका छंद के समान होती है ।

उदाहरण—

साँभळी इसौ सराह ।
लायो सीत भरे लाह ।
मची सको लोक माह ।
वाह वाह वाह वाह ।।

(६९) गोखो[2] नंबर १—

यह अरध-गोखे का दुगना होता है अर्थात् इस मे वैसे-वैसे ८ चरण होते हैं ।

उदाहरण—

विदेही तणै विवाँण ।
ईसचाप धरे आण ।
तोड़बा अनेक ताण ।
राजा राव अनै राण ।
पिनाक पै धरै पाण ।

[1] चरण आठ गोखो चवै, चौ पद जास रचंत ।
वणे अंत पद वीपसा, गोखो अरध गिणंत ।

[2] अठ-अठ वरण चरण कर आठ । पद-पद हुवै द्वादस कळ पाठ ।।
दीरघ-लघू अंत में दीजै । मोहरा ही आठूं में ळीजै ।।
अंत वीपसा तुक में आवै । गोखो गीत सु मंछ गिणावै ।।

हिले होय हीणमाण ।
दई वाण दई वाण ॥

(ङ) वर्णिक अर्धसम

(७०) एकलवैणो[1] नंबर[1]—

१. प्रत्येक चरण में वर्ण १६ । प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे वर्ण १८ ।

२ सम चरणो में वर्ण १४ ।

३ सब वर्ण लघु केवल सम चरण का १३वॉ वर्ण गुरु होता है ।

४. सम चरणो की तुक मिलती है ।

उदाहरण—

बळ-बळ सज दुगम चढिय सुत दसरथ ।
तहक तबल अत रुड़ल त्रबाट ।
समरण उबर चरण पण सियपत ।
चहत चरण उबरण वनबाट ॥

(७१) एकलवैणो नंबर २ अथवा घणकठो—

इस मे और एकलवैणो नबर १ मे केवल इतना ही अतर होता है कि उस मे सम चरणों में १४ वर्ण होते है जिन मे १३वॉ वर्ण गुरु होता है पर इस में सम चरणो मे १३ ही वर्ण होते है और सभी लघु होते हैं ।

उदाहरण—

गह मत गत असत अवर तत परगत ।
अखत दुचित रत भरत अत ।
जगपत हित मुख द्रुत इण भत जिम ।
प्रभुत हुयत दिन रयण पत ॥

---

[1] सोळह जिण वरण विखम पद साजै, सम पद चवदह वरण सहै ।
दीजै स-उपांत अंक इक दीरघ, लघु बीजा सह वरण लहै ॥
धुर पद दस-आठ, दूसरै धारौ, तवै खुड़द साणोर तणौ ।
गुर आखर नको, सरब लघु, सो इम अेकल वैणो दोय अणौ ॥

उदाहरण—

करॉ जोड़ रूप कीस
साम पाय नाम सीस
बॉध चाल महावीर
कूदियो कपीस।
निसाचरॉ काळनेम
पली लंक तणै पेम
माग बीच तणै रसॉ
सदंभॉ मुनीस॥

(छ) वर्णिक मात्रिक

(७५) सवैयो[१]—

१. इस मे पॉच चरण होते हैं।

२. पहले चार चरणो में से प्रत्येक चरण मे दो सगण होते है।

३. पॉचवे चरण मे १६ मात्राएँ होती है जो प्राय चार सगणों के रूप में होती हैं। यदि चार सगण न हों तो गति बहुत-कुछ मिलती-जुलती होनी चाहिए।

४. पॉचो चरणो की तुक मिलती है।

उदाहरण—

पर सत्र पटे।
कर झूझ कटे।
भिदवॉण भटे।
हद माण हटे।
रत कुंभ जगावण राण रटे॥

---

[१]उभै सगण पद पद जहुँ आवै। पंचम पद सोड़स कळ पावै॥
पॉचहि मोहरा यो सुध पुणजै। गीत सवैयो तिणनूं गुणजै॥

प्राचीन भारत के पुस्तकालय

[लेखक—श्रीयुत श्यामनारायण कपूर, बी० एस्-सी०]

साहित्योन्नति के साधनो में पुस्तकालयो का स्थान अत्यत महत्वपूर्ण है। इन के द्वारा साहित्य के जीवन की रक्षा, पुष्टि और अभिवृद्धि होती है। पुस्तकालयो द्वारा सुरक्षित साहित्य सभ्यता के इतिहास का जीता-जागता गवाह है। इसी सत्य-प्रिय साक्षी के बल पर वर्तमान भारत को अपने अतीत गौरव का अभिमान है। सभ्यता के विकास मे लिपि का आविष्कार एक बहुत बडी घटना है। सभ्यता के अन्य साधनो मे लिपिकला भी अपना विशेष महत्व रखती है। लिपि के आविष्कार के पहले मानवज्ञान का भडार स्मृति के दुर्ग मे ही निवास करता था। लिपि ने इस ज्ञान को अपने क्रोड मे स्थान दिया। मिट्टी की ईंटों पर, काठ के टुकडो पर और चमडे की पट्टियो पर लिपि की क्रीडा आरभ हुई। इसी को पुस्तको का प्रारभिक रूप समझना चाहिए। जहाँ इन वस्तुओ के सग्रह जमा हुए उन्ही को आदिम पुस्तकालय कहा जा सकता है। इन के बाद ताम्रपत्र, शिला, भोजपत्र, ताडपत्र, कपड़ा एव कागज़ की बारी आई। पुस्ताकलयों का रूप भी बदला। पहले धर्म और नियम की बाते लिपिबद्ध की गई। देवालयो मे पुस्तकालय स्थापित हुए। देवालयो पर अधिकार करने के बाद राजमहल, विद्वज्जनो के निवास स्थान और विद्यालय आदि इन के प्रमुख स्थान बने। मुद्रणकला के आविष्कार से पुस्तको के प्रकाशन और ज्ञान के विस्तार मे जितनी द्रुत गति से वृद्धि हुई उसी के अनुरूप पुस्तकालयो का भी वैभव बढता गया। भारतवर्ष मे भी पुस्कालयों की उन्नति प्राय. इसी क्रम से हुई।

लिपिकला का आविष्कार कब, कहाँ और कैसे हुआ, इस विषय में विद्वानो का एक मत नही है। भारतवर्ष मे लिपिबद्ध प्रथम लेख सम्राट् अशोक के है। इन लेखो की तिथि प्राय. २५० ई० पू० के लगभग समझी जाती है। ये लेख दो लिपियो में मिलते है—खरोष्ठी तथा ब्राह्मी मे। इन मे से खरोष्ठी दाहिनी ओर से बाईं ओर को और ब्राह्मी बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। कुछ विद्वानों का कथन है कि ये

(७२ सपखरो[1]

१. विषम चरणो मे वर्ण १६ । प्रथम दोहले के प्रथम चरण मे वर्ण १८ ।

२. सम चरणो मे वर्ण १४ ।

३. सम चरणो के अंत मे गुरु-लघु (ऽ।) होता है और सगण, भगण और नगण नही आते ।

४. सम चरणो की तुक मिलती है ।

उदाहरण—

अंगाँ ऊससै सवायो तायो सुणे वैण रामवाळा ।
वडाळाँ छोह मैं छायो चखाँ चोलवन्न ।
कळेसाँ अघायो लेण रटक्काँ सजोर काथै ।
कटक्काँ राम रैं माथे आयो कुंभकन्न ।।

(च) वर्णिक विषम

(७३) गोखो[2] नंबर २—

१ चरणो की सख्या ८ ।

२ चरणो मे वर्णो की सख्या ८, जिन मे १२ मात्राएँ हो ।

३ चौथे और आठवे चरणो मे वर्णो की सख्या ६ जिन मे ९, मात्राएँ हो ।

४ चरणो के अंत में गुरु-लघु (ऽ।) आता है अंतिम चरण मे वीप्सा आती है ।

५ तुक सब चरणो की मिलती है ।

---

[1] विखम चरण सोड़स वरण सम पद चवदै पाठ ।
हुवै दवाला हेक मैं सारा आखर साठ ।।
सारा आखर साठ आद तुक अंक अठारै ।
मंछ सु मोहरा मेळ अंत गुरु लघु उचारै ।।
सगण भगण न न सबद सपँखरो मनहर सम मैं ।
नर गायाँ रघुनाथ वळे नह पड़त विखम मैं ।।

[2] गीत गोखो इण तरै भी हुवै है। इण मैं नै उण मैं इतरो तफावत—उण मैं तो आठ वरण रौ पद, तीको आठ पदाँ रौ द्वालौ हुवै। इण मैं चौथो नै आठमो छै-छै वरण रो है ।।

६. गोखो नंबर १ और इस में इतना ही अतर होता है कि उस के चौथे और आठवे चरणों में ८ वर्ण और १२ मात्राएँ होती है, और इस के इन्ही चरणो मे ६ वर्ण और ९ मात्राएँ ही होती हैं ।

उदाहरण—

विहूँ ताम जोड़ बाह ।
नमो सीस नराँ नाह ।।
रिखी ची करी सराह ।
तवै एम ताह ।।
मूझ बोल न्रपाँ माँह ।
ठीक आप रखे ठाह ।।
आलमाँ कहँ उमाह ।
वाह वाह वाह ।।

(७४) वीरकंठ[1]—

१. इस के प्रत्येक दोहले मे ८ चरण होते है।

२. प्रत्येक चरण मे ८ वर्ण और १२ मात्राएँ होती है ।

३. चौथे और आठवें चरणो मे केवल ६ वर्ण और ९ मात्राएँ ही होती है ।

४. प्रत्येक चरणो के अंत मे गुरु-लघु (ऽ।) होता है पर तीसरे और सातवे चरणो मे ऐसा होना अनिवार्य नही है।

५ तुक पहले चरण की दूसरे के साथ, पाँचवे की छठे के साथ, और चौथे की आठवे के साथ मिलती है ।

६. नियम नं० ४ और ५ इस गीत को गोखा नंबर २ से भिन्न करते है। गोखे की तरह इसमे वीप्सा भी नही आती।

---

[1]अठ-अठ वरण चरण है आणो । जिण इक-इक कळ रवि-रवि जाणो ।।
सांकळ गुरु लघु अंत सजीजे । तेम वरण मात्रा पद तीजै ।।
छ वरण नव कळ चौथे छाजै । सुध मोहरा दीरघ-लघु साजै ।।
दळे च्यार इम रच पद द्वाळो । भाणव गीत वीरकंठ भाळो ।।

उदाहरण—

करॉ जोड़ रूप कीस
साम याय नाम सीश
बॉध चाल महावीर
कूदियो कपीस।
निसाचरॉ काळनेम
पती लंक तणें पेम
माग बीच तणै रतौ
सदंभॉ मुनीस॥

(छ) वर्णिक मात्रिक

(७५) सवैयो[1]—

१. इस में पॉच चरण होते है।

२. पहले चार चरणो मे से प्रत्येक चरण मे दो सगण होते हैं।

३. पॉचवें चरण मे १६ मात्राएँ होती है जो प्राय. चार सगणों के रूप मे होती है। यदि चार सगण न हो तो गति बहुत-कुछ मिल्ती-जुलती होनी चाहिए।

४ पॉचो चरणो की तुक मिल्ती है।

उदाहरण—

पर सत्र पटे।
कर झूझ कटे।
भिदवॉण भटे।
हद माण हटे।
रत कुंभ जगावण राण रटे॥

---

[1]उभै सगण पद पद चहुँ आवै। पंचम पद सोड़स कळ पावै॥
पॉचहि मोहरा यों सुघ पुणजै। गीत सवैयो लिणनूं गुणजै॥

प्राचीन भारत के पुस्तकालय

[लेखक—श्रीयुत श्यामनारायण कपूर, बी० एस्-सी०]

साहित्योन्नति के साधनो में पुस्तकालयों का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। इन के द्वारा साहित्य के जीवन की रक्षा, पुष्टि और अभिवृद्धि होती है। पुस्तकालयों द्वारा सुरक्षित साहित्य सभ्यता के इतिहास का जीता-जागता गवाह है। इसी सत्य-प्रिय साक्षी के बल पर वर्तमान भारत को अपने अतीत गौरव का अभिमान है। सभ्यता के विकास मे लिपि का आविष्कार एक बहुत बड़ी घटना है। सभ्यता के अन्य साधनो मे लिपिकला भी अपना विशेष महत्व रखती है। लिपि के आविष्कार के पहले मानवज्ञान का भडार स्मृति के दुर्ग मे ही निवास करता था। लिपि ने इस ज्ञान को अपने क्रोड मे स्थान दिया। मिट्टी की ईंटो पर, काठ के टुकड़ो पर और चमड़े की पट्टियो पर लिपि की क्रीडा आरभ हुई। इसी को पुस्तकों का प्रारभिक रूप समझना चाहिए। जहाँ इन वस्तुओं के सग्रह जमा हुए उन्ही को आदिम पुस्तकालय कहा जा सकता है। इन के बाद ताम्रपत्र, शिला, भोजपत्र, ताड़पत्र, कपडा एव कागज की वारी आई। पुस्ताकलयों का रूप भी बदला। पहले धर्म और नियम की वाते लिपिवद्ध की गई। देवालयों मे पुस्तकालय स्थापित हुए। देवालयो पर अधिकार करने के बाद राजमहल, विद्वज्जनो के निवास स्थान और विद्यालय आदि इन के प्रमुख स्थान बने। मुद्रणकला के आविष्कार से पुस्तको के प्रकाशन और ज्ञान के विस्तार मे जितनी द्रुत गति से वृद्धि हुई उसी के अनुरूप पुस्तकालयो का भी वैभव बढ़ता गया। भारतवर्ष में भी पुस्कालयो की उन्नति प्राय. इसी क्रम से हुई।

लिपिकला का आविष्कार कव, कहाँ और कैसे हुआ, इस विषय में विद्वानो का एक मत नही है। भारतवर्ष मे लिपिवद्ध प्रथम लेख सम्राट् अशोक के है। इन लेखो की तिथि प्राय २५० ई० पू० के लगभग समझी जाती है। ये लेख दो लिपियो मे मिलते है—खरोष्ठी तथा ब्राह्मी मे। इन मे से खरोष्ठी दाहिनी ओर से बाई ओर को और ब्राह्मी बाई ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। कुछ विद्वानो का कथन है कि ये

लिपियाँ भारत म ईसा के पाच शताब्दी पूर्व में प्रचलित थी और जन म उन का यथेष्ट प्रचार हो चुका था। बलूचिस्तान और सिधु नदी की उपत्यका मे होने वाले पुरातत्व-सबधी अन्वेषण-कार्यं से भारतवर्ष मे ईसा के ३००० वर्ष पूर्व भी लिपि के व्यवहार के प्रमाण मिले हे। बौद्धकाल में और बौद्धकाल के कुछ समय पूर्व तो भारतवर्ष मे लिपि का यथेष्ट प्रचार हो चुका था। वैदिक काल में भी लकडी, चमडा, धातु, पत्थर आदि पर लिखने के प्रमाण मिलते है। यह जरूर है कि उन दिनो लिपि का व्यवहार राजकीय कार्यो तक ही सीमित था। वेदादि धार्मिक एव पवित्र ग्रंथो का ज्ञान मौखिक ही कराया जाता था। लिपि के आविष्कार के बहुत से समय बाद तक मानव-ज्ञान का भडार स्मृति के दुर्ग मे ही निवास करता था। तत्कालीन आचार्य और विद्वज्जन ज्ञान के भंडार समझे जाते थे। वे लोग अपने शिष्यो को मौखिक शिक्षा देते थे। शिष्यवर्ग अपने आचार्यो से प्राप्त होने वाली शिक्षा के आधार पर अनेक ग्रथों को स्मरणशक्ति के सहारे कठाग्र कर लिया करते थे। अनेक पीढियो तक यही क्रम जारी रहा। बहुत सभव है कि आजकल के चतुर्वेदी, त्रिवेदी और द्विवेदी ब्राह्मण परिवार क्रम से चार, तीन और दो वेदो को कठाग्र कर लेने और उन का समुचित ज्ञान प्राप्त कर लेने ही के नाते उपरोक्त नामो से प्रख्यात हुए हों। कुछ भी हो यह तो निश्चित ही है कि पुस्तको की रचना और उन के लिपिबद्ध किए जाने के बहुत पूर्व ज्ञान-सग्रह और उस के प्रसार का कार्य आरंभ हो गया था और स्मरणशक्ति के सहारे मनुष्य इस ज्ञान को स्थायी बनाने का प्रयत्न करने लगे थे। पुस्तकालयो के इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर बी० सी० रिचर्डसन इस प्रकार के ज्ञान-भंडारो को 'स्मृति-पुस्तकालयो' के नाम से पुकारते है। बहुत सभव है कि तत्कालीन चारणो, भाटो और सूतों के स्मृति-पुस्तकालयो ने ही महाभारत, पुराणादि ग्रथो को जन्म दिया हो।

पुस्तक की महत्ता

लिपि का समुचित प्रचार हो जाने पर वेदादि ग्रंथो के लिपिबद्ध करने के प्रयत्न शुरू हो गए। शीघ्र ही एक ऐसे युग का पदार्पण हुआ जिस मे पुस्तके बहुत महत्व की दृष्टि से देखी जाने लगी। पुस्तको को लिपबिद्ध करना एक महत्वपूर्ण कार्य समझा जाने लगा। धार्मिक ग्रथो में 'पुस्तक-दान' की भी समुचित प्रशंसा की गई, और विद्या की

अधिष्ठात्री वीणा एवं पुस्तक धारण करने वाली सरस्वती देवी की कल्पना की गई इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि अतीत काल में भी भारतवर्ष में पुस्तकों को अत्यंत उच्च और महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। बौद्धकाल में पुस्तकों का महत्व और प्रतिष्ठा और भी अधिक बढ़ गई और पुस्तक-संग्रह की मनोवृत्ति भी व्यापक रूप धारण करने लगी। इस बात के तो यथेष्ट प्रमाण नहीं मिलते कि स्वयं भगवान गौतमबुद्ध ने अपने उपदेशों और धार्मिक आदेशों को कभी लिपिबद्ध भी किया था परंतु उन की मृत्यु के पश्चात् उन के शिष्यों ने उन के समस्त उपदेशों, सूत्रों आदि का संकलन कर के 'त्रिपिटक' की रचना की।

इस समय तक धार्मिक एवं पवित्र ग्रंथों को लिपिबद्ध करने की प्रवृत्ति दृढ़ रूप धारण कर चुकी थी। स्थान-स्थान पर पंडित और विद्वज्जन मानवज्ञान के भंडार को स्मृति के दुर्ग से बाहर निकाल कर लिपिबद्ध करने में जुट गए थे। देवालयों, मठों और मंदिरों में इन लिपिबद्ध धार्मिक ग्रंथों का संग्रह करने की होड़-सी लग गई थी। इस लिपि-बद्ध ज्ञान को संग्रह करने की अभिलाषा ने पुस्तकालयों को जन्म दिया। तत्कालीन राजा लोग भी पुस्तक-संग्रह की इस मनोवृत्ति को प्रोत्साहित करने लगे। ५६५ ई० का लिखा हुआ पश्चिम भारत के वल्लभी राजाओं का इसी आशय का एक लेख भी मिला है।

ताम्रपत्रों पर पुस्तकें

इस लेख के सैकड़ों वर्ष पूर्व भी हम सम्राट् कनिष्क को ईसा की पहली शताब्दी में बौद्ध पंडितों द्वारा ताम्रपत्रों पर 'विभाषा' की रचना करवाते हुए पाते हैं। इस समय कागज़ का चलन भी शुरू न हुआ था। अधिकांश ग्रंथ ताड़पत्रों, भोजपत्रों और कपड़ों ही पर लिखे जाते थे। सम्राट् कनिष्क ने बौद्ध आचार्यों द्वारा भगवान् बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् के बौद्ध सिद्धांतों और विचारों को संकलित करवा कर तथा बौद्ध ग्रंथ 'त्रिपिटक' की मीमांसा और व्याख्या करा कर ताम्रपत्रों पर लिपिबद्ध कराया और उसे स्थायी रूप प्रदान करने के लिए एक स्तूप में गड़वा दिया था। उन्हीं दिनों ताम्रपत्रों के अतिरिक्त पत्थरों की शिलाओं पर भी ग्रंथों के रचे जाने और उन के संग्रह किए जाने के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं।

शिला-लेखों का पुस्तकालय

धार के राजा भोज परमार ने संस्कृत साहित्य के अध्ययन के लिए एक वृहत विद्यालय स्थापित किया था। कर्नल ल्यूआर्ड और मिस्टर लेले ने अपनी 'धार और मालवा के परमार' नामक पुस्तक में इस विद्यालय का विस्तृत विवरण दिया है। इस विवरण से मालूम होता है कि इस विद्यालय में संस्कृत साहित्य के विविध विषयों पर लिखे गए शिलालेखों का अच्छा संग्रह था। शिलालेखों पर ही लिपिबद्ध, मदन नामक एक गौड ब्राह्मण द्वारा रचित एक नाटक भी यहाँ मौजूद था। यह नाटक मदन ने अपने संरक्षक अर्जुन वर्मन् परमार के गुजरात विजय करने के उपलक्ष्य में रचा था। विद्यालय में होने वाले वसंतोत्सव के अवसर पर इस नाटक का अभिनय भी किया गया था। संभवतः वहाँ इस नाटक के अतिरिक्त शिलाओं ही पर लिपिबद्ध और भी बहुत से ग्रंथ रहे होंगे। पाठशाला की शिलाओं पर अनेक विषयों से संबंध रखने वाले सुभाषित उत्कीर्ण किए गए थे। मुसलिम विजेताओं ने इस नगर पर कब्जा करने के बाद, विद्यालय को नष्ट कर के उस के स्थान में मसजिद बनाई और उन शिलालेखों को फर्श बनाने के काम में लगाया। ये शिलालेख 'कमाल मौला' की मसजिद में अब भी धार में मौजूद है, परंतु इतने ज्यादा घिस गए हैं कि उन में अंकित लिपि को समझ सकना नितांत असंभव हो गया है। सौभाग्य से मदन-विरचित नाटक सफलतापूर्वक पढ़ा जा सका है और एपिग्राफिका इंडिका संख्या ८ में संपादित हो चुका है।[1] यह कालिज उन दिनों 'सरस्वती-सदन' या 'भारती-भवन' के नाम से प्रख्यात था।

लेखनोपकरणों का अभाव

आजकल की तरह उस अतीतकाल में कागज का आविष्कार नहीं हुआ था। कागज और मुद्रणकला के आविष्कार के पूर्व—पुस्तकों का संग्रह करना आजकल की तरह सरल बात न थी। आजकल साधारण स्थिति के पुस्तकालय में जितनी संपत्ति लगती है, उतनी उन दिनों कभी-कभी एक पुस्तक की तैयारी में लग जाती थी। फिर भी भारत के पुस्तकालय संसार भर में अपना सानी नहीं रखते थे। अतीत काल से ले

---

[1] एस० के० दास, 'एडूकेशनल सिस्टम अव् दि ऐंशेंट हिंदूज़', पृ० ३२०

कर मुगल सम्राटो के समय तक यही स्थिति रही चीन जापान फारस मध्य-एशिया तुर्किस्तान प्रभृति सुदूर स्थित देशों के झुड के झुड विद्यानुरागी लबी-लबी यात्राएँ कर के भारत आया करते थे।

भारत में कागज का व्यवहार मुस्लिम शासन-काल ही से आरंभ होता है, यद्यपि उस का आविष्कार चीन में ई० पू० की दूसरी सदी मे ही हो चुका था। कागज के अभाव में, धातुपत्रों, शिलाओ, चमड़े तथा लकड़ी आदि की पट्टियो के अतिरिक्त, आमतौर पर ताडपत्र तथा भोजपत्र काम मे लाए जाते थे। उबालने के बाद, धूप में सुखा कर ताड का पत्र किसी चिकनी चीज से घोट लिया जाता था और लिखने के काम मे लाया जाता था। आजकल की तरह लेखनोपकरण के सुलभ न होने पर भी, विद्वज्जनों को लिखने का शौक जरूर था। वे अथक परिश्रम कर के पत्थरों एव धातुपत्रो को खोदते थे, ईटो पर लिख कर उन्हे पकाते थे और भोजपत्र या ताड़पत्र को लेखनोपयुक्त बनाने के लिए बहुत श्रम किया करते थे।

बौद्ध यात्रियों के विवरण

तिब्बत, नेपाल, चीन और जापान प्रभृति देशों में बौद्धधर्म के प्रचार और प्रसार ने तत्कालीन पुस्तकालय-संबंधी मनोवृत्ति को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। सब से पहले सम्राट् अशोक ने बौद्ध-भिक्षुओ को मध्य-एशिया मे धर्म-प्रचारार्थ भेजा था। वे लोग प्रचार करने मे बहुत कुछ सफल मनोरथ भी हुए थे। इन लोगो के प्रयत्न से बौद्धधर्म की उदार नीति की चर्चा चीन देश मे दिन-बदिन फैलती गई और ईसा के जन्म के ६७ वर्ष पीछे चीन के सम्राट् मिगटो ने भारतवर्ष से बौद्ध-शिक्षको को बुलाने के लिए अपने दूत भेजे। दूत कश्यप-मातंग और धर्म-रक्षक नामक दो आचार्यो को अपने साथ चीन देश ले गए। ये दोनो आचार्य अपने साथ बहुत से ग्रथ भी ले गए और वहाँ पहुँच कर बौद्धधर्म के अनेक ग्रथों का अनुवाद चीनी भाषा में कर बौद्धधर्म का प्रचार किया। बौद्धधर्म के प्रचार से भारत के साथ चीन का गुरु-शिष्य-संबध सुदृढ होता गया। तब से अनेक बौद्ध भिक्षु भारत-वर्ष की ओर धर्म-यात्रा के लिए आते रहे। ऐसे यात्रियो मे जिन्हो ने भारत के भिन्न-भिन्न नगरों और देशों में भ्रमण किया और जो अपना यात्रा-विवरण लिख कर छोड गए हों फाहि-यान सब से पहला है। उस के बाद ह्वेनसाग और इत्सिग प्रभृति यात्री भी समय-समय

पर यहाँ आए इन लोगों का यात्रा-काल ईसा की पाँचवी और सातवी सदी में माना जाता है। इन यात्रियो ने भारत के विभिन्न भागो की यात्राएँ की और स्थान-स्थान पर बौद्ध मठो, मंदिरो और संघारामो में रह कर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का अध्ययन किया और बौद्ध ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ की। इन लोगो ने अपने यात्रा-विवरण को भी लिपिबद्ध किया। आज दिन यही यात्रा-विवरण भारतवर्ष की तत्कालीन सांस्कृतिक एवं साहित्यिक स्थिति का परिचायक हो रहे हैं। इन यात्रा-विवरणो से हमे पता चलता है कि तत्कालीन बौद्ध विहारो, मठों, संघारामो, विद्यालयो एवं देवालयों मे पुस्तको का एक अच्छा संग्रह मौजूद रहता था। प्रत्येक मठ और विहार मे कुछ प्रतिष्ठित विद्वान भी रहते थे जो विहार मे रहने वाले विद्यार्थियो को मौखिक शिक्षा भी देते थे। इन बौद्ध यात्रियो के यात्रा-विवरणों से हमे तत्कालीन तक्षशिला, पाटलिपुत्र, काशी, उदंतपुरी, विक्रमशिला और नालंद प्रभृति विश्व-विद्यालयो एवं विद्यापीठो का सविस्तर विवरण मिलता है।

जेतवन संघाराम

फाहियान के समय में पाटलिपुत्र के निकट जेतवन संघाराम उच्च कोटि की बौद्ध शिक्षा का प्रमुख स्थान था। इस संघ मे अस्पताल, भोजनालय, स्नानागार, सरोवर, भिक्षुओ के लिए आवासगृह, मंदिर, उपासनागृह आदि के साथ कई पुस्तकालय और वाचनालय भी मौजूद थे।[1] स्थान-स्थान पर सरोवर बने हुए थे। इन के किनारो पर सुंदर हरे-भरे वृक्ष लगे हुए थे जिन की छाया निर्मल सरोवर पर पड़ती थी। इन सब को आवेष्ठित करती हुई, एक सुदृढ दीवार बनी थी। इस संघाराम के पुस्तकालयो मे हीनयान, महायान तथा उन के १८ निकायो के ही धर्म-ग्रंथो और पुस्तकों आदि का संग्रह नहीं था; और वेद, वेदांग, दर्शनशास्त्र, अबौद्ध साहित्य और तत्कालीन भारत मे प्रचलित विविध विज्ञानो और कलाओं के ग्रंथो का भी अच्छा संग्रह था। यह संघाराम पाटलिपुत्र[2] नगर के निकट होते हुए भी नगर के कोलाहल से बचा हुआ था। संघाराम के बीचोबीच एक विशाल उपवन भी बना हुआ था।

---

[1] वाटर्स, 'युवान च्वांग', जिल्द १, ३८६

[2] काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'फ़ाहियान' नामक पुस्तक में 'जेतवन संघाराम' को श्रावस्ती के निकट बतलाया गया है परंतु श्री० एस० के० दास ने अपनी पुस्तक में 'जेतवन संघाराम' को पाटलिपुत्र के निकट बतलाया है।

मध्य-भारत का महायान संघाराम

जेतवन संघाराम के अतिरिक्त, फाहियान ने मध्यभारत मे भी एक महायान सम्प्रदाय के सघाराम में एक अच्छे पुस्तकालय के होने का उल्लेख किया है। इस संघाराम मे फाहियान को बहुत से धार्मिक ग्रंथो की प्रतिलिपियाँ और अवतरण मिले थे। यहाँ उसे 'महासंघिक-निकाय' के विनय की मूल प्रति भी मिली। यह सर्वागपूर्ण विवृत्ति और भाष्ययुक्त थी। यहाँ उसे एक और निकाय का विनय मिला जो लगभग ७०० गाथा का था। यह 'सर्वास्तिवादनिकाय' का विनय था। चीन देश के भिक्षुसंघों मे इसी का प्रचार था। फाहियान बहुत दिनों से इस की तलाश मे भी था। इस की भी शिक्षा गुरु-परंपरा से मौखिक ही चली आती थी, लिखित न थी। यहाँ के इसी संघ मे 'सयुक्तधर्महृदय' लगभग ६००० गाथा का मिला। एक और निकाय का सूत्र २५०० गाथा का, 'परिनिर्वाण-वैपुल्यसूत्र' का एक अध्याय ५०० गाथा का और महासंघिक 'अभिधर्म' भी मिला। ये सभी ग्रंथ बहुत दुर्लभ थे। अत' फाहियान यहाँ तीन वर्ष रहा। संस्कृत भाषा और संस्कृत ग्रथो का अभ्यास करता रहा और 'विनयपिटक' लिखता रहा।[1]

इस संघाराम से आगे चल कर फाहियान ताम्रलिप्त जनपद में पहुँचा। इसे आजकल तामलुक कहते है और यह बगाल के मेदनीपुर ज़िले में है। इस जनपद मे २४ सघाराम थे। श्रमण संघ मे रहते थे। बौद्धधर्म का अच्छा प्रचार था। फाहियान यहाँ दो वर्ष रहा। यहाँ रह कर उस ने संघाराम में मौजूद सूत्रो और शास्त्रो[2] की प्रतिलिपि की और मूर्तियो के चित्र बनाए।[3]

नालंद विश्वविद्यालय का पुस्तकालय

फाहियान के बाद सातवी शताब्दी के आरभ मे जब ह्वेनसाग भारतवर्ष आया तो उसे भारत के पुस्तकालय और भी अधिक उन्नत अवस्था मे मिले। तत्कालीन

---

१ 'फ़ाहियान' (काशी ना० प्र० सभा), पृ० ८०

२ एस्० के० दास, 'एडूकेशनल सिस्टम अव् ऐशेंट हिंदूज़', पृ० ३४४

३ 'फ़ाहियान' (काशी ना० प्र० सभा), पृ० ८१-८२

नालंद[1] विश्वविद्यालय का पुस्तकालय संसार में अपना सानी नहीं रखता था। ह्वेनसांग ने नालंद के बारे में लिखा है कि वहाँ चारों ओर ऊँचे-ऊँचे विहार और मठ खड़े थे। बीच-बीच में सभागृह और विद्यालय बने हुए थे। वे सब समाधियों, स्तूपों और मंदिरों से घिरे थे। उन के चारों ओर बौद्ध शिक्षकों और प्रचारकों के रहने के लिए चौमंजिली इमारतें थीं। इन के सिवा ऊँची-ऊँची मीनारों और विशाल भवनों की शोभा भी देखने योग्य थी। इन भवनों में नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। रंग-बिरंगे दरवाजों, कड़ियों, छतों और खंभों की सजावट देख कर लोग मुग्ध हो जाते थे। इस विश्वविद्यालय का पुस्तकालय नौमंजिला था जिस की ऊँचाई करीब ३०० फीट थी। इस में बौद्धधर्म-संबंधी सभी ग्रंथ थे। प्राचीन काल में इतना बड़ा पुस्तकालय कदाचित् ही कहीं रहा हो।[2]

ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण के अतिरिक्त तिब्बत में मिलने वाले विवरणों से हमें पता चलता है कि नालंद में एक सुप्रसिद्ध पुस्तकालय था। यह पुस्तकालय नालंद नगर के धर्मगंज में स्थित था। पुस्तकालय के तीन भव्य भवन थे। ये तीनों भवन 'रत्न-सागर', 'रत्नोदधि', और 'रत्नरंजक' के नाम से प्रसिद्ध थे। 'रत्नोदधि' नामक भवन ९ मंजिल का था। इस में 'प्रज्ञापरिमितसूत्र' प्रभृति पवित्र धार्मिक ग्रंथ तथा 'समाजगुह्य' प्रभृति तांत्रिक ग्रंथों का भी अच्छा संग्रह था।[3]

ह्वेनसांग के निवास-काल में शीलभद्र इस महाविहार के प्रधान आचार्य थे। अन्य आचार्यों और शिक्षकों में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र तथा शीघ्रबुद्ध प्रभृति के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।[4] नागार्जुन के शिक्षक

---

[1] नालंद-संघाराम की स्थापना के ठीक-ठीक समय के बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद है। ह्वेनसांग की जीवनी के लेखक सुप्रसिद्ध विद्वान ह्वीली का कथन है कि नालंद संघाराम ह्वेनसांग के भारत आने के लगभग ७०० वर्ष पूर्व स्थापित हो चुका था। इस हिसाब से उस का स्थापना-काल ई० पू० ८० के लगभग होता है। इस के विपरीत जनरल कनिंघम प्रभृति विद्वान् उस की स्थापना फ़ाहियान के भारत से चले जाने के बाद और ह्वेनसांग के भारत आने के पूर्व अर्थात् ४२५ ई० और ६२५ ई० के बीच बतलाते हैं।

[2] जनार्दन भट्ट, 'बौद्धकालीन भारत', परिशिष्ट ग, पृ० ३७६-३७७

[3] एस० के० दास, 'एडूकेशनल सिस्टम अव् एंशेंट हिंदूज़', पृ० ३६१

[4] 'सरस्वती', (अगस्त १९१९), पृ० १०२

और गुरु भी यही निवास करते थ इन समस्त विद्वानो न नालद महाविहार म निवास करते हुए अनक महत्वपूण ग्रथो की रचना का थी य समस्त ग्रथ नालद के पुस्तकालयो मे सुरक्षित थे। इन मे से आर्य अमग ने सस्कृत मे १२ पुस्तकें लिखी थी। इन के चीनी और तिब्वती भाषाओं में अनुवाद अब भी सुरक्षित है। आर्य असग के भाई वसुबंधु ने महायान संप्रदाय तथा तर्कशास्त्र पर अनेक पुस्तकों की रचना की। धर्मपाल ने 'चद्र-व्याकरण' पर बहुत उपयोगी टीका लिखी थी। बौद्धधर्म पर भी इन्हों ने ४ ग्रथ लिखे थे। शीलभद्र और उन के आचार्य धर्मपाल ने तर्कशास्त्र पर अनेक ग्रंथो की रचना की थी। स्थिरमति ने संस्कृत ग्रंथो की रचना के साथ साथ उन का तिब्बती भाषा मे अनुवाद भी किया था। स्थिरमति ने ९ सस्कृत ग्रथो की रचना की, ७ का तिब्वती भाषा मे अनुवाद किया और तिब्बती भाषा मे अनुवादित १० पुस्तको का सशोधन, परिवर्धन और संपादन किया। स्थिरमति के एक शिष्य चंद्रगोमित ने ६० पुस्तको की रचना की थी। इसी तरह कमलशील ने ५ पुस्तकें सस्कृत मे लिखी थी और बुद्धकीर्ति ने सस्कृत पुस्तकों के तिब्बती भाषा मे अनुवाद किए थे। जिनमित्र ने भी सस्कृत ग्रथो को तिब्बती भाषा मे अनुवादित कराने मे सहायता की थी। दूसरे विद्वानो और आचार्यो ने भी अनेक ग्रथो, टीकाओ, आलोचनाओं आदि की रचना की थी।[1] मौलिक-पुस्तको की रचना के साथ शिक्षक और विद्यार्थी पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ भी किया करते थे।[2]

नालंद पुस्तकालय का अंत

नालद का विश्वविद्यालय और पुस्तकालय ईसा की ११वी शताब्दी तक सुव्यवस्थित और सुचारु रूप से काम करता रहा। सम्राट् महीपाल (९८०-१०२६ ई०) के शासन-काल के पाँचवे वर्ष मे, यहाँ 'अष्टाश्रिका प्रज्ञापरिमिति' की प्रतिलिपि तैयार की गई। यह प्रति अब भी केंब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय मे सुरक्षित है। इस के एक वर्ष बाद महीपाल के ही शासन-काल मे इसी पुस्तक की एक प्रति और तैयार की गई। यह प्रति बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय मे सुरक्षित है।[3]

---

[1] एस्० के० दास की उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ३६६-६९
[2] वही, पृ० १६९
[3] वही, पृ० ३७१

महीपाल के बाद न्यायपाल के शासन-काल में भी नालद की प्रतिष्ठा पूर्ववत् बनी हुई थी। उस के समय मे भी नालंद मे पुस्तको की रचना और नालद के प्रधान आचार्य के तिब्बत जाने के प्रमाण मिलते हैं। नालद महाविहार की अवननि न्यायपाल के बाद आरभ हुई। नालंद के निकट विक्रमशिला नामक एक दूसरे महाविहार की उन्नति इस की अवनति में विशेष सहायक हुई। नालंद के ध्वसावशेषो मे १८६४ में कैप्टेन मार्शल को बालादित्य का जो शिलालेख प्राप्त हुआ था उस से सिद्ध होता है कि नालद महाविहार भीषण अग्निकांड के कारण जल कर भस्म हो गया और उस के साथ ही उस का विशालकाय सुप्रसिद्ध पुस्तकालय भी भस्म हो गया।[1] कहा जाता है कि पुस्तकालय मे इतने अधिक ग्रंथ थे कि पुस्तकालय बराबर एक मास तक सुलगता रहा था।

विक्रमशिला

नालद ही के सदृश्य विक्रमशिला के महाविहार मे भी एक अच्छा पुस्तकालय था। इस महाविहार मे अतिमा, रत्नवज्र, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नकीर्ति, जेतारि, रत्नाकर-शांति, जमारि प्रभृति विद्वानो ने अनेक ग्रंथो की रचना की थी। विक्रमशिला में भी नालद ही के समान तिब्बत, चीन और मगोलिया आदि देशों के विद्वान् शिक्षा प्राप्त करने आया करते थे और यहाँ रहने वाले अनेक संस्कृत ग्रंथो की प्रतिलिपियाँ कर के तथा अपनी भाषा मे अनुवाद कर के उन्हे अपने साथ ले जाया करते थे।

उदंतपुरी

उदतपुरी के विहार में तो नालद के पुस्तकालय से भी कही अधिक बड़ा पुस्तका-लय था।[2] यह १२०२ ई० तक सुचारु रूप से काम करता रहा। इसे मुस्लिम आक्रमणकारी बख्तियार खिलजी और उस की सेना ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। लामा तारानाथ ने इस संबध मे लिखा है कि तुर्क बादशाह ने सारे मगध को जीत कर उदतपुरी और विक्रमशिला के समस्त पंडितों को मरवा डाला और प्राचीन विहार के स्थान पर

---

[1] एस्० के० दास, 'एडूकेशनल सिस्टम अव् ऐंशेंट हिंदूज', पृ० ३७२
[2] वही, पृ० ३८२

एक नवीन किला स्थापित किया। मिन्हाज ने भी अपनी 'तबक़ाते-नासिरी' में उदतपुरी के अंत का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'मुहम्मद बख्तियार ने उदतपुरी पर आक्रमण कर उसे शीघ्र ही फ़तह कर लिया। वहाँ के निवासियो को—जो अधिकाश मे ब्राह्मण थे और सिर घुटाए हुए थे (बौद्ध भिक्षु)—मार डाला। यहाँ मुसलमानों को हस्त-लिखित-पुस्तको का एक बहुत बडा जखीरा मिला। उन्हों ने बचे-खुचे निवासियों को बुला कर उन का हाल मालूम करने की कोशिश की, परतु सब पढ़े लिखे हिंदू मर चुके थे। बाद में मालूम हुआ कि वह नगर और उस का किला एक कालिज था जिसे वे लोग विहार के नाम से पुकारते थे।'

कहा जाता है कि इस विहार के चारों ओर सुदृढ दीवारें बनी हुई थी। इस दीवार के मुसलमान आक्रमणकारी विहार को किला समझ बैठे और उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। विहार को नष्ट-भ्रष्ट कर डालने के बाद बख्तियार और उस के सेनापति ने पुस्तकों की जाँच-पडताल शुरू की। बचे-खुचे लोगो से पुस्तकों के बारे में पूछ-ताछ की। परतु उन्हो ने यह कह कर कुछ भी बताने से इनकार कर दिया कि जो लोग उन्हे पढ और समझ सकते थे वे सब मार डाले जा चुके हैं। इस पर मुस्लिम सेनापति बहुत क्रुद्ध हुआ और उस ने समस्त पुस्तको को आग मे जलवा डाला। दूसरे नगरो मे स्थित विहारो और उन के पुस्तकालयो की भी यही गति हुई। विभिन्न ऐतिहासिक नगरो मे मिलने वाली हस्तलिखित पुस्तको की राख से भी यही बात साबित होती है।

मुस्लिम आक्रमण का प्रभाव

मुसलमानो के आक्रमण से अन्य बातो के साथ प्राचीन विद्याओ को भी जबरदस्त धक्का पहुँचा। हिंदुओ और बौद्धो के लब्ध-प्रतिष्ठ विश्वविद्यालय नष्ट-भ्रष्ट हो गए। विद्वज्जन अपने प्राणों के मोह मे लुक-छिप कर इधर-उधर भाग गए। सस्कृत साहित्य की भी जबरदस्त हानि हुई। पुस्तकों की तो रक्षा करना भी कठिन हो गया। मुसलमान आक्रमणकारी जहाँ कही पुस्तकालय आदि देख पाते उन्हें फ़ौरन ही जला कर खाक कर देते अथवा अन्य उपायों से नष्ट-भ्रष्ट करने में कोई कोर-कसर न रखते। परन्तु फिर भी तत्कालीन विद्वत्समाज ने अपने धार्मिक ग्रथो, शास्त्रों, विज्ञान तथा कला-संबंधी ग्रथो की रक्षा के लिए प्राणपण से चेष्टाएँ की। मुस्लिम आक्रमणकारियों का कार्यक्षेत्र शुरू

शुरू म उत्तर भारत तक ही सीमित रहा दक्षिण भारत तक उन की पहुँच न हो सकी अस्तु मुसलमानो के आक्रमण के बाद हिंदू संस्कृति और साहित्य का विकास दक्षिण मे ही देख पडता है। मुस्लिम आक्रमण के बाद कुछ विद्वान् दक्षिण की ओर चले गए और कुछ उत्तर मे नेपाल तथा तिब्बत आदि प्रदेशो मे जा कर बस गए। कुछ ने राजपूताने की मरुभूमि में शरण ली, और कुछ दक्षिण-पश्चिम भारत के पार्वत्य प्रदेशो मे आबाद हो गए। उन के साथ ही उन की संस्कृति और उन का साहित्य भी उन्ही प्रदेशो मे फैल गया।

सरस्वती-भांडारिक

हिंदू संस्कृति और साहित्य के विकास के साथ ही दक्षिण में हिंदू ग्रंथो की रचना हुई और उन्हे सुरक्षित रखने के लिए पुस्तकालय स्थापित किए गए। दक्षिण मे 'विक्रम-पाडचचतुर्वेदीमगलम्'[1] नामक एक प्राचीन ब्राह्मण-ग्राम मे हमे पुस्तकालय के होने और उस के प्रबंध के लिए पुस्तकाध्यक्षो—सरस्वती-भाडारिको—के नियुक्त किए जाने का विवरण मिलता है।

लोहे की आलमारियाँ

इन पुस्तकालयो के प्रबंध के बारे में हमे 'पौस्कर-सहिता'[2] से काफी बाते मालूम होती है। उस से पता चलता है कि पुस्तकालयों के लिए पत्थर के भव्य भवन बनाए जाते थे। हस्तलिखित ग्रंथ कपडे से ढक कर और डोरियों से बाँध कर लोहे की आलमारियों में सुरक्षित रक्खे जाते थे। पुस्तकालय के प्रबंध और व्यवस्था के लिए एक सुयोग्य विद्वान् पुस्तकाध्यक्ष रहता था। पुस्तकाध्यक्ष से केवल पुस्तकालय के प्रबंध करने की ही नही वरन् पुस्तकालय में आने वाले समस्त पाठको और विद्यार्थियो को विज्ञान और कलाओ की शिक्षा देने की योग्यता रखने की आशा की जाती थी।

---

[1] मद्रास एपिग्राफिकल रिपोर्ट फ़ार १९१३-१४, १९१३ का नं० २७७

[2] न्यूटन मोहनदत्त—१८ नवंबर १९३१ को तृतीय अखिल बंगाल प्रांतीय पुस्तकालय सम्मेलन के अवसर पर सभापति के आसन से दिया गया भाषण।

पुस्तकालय मे आ कर अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो को ब्रह्मचर्य-जीवन के नियमों का विधिवत् पालन करना होता था।

आधुनिक समय में पुस्तकालयों में पुस्तको को सुरक्षित रखने के लिए लोहे की आलमारियों का आविष्कार करने का समस्त श्रेय ब्रिटिश म्यूजियम के पुस्तकालय और वाचनालय का निर्माण करने वाले सर एनटानी पेनीजी को दिया जाता है। परतु 'पौस्कर-सहिता मे दिए गए उपरोक्त विवरण से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है कि भारत में अब मे हजार वर्ष पूर्व ही, पुस्तको को सुरक्षित रखने के लिए लोहे की आलमारियाँ व्यवहार में लाई जाने लगी थी।

मधुसूदन का चालुक्य पुस्तकालय

पुस्तकालयो के प्रबध, शिक्षासस्थाओ मे उन के स्थान तथा पुस्तकाध्यक्षो—सरस्वती-भाडारिको—के महत्व को बतलाने के लिए उपरोक्त पुस्तक के अतिरिक्त और भी प्रमाण उपलब्ध है। हैदराबाद दक्षिण ने वादी के निकट नगाई नामक गाँव मे मिलने वाले कन्नड लिपि के एक शिलालेख से इस सबध मे काफी बाते ज्ञात हुई है। यह शिलालेख हैदराबाद की आर्कियालाजिकल सीरीज की आठवी सख्या मे प्रकाशित किया जा चुका है।

नगाई आजकल वादी नगर के निकट एक छोटा-सा गाँव है। प्राचीन काल मे सभवत वहाँ एक बडा नगर रहा होगा। यह नगर अब नष्ट हो गया है। परतु इस के ध्वसावशेष अब भी मौजूद है। इन ध्वंसावशेषो मे नगर के प्राचीन वैभव का हाल बतलाने वाली बहुत सी चीजें मिलती है। इन्हीं मे ऐतिहासिक महत्व के कई एक शिलालेख भी मिले है। इस गाँव के ३६ स्तंभ वाले एक मदिर मे जो 'अरवधु-कबाड़-गुडी' के नाम से प्रख्यात है—कन्नड भाषा मे लिखा हुआ एक शिलालेख मिला है। इस के लिखने की तारीख २४ दिसबर १०५८ ई० मालूम की गई है। इस शिलालेख में चालुक्य राजा रामनारायण के मत्री और सेनापति मधुसूदन द्वारा स्थापित सार्वजनिक संस्थाओ का विवरण दिया हुआ है। मधूसूदन ने अन्य सस्थाओं के साथ ही 'घतिकशाला' नामक एक विद्यालय भी स्थापित किया था। इस विद्यालय में २५२ विद्यार्थियों के अध्ययन की व्यवस्था थी—२०० विद्यार्थियो के लिए वेदो और ५२ के लिए शास्त्रो की। विद्यालय

म तीन आचाय शास्त्रो की शिक्षा देन के लिए तीन आचार्य वेदो की शिक्षा देन के लिए और छ पुस्तकाध्यक्ष—सरस्वती-भाडारिक—नियुक्त थे।

अस्तु जिस पुस्तकालय की देख-रेख और प्रबंध के लिए छ. पुस्तकाध्यक्षो की नियुक्ति आवश्यक थी, वह कितना बडा, उपयोगी और महत्वपूर्ण रहा होगा यह बात आप ही स्पष्ट है। इस से केवल पुस्तकालय की महत्ता ही प्रमाणित नही होती वरन् यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पुस्तकाध्यक्ष का काम किसी शिक्षक से कम महत्व एवं उत्तरदायित्व का न समझा जाता था। शिक्षकों और पुस्तकाध्यक्षों के पद समान प्रतिष्ठा के समझे जाते थे। उन की स्थिति भारतवर्ष के आधुनिक कालिजो के 'क्लार्क लाइब्रेरियनो' जैसी शोचनीय नही थी। उसी शिलालेख के अंत मे अंकित कुछ पदो से पुस्तकाध्यक्ष के पद की प्रतिष्ठा और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। और यह बात भली भाँति प्रमाणित हो जाती है कि उस जमाने मे भी मधुसूदन ने पुस्तकाध्यक्षो के कार्य के महत्व को काफी उदारतापूर्वक स्वीकार कर लिया था और वह अनेक अंशो मे पुस्तकाध्यक्षो की योग्यता एव प्रतिष्ठा-संबंधी आधुनिक विचारो से भी बहुत कुछ आगे बढ गया था। मधुसूदन ने शिक्षकों और पुस्तकाध्यक्षों को वेतन के बदले मे जितनी भूमि देने का उल्लेख किया है उस से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है —

४८ भाग भूमि प्रभाकर-दर्शन के आचार्य को।
३५ भाग भूमि भट्ट-दर्शन के आचार्य को।
३० भाग भूमि न्याय के आचार्य को।
२० भाग भूमि वेदागों के प्रत्येक आचार्य को।
३० भाग भूमि प्रत्येक पुस्तकाध्यक्ष को।

शिक्षकों और पुस्तकाध्यक्षो को एक ही से वेतन देने की व्यवस्था से यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि उन की योग्यता भी समान ही रही होगी।[1]

राजा भोज का पुस्तकालय

दक्षिण के इस महान् चालुक्य पुस्तकालय के बाद हमे बारहवी सदी ईसवी में धारा नगरी के सुविख्यात विद्वान् और विद्वानो के आश्रयदाता राजा भोज के राजकीय

---

[1] एस्० आर० रंगनाथन, 'फ़ाइव लाज़ अव् लाइब्रेरी साइंस', पृ० ५७-५८

पुस्तकालय का विवरण मिलता है। राजा भोज स्वयं एक सुप्रसिद्ध विद्वान्, कवि एव लेखक था। उस के दरबार मे कवियों, लेखकों और विद्वानों का समुचित आदर-सत्कार किया जाता था। उस का राजकीय पुस्तकालय अपने समय मे अत्यत प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। राजा भोज ने स्वय भी कई पुस्तकों की रचना की थी। इन मे से शिल्प-कला और वास्तुकला पर लिखी हुई 'समरागण' नामक पुस्तक कुछ वर्ष हुए गायकवाड ओरियटल सीरीज़ में स्वर्गीय न्यूटन मोहनदत्त द्वारा सपादित की जा कर, प्रकाशित की जा चुकी है। राजा भोज के बाद उन के राज्य पर चालुक्य राजा सिद्धराज ने अधिकार कर लिया। सिद्धराज ने राजा भोज के सुप्रसिद्ध पुस्तकालय को धारा नगरी से हटा कर अन्हिलवाड—बडौदा राज्यातर्गत सुप्रसिद्ध पाटन नगर—में स्थापित किया और चालुक्य-वश के राजकीय पुस्तकालय से संबद्ध कर लिया।[१]

राजा भोज ने अनेक और विविध विषयो मे प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। उन्हो ने ज्योतिष, अलंकार, शिल्प, योग और व्याकरणशास्त्र का भी अच्छा अभ्यास किया था। इन में से प्रत्येक विषय पर उस ने ऐसे-ऐसे ग्रथ लिखे जो आज भी प्रमाणभूत माने जा सकते है। अलंकारशास्त्र पर 'सरस्वतीकंठाभरण', योगशास्त्र पर 'राजमार्तंड' और ज्योतिषशास्त्र पर 'राजमृगांक-करण', ये भोज के लिखे ग्रंथ सुप्रसिद्ध है।[२]

भोज जैसा प्रसिद्ध ग्रथकार था, वैसा ही विद्वज्जनो का विख्यात आश्रयदाता भी था। विद्वानों के प्रति वह अत्यत उदार था। कहा जाता है कि प्रत्येक कवि को, जो एक भी उत्कृष्ट नवीन भावपूर्ण श्लोक बना कर ले जाता, भोज एक लक्ष मुद्राएँ देता था। संभव है कि कविजनों को उस के द्वारा उदारतापूर्वक दिए गए पुरस्कारो की कथाएँ अत्युक्तिपूर्ण हो, परतु यह तो निश्चित है कि उस के राजकीय पुस्तकालय में तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ साहित्य का प्रशसनीय संग्रह अवश्य रहा होगा।

राजा भोज ही के सदृश दक्षिण के हिंदू राजाओ के भी साहित्यिको को प्रोत्साहन देने और संस्कृत ग्रंथो के सग्रह करने के प्रमाण मिलते है। दक्षिण के विजयनगर राज्य के राजा इस के लिए विशेषरूप से प्रसिद्ध थे। इस रियासत मे वेद और शास्त्रो का

---

[१] न्यूटन मोहनदत्त का भाषण।
[२] चिंतामणि विनायक वैद्य, 'हिंदू भारत का अंत', पृ० २३७

प्रचार करने वाले दो बड़े विद्वान् हुए थे एक और दूसरे सायणाचार्य माधवाचार्य विजयनगर के राजा के मंत्री थे। माधवाचार्य ने संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद और उन के प्रकाशन का एक मंडल बनाया था जिस में बड़े-बड़े पंडित काम करते थे। सायणाचार्य सब के अनुवादों की परीक्षा करते थे।[१]

आधुनिक पुस्तकालयों का उद्देश्य केवल पुस्तक-संग्रह ही नहीं होता। पुस्तकों को अधिक से अधिक व्यवहार में लाना और उन के द्वारा जनसाधारण में ज्ञान का प्रसार करना, इन का चरम उद्देश्य माना जाता है। प्राचीन भारत के पुस्तकालयों का कोई सबद्ध इतिहास नहीं मिलता। इतिहासवेत्ताओं ने भारतीय पुस्तकालयों का कोई सबद्ध इतिहास तैयार करने के कोई उल्लेखनीय प्रयत्न भी नहीं किए हैं। फिर भी जो कुछ थोड़ी बहुत सामग्री मिलती है उस के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत के पुस्तकालय अवश्य ही बहुत उन्नत अवस्था में रहे होंगे। यह भी स्पष्ट है कि लेखनोपकरणों के अभाव में पुस्तकें लिखना और उन का संग्रह करना बहुत ही व्ययसाध्य कार्य रहा होगा। स्थान-स्थान पर पुस्तकालय स्थापित करना और उन्हें आधुनिक पुस्तकालयों जैसा लोक-प्रिय रूप देना संभव न था। परंतु यह फिर भी वे साहित्योन्नति और शिक्षाप्रसार के प्रमुख साधन रहे होंगे, इस में बहुत कम संदेह है।

जनसाधारण में ज्ञान-प्रसार के लिए पुस्तकालयों के अतिरिक्त और भी बहुत सी संस्थाओं का उल्लेख मिलता है। पातंजलि के महाभाष्य में जनसाधारण में ज्ञानप्रसार का कार्य करने के लिए कई स्थलों पर 'ग्रंथिका' नामक संस्था का उल्लेख मिलता है। महामहोपाध्याय एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री, एम० ए०, आई० एस० के मतानुसार इन ग्रंथिकाओं के उद्देश्य आधुनिक पुस्तकालयों से बहुत कुछ मिलते-जुलते थे। आजकल के पौराणिक और कथावाचक अतीतकाल की ग्रंथिकाओं ही के अवशेष मात्र हैं।

पुस्तकालय और ग्रंथिकाओं के अतिरिक्त लोकशिक्षा के लिए सभा, समाज, गोष्ठी एवं साहित्यसमितियों आदि का भी उल्लेख मिलता है। परंतु लिपि का आविष्कार हो जाने के सैकड़ों वर्ष बाद तक भारत में सुन कर ज्ञान प्राप्त करने—श्रुति—ही का अधिक चलन रहा है। संभवतः इसी कारण हमें वैदिक काल में पुस्तकालय जैसी महत्व-पूर्ण एवं उपयोगी संस्था के होने के यथेष्ट प्रमाण नहीं मिलते।

---

[१] 'भारतवर्ष का इतिहास', (ज्ञानमंडल काशी), पृ० ६१

स्फुट प्रसंग

१—संवत् १७६० में खाद्य वस्तुओं का भाव तथा देश की दशा

मुझे संवत् १७६० की लिखी हुई एक पुस्तक प्राप्त हुई है जिस से औरंगजेब के राज्यकाल के अंतिम वर्षों मे इस देश की क्या दशा थी इस पर काफी प्रकाश पडता है। लेखक ने पुस्तक के अंत में पुस्तक का लिपिकाल लिखने के साथ ही साथ उस तिथि को अन्न का क्या भाव था यह भी लिखा है। तदुपरांत उस ने सीधी-सादी भाषा मे तत्कालीन देश-दशा का वर्णन कर दिया है।

"श्री सुलितानु मुदः दीन महद अवरगजेब पातिसाहि गाजी। संवत गत वर्ष ४५ वृतमान ४६। अथ शुभ संवत्सरे अस्मिनु श्री नृपती विक्रमादित्य राज्ये संवत १७६० वर्ष वैसाप सुदि अषे त्रतिया ३। गुरु बासरे। घटी २० रोहिणी नाम नक्षित्रे घटी ६०। सौभगि नाम जोगे घटी १४। तारीख दोसरी सुभ दिने पुस्तक लिषित। मिश्र बनवारीदास। तत पुत्र कासीदासु। तसि पुत्र विजैरामुः लेपक। लिषत्री कटारौ गोत्र। पागरी ग्रामे नदवई समीपे सुभ स्थाने सुभ भवेतु।"

इस के पश्चात् लेखक ने जिन सज्जन के लिए यह पुस्तक लिखी है उन के पूर्वजो की एक लंबी नामावली और अन्न का बाजार भाव दिया है —

"अन्नुभाव। मण २।।ऽ (ढाई मन) जौ। गेहूँ १।।।ऽ (एक मन तीस सेर)। चना २ऽ (दो मन)। बाजरी २ऽ (दो मन)। ज्वार २।।ऽ (ढाई मन)। तेलु करवो ।।।ऽ (तीस सेर)। टका मसीना १२। नरंगसाही टका ३५ कचे। ये भाव वर्त रहे ता दिन पोथी लिपी।"

तत्कालीन देश दशा का वर्णन इस प्रकार किया है:—

"राजकुराजु। बहिदौ बहौत (झगड़ा अधिक)। जाटु को राजु। तुरक को राजु। हाकिम जाट कौ। तुरक कौ। भेज (मालगुजारी) की माँग दोउ करै। चैन

कुचनु। जाट लूटै। तुरक लूटै। परिजा को चैनु नाही। इस विधि वर्ते। मंगल लेषकाना च पाठिकाना च मंगलं। मंगल सर्वलोकाना भूमौ भूपति मगल।

"अमिलदारी काबिल की। कानूगो रामचद बिदाबनु। नदबई की सिरकार। षागरी को चौवरी बड़ौराम राय।"

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि अन्न का भाव बहुत ही सस्ता होने पर भी संवत् १७६० के लगभग मुगलो की प्रजा सुखी नही थी। राज्य की कुव्यवस्था के कारण जनता को दुहरा कर अदा करना पड़ता था। जाट अधिकारियो और मुगल हाकिमों के अत्याचार मे प्रजा पिस रही थी। सुख शांति का कही नाम भी नही था। लेखक के शब्द सीधे-सादे होने पर भी इतने जोरदार है कि वे उस समय के कुशासन का रूप आँखो के सामने खड़ा कर देते है। वे प्रजा की यातनाओ को व्यक्त करने मे भली भाँति समर्थ है।

नदवई भरतपुर राज्य मे एक तहसील का मुख्य स्थान है, और खागरी नदवई के दक्षिण की ओर दो कोस पर एक ग्राम है।

मयाशकर याज्ञिक

२—सत्यवती कथा

१ सब से प्राचीन ग्रंथ जिस की नक़ल हमारे पास है ईश्वरदास की सत्यवती कथा है। इस का रचनाकाल कवि ने अपने ग्रंथ मे यों दिया है:—

जोति एक पंडव के संगा।
पाँच आत्मा आठो अंगा॥
भादौ मास पाख उजियारा।
तिथि नवमी सो मंगलवारा॥
नखत अस्विनी मेषक चंदा।
पाँच जना के सदा अनंदा॥
जोगिनिपुर दिल्ली बड़ थाना।
साह सिकंदर बड सुलताना॥

(अर्थात् संवत् १५५८ भादो सुदी ९, दिन मंगल, मेष राशि के अश्विनी नक्षत्र मे जब चंद्रमा था और उस समय सुलतान सिकदर (लोदी) बादशाह था)। इस ब्योरे के साथ किसी बिरले ही ग्रंथ का रचना-काल लिखा गया होगा। सिकदर लोदी अपने पिता बहलोल लोदी के मरने पर दिल्ली के तख्त पर बैठा और अट्ठाइस वर्ष राज्य कर के संवत् १५७४ में मर गया। इस से यह सिकदर लोदी ही हो सकता है, सिकदर सूर नही।

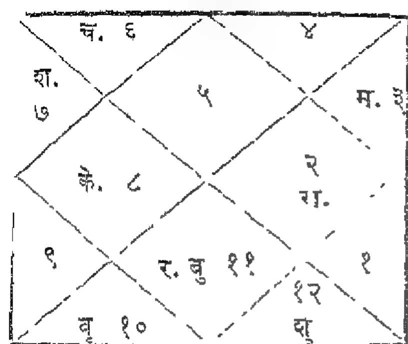
सिकंदर लोदी बड़ा कट्टर मुसलमान और मूर्तिपूजा का द्रोही था। उस ने हिंदुओ के अनेक मदिर तुड़वाए। परंतु उसी के राज्य मे अवधी के दो प्रसिद्ध लेखक हुए। एक कबीर और दूसरा ईश्वरदास। दूसरी बात इस ग्रंथ के रचने का स्थान है। 'दिल्ली बडथाना' से हम तो यही अनुमान करेंगे कि यह काव्य दिल्ली मे रचा गया। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि उस समय दिल्ली मे सिकदर बादशाह था। परंतु "दिल्ली बडथाना" लिखने का कुछ विशेष प्रयोजन न रह जायगा। लोदी-वंश का मूल स्थान जौनपूर है इस से सभव है कि लोदी राज-वंश के साथ कुछ जौनपुर के रहने वाले कर्मचारी भी दिल्ली चले गए हो। उन्ही मे से ईश्वरदास भी था। इसी कारण इस काव्य की भाषा अवधी है।

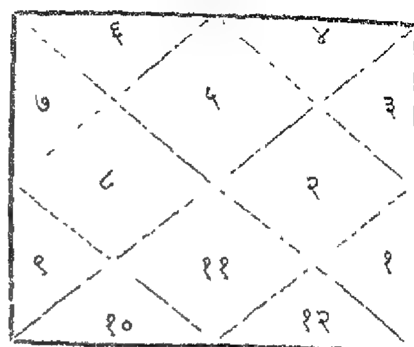
श्री अवधवासी सीताराम

३—छत्रपति शिवाजी की जन्म-कुंडली

विश्वविख्यात महाराजा छत्रपति शिवाजी के आरभिक जीवन के विषय मे अभी अधिक सामग्री उपलब्ध नही है। चित्रगुप्त बखर तथा तारीखे-शिवाजी के अनुसार छत्रपति शिवाजी की जन्मतिथि १० एप्रिल, सन् १६२७ है। परतु परमानद कविकृत 'शिवभारत' उन का जन्म सन् १६३० में मानता है। बीकानेर के सरकारी पुस्तकालय की एक प्राचीन हस्तलिखित गुटका 'शिवभारत' के कथन का समर्थन करती है। इस गुटके में अनेक राजा, महाराजा, बादशाह, तथा मनसबदारो की जन्मपत्रियो का बहुत अच्छा सग्रह है। अंतिम जन्म-कुंडली संवत् १७१९ या सन् १६६२ ई० की है। इस से प्रतीत होता है कि यह संग्रह छत्रपति शिवाजी के जीवनकाल मे ही कर लिया गया था। शिवाजी की जन्मकुडल तथा उस का सिरनामा आदि इस प्रकार है—

संवत १६८६ वर्षे फागुण वदी ३ भृगौ रात्रिगतघटी १ पल १ सिंहलग्नमध्ये शिवाजी रो जन्म।





राजज्योतिषी पंडित विष्णुदत्त जी ज्योतिषाचार्य द्वारा गणित कराने पर मालूम हुआ कि इन में ६ ग्रह बिल्कुल ठीक स्थान पर हैं, परंतु बृहस्पति, बुध, और शुक्र गलत से एक-एक स्थान पीछे रख दिए गए हैं। अन्यथा जन्मकुंडली सर्वथा शुद्ध है।

दशरथ शर्मा

स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंद

विगत ८ अक्तूबर को बनारस में मुंशी प्रेमचंद का स्वर्गवास हो गया।

प्रेमचंद की मृत्यु द्वारा आधुनिक हिंदी साहित्य को एक बहुत बड़ी क्षति पहुँची है। वह हमारे साहित्य के एक महारथी थे। उन्हों ने एक साधारण कायस्थ-कुल में जन्म पाया था, और उन्हें आजन्म कठिनाइयों का सामना करते बीता। इस निरंतर परीक्षा ने एक बात भलीभाँति सिद्ध कर दी। वह यह कि मनुष्य अपनी परिस्थितियों की अपेक्षा बड़ा था। प्रेमचंद साहित्य के उच्चतम सिद्धांतों से प्रेरित थे, और अपने आदर्श की पूर्ति में सदा संलग्न रहते थे।

लगभग चौथाई शताब्दी तक वह हिंदी साहित्यिकों के मध्य एक प्रमुख आसन ग्रहण किए रहे। सब से पहिले उन्हों ने कहानी-लेखक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। उन की विशेष शैली के अनुकरण में न जाने कितने अन्य लेखकों ने कहानियाँ लिखीं, लेकिन, यह कहना किंचित् अत्युचित न होगी, कि उन के समय में उन की बराबरी करने वाला दूसरा कहानी-लेखक न हुआ। यह बात नहीं कि उन की समस्त कहानियाँ (जिनकी संख्या प्रायः तीन सौ तक पहुँच चुकी है) समान रूप से उच्च कोटि की हुईं। परंतु उन की चुनी हुई कहानियाँ ऐसी हैं जो संसार की किसी भाषा की उत्तमोत्तम कहानियों से टक्कर ले सकती हैं। वह एकमात्र हिंदी लेखक थे जिन की कृतियों के अनुवाद इस देश की सभी प्रमुख भाषाओं में तथा अंग्रेजी और जापानी भाषाओं में भी हो चुके हैं।

प्रेमचंद की रचनाओं की सूची विस्तृत है। लगभग एक दर्जन तो उन्हों ने उपन्यास ही लिखे हैं, जिन में 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'ग़बन' मुख्य हैं। इन सभी कृतियों में हमें उच्च कोटि की कला की छाप मिलेगी उन की अंतिम बड़ी कृति 'गोदान' के साथ एक शोकद स्मृति जुटी रहेगी। यह एक

डाला है और जो लेखक की मृत्यु के कुछ मास ही पूर्व प्रकाशित हुआ है। 'संग्राम' और 'कर्बला' शीर्षक प्रेमचंद के नाटक हिंदी जगत में ख्याति पा चुके हैं। उन्हों ने टॉल्सटॉय, गॉल्सवर्दी, अनातोल फ्रांस और जॉर्ज ईलियट की रचनाओं के हिंदी अनुवादों द्वारा हिंदी साहित्य के भंडार की वृद्धि की है। गद्य शैलीकार की दृष्टि से वह छोटे वाक्यों तथा मुहाविरों के उस्ताद थे। साहित्यिक वाद-विवाद में भी जब वह पड़ते थे अपनी प्रतिभा दिखाते थे। संपादकों के बीच उन की विशेष प्रतिष्ठा थी और कई पत्र-पत्रिकाओं से वह संबद्ध रह चुके थे। बनारस के साप्ताहिक 'जागरण' के वह संचालक थे। इस पत्र द्वारा उन्हो ने समाजवादी तथा लोकहितकारी आदर्शों की पूर्ति का बीड़ा उठाया था और अनेक वर्ष तक घाटा उठाते रहते हुए भी वह इस पत्र का संचालन करते रहे थे। अंतिम दिनों में उन्हों ने अपनी शक्ति मुख्यतया 'हंस' पर केंद्रित की थी। कुछ ही मास पूर्व सरकार से जमानत माँगे जाने के कारण उन्हें 'हंस' का प्रकाशन स्थगित करना पड़ा था, परंतु अंततः वह उसे पुनरुज्जीवित करने में समर्थ हुए। वह इस पत्र की विशेष उत्साह के साथ सेवा करना चाहते थे परंतु खेद है कि नए 'हंस' की वह केवल एक संख्या देख सके!

सब कुछ मिला कर प्रेमचंद के कार्य का क्षेत्र विस्तृत था। उन्हों ने सत्यशः अपने को साहित्य-सेवा में मिटा दिया। उन के अंतिम दिन किंचित् कटु अनुभवों से पूर्ण थे, उन्हें कई आलोचकों के व्यक्तिगत और विषाक्त आक्षेपों का सामना करना पड़ा। परंतु वह एक सिपाही की भाँति सब का सामना करते रहे और अंततः यह कहना पड़ेगा कि उन का व्यक्तित्व उन के समस्त आलोचकों के सम्मिलित व्यक्तित्व से बड़ा था। हमारे आधुनिक समाज के चित्रण में जितना कौशल प्रेमचंद ने दिखाया था उतना इस युग के किसी दूसरे उपन्यासकार ने नहीं।

प्रेमचंद हिंदुस्तानी भाषा के बड़े हिमायती थे और अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन के विचार इस पक्ष में और भी दृढ़ हो गए थे। उर्दू लेखकों के बीच भी प्रेमचंद का स्थान ऊँचा था अतएव इस भाषा के समर्थन के लिए वह विशेष अधिकारी भी थे।

लेखक तो प्रेमचंद बड़े थे ही, मनुष्यता भी उन में उच्च कोटि की थी। नए लेखकों को सदा प्रोत्साहन तथा आर्थिक सहायता भी देते रहते थे। बातचीत का

ढंग अत्यंत सरल और मनोरंजक होता। जी खोल कर अट्टहास करते थे। ऐसे समय पर उन की आंखों के चारों ओर जो गहरी रेखाएं अंकित हो उठती थीं उन से प्रेमचंद के संघर्षपूर्ण जीवन का किंचित् आभास हो जाता था। हृदय में बड़ी मनुष्यता थी। आक्षेपों से आहत भी होते थे, स्वयं भी आक्षेप करते रहते थे, परंतु अंततः भोले बालक की भाँति कटु बातों को भूल कर मित्र बन जाते थे।

प्रेमचंद जैसा लेखक किसी भी देश में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता। हिंदी में तो उन की मृत्यु के कारण जो स्थान रिक्त हुआ है, उस की पूर्ति होती हुई नहीं जान पड़ती। हरिश्चंद्र के उपरांत उन के इतना बड़ा साहित्यिक हिंदी में नहीं उत्पन्न हुआ। वास्तव में वह हरिश्चंद्र से भी बड़े थे। यह स्मरण करते हुए दुःख होता है कि प्रेमचंद के अंतिम दिन उसी मकान में बीते जिस में हरिश्चंद्र ने निधन प्राप्त किया था। क्या यह कोरी कल्पना होगी कि हरिश्चंद्र की आत्मा एक उपयुक्त साथी के लिए लालायित थी, और उस ने इन्हें इंगित किया?

प्रेमचंद हिंदुस्तानी एकेडमी की कौंसिल के भी सम्मानित सदस्य थे।

हिंदी-संसार प्रेमचंद के लिए बहुत काल तक शोकातुर रहेगा।

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

१९३६

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी, १९३९

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६।।)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १।।)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री ठाकुर रामसिंह एम० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य ३।।) सजिल्द, ३) बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १।।), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल । मूल्य १)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) । मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३।।)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५।।), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए० । मूल्य ४।।) सजिल्द, ४) बिना जिल्द ।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार । मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५।।), बिना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्० । सचित्र । मूल्य बिना जिल्द ६), सजिल्द ६।।)

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत । संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य ।।)

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।

मु०—महेन्द्रनाथ पाण्डेय, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद
हिंदुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद